संस्कृत-साहित्य की
रूपरेखा

[illegible]

[illegible]

[illegible]

संस्कृत-विद्यापीठ-ग्रन्थमाला—नवम पुष्प

संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार

[आकार-चित्रों के विशिष्ट विश्लेषण से अनुप्राणित शास्त्रीय अध्ययन]

(विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन द्वारा पी–एच० डी० के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)



प्रस्तावना लेखक—

श्रीदेवनन्दन प्रसाद यादव

उपमन्त्री- केन्द्रीय शिक्षा एवं समाजकल्याण मन्त्रालय,

तथा अध्यक्ष- शासी परिषद्, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली

प्रधान सम्पादक :—

डॉ० मण्डन मिश्र

प्राचार्य

श्रीलालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली

लेखक :-

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी एम० ए० (संस्कृत एवं हिन्दी), पी-एच० डी०,

साहित्य-सांख्ययोगाचार्य, काव्य–पुराणतीर्थ

व्याख्याता – संस्कृत विद्यापीठ,

श्रीलालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,

दिल्ली

प्रकाशक :–

डॉ० मण्डन मिश्र

प्राचार्य :–

प्रथम संस्करण ११०० प्रतियाँ, १९७२ ई०

श्रीलालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के तत्त्वावधान में प्रकाशित ।

मुद्रक :—

अनिल प्रिन्टिग कारपोरेशन, दिल्ली, दूरभाष: ५११८७६

प्रस्तावना

संस्कृत साहित्य भारतीय संस्कृति की ही नहीं मानवीय या विश्वसंस्कृति की एक महान् निधि है। इसे देववाणी आदि नाम देकर हमारे पूर्वजों ने यह सूचित किया है कि इसमें अमरप्राण संस्कृति निहित है। संस्कृत साहित्य अति प्राचीन और अति विशाल तो है ही साथ ही यह अतिविचित्र भी है। वैदिक और लौकिक दो प्रकार की संस्कृत भाषा में उपलब्ध इस साहित्य में ज्ञान और विज्ञान, शिल्प और कला सभी के चरम विकास तक पहुँचने की सूचनाएँ मिलती हैं।

चारों वेदों में कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का विस्तार है यह सर्वविदित है किन्तु उनमें कितने ही वैज्ञानिक तत्त्व भी निहित हैं यह भी एक ध्रुव सत्य है। वैदिक काल में भी मानव, सभ्यता और संस्कृति के कितने परिष्कृत स्वरूपों को प्राप्त कर चुका था, यह भी उनके परिशीलन से जाना जाता है। उपवेदों में आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और शिल्प वेद के नामों से ही स्पष्ट है कि उनमें जीवन के उपयोगी और आह्लादक विज्ञानों का समावेश है। इनके अतिरिक्त पुराण, इतिहास, आस्तिक-नास्तिक दर्शन, धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आदि अनेक शास्त्रों के द्वारा संस्कृत साहित्य का भण्डार भरपूर है। इनके साथ ही वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास आदि महाकवियों ने अपनी प्रतिभाप्रसूत कृतियों से संस्कृत भाषा के इस महान् कोष को और अधिक महत्त्व प्रदान किया है। फिर इन महाकवियों की रचनाओं के आधार पर संस्कृत में काव्यशास्त्रों तथा लक्षणग्रन्थों की भी एक विशाल शृङ्खला निर्मित हुई है।

इस शृङ्खला में काव्य में अलङ्कार तथा अलङ्कारों में शब्दालङ्कार का स्थान निर्धारित करते हुए आचार्यों ने चित्रकाव्य का भी स्फुट विवेचन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी शृङ्खला की एक कड़ी है। सुयोग्य विद्वान् डा० रुद्रदेवत्रिपाठी की इस सरस्वतीसाधना को श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली ने प्रकाशित कर अपने महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों की उपादेयता और बढ़ा दी है। मैं इस प्रकाशन के उपलक्ष में लेखक तथा विद्यापीठ का अभिनन्दन करता हूँ।

२६-३-७२ ई० डी० पी० यादव

विश्व संस्कृत सम्मेलन उद्घाटन-दिवस

विज्ञान-भवन, नई-दिल्ली

प्रधान-सम्पादकीयम्

अस्तु नाम काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवद्, दोषाः काणत्वखञ्जत्वादिवत्, इत्यतिदेशः। तेन च काव्ये तत्तत्तत्त्वस्थाननिर्धारणम्। वस्तुतस्तु काव्ये वाचकलाक्षणिकव्यञ्जकानां शब्दानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यानाञ्चार्थानां स्वीकारे शब्दार्थाभ्यां विलक्षणं किमपि तत्त्वं नावशिष्यते। तत्र वाच्यवाचकयोः, लक्ष्यलाक्षणिकयोः, व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्रातिस्विकचमत्कारानुभूतौ च सहृदयहृदयमेव साक्षितया प्रमाणीक्रियते। तथापि 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्' इत्यादिसूक्तिशतमलङ्काराणां काव्ये कमपि महिमातिशयं ख्यापयत्येव। अलङ्काराणाञ्च काव्ये कलापक्षाङ्गताङ्गीकारोऽपि तमेव विज्ञापयति। 'साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः' इत्यादिषु सुभाषितेषु साहित्यकलायाः सङ्गीतकलायाः परिग्रहस्यैव मानवानां पशुभ्योऽतिरेकहेतुकत्वं जेगीयते।

किन्नाम कलात्वमित्यपेक्षायाम्

'कलयति स्वरूपमावेशयति वस्तुनि वा, तत्र तत्र प्रमातरि कलनमेव कला' इति क्षेमराजोक्ते कलालक्षणद्वये प्रथमेन वास्तुमूर्तिचित्रकलानाम्, द्वितीयेन च सङ्गीतकाव्यकलयोः सङ्ग्रहः। अत्र प्रथमे कला नयनगोचरतया मनोऽभिरामा भवति, द्वितीये तु श्रवणगोचरतया।

गीतिकाव्ये द्वितीययोः सङ्गीत–काव्यकलयोः सङ्कलनाच्छ्रवणमात्रविषयत्वम्, चित्रकाव्ये तु चित्रकाव्य-कलयोः संसर्गान्नियन–श्रवणोभयास्पदत्वम्। 'साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः' इत्यादिषु सुभाषितेषु साहित्यादीनां प्रत्येकं सेवनीयत्वोपदेशाद् गीतिकाव्ये साहित्यसङ्गीतयोः, चित्रकाव्ये च साहित्य (काव्य)चित्रकलयोः सेवनीयतरत्वं स्वतः सिद्धम्। चित्रकाव्ये कलाया लक्षणद्वयं सङ्गच्छते। चित्रे हि स्वरूपमावेशयति, काव्ये च प्रमातरि कलनमावेशयति। इत्यतिरिच्यते चित्रकाव्यं काव्यान्तरेभ्यः।

चित्रकाव्यपदस्य वाच्यवाचकयोः प्राधान्येन चमत्कारजनकत्वेन द्वैविध्यम्, वाच्यचित्रं (अर्थचित्रम्) वाचकचित्रम् (शब्दचित्रम्) चेति। तत्र शब्दचित्रेऽनुप्रासादीनां समावेशेऽपि चित्रालङ्कारसन्निवेशेन द्विगुणायते चित्रत्वम्, चित्रञ्च तत्काव्यं चित्रसहितं चेति। वाच्यचित्रस्य चित्रमीमांसायां तत्खण्डनपरे रसगङ्गाधरे तादृशेषु ग्रन्थान्तरेषु चाचार्यैः कृतो विवेकः। शब्दचित्रस्य तु चिरादुपेक्षितस्य, केनचिदपि पृथगविवेचितस्य साहित्याचार्येण डॉ० रुद्रदेवत्रिपाठिनाऽस्मिन् **'संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार'** (**संस्कृतसाहित्ये शब्दालङ्काराः**) इति शीर्षके शोधप्रबन्धेऽतिबन्धुरतया समुपन्यस्तो विचारः।

अत्र प्रबन्धे शब्दालङ्कारमहिमगरिम्णोः क्रमिकेन प्रकाशनेन, तदीयशृङ्खलाबन्धनेन अनुप्रासयमकपुनरुक्तवदाभासवक्रोक्ति-श्लेष-चित्रालङ्काराणां तद्भेदप्रभेदोपभेदानां पारम्परिकस्य क्वचिच्च मौलिकस्यापि स्वरूपस्य निरूपणेन, उदाहरणानुरूपनूतनानवद्यपद्यनिर्माणेनापि श्रीत्रिपाठिना कलशे जलधेरिव महतोऽलङ्कारसर्वस्वस्य समावेशः कुशलतया कृतः।

श्रीत्रिपाठी श्रीलालबहादुरशास्त्रीकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठे प्रशिक्षण-विभागे व्याख्यातृपदमधितिष्ठति । 'मालवमयूर'-संस्कृतमासिक-पत्र-सम्पादनेन सरल-सरस-समयोचित-कवित्वप्रकाशनेन च संस्कृतजगति विश्रुतः, संस्कृतकविसम्मेलनानामलङ्कारः । संस्कृत-साहित्यवच्च हिन्दीसाहित्ये हिन्दीकवित्वेऽपि च लब्धवर्णः ।

श्रीत्रिपाठिनः प्रगाढं वैदुष्यं, गम्भीरोऽध्यवसायश्चात्र प्रत्यक्षतया नापेक्षेते वाक्प्रसरावसरम् । दिल्लीस्थस्य संस्कृतविद्यापीठस्य महत्त्वशालिषु प्रकाशनेषु काव्यैकतत्त्वविमर्शपरमिदमेकं प्रकाशनम् । अहं श्रीत्रिपाठिनः सर्वाङ्गीणं मङ्गलं कामयमानोऽस्य प्रकाशनस्य कृते विद्यापीठप्रकाशनसमितेः, प्रस्तावनालेखनस्य कृते केन्द्रीय-शिक्षासमाज-कल्याणमन्त्रालय उपमन्त्रिणः, राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानस्य शासि-परिषदोऽध्यक्षस्य माननीयस्य श्रीदेवनन्दन-प्रसाद-यादवमहोदयस्य च हृदयेन कृतज्ञतां ज्ञापयामि । प्रार्थयामि च सहृदयान्विदुषोऽस्य ग्रन्थस्य परिशीलनेन ग्रन्थकारश्रमं सफलयितुमिति शम् ।

डॉ० मण्डनमिश्रः

प्राचार्यः

प्राक्कथन

साहित्य जीवन के सामान्य-व्यापार एवं भावों की प्रेषणीयता से अनुप्राणित हुआ करता है। मानव मात्र में थिरकता हुआ कला का अनुराग, अभिव्यक्ति और तादात्म्य एक ऐसे माध्यम के सतत अन्वेषण में व्यस्त रहते हैं कि जिससे लौकिकता अथवा अनेकता के बन्धन से मुक्त होकर अलौकिकता अथवा एकता के आनन्दोन्मेष में वे अपने यथार्थ रूप को पा सकें। संस्कृत–साहित्य के मनीषी 'रसो वै सः' की वेदवाणी से अभिप्रेरित हो, साहित्यिक अभिव्यञ्जना के चरम तथा परम लक्ष्य 'सद्यः परनिर्वृति' की ओर अग्रसर होते आये हैं। परमलक्ष्य की इस यात्रा में प्रत्येक साहित्यकार ने नई-नई दिशाओं का मार्ग-दर्शन किया है। अलङ्कार के माध्यम से जिन आचार्यों ने संस्कृत काव्यशास्त्र में शब्दालङ्कार की वीथी को मण्डित किया, जिन-जिन प्रयोगों का आश्रय लिया; प्रस्तुत प्रबन्ध में उनकी शास्त्रीय समीक्षात्मक अध्ययन के साथ तुलनात्मक व्याख्या पुरस्कृत करने की चेष्टा समाविष्ट है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का शीर्षक है--**'संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार'**, आकारचित्रों के विशिष्ट विश्लेषण से अनुप्राणित शास्त्रीय अध्ययन। यहाँ संस्कृत-साहित्य से तात्पर्य है, काव्यशास्त्र एवं अन्यान्य काव्य-ग्रन्थों में लक्षण और उदाहरणों द्वारा विवेचित साहित्य। आचार्यों ने अलङ्कार के तीन भेद किये हैं—१-शब्दगत, २-अर्थगत और ३-शब्दार्थोभयगत, कहना न होगा कि प्रस्तुत शोध का विषय केवल प्रथम भेद से सम्बद्ध है।

प्रस्तुत शोध की आवश्यकता

विगत वर्षों में शोध-प्रवृत्ति का पूर्णतः विकास हुआ है। शोध का लक्ष्य शृङ्खला–बद्ध ज्ञान है। अप्राप्त तथ्यों की खोज और प्राप्त तथ्यों की प्रस्तुति द्वारा ज्ञान का विस्तार उसके आवश्यक तत्त्व माने गये हैं। नवीन उपलब्धि का आख्यान और पूर्वोपलब्धि का पुनराख्यान करते हुये विश्लेषण करना तथा उनमें निहित सत्य को समक्ष लाना शोधक का कार्य होता है, इस दृष्टि से विविध शोधग्रन्थ भी उपलब्ध होने लगे हैं। अलङ्कार के क्षेत्र में १-केवल एक आचार्य की रचना को लक्ष्य बनाकर, २- विभिन्न काव्याङ्गों को लक्ष्य मानकर अथवा ३-अलङ्कार सामान्य को लक्ष्य में रखकर कुछ शोध कार्य हुए हैं, किन्तु उनमें शब्दालङ्कार को हेयदृष्टि से देखा गया है तथा विवेचन में यत्किञ्चित् सङ्केत के अतिरिक्त भेद-विभेदों पर लेखनी-सञ्चार नहीं किया है। साथ ही चित्रालङ्कार के प्रति तो सर्वसाधारण की धारणा सर्वथा प्रतिकूल ही रही। केवल चित्रालङ्कार का इतना विस्तार हो सकता है, यह कल्पना तो सम्भवतः प्रस्तुत अध्ययन से पूर्व बहुत थोड़े विद्वानों के मन में रही होगी ! इसी दृष्टिकोण को प्राथमिकता देते हुए हमने केवल शब्दालङ्कारों और

उनके चित्रालङ्कारगत भेदों के विशिष्ट विश्लेषण को अपने शोध का लक्ष्य बनाया जिसका परिणाम इस अध्ययन में ग्रथित है।

प्रस्तुत अध्ययन में उत्तरोत्तर अध्ययन, अनुसन्धान और आकलन की उत्प्रेरणा के नैरन्तर्य से एक बहुत ही विस्तृत, अनतिप्रसिद्ध एवं इतस्तत: बिकीर्ण साहित्यिक–सम्पदा का शृङ्खलाबद्ध समायोजन हुआ है; साथ ही उनके सरलतापूर्वक किये गये विश्लेषण से उनके प्रति जटिलता के आरोप और तथ्यों तक पहुँचने में प्रविविक्षुओं के मानस में स्थित कल्पित-भीति का उन्मूलन करने का भी यथोचित प्रयास किया गया है। संक्षेप में पाठक इस प्रबन्ध में निम्नलिखित बातों का सहज परिचय प्राप्त कर सकेंगे—

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध की मौलिक देन–

१—सुदीर्घकाल से उपेक्षित शब्दालङ्कार की महत्ता और व्यापकता का क्रमिक प्रतिपादन करते हुए साहित्य के सभी क्षेत्रों में इसकी अनिवार्यता का दिग्दर्शन।

२—अलङ्कारशास्त्र में चर्चित शब्दालङ्कारों की सुनियोजित शृङ्खला का संस्थापन तथा तत्सम्बन्धी आवश्यक विचार।

३—अनुप्रास के लक्षण, भेद और उपभेदों का ऐतिहासिक अध्ययन करते हुए ग्राम्यानुप्रास के ग्राम्यशब्द और लाटानुप्रास-सम्बन्धी उद्‌भट, भोज, मम्मट, रुय्यक और शोभाकर द्वारा उपस्थापित खण्डनमण्डनात्मक विचारों का सयुक्तिक विवेचन, विभिन्न वृत्तियों की समीक्षा एवं अन्यान्य यत्रतत्र विशृङ्खलित भेदोपभेदों का सङ्कलन।

४—यमक की अस्त-व्यस्त परम्परा का परिष्कृत उन्मीलन, दण्डी द्वारा वर्णित भेदों तथा वामन, रुद्रट एवं भोज के यमकसम्बन्धी विचारणीय तत्त्वों का सोदाहरण सम्पादन करते हुए अनेक भेदोपभेदों का उपस्थापन।

५—पुनरुक्तवदाभास, वक्रोक्ति तथा श्लेष के विभिन्न भेदोपभेदों का विमर्श करते हुए शब्दालङ्कारता सम्बन्धी शास्त्रार्थों का क्रमिक विनियोजन।

६—चित्रालङ्कार के प्रारम्भिक किन्तु आवश्यक भेदों का सोदाहरण विवेचन करते हुए अनेक भेदों का एकत्र समावेश, जिनमें प्रहेलिका, च्युत, गूढ, प्रश्नोत्तर, तथा भाषा-चित्रों का व्यवस्थित विमर्श प्रमुख है।

७—चित्रालङ्कार के अन्यतम भेद आकार-चित्रों का क्रमश: मङ्गलमय, वनवैभवात्मक, आभरणात्मक, शस्त्रास्त्र, प्राणी और प्रकीर्ण-वस्तुओं के रूप में आकलन करते हुए प्रत्येक चित्र का अकारादिक्रम से सचित्र विवेचन–जिसमें अनेक अप्रकाशित प्रतियों, प्रकाशित काव्यादि ग्रन्थों और व्यक्तिगत सङ्कलनों का उपयोग हुआ है। केवल छन्द के आधार निर्मित चित्रों तथा प्राकृतभाषा के चित्रों का भी यहाँ पृथक् सूचन है और केवल नाम–मात्र सूचन से प्राप्त चित्रबन्धात्मक पद्यों की आकृति-रचना, के साथ ही लक्षण निर्धारण तथा निर्नाम पद्यों की बन्धयोजना और उनका क्रमिक एकत्र परिशीलन भी किया है।

८—शब्दालङ्कार के प्रसिद्ध छः भेदों के अतिरिक्त २० अन्य भेदों का प्रतिपादन।

९—संस्कृतसाहित्य के इस अलङ्कारभेद से प्रभावित परवर्ती भाषा-साहित्य का संक्षिप्त किन्तु सारपूर्ण निरूपण।

इस प्रकार दूध में निगूढ नवनीत की तरह मति-पूर्वक मन्थन से शब्दालङ्कार का निम्नरूप में सांख्यिक सर्वेक्षण हुआ है—

(क) अनुप्रास के २४ प्रमुख भेद और २०० से अधिक उपभेद।

(ख) यमक के स्थानादि भेद से बने प्रायः ४०० भेदोपभेद।

(ग) पुनरुक्तवदाभास के ८ भेद।

(घ) वक्रोक्ति के पांच भेद।

(ङ) श्लेष के प्रमुख ९ भेद एवं ७५ से अधिक उपभेद।

(च) चित्रों के भेदों में स्वर-चित्र के ९, स्थान चित्र के ४, वर्णचित्र के ११, गति-चित्र के ११, प्रहेलिकाचित्र के २१ से अधिक, च्युतचित्र के २४ से अधिक, गूढ-चित्र के ३४ से अधिक, प्रश्नोत्तर के ४८ भेद तथा समस्याचित्र और भाषाचित्रों के भेद।

(छ) आकार-चित्रों में मङ्गलमय-चित्र ५९, बनवैभवात्मकचित्र ७५, आभरण-चित्र ४४, शस्त्रास्त्र-चित्र ७७, प्राणि-चित्र १५, प्रकीर्ण-चित्र ४४, छन्दोमय-चित्र १४ तथा अन्य भाषामयचित्रादि ८। इस प्रकार ३३५ चित्रबन्धों का तथा २०० से अधिक अन्य चित्रों का व्यवस्थित विमर्श।

(ज) अन्य २० शब्दालङ्कार तथा उनके १२५ से अधिक उप-भेदों का सूचन।

(झ) परवर्ती भाषा—साहित्य में १—प्राकृत, २—हिन्दी, ३—मराठी, ४-गुजराती, ५—उड़िया तथा अन्यभाषागत शब्दालङ्कार साहित्य का ऐतिहासिक क्रम से निदर्शन और ग्रन्थनाम।

(ञ) शब्दालङ्कार के प्रमुख भेदों की उपलब्धि के माध्यम से महाकाव्य, खण्ड-काव्य, गद्यकाव्य, स्तोत्र और स्फुट रचनाएँ-सभी मिलकर प्रायः ३०० ग्रन्थों का सूचन-विवेचन।

संस्कृत साहित्य के शास्त्रीय ग्रन्थों की परम्परा अतिदीर्घ है तथा उनमें आचार्यों ने अनेक-रूप से शब्दालङ्कारों की विवेचना की है। कई आचार्य इस भेद के प्रति पूर्ण अनास्था रखते हैं और कतिपय आचार्य सामान्यतः अर्थालङ्कारों की प्रारम्भिक भूमिका के लिये इनका विवेचन हितावह मानते हैं। तीसरा समुदाय ऐसा भी है,जो इसकी आवश्य-कता, महत्ता और उपादेयता के प्रति जागरूक है। जिस प्रकार रस, ध्वनि और व्यञ्जना के बढ़ते हुए प्रवाह के कारण प्रारम्भ में आत्मस्थानीय माने गये अलङ्कार की महत्ता न्यून होती गई उसी प्रकार अर्थालङ्कारों के प्रति बढ़ते हुए अनुराग के कारण शब्दालङ्कार की महत्ता में भी ह्रास आया है।

प्रस्तुत अध्ययन से ज्ञात होगा कि काव्य में अलङ्कारों का स्थान और अलङ्कारों में शब्दालङ्कारों के स्थान को लेकर जो विवेचन हुआ, उसमें शब्दालङ्कार की महत्ता कुछ घटती गई, किन्तु दूसरी ओर इसकी संख्या बढ़ती गई है जो आज भी प्रवहमान है। और एक बात स्फुट हो जाती है कि आरम्भ से ही शब्दालङ्कार ने काव्य में ऐसा प्रभाव जमाया है कि कोई भी आचार्य इसकी उपेक्षा का साहस न कर सका, जिसने प्रत्यक्ष में विरोध भी किया उसके साहित्य में भी इसका अक्षुण्ण आधिपत्य बना रहा, फिर भले ही इसका स्थान अवर-श्रेणी में निर्धारित हुआ हो; इस प्रकार गत युगों में विपुल मात्रा में अलङ्कार ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है तथा उनके आश्रय से अब तक की कालयात्रा में लक्ष्य और लक्षण दोनों ही रूपों में इस अलङ्कार-प्रभेद ने अपने मूल रूप से पर्याप्त अधिक विकास पाया है।

अपनी बात

पूज्य पितृचरण ज्योतिषी पं० रमाकान्तजी शर्मा और उनके ज्येष्ठभ्राता पं० कृष्णलालजी शर्मा (पू०श्रीकृष्णानन्द तीर्थ दण्डीस्वामी) के चरणों में बैठ कर मैंने संस्कृत का प्राथमिक अध्ययन और इस भाषा के प्रति गाढनिष्ठा प्राप्तकर प्राचीन प्रणाली से नाथद्वारा, वाराणसी और बम्बई में रहते हुए परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। अध्ययन, स्वाध्याय, सम्पर्क और मित्रों की प्रेरणा ने शोध की ओर प्रवृत्त किया तथा तदर्थ उज्जयिनी स्थित विश्वविद्यालय से पात्रता प्राप्त करके पाँच वर्ष के सुदीर्घ श्रम के पश्चात् मैं अपनी भावना को इस रूप में मूर्त रूप दे सका।

प्रस्तुत प्रबन्ध का शोध एवं अध्ययन-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था, अतः पहले मेरी **चित्रालङ्कारों का विशिष्ट अध्ययन**' करने की ही योजना थी और तदनुसार मैंने कार्यारम्भ भी किया था, किन्तु उसी के स्थान पर मुझे '**संस्कृत साहित्य में शब्दालङ्कार**' विषय पर कार्य करने की अनुमति दी गई। इस विस्तृत कार्य के लिये मैं अपने को अक्षम मानता था किन्तु सौभाग्यवश मुझे निर्देशक के रूप में परम आदरणीय प्राध्यापक श्री वि० वेंकटाचलम् महोदय एम० ए०, वेदान्तशिरोमणि, संस्कृतविभागाध्यक्ष-विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन का आश्रय मिल गया। आपकी विशिष्ट प्रतिभा से मेरे धूमिल पथ को आलोक मिला और मैं अपना साहस बटोर कर कार्य में अवधान देने लगा। कभी कभी परिस्थितिवश—क्वद्दशं विदधामि किङ्करोमि-की स्थिति में आ जाता किन्तु आपकी सहृदयता एवं गुरुजनों के आशीर्वाद से मैं यहाँ तक पहुँचने में सक्षम हुआ हूँ।

इसके साथ ही मुझे अपने संस्कृत मासिक पत्र '**मालव-मयूरः**' के सम्पादन-प्रकाशन के माध्यम से अनेक संस्कृत-सेवियों से परिचय हुआ और अपने शोधकार्य का परिचय देने पर उनके द्वारा प्रोत्साहन, परामर्श, बहुतसी दुर्लभ सामग्री का परिचय तथा मूलतः ग्रन्थ आदि देने में तनिक भी सङ्कोच नहीं किया गया। इस दृष्टि से चित्र कवि पं० रामरूपजी पाठक वाराणसी, पद्मभूषण पं० सूर्यनारायणजी व्यास, डा० रामजी उपाध्याय, डा०

रेवाप्रसादजी द्विवेदी, डा० मण्डनमिश्रजी, प्रो०बाबूलालजी शुक्ल, डा० हरीन्द्रभूषणजी जैन, प्रो० श्रीनिवास रथ एवं डा० चिन्तामणि उपाध्याय आदि महानुभावों के प्रति मैं विनम्र प्रणति अर्पित करता हूँ तथा कृतज्ञता का अनुभव करता हूँ। स्व० वैद्यराज पं० भीमसेनजी शर्मा, स्व० पं० वसन्तीलालजी, स्व० वैद्य गनपतलालजी व्यास, मेरे कनिष्ठबन्धु पं० जयदेव त्रिपाठी, डाँ० भवानीशङ्कर त्रिपाठी तथा धर्मपत्नी श्रीमती कमलादेवी और चि० कुबेरकान्त त्रिपाठी के सर्वविध सहयोग को तो में भूल ही कैसे सकता हूँ ?

इस कार्य में अनेक संस्कृत और हिन्दी के लेखकों की कृतियों के अतिरिक्त उज्जैन, मद्रास, पूना, बम्बई, सुरत, अहमदाबाद, बड़ौदा, वाराणसी, कलकत्ता, उदयपुर, नाथद्वारा, चित्तौड़ आदि स्थानों के प्राच्यपुस्तकालयों के ग्रन्थपालक और अध्यक्ष महानुभावों का भी मैं आभारी हूँ, जिनके द्वारा मुझे कुछ पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपि करने और अन्य ग्रन्थों का उपयोग करने की सुविधा प्रदान की गई।

मूल–शोध–प्रबन्ध अति विस्तृत था, जबकि प्रकाशन-परामर्शदाता विद्वजनों के परामर्शानुसार प्रकाशन के पृष्ठों में कुछ न्यूनता अपेक्षित थी। अतः समस्या-चित्रों के कुछ उदाहरण, अन्य शब्दालङ्कारों का विमर्श, छन्दोमय-चित्रों के उदाहरण तथा अष्टम आलोक में चर्चित शब्दालङ्कार-साहित्य के लक्षणग्रन्थ और चित्रालङ्कार के विशिष्ट ग्रन्थ कर्ताओं का ऐतिहासिक-विवेचन नहीं दिया है। इसी प्रकार चित्रबन्धों में भी ३३५ चित्रों में से प्रतिनिधिरूप १४० चित्रबन्धों के फलक ही प्रस्तुत किये गये हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के परीक्षकद्वय आदरणीय पं० श्री सरस्वतीप्रसादजी चतुर्वेदी एवं प्रो० श्रीअरुणोदय नटवरलाल जानी महोदय ने मेरे इस श्रम की सराहना की और शीघ्र प्रकाशन की कामना करते हुए मेरे उत्साह को बढ़ाया, तदर्थ मैं आभारी हूँ।

'एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्यमन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत्' इत्यादि राजशेखर की उक्ति के अनुसार ग्रन्थ-लेखन से भी क्लिष्टकार्य प्रकाशन का है। किन्तु संस्कृत विद्यापीठ में मुझे जिस स्नेह से आलम्बन दिया उससे भी अधिक उदारता-पूर्वक विद्यापीठ के प्राचार्य महोदय डाँ० मण्डन मिश्रजी ने इस प्रबन्ध के प्रकाशन की व्यवस्था में मनोयोग दिया और विभिन्न सम्मान्य विद्वानों की स्वीकृति दिलाकर मेरी रुचि के अनुरूप ही, चित्रादि सहित इसके प्रकाशन की सुविधा दी, तदर्थ मैं पूर्ण कृतज्ञ हूँ।

इस प्रबन्ध पर केन्द्रीय-शिक्षा एवं समाज-कल्याण-मन्त्रालय उपमन्त्री तथा राष्ट्रीय-संस्कृत-संस्थान की शासी परिषद् के अध्यक्ष माननीय श्रीदेवनन्दन प्रसाद यादव महोदय ने संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना लिखने की कृपा की; एतदर्थ उनका हृदय से आभार मानता हूँ।

इस ग्रन्थ का उत्तम मुद्रण पं० रमेश शर्मा, व्यवस्थापक 'अनिल प्रिन्टिंग कारपोरेशन' की सूझ-बूझ और लगन के साथ ही उनके निर्देशन में चित्रादि के अङ्कन जैसा कार्य भी सुलभ हुआ, अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं।

मेरे स्वर्गीय पूज्य पिताजी ज्यो० पं० रमाकान्तजी शर्मा, की बलवती इच्छा थी कि वे इस ग्रन्थ को मुद्रित देखें, किन्तु दुर्दैववश वे इस संसार में नहीं रहे। 'उनके आभिजात्य की आभा से मेरा पथ सदा आलोकित होता रहे' इस भावना के साथ यह ग्रन्थ उन्हीं की स्मृति में पूज्य विद्वज्जनों के कर कमलों में समर्पित करता हूँ :—

शब्दालङ्कारवारान्निधिगतविविध-प्रत्नरत्नानि यत्नाद्,
नूत्नान्यन्विष्य चान्यान्यपि विबुधकृपादृष्टितो यान्यवापम्।
सप्तालोक्यां ग्रथित्वा निजमतिमथितान्यत्र तान्येव मान्याः,
पर्यालोच्य प्रसिद्धयै त्रिदशवरगिरां श्रद्धया वोऽर्पयामि ॥

३३/१७ शक्तिनगर,
दिल्ली-७

विद्वच्चरण-चञ्चरीक
—रुद्रदेव त्रिपाठी

विषयानुक्रमणिका

के ७, ५ और ६ भेद--कुल १८ भेदों का विमर्श एवं तुलना। १-मम्मट-प्रदर्शित लाटानुप्रास के ५ भेद और उनकी मीमांसा। प्रातिपदिकावृत्ति का वैशिष्टच। २-रुय्यक की नवीन दृष्टि और शास्त्रार्थ, राजानक जयरथ एवं उनकी टीका में लाटानुप्रास। ३--शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के नियामक तत्त्व का पुनर्विचार। ४--लाटानुप्रास के स्वरूप-निर्णय के लिये तीन पक्ष। ५--लाटानुप्रास के भेदों में पदस्थ आवृत्ति और नरेन्द्रप्रभ, ३-**श्रुत्यनुप्रास**--दण्डीद्वारा वर्णित वैदर्भमार्ग और श्रुत्यनुप्रास। भोज के अनुप्रास भेदों में श्रुत्यनुप्रास। टीकाकार रामसिंह की दृष्टि में श्रुत्यनुप्रास। १--ग्राम्य, २--नागर और ३--उपनागर। १--मसृण २--वर्णमसृण ३--वर्णोत्कट ४--वर्णानुत्कट, १--समानस्थानीय २-असमानस्थानीय, ३--प्रयत्नैक्यशाली, भोजप्रदर्शित ८ भेदों का विवरण। विश्वनाथ की दृष्टि में श्रुत्यनुप्रास। नरेन्द्रप्रभ की दृष्टि में श्रुत्यनुप्रास-शुद्ध, संकीर्ण तथा उपनागर। अन्य धारणाएँ। **४--वृत्त्यनुप्रास**--दण्डी के द्वारा सांकेतिक भेददर्शन--१--पादगत और २--पदगत। रुद्रट के अनुसार वृत्तियों के ५ प्रकार १--मधुरा, २--प्रौढा, ३--परुषा, ४--ललिता, ५--मुद्रा। अभिनवगुप्त के अनुसार अनुप्रास के ३ भेद १--परुषानुप्रास, २--ललितानुप्रास, ३--मध्यमानुप्रास। अग्निपुराण और एकवर्णगतावृत्ति के ५ भेद मधुरा आदि। अन्य वृत्ति भेद १--कार्णाटी, २--कौन्तली, ३--कौन्ती, ४--कोंकणी, ५--वामनासिका, ६--द्रावणी, ७--माधवी। भोज के अनुसार १२ वृत्तियां, (भौगोलिक आधार पर) वर्णव्यवहार के ३ प्रकार। अन्य आचार्यों के अनुसार अन्य १२ वृत्तियाँ। नमिसाधु के अनुसार 'हरि' नामक आचार्य दर्शित ८ वृत्तियाँ, मम्मट और ३ वृत्तियाँ, जयरथ और वृत्त्यनुप्रास के ६ प्रकार। अन्य आवश्यक सूचन। ५--**छेकानुप्रास**--छेक शब्द विवेचन। उद्‌भट की दृष्टि। भोज और छेकानुप्रास। विद्याधर और टीकाकार मल्लिनाथ के अनुसार छेकानुप्रास। विश्वनाथ और टिप्पणकार दुर्गाप्रसाद के अनुसार छेकानुप्रास। भानुकर की दृष्टि में छेकानुप्रास। नरेन्द्रप्रभ की दृष्टि में छेकानुप्रास ४--भेद। छेकानुप्रास के निर्णीत ४ भेद, स्वरसाम्य और स्वरवैषम्य के आधार पर ८ भेद। ६--**वर्णानुप्रास**--भोज-प्रदर्शित १२ भेद। चित्रविचित्र के अन्य उदाहरण, नरेन्द्रप्रभ और वर्णानुप्रास, रामसिंह की दृष्टि में शुद्धवर्णावृत्ति के ३६ प्रकार। ७--**पादानुप्रास**--भोज प्रदर्शित १२ भेद एवं अन्य चर्चा। **८--नामद्विरुक्त्यनुप्रास** ४--भेद एवं अन्य ६ उपभेद। **९--क्रियानुप्रास**। **१०--कारकानुप्रास**। **११-श्लोकानुप्रास**। **१२--स्फुटानुप्रास**। **१३--अर्थानुप्रास**। **१४--अन्त्यानुप्रास**। **१५--चरणगत-आद्यानुप्रास**, **१६--चरणगत--मध्यानुप्रास**, **१७--चरणगत--अन्त्यानुप्रास**, **१८-आद्यन्त चरणानुप्रास**। **१९--यत्यन्त्यानुप्रास**। **२०--पदाद्यनुप्रास**। **२१-पदमध्या-**

चित्र-फलक-सूची (पृ० ४५३ से ५५२ तक क्रमशः)

संकेत-बोधिका

अ०	अध्याय
अ० स०/सर्व०	अलङ्कार-सर्वस्व
अधि०	अधिकरण
अल०/मणिहार	अलङ्कार मणिहार
उदा०	उदाहरण
ऋग्० सं	ऋग्वेद संहिता
औ० वि० च०	औचित्य विचार चर्चा
का० प्र०	काव्य-प्रकाश
का०मी०	काव्य मीमांसा.
काव्या०/लं०	काव्यालङ्कार
काव्या० सा०सं०	काव्यालङ्कार, सारसंग्रह
खं०	खण्ड
चि०च० अथवा चन्द्रिका	चित्रालङ्कार चन्द्रिका
चि० ब० रा०	चित्रबन्ध-रामायण
छां०	छान्दोग्य उपनिषद्
तृ०	तृतीय
द्वि० उ०	द्वितीय,उच्छवास,/उल्लास
नाट्य०/ना० शा०	नाट्य शास्त्र
परि०, पृ०, प्र०	परिच्छेद, पृष्ठ, प्रथम
म० म० चम्पू०	मन्दारमरन्दचम्पू
म० म०	महामहोपाध्याय
मं०	मन्त्र
माल०	मालविकाग्निमित्र
यजु०	यजुर्वेद संहिता.
रघु०	रघुवंशमहाकाव्य,
स० क० अथवा सर० कण्ठा०	सरस्वतीकण्ठाभरण
सा० द०	साहित्यदर्पण
सुभा०रत्न० भा०	सुभाषित रत्नभाण्डागार
सू०, वृ०	सूत्र, वृत्ति
स्त०	स्तबक

॥ विरूपाक्षवक्षोविहारिण्यै दाक्षायण्यै नमः ॥

संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार

अलंकृतिरलंकृतिः

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः, प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम् ।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां, प्रसन्न-गम्भीर-पदा सरस्वती ॥

—महाकवि भारवि

काव्यैकपात्रविलसद्गुणदोषदुग्ध-पाथःसमूहपृथगुद्धरणे विदग्धाः ।
जानन्ति कर्तुमभियुक्ततया विभागं, चन्द्रावदातमतयः कविराजहंसाः ॥

—श्रीक्षेमचन्द्र

एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण, काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम् ।
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते, लावण्यहीनमिव यौवनमङ्गनायाः ॥

—श्रीविश्वेश्वर

ये केचिदस्खलितबन्धनवप्रबन्धसन्धानबन्धुरगिरः कवयो जयन्ति ।
येषामर्चाचितरसाऽपि चमत्करोति, कर्णे कृतैव भणितिर्मधुरा सुधेव ॥

ओजस्वी मधुरः प्रसादविशदः संस्कारशुद्धोऽभिधा-
भक्तिव्यक्तिविशिष्टरीतिरचितैरर्थैर्धृतालङ्कृतिः ।
वृत्तस्थः परिपाकवानविरसः सद्वृत्तिरप्राकृतः,
शस्यः कस्य न सत्कविर्भुवि यथा तस्यैव सूक्तिक्रमः ॥

—श्रीजगद्धर

खेलत्कौशलमुल्लसत्पदघटाटोपं क्रम-व्युत्क्रम-
प्रोद्घाटचाक्षरगह्वरं सुघटितं व्युत्पत्तिशक्तिप्रभम् ।
नानार्थप्रतिरूपदर्शनसुधा-धाराभिषेकोत्सवं,
काव्यं बन्धुर-बन्धविभ्रमचरं कश्चित् कृती रोचयेत् ॥

सर्वो धातुगणः क्रियादिविपुलो जिह्वाजिरे राजते,
विश्वास्तद्धितवृत्तयः प्रमुदिताः क्रीडन्ति कण्ठस्थिताः ।
कृत्संज्ञा विलसन्ति प्रत्ययघटाः स्वान्तान्तरालाम्बरे,
येषां ते विभवो भवन्ति कृतिनो बन्धोत्कटे कानने ॥

बन्धान् भावभरोत्तरङ्गहृदयान् विस्मेरतासंस्कृतान्,
प्रत्यावृत्तिविलक्षणक्षणचणा वर्णावलीर्न्बधतः ।
उद्घाट्यानुगुणां नयन्ति पदवीं ये सन्मनीषाजुष-
स्ते धन्याः कवयो जयन्ति जगतीं ते कुर्वते कीर्तिताम् ॥

—श्रीमहेश्वरानन्द सरस्वती

॥ देवीं वाचमुपास्महे ॥

प्रथम आलोक

[प्रथम अधिकरण]

जीवन के सामान्य व्यापार एवं भावों की सम्प्रेषणीयता

मानव-जन्म की सफलता उसकी वाणी में केन्द्रित रहती है। काष्ठ, कुड्य और अश्म के समान मूक अवस्था में बैठा व्यक्ति अपने हृदय में क्या सोचता है ? यह प्रश्न सहज होता है, पर उसके हृदय में भावोदय भी होता है, अथवा नहीं, यह प्रश्न उससे भी पहले उठता है और हम तब तक इसका निराकरण नहीं कर पाते, जब तक वह हिले-डुले नहीं। अतः भावोदय की किरण-कल्पना की कारणभूत पंचेन्द्रिय-क्रिया को मानना ही उत्तम है। इन पंचेन्द्रियों का संवरण और विवरण ही भावोदय की पूर्वानुभूति है। जब सुसमाहित चित्त रहता है तो अनेक प्रकार से भावोदय होता है,[1] और उसे प्रकट करने के लिये कभी पृथक्-पृथक् और कभी सामूहिक प्रक्रिया से इन्द्रियाँ भाव-निवेदन करती हैं। पंचेन्द्रिय-स्फुरण से उत्पन्न सुख-दुःखानुभूति का प्रतिवेदन जब आत्मीय अथवा परकीय के समक्ष किया जाता है तब कायिक-संकेत और वाचिक शब्द-विन्यास उसमें सहायक बनते हैं। नैसर्गिक प्रक्रिया और प्रयत्न-परिशीलित चेष्टाओं में अन्तर रहता ही है। ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं कि जब मानव अपनी आकांक्षाओं तथा कुण्ठाओं को सीधे शब्दों में कहना उचित नहीं समझता। किन्तु मर्यादाएँ उसे रोकती हैं और उचित भावों का उभार उन्हें प्रकट करने को बाध्य करता है, तब वह उन्हें प्रकारान्तर से प्रस्फुटित करता है। बुद्धिमान् उसे समझ लेते हैं और मूढ के लिये तो वे आवश्यक भी नहीं।

मानव की अनुभूति जब एक ही रूप में ढलती रहती है तो उसके प्रति अनासक्ति होना स्वाभाविक ही है। अनासक्ति ही उपेक्षा की जन्मभूमि है, ऐसी स्थिति में वक्ता और श्रोता दोनों ही परस्पर उपेक्षणीय बन जाते हैं, तब प्रकटन-व्यापार में नवीनता लाना आवश्यक हो जाता है और 'नवीनता प्रतिक्षण नवीन होती है तो वह रमणीयता का रूप धारण कर लेती है।'[2] 'रमणीयता ही अलङ्कार की जननी है' – शब्दोच्चारण से

१—तुलना कीजिये—मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।

—काव्यालङ्कार, रुद्रट, १। १५।

२—क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। शिशुपालवध—४।१७॥

ही सुनने के साथ-साथ अर्थावबोध होता है, अतः आरम्भ में शब्दालङ्कार की प्रधानता स्वयं-सिद्ध है जिसके सम्बन्ध में हमारा यह अध्ययन प्रस्तुत है ।

क —भाव-सम्प्रेषण की विविध स्थितियाँ

भाव-सम्प्रेषण के लिये जिन स्थितियों का सहयोग लिया जाता हैं उनकी परिगणना अथवा इयत्तानिर्धारण एक दुष्कर कार्य है । क्योंकि 'वाणी के मार्ग अनन्त हैं,'[१] सृष्टि के प्रत्येक क्रिया-कलाप में हम भाव-सम्प्रेषण की विधा का दर्शन करते हैं चाहे वह पर्वतों की स्थिरता हो अथवा झरनों का कल-कल निनाद, पक्षियों का कलरव हो अथवा पत्रों का मर्मर रव । पशुओं की ध्वनि अथवा मानव की कथन-क्रिया में जो एक प्रकार की भाव-सम्प्रेषण की विधा चिरनिहित है उसी से हम आनन्द और विषाद का अनुभव कर लेते हैं । इस भाव-सम्प्रेषण के लिये गूँगा भी 'सैना-बैना' का प्रयोग किये बिना नहीं रहता ।

इस प्रक्रिया में मानव ने सबसे अधिक माध्यम उपलब्ध किये हैं । वह रोदन-हसन, संयोग-वियोग और निवेदन-प्रतिवेदन आदि के लिए अनेक प्रकारों का उपयोग करता आया है किन्तु जब इन पर बुद्धि के अंकुश से नियन्त्रण हुआ तो ये अनुकरणीय बन गये । वैसे तो अपनी मनोदशा को ज्यों-का-त्यों दूसरे में पहुँचा देना कठिन कार्य है । सम्भव है किसी अलौकिक साधन से एक के भाव दूसरे में पहुँच जाएँ किन्तु साधारण मनुष्य के पास भाषा का ही एक साधन है । भाषा के द्वारा हमारे भाव दूसरे के मन में उसी प्रकार पहुँच जाते हैं जिस प्रकार दूरभाष–टेलीफोन की विद्युत्तरंगों के सहारे हमारी ध्वनि दूसरी जगह पहुँच जाती है ।

व्यक्ति के विचार जितने सुगठित होंगे, जितनी भाषा में मूर्तता होगी और जितनी वर्णित विषयों की अभिज्ञता होगी, उसी मात्रा में समान भाव उत्पन्न करने में सफलता मिलेगी । एतदर्थ पाठक का सहृदय होना तो आवश्यक है ही; साथ ही लेखक और कवि के भावों की जितनी स्पष्टता, तीव्रता, सुसंयोजना और व्यक्तीकरण की भाषागत उचितता होगी उतनी ही भाव-प्रेषण में अधिक सफलता मिलेगी । अतः आत्माभिव्यक्ति के लिये, अपने हृदय के आनन्द को दूसरों तक पहुँचाने के लिये और भाव-प्रेषण में सफलता प्राप्त करने के लिये भाषा की सुसंयोजना आवश्यक है । इस आवश्यकता की पूर्ति में अन्तस्तल की सोई हुई अनुभूतियों को कवि-हृदयों द्वारा सँजोने के लिये किये गये प्रयास एक-दो नहीं, अनन्त हैं, अपरिमेय हैं ।

ख —शब्द की महत्ता

प्रकृति ने मनुष्य और पशुजगत् को अपना सुख-दुःख व्यक्त करने के लिये कुछ

१—अस्त्यनेको गिरां मार्गः ।— काव्यादर्श १।४० ।

ध्वनियाँ प्रदान की हैं तथा जड़-प्रकृति में भी आकर्षण-विकर्षण के नियम से कुछ स्वर उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं किन्तु मनुष्य को प्राप्त ध्वनियों की जैसी अक्षर-परिणति है, वैसी अन्य की नहीं। मनुष्य ने इस प्रकृतिदाय को स्वीकार करके उसे अपना नियामक नहीं बनने दिया, अपितु उसमें अपनी सर्जनात्मक-चेतना को मिलाकर उसने जीवन के रहस्य का समाधान पा लिया है। उसके अथक प्रयासों ने भाषा को भी नये-नये अवतार दिये हैं तथा अशरीरी ध्वनि को शब्द की सार्थकता में साकारता दी है और साथ ही उस शब्द को ब्रह्म अथवा विराट् अखण्ड चेतना का पर्याय भी बना दिया है।

यही कारण है कि शब्द के प्रसाद से लोकयात्रा प्रवर्तित होती है, जगत् के समग्र व्यवहार चलते हैं, संसार के समस्त प्राणी अपने मनोगत भाव प्रकट करते हैं तथा दूसरों के तात्पर्य भी इसके द्वारा ही ग्रहण किये जाते हैं। अतः अज्ञान के अन्धकार में प्रकाश की रश्मियाँ छिटकाने वाला शब्द सूर्यरूप है। आलंकारिक-शिरोमणि आचार्य दण्डी का यह कथन सत्य है कि—

इदमन्धं तमः कृत्स्नं, जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते॥ काव्यादर्श १।४॥

इस प्रकार शब्द वस्तुतः ज्योतिःस्वरूप है और इसकी गरिमा के गीत सभी शास्त्र मुक्त कण्ठ से गाते हैं।

ग—शब्द और अर्थ की सम्पृक्तता

शब्द और अर्थ पूर्णतः सम्पृक्त हैं, इस तथ्य को सिद्ध करने के लिये महर्षि पतंजलि ने– 'सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे', और महाकवि कालिदास ने- 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' कहकर इनके सम्बन्ध की सिद्धता तथा इनमें शिव और शक्ति की प्रतिष्ठा के दर्शन करवाये हैं। इस 'शिव-शक्ति-प्रतिष्ठा' का ही परिणाम है कि यह मानव स्फूर्ति का पुञ्ज बनकर अघटित-घटना की ओर उन्मुख बना रहता है। शब्दार्थ की इसी जटिल समस्या ने मनीषियों के द्वारा किये जाने वाले काव्यस्वरूप-निर्णय में भी 'शब्दार्थौ काव्यं' कहकर परस्पर-संसृष्ट सत्ता का दिग्दर्शन किया है। शब्दार्थ की सम्पृक्ति में पूर्वाचार्यों ने 'शब्द' को लाक्षणिक और व्यंजक से पूर्व उपस्थित रहने के कारण 'वाचक' माना है और 'अर्थ' को 'वाच्य' कहा है, क्योंकि लक्ष्य, व्यंग्य और तात्पर्य से पूर्व उसका ज्ञान होता है।

महाभाष्यकार की दृष्टि में शब्द की चतुष्टयी प्रवृत्ति ग्राह्य है - 'अर्थ' अभिधा होकर प्रवृत्त होता है, जिसका वाचक 'शब्द' है। उसके 'द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति ये चार भेद हैं। इनमें क्रमशः 'जाति, क्रिया और गुण' का पृथग् आधार मूर्तिमान् द्रव्य है। 'द्रव्य' से अपृथग्भूत इन्द्रियग्राह्य 'गुण' होता है। द्रव्यविकार से धात्वर्थरूप 'क्रिया' नित्य अनुमेय होती है, और क्रिया एवं गुण से भिन्न विविध और अनेक द्रव्यों में एकत्वबुद्धि 'जाति' कहलाती हैं। शब्द का अभेदव्यवहार अर्थ के साथ लोकसिद्ध है।

शिवपुराणान्तर्गत वायवीय संहिता के पूर्वखण्ड (अ० २६) में जगत् की वागर्थात्मकता की सिद्धि का निर्वचन भी इस पक्ष का पोषक है - वायुदेव महर्षियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—'कोई भी ऐसा अर्थ नहीं है, जो बिना शब्द का हो और कोई भी ऐसा शब्द नहीं है जो बिना अर्थ का हो। अतः सभी शब्द समयानुसार सम्पूर्ण अर्थों के बोधक होते हैं। प्रकृति का यह परिणाम शब्द-भावना और अर्थ-भावना के भेद से दो प्रकार का है। उसे परमात्मा शिव तथा पार्वती की प्राकृत-मूर्ति कहते हैं। उनकी जो शब्दमयी विभूति है, उसे विद्वान् तीन प्रकार की बतलाते हैं—स्थूला, सूक्ष्मा और परा। स्थूला वह है जो कानों को प्रत्यक्ष सुनायी देती है, जो केवल चिन्तन में आती है वह सूक्ष्मा कही गयी है और जो चिन्तन की भी सीमा से परे है, उसे परा कहा गया है। वह स्वरूपतः विभाग-रहित होती हुई भी छः अध्वाओं के रूप में विस्तार को प्राप्त होती है। उन छः अध्वाओं में से तीन तो शब्दरूप हैं और तीन अर्थरूप हैं। मन्त्राध्वा, पदाध्वा और वर्णाध्वा ये तीन अध्वा 'शब्द' से सम्बन्ध रखते हैं तथा भुवनाध्वा, तत्त्वाध्वा और कलाध्वा ये तीन 'अर्थ' से सम्बन्ध रखने वाले हैं। इन सब में भी परस्पर व्याप्य-व्यापक-भाव बताया जाता है। सम्पूर्ण मन्त्र पदों से व्याप्त हैं, क्योंकि वे वाक्यरूप हैं। सम्पूर्ण पद भी वर्णों से व्याप्त हैं, क्योंकि विद्वान् पुरुष वर्णों के समूह को ही पद कहते हैं। वे वर्ण भी भुवनों से व्याप्त हैं, क्योंकि उन्हीं में उनकी उपलब्धि होती है। भुवन भी तत्त्वों के समूह द्वारा बाहर-भीतर से व्याप्त हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति ही तत्त्वों से हुई है। उन कारणभूत तत्त्वों से ही उनका आरम्भ हुआ है। अनेक भुवन उनके द्वारा ही प्रकट हुए हैं। यह छः प्रकार का अध्वा वागर्थमय है, यही सम्पूर्ण जगत् के रूप में स्थित है, सभी शास्त्र-समूह इसी भाव का विस्तार से प्रतिपादन करते हैं।' आदि।

घ—वाचमर्थोऽनुधावति

विश्व के अक्षरविलास में वाणी की अप्रतिहत-सत्ता अनुस्यूत है, तथापि इसको प्राप्त करना अथवा इसकी करुणा-पूर्ण दृष्टि से अनुरंजित होना पूर्वपुण्यों पर ही निर्भर है। यही कारण है कि वेदों में वाणी की महत्ता बतलाते हुए कहा है कि 'कोई वाणी को देखता हुआ भी नहीं देख पाता, सुनता हुआ भी नहीं सुन पाता और किसी के लिये इच्छावती कल्याणवसना भार्या के समान यह वाणी अपने आपको समर्पित कर देती है तथा इसकी कृपा प्राप्त करके भी यदि अर्थज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता तो वह केवल भारवाही ही रहता है,[1] जबकि अर्थज्ञ ही कल्याण का भागी होता है। अर्थ की महत्ता

१—उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासः॥—ऋक्० सं० १०।७१।४।
स्थाणुरयं पुरुषः किलाभूदधीत्य यो विजानाति नार्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूत-पाप्मा॥—निरुक्त-१।१८।

से ही तो वाणी की स्वरूप-प्रतिष्ठा होती है। वाणी ओठों के सम्पुट में अन्तर्हित रहती है, इसके अन्तःपुर के तोरण पर दाँतों के वज्रकपाट लगे हैं जिसके अनावरण से वाणी का वास्तविक स्वरूप प्रत्यक्ष होता है। अर्थविवक्षा से ही शब्दब्रह्मोदय सर्वमान्य है। अतः शब्दार्थ की सम्पृक्तता सुप्रसिद्ध है।

इस प्रकार शब्द और अर्थ की सम्पृक्तता सर्वग्राह्य होने पर भी वेदों की महिमा शब्दों की प्रधानता पर ही सुदृढ है। वहाँ मन्त्रों में प्रयुक्त शब्दों का न तो हम स्थान-विपर्यय कर सकते हैं और न पर्याय शब्दों के द्वारा उनका रूप-परिवर्तन कर सकते हैं। जो शब्द जिस रूप में है, उसका वैसा ही ग्रहण अभीष्ट होता है। यही मन्त्र का मन्त्रत्व है।

वृहदारण्यक उपनिषद् में 'यः कश्च शब्दो वागेव सा' (१।५।३) कह कर शब्द और 'वाक्' में अभिन्नता बतलाई है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में 'वाक्सूक्त' के रूप में जो वाणी का वैशिष्ट्य दिखलाया है उससे भी शब्द की ही महत्ता प्रतिपादित होती है। तथा 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते', 'अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते' काव्यालापाश्च ये केचिद् गीतकान्यखिलानि च। शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः॥ आदि वाक्यों में भी शब्द की महिमा का ही वर्णन प्राप्त होता है।

यह भी चिरन्तन सत्य है कि अर्थावगम कभी भी शब्द के बिना नहीं हुआ है, जबकि अर्थज्ञान-शून्य भी शब्द श्रवण मात्र से कार्यरत होता आया है। सम्भव है इसी शब्द की सार्वभौम सत्ता को साकार देखकर कविवरेण्यों ने शब्दालङ्कारों में अनुप्रास, यमक आदि के द्वारा श्रव्य-सुनने मात्र से आनन्दविभोर करने वाले काव्य के तथा चित्रकाव्य के द्वारा दृश्य-देखने मात्र से अलौकिक चमत्कार की चिन्तना में विहार करवाने वाले काव्य के स्वरूप को हमारे समक्ष उपस्थित किया हो! चमत्कृति के प्रति साहजिक अनुराग मानव को बुद्धि का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। इसलिये वह अर्थपोषक, रस-साधक, ध्वनि-विवेचक और कहीं-कहीं शब्दाडम्बर-वाग्जाल का विरोधक रहते हुए भी अपने आप को इस साधना से अछूता नहीं रख पाया है।

उदाहरणार्थ 'भरत' ने उपमादि तीन अर्थालङ्कारों के साथ शब्दालङ्कार के रूप में केवल यमक को ही ग्रहण किया तथापि उसके दस भेद दिखलाकर शब्दालङ्कार को महत्त्व दिया है। भामह द्वारा अनुप्रास की पृथक् सत्ता स्थिर करने से, दण्डी द्वारा यमक के तीन सौ पन्द्रह भेद एवं प्रहेलिका के सोलह प्रकार प्रस्तुत करने से, उद्भट, वामन, अग्निपुराण–(जो अर्थालंकार के बिना सरस्वती को विधवा मानता है)[१], भोज, रुद्रट आदि आलङ्कारिकों द्वारा मुक्तकण्ठ से अर्थालंकार की ही प्रशंसा करने पर भी शब्दालंकार

१—अर्थालङ्कार-रहिता विधवेव सरस्वती ॥—अग्निपुराण ३४४।२॥

के सर्वाधिक विस्तृत रूप देने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे हृदय से शब्दालंकार के पोषक थे। स्वयं 'ध्वन्यालोक' के प्रणेता आनन्दवर्धन की चित्रकाव्यपूर्ण रचना 'देवीशतक' उनके शब्दालंकार-परक दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से पुरस्कृत करती है! रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ की सभी कृतियाँ अनुप्रास से संवलित हैं। 'वल्गद्गाण्डिवमुक्त-काण्डवलयज्वालावलीताण्डवः (द्वि० आनन, रसगंगाधर) आदि पद्यों में भारवि के आनुप्रासिक प्रयोग से भी अधिक शाब्दिक मसृणता दिखाई देती है। व्यंग्यकृत चमत्कार के साथ शब्द-चमत्कृति अत्यावश्यक है। प्रथमाकर्षण के लिये अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों का प्रयोग स्पृहणीय माना जाता है। कविप्रतिभा का प्रधान आधार भी शब्द है। अतः पण्डितराज ने शब्द को काव्य कहा है।[1]

ङ—वाणी का सहज एवं प्रयोजनीय स्वरूप

दैवीसत्ता के परखने वाले वैदिक मन्त्रद्रष्टाओं ने 'देवीं वाचमजनयन्त देवाः[2] कहकर वाणी के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार विभाग[3] प्रतिष्ठित किये हैं तथा इनका ही दूसरा नाम परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी माना गया है।

लोकयात्रा की अद्वितीय सहायिका इस वाणी के महत्त्व को जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा था और उसका उत्तर 'वागेवास्य ज्योतिर्भवति' के रूप में मिला। साथ ही अनुभूति-शून्य मानव के लिये वाणी की सृष्टि कितनी आवश्यक थी यह भी छान्दोग्य उपनिषद् में-'वाग्वाव नाम्नो भूयसीः' से आरम्भ कर 'वागेवैतत् सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति' (७।२) पर्यन्त कथन करके समस्त ज्ञान की परिसीमा वाणी द्वारा ही सहज सम्भव बतलाई है। 'पुरुषस्य वाग् रसः' (छां० १ अ० म० २) मनुष्य का प्रधान अङ्ग वाणी है यह कह कर सर्वथा सिद्ध किया है कि 'मनुष्य और वाणी का अभिन्न सम्बन्ध है।'

ज्ञान का एक मात्र अधिष्ठान वाणी ही है। यद्यपि वाणी का क्षेत्र मन की अपेक्षा कहीं सीमित है, फिर भी वाणी धेनु है, प्राण इसका वृषभ है और मन उसका बछड़ा है। अतः वाणी के मूल में निहित मानसिक क्रिया का प्राकट्य परस्पर प्रतिष्ठित सम्बन्ध पर ही निर्भर है। इस वाणी का व्यवहार बड़ी ही तत्परता से करने का आदेश 'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो०'[4] इत्यादि मन्त्र से पूर्णतः प्राप्त होता है। आत्मा की

१—रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ॥ १॥—रसगङ्गाधर, प्रथम आनन।

२—ऋक्संहिता, निरुक्त में उद्धृत—११।२९।

३—चत्वारि वाक् परिमिता पदानि। ऋक्संहिता १।१६४।४५।

४—सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ॥
—ऋक्संहिता १०।६१।२

अमृतमयी कला वाणी का साम्राज्य त्रिकालसिद्ध, अबाध्य एवं अकाट्य तो है ही, साथ ही साथ अपरिहार्य भी है।

प्रतिक्षण नवीन परिधानवाली रमणीयता का उपासक मानव, सहजा वाणी के सहारे दैनन्दिन कार्य-कलापों की सिद्धि करता है, अपनी आन्तरिक आकांक्षाओं को मूर्तरूप देता है; जागतिक-व्यवहारों के रेखाचित्रों में रंग भरता है और जाने-अनजाने में होने वाली प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण भी रखता है। किन्तु पूर्वसंस्कारों की प्रबलता एवं प्रतिष्ठा की पिपासा अथवा साधुवाद सुनने की अभिलाषा उसकी वाणी में कलात्मक अभिव्यक्ति लाने का प्रयास करती है और किसी सीमा तक उसमें सफलता भी मिलती रहती है। वही प्रयोजनीय-स्वरूप आह्लादकता तथा माधुर्यभाव का कारण बनता है। यह कहा जा सकता है कि उसका रहस्यात्मक-रूप, जो वास्तविक है वह इससे आवृत हो जाता है, तो इसका समाधान यही होगा कि रहस्यानुभूति के साधक सब नहीं हो सकते और लौकिक साधना के लिये यही गतिशील स्वरूप आवश्यक है। यह मानने में तो कोई आपत्ति नहीं कि प्रत्येक परिवर्तनशील वस्तु में अपरिवर्तनशील अंग रहता है जो क्रमशः उस स्थिरबिन्दु तक पहुँचाने का निरन्तर प्रयास करता है, ठीक इसी तरह उपर्युक्त कलात्मक वाणी का प्रयोजनीय स्वरूप निश्चित लक्ष्य तक पहुँचाने में सहयोगी ही बनेगा।

चतुर्विध वाणी का जब तक संस्कार नहीं होता, वह भाषा नहीं बनती। क्योंकि भाषा का अव्यक्त-स्वरूप वाणी है। उदाहरणार्थ-जैसे प्राकृतिक पाषाण बिना संस्कार के मूर्ति नहीं हो सकता, उसमें कलाकार-शिल्पी की पैनी-छैनी का संस्पर्श नितान्त आवश्यक है। इसी प्रकार वाणी और भाषा में सामान्य भिन्नता तो ग्राह्य है ही, साथ ही साथ उसका सम्बन्ध प्रकृति और पुरुष अथवा बीज और वृक्ष के सम्बन्ध की तरह अन्योन्याश्रित भी सिद्ध होता है। वाणी और विचार के परस्पर सम्बन्ध की व्यंजना भी हमें उपलब्ध होती है किन्तु बिना भाषा के विचार सम्भव है कि नहीं, यह एक विवादात्मक प्रश्न है। भाषा-विज्ञान के भाषा की उत्पत्तिविषयक कुछ मत भाषा और विचार के परस्पर सम्बन्ध पर ही आश्रित हैं। अतः 'वाणी विचारों को भाषा के रूप में प्रकट करती है' यह कहना अनुपयुक्त न होगा।

भाषा के इसी दायित्व पर साहित्य का सतरंगी धनुष तना हुआ है जिसकी सुषमा से प्रत्येक सचेतन मानव न्यूनाधिकरूप में अवश्य ही आकृष्ट होता है। इस आकर्षण का मूलतः प्रेरक यदि कोई हो सकता है तो वह आलंकारिक ही। इसी आकर्षण की निरन्तरता, चिरनवीनता एवं सद्यो-हृदयावर्जकता के लिये साहित्यकार-कवि अनेक प्रकार के वाचिक प्रयोगों का आश्रय लेता है, जो वर्णमैत्री, शब्दसाम्य, पदशय्या अथवा वाक्य-विन्यास के रूप में प्रतिक्षण आकर्षण बनते रहते हैं। इन्हीं की एकाधिक आवृत्तियाँ, स्थान नियम से विहित विन्यास तथा

समान-स्थानीय, समान-वर्गीय अथवा समान-प्रयत्नों के सहारे किया गया विन्यास, हमें अनन्त पद्धतियों के रूप में प्राप्त होता है, क्योंकि पारवेधी कवि सहस्र-कुल्याओं में प्रवाहित होने वाले पावन, सर्वसारी सोम का गुणगान करके अपनी वाणी को परिपूत करते हैं और उसे नवोढा वधू के समान भाँति-भाँति के अलंकारों से सजाते हैं। और ऐसी अलंकृत वाणी वाले कवियों की मधुवाही गीतियाँ विश्व के प्रेरक, प्रियदर्शी, जगत् के चितेरे और शोभनगामी रुद्रों को भी अपने वश में कर लेती हैं[1] यह ऋग्वेद के सोमपरक मन्त्र से स्पष्ट है। इसी प्रकार कवि का लक्ष्य भी संसार को सरसित करने वाली अपनी वैखरी वाणी के द्वारा उसके रस और रूप को विश्व में प्रवाहित कर देना तथा जगती के कण-कण को उसमें सराबोर कर देना ही माना गया है और यही वास्तविक रूप में 'वाणी का सहज एवं प्रयोजनीय स्वरूप' है।

———

[द्वितीय अधिकरण]

शब्द और अर्थ में अलंकरण की प्रवृत्ति

काव्य का मूल गुण है- रमणीयता, उसकी चरम सिद्धि है- मनःप्रसादन और उद्दिष्ट परिणाम है—चेतना का परिष्कार। ये सब भावों के व्यापार हैं। भावतत्त्व के कारण ही काव्य में रमणीयता आती है, भावों की उत्तेजना से वाणी में भी उत्तेजना आ जाती है तथा चित्त के चमत्कार से वाणी में चमत्कार का समावेश होता है, यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

इस तथ्य की पूर्ति के लिये भावनाओं का उद्दीपन, अनुरंजन और अलंकरण आवश्यक है। इनमें उद्दीपन और अनुरंजन अलंकरण की अपेक्षा रखते हैं। क्योंकि उच्चारण में यदि 'झंकार, औज्ज्वल्य, शब्दगुम्फ, अर्थप्रौढि, उक्तिवैचित्र्य, स्वाभाविकता एवं अग्राम्यत्व' नहीं होगा तो किसी तरह की भावना का उद्दीपन होना असम्भव होगा तथा यदि भावोद्दीपन ही शिथिल रहेगा तो उसमें अनुरंजन की प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः शब्दों में ही वाणी के अलंकरण का तत्त्व-वैभव समाविष्ट है। शब्द के उच्चारण के पश्चात् ही अर्थावगति साध्य है। इसलिये शब्द को अलंकृत करना विद्वानों का लक्ष्य रहा है।

अलंकरण का प्रारम्भिक स्वरूप

भाषा के व्यवहार से पूर्व अव्यक्त ध्वनि से ही व्यवहार किया जाता रहा होगा। प्राकृतिक परिवेश में ही विहार करने वाले आदि मानव ने वहीं की अव्यक्त ध्वनियों के

१—सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः।
रुद्रास एषा मिषिरासो अद्रुहः स्पशः स्वञ्चः सुदृशो नृचक्षासः॥ ऋग्वेद ९। ७३।७।

अनुकरण से अलंकरण की प्रेरणा प्राप्त की होगी और वही भविष्य में हृदयग्राही बनने पर उत्तरोत्तर विकसित होती हुई आज के सुविकसित स्वरूप में आ पहुँची। उदाहरण के लिये एक गोपाल के द्वारा जंगल में गोचारण के लिये जाते हुए गौओं को आगे बढ़ने की प्रेरणा देने की भावना से उच्चारित 'हच्-हच्' 'ही-ही' आदि शब्द यद्यपि किसी विशेष अर्थ या चमत्कार से तो शून्य प्रतीत होते हैं, किन्तु उसके उच्चारण से प्रबुद्ध पशुओं का गतिमान् रहना अपनी सार्थकता का बोधक बन जाता है। इसी प्रकार सद्योजात बालक के रोदन में निहित उसकी समस्त आकांक्षाओं का अर्थ उसकी माता के लिये उद्बोधक होता है और धीरे-धीरे परिवार का प्रत्येक प्राणी उसकी सांकेतिक ध्वनि के अर्थों को समझते हुए बालक की आवश्यकता को पूर्ण करता है। इसी अवधि में बालक भी परिवार के सदस्यों की कुछ अंशों में दी गई शिक्षा और अधिक अंशों में अनुकरण द्वारा अपनी भावनाओं को अलंकरण देने का प्रयास करता है। अतएव यह कहना उपयुक्त होगा कि आरम्भ में जिस भावाभिव्यक्ति के लिये केवल रोदन ही पर्याप्त था उसी के लिये उत्तरकाल में अनुनय-विनय, हास-विलास और रोष-घोष की अभिव्यक्ति विभिन्न शब्दों से की जाती है जो कि अलंकरण का प्रारम्भिक स्वरूप होता है।

यही परम्परा काव्य-निर्मिति में भी परिलक्षित होती है। उदाहरणार्थ 'वसन्त में आम्रमंजरियों के आस्वादन से उन्मत्त कोयल जब अपनी स्वर-लहरी को 'कुहू-कुहू' जैसे अव्यक्त रूप में सुनाती है तो मानव-मन में एक हलचल-सी मच जाती है, वह भाव-विभोर हो जाता है। इसी स्थिति को पहचान कर कवि प्रारम्भ में स्वशब्द द्वारा और बाद में अनुरूप शब्दों द्वारा मानव-हृदय में कोयल की कूक से उठने वाली हूक को जगाने में सफल होता है। इसी से वह अलंकरण की प्रवृत्ति को स्थिर कर लेता है और उसे यत्र-तत्र अनुकरण के माध्यम से प्रस्तुत भी करता है।

यही कारण है कि भोजप्रबन्ध के कालिदासीय पद्य में प्रयुक्त-ठठं ठठं ठं ठठठं ठठं ठम्' जैसे वर्णों का अस्थान-प्रयोग नहीं माना जाता है और इसके प्रयोग में चमत्कार का भी अनुभव करते हैं। इसी प्रकार 'दीर्घ-दीर्घा हि मार्गाः' इस वाक्य में एक के बाद एक आने वाले दीर्घ आकार के मार्ग की दीर्घता पूर्ण प्रभावोत्पादक होती है। काव्य-प्रकाश में अधमकाव्य के उदाहरण में प्रदर्शित 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा' पंक्ति में भी हम गंगा को हिमालय से गिरती और एक शिखर से दूसरे शिखर पर उतरती हुई सुनते हैं जब कि अनुप्रास के नियोजन से 'उद्यदुदारदर्दुरदरी' आदि पंक्ति में प्रयुक्त दकार और रेफ के अनुप्रास से हिमालय की कन्दराओं में बैठे मेंढकों की उच्छलन एवं आरटन की क्रिया का मधुर आभास हमें सहज ही प्राप्त हो जाता है। अतः अर्थानुकूल स्वर या व्यञ्जनों का प्रयोग रस का आधार बन कर अलङ्करण की प्रवृत्ति को मूर्तरूप देने में सहायक बन जाता है। वाल्मीकि द्वारा प्रोक्त 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः' इत्यादि पद्य में और कालिदास द्वारा प्रयुक्त 'न खलु न खलु बाणः

संनिपात्यः' इत्यादि पद्य में विन्यस्त दीर्घ और लघु स्वरमाला ही निषाद के लिये अभिशाप और हरिण के लिये प्राण-रक्षण में सहायक बनी है।

काव्य के उपादान 'शब्द' होते हैं और शब्द श्राव्य हैं। संस्कृत भाषा में काव्य शब्द का अर्थ विशाल है। नाटकादि 'दृश्य' होते हुए भी शब्द से अनुप्राणित होकर ही अभिनय की प्रेरणा देते हैं। अतः ध्वनि का अनुकरण सीधा रसबोधक न होकर शब्द का अनुकरण रस सृष्टि में सहायक होता है। यही कारण है कि बहुत प्राचीन काल से अनुप्रास, यमक आदि शब्दालङ्कारों को काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है।

अलंकरण का विकसित स्वरूप

'शब्दों की सुन्दरता से काव्यानन्द की अभिव्यक्ति होती है' इस चिर एवं स्थिर धारणा से अलंकरण की प्रवृत्ति का विकास होता गया। वेदों में ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनमें शब्द-शय्या के अत्यन्त मनोरम उदाहरण प्राप्त होते हैं। यथा—

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्नधा वसुविद् यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः॥ ऋग्वेद १।४।४९।

यहाँ एक-एक अक्षर की आवृत्ति से—प्ररण्यानि रण्यवाचो भरन्ते' जैसे मन्त्रों में शब्दों की आवृत्ति से तथा—'कस्मै देवाय हविषा विधेम' जैसे मन्त्रों में वाक्य की आवृत्ति से अलङ्करण का पूर्वरूप प्रस्तुत हुआ है। वैदिक मन्त्रों में कविता के तात्त्विक गुणों की उपलब्धि मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदाहरण है। उस समय इस अलंकरण प्रवृत्ति का जो नामकरण आज किया गया है वह अवश्य ही नहीं रहा होगा किन्तु मार्ग-संकेत के लिये तो ये निश्चित ही पान्थ-दीप रहे हैं।

जैसे-जैसे मानव ने बुद्धि-बलोदित कर्मों का विकास किया उसकी इस अलंकरण प्रवृत्ति का भी विकास होता गया है। इसका प्रमाण हमें कालक्रम से विरचित साहित्य का अनुशीलन करने पर मिल जाता है। वाल्मीकि-रामायण में कोमलकान्त पदावली का प्रयोग तथा महाभारत में शब्दालंकार की सरल के अतिरिक्त जटिल-प्रणाली का प्रयोग तथा उत्तरकाल के महाकाव्यों में क्रमिक निरन्तरता एवं सान्द्रता का अभिनिवेश हमें आपाद-शिख अलंकरण-विकास की स्थिति से परिचित करा देता है। उदाहरण के लिये यहाँ कतिपय पद्य प्रस्तुत हैं—

१- लोकस्य पापानि विनाशयन्तं, महोदधिं चापि समेधयन्तम्।
भूतानि सर्वाणि विराजयन्तं, ददर्श शीतांशुमथाभियन्तम्॥
—वाल्मीकि रामायण—सुन्दरकाण्ड, ५ सर्ग, २ श्लोक।

यहाँ वर्णन-सौन्दर्य के साथ ही वर्ण-कौतुक को भी प्रश्रय मिला है, जो अन्त्यानुप्रास के रूप में निविष्ट है। तथा—

२—वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति, ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः, प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवङ्गमाः॥ वहीं।

यहाँ पूर्वार्ध में क्रिया-माला द्वारा और उत्तरार्ध में कर्तृमाला द्वारा यत्यनुप्रास का निर्वाह किया गया है। इसी प्रकार भर्तृहरि के—

३—'धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च'

इत्यादि नीतिशतक के पद्य में कर्ममाला एवं चकार का बहुल प्रयोग आनुप्रासिक परिधि में आकर्षण का द्योतक है, जब कि—

४—रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं, भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्री:।

इत्यादि पद्य के पूर्वार्ध में समान-कालिक क्रियाओं का विन्यास सहृदयहृदयावर्जक है। ऐसी ही आवृत्तियों के आधार पर शब्दालंकार के अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्रादि भेदों में परिपूर्ण विकास किया गया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित शंकरकवि का पद्य दर्शनीय है—

१—वाटीषु वाटीषु यदीययोषाः, शीतासु नीता सुरतेन तान्तिम्।
उत्फुल्ल-सत्पल्लवपुष्पशय्या, भद्रासु निद्रासुखमाद्रियन्ते॥
—श्रीकृष्णविजयकाव्य-१.२३।

यहाँ द्वितीयाक्षरप्रास को महत्त्व देते हुए पद्य की रचना की गई है, जब कि यही प्रवृत्ति वृत्त्यनुप्रास में जाकर पूर्ण विकसित हो जाती है। अधिक वर्णवाले शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा जैसे-छन्दों में ऐसे अनुप्रास का विलास परम रमणीय प्रतीत होता है। यथा—

२—अद्रचः प्रत्यग्रवल्गत्तरलतरशरं नन्वयं धन्वदण्डं,
चण्डं कर्षन्नमर्षप्रसररसलसद्गर्वसर्वस्ववश्यः।
वर्णान् हर्षप्रकर्षं गगनतलगतस्वर्गसद्वर्गमन्तः-
प्रत्यक्षत्र्यक्षकल्पः प्रबलपरबलध्वंसनं स व्यधत्त॥
—नरनारायणानन्दमहाकाव्य १४ सर्ग ३६वाँ पद्य।

वस्तुपाल के इस पद्य में 'त्र्यावर्तयमक' का पूरे पद्य में निर्वाह चमत्कारकारी है। यही यमक की परम्परा पूरे काव्य में प्रयुक्त होने पर अपनी चरम-परिणति को प्राप्त हुई है।

३—श्रेयान् श्रीवासुपूज्यो वृषभजिनपतिः श्रीद्रुमाङ्कोऽथ धर्मो
हर्यङ्कः पुष्पदन्तो मुनिसुव्रतजिनोऽनन्तवाक् श्रीसुपार्श्वः।
शान्तिः पद्मप्रभोरो विमलविभुरसौ वर्धमानोऽप्यजाङ्को,
मल्लिर्नेमिर्नमिर्मां सुमतिरवतु सच्छ्रीजगन्नाथधीरम्॥
—चतुर्विंशति-सन्धान-काव्य (जैन कवि जगन्नाथ कृत) पद्य १।

इस पद्य में श्लेषालङ्कार की सहायता से पद्य के २५ अर्थ किये गये हैं जिनमें २४ अर्थ प्रत्येक तीर्थङ्कर के चारित्रिक गुणों के वर्णन से पूर्ण हैं और अन्तिम अर्थ समुदायरूप स्तुति का सूचक है। इन अर्थों की प्राप्ति के लिये स्वरार्थ, व्यंजनार्थ, नामैकदेशग्रहण, अनेकार्थकोष, सन्धिगत-वैशिष्ट्य, चित्रगत अपवाद और च्युत-चित्र का आश्रय लिया गया

है। इस पद्धति का चरम परिपाक 'राजानो ददते सौख्यम्' इस वाक्य के एक लाख से अधिक अर्थ करते हुए मुनि सुन्दरसूरि ने दिखलाया है। इसी प्रकार—

४—तताति ता तौतितवुत्तितौतितितौत्तेतिताती तिततौत्तितूतः।
तातोति तोतुत्त तु तत्ततोत्ता तुत्तोत्ततातातितर्ति तु तोत्तुम्॥

—हरविजय-महाकाव्य, राजानक रत्नाकर ४८-२६।

यहां 'एकाक्षर-चित्रालंकार' का निर्वाह विस्मयजनक है। इसी प्रकार इस के उपभेदों के आधार पर पूरे ग्रन्थों की रचना अवश्य ही पूर्ण विकास की सूचक है।

उपर्युक्त विकास-परम्परा का अध्ययन एवं विमर्श लक्षणग्रन्थ तथा लक्ष्यग्रन्थों के आधार पर करना ही हमारा लक्ष्य है, जिसे हम अग्रिम आलोकों में विभक्त विभिन्न अधिकरणों में प्रस्तुत करेंगे।

अलंकरण का चेतन मन पर प्रभाव

मनुष्य स्वभावतः सौन्दर्यानुरागी होता है वह सौन्दर्यानुरागिता उसके शिशुकाल से ही प्रत्यक्ष होने लगती है। बाल्यकाल में शिशु किसी रंगीन वस्तु को देखकर उसे सहसा उठा लेता है। रंगीन चटक-मटक से युक्त खिलौने तो वह छोड़ना ही नहीं चाहता। बालकों के लिए बनाये गए रंग-बिरंगे कपड़े उनके आनन्द और उत्सुकता में चार चाँद लगा देते हैं। किशोर और तरुणवय में यह भावना और भी तीव्र बन जाती है। जिसके फलस्वरूप घर, प्रकोष्ठ, वस्त्र, आभूषण, खानपान और रहन-सहन की सभी सामग्रियाँ उत्तरोत्तर सुन्दर होती हैं तभी उनका मन रमता है। अतः पढ़ने-लिखने की बातों में सुन्दरता का रहना आवश्यक हो जाता है। अलङ्कार के माध्यम से लाई गई सुन्दरता केवल उनको ही नहीं, अपितु सभी को प्रिय होती है।

सौन्दर्य का अपरपर्याय ही अलङ्कार है और अलङ्कार काव्य की उत्कृष्टता का महत्त्वपूर्ण माध्यम है। विद्वानों द्वारा यह स्वीकृत किया गया है कि रसाभिव्यक्ति में सहायक होने पर उनका बहिरङ्गत्व नहीं रहता।[१] अलङ्कार केवल वाणी की सजावट ही नहीं करते अपितु वे भावों की अभिव्यक्ति के द्वाररूप हैं। भाषा की पुष्टि, राग की परिपूर्णता और आचार-व्यवहार, रीति-नीति आदि के लिये अलङ्कार उत्तम माध्यम हैं। इसीलिये भावों के सहजात होने से अलङ्कार काव्य के लिये अनिवार्य हैं। कल्पना और भावावेश से भाषा अलंकृत हो जाती है और जब, 'अभिधाप्रकारविशेषा एवालङ्काराः' के अनुसार उक्ति के प्रकार ही अलङ्कार हैं तो उनसे रहित काव्य की कल्पना ही कैसे की जा सकती है? वास्तव में अलङ्कार काव्य के बाह्य धर्ममात्र न होकर आन्तरिक उक्ति के साथ मन से आये हुए भाषा के रत्न हैं, जिनमें कल्पना का नित्य-विहार है।

१—न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ। ध्वन्यालोक, लोचन, अभिनवगुप्त पृष्ठ १४७।

अलंकार का सम्बन्ध किसी विशिष्ट भाव से न होकर भावसामान्य से है। सभी भावों से उद्दीपन होता है और उद्दीपन ही अलंकार का जनक है। यही कारण है कि सभी अलंकार मन के किसी भी भाव को अभिव्यक्त करने का साधन बन सकते हैं। अत: स्पष्ट है कि अलंकार एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसका सम्बन्ध भाव-सामान्य से है।

मन की प्रक्रिया सर्वथा जटिल है। एक साधारण-सी प्रक्रिया के पीछे मन की अनेक सूक्ष्म दशाएँ झंकृत हो कर उनमें परिवर्तन ला देती हैं। यही कारण है कि अलंकार के भी अनेक रूप प्रकट हुए। मन का आवेग जब अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति चाहता है तब उसकी इस सहज सेवा का कार्य कल्पना को ही करना पड़ता है। यह कल्पना ही शब्दालंकार और अर्थालंकार के मूल में विभेदक तत्त्व भी बन जाती है। केवल भाव-योजना अर्थालंकार और भावानुकूल वर्णयोजना शब्दालंकार कहलाती है

शब्दालंकार एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया

मनोवैज्ञानिक आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण करने पर शब्दालंकारों को 'नाद-संगतिमूलक' अलंकारों में स्थान दिया जाता है। क्योंकि अनुप्रास, यमक और चित्रालङ्कार इसी पद्धति पर आश्रित हैं। 'चेतन मन नादमाधुर्य से आन्दोलित होकर रस-विभोर बन जाता है तथा तदनुकूल आचरण से अपनी रीति–नीति को स्थिर करता है' इस दृष्टि से अलंकारों का मनोविज्ञान से सम्बन्ध और अलंकरण का चेतन मन पर प्रभाव सहज स्पष्ट हो जाता है।

इस मनोविज्ञान-सम्बन्धी धारणा के आधार पर शब्दालंकार के 'अनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास वक्रोक्ति, श्लेष और चित्र' नामक भेदों की योजना स्मृति-विचारात्मक पुनर्जागरण के रूप में उपयोगी बनाती है। गत अनुभवों का पुनरावर्तन अथवा वुड्वर्थ के अनुसार स्मृति की सीखना, धारण करना, पुनरावर्तन और पहिचानना ये चारों प्रक्रियाएँ शब्दालंकार से सहज सुलभ हो जाती हैं। तथा कल्पना द्वारा नवीन सम्भावित रूप उपलब्ध होते हैं 'दृष्टि और श्रवण-जन्य प्रतिभा का विकास होता है, श्लेष के रूप में प्रतीकीकरण प्रस्तुत होता है जो फ्रायड के अनुसार अनेक अर्थों के मिलते-जुलते अंशों का एक ही शब्द में एकीकरण है। अरस्तू द्वारा दर्शित साहचर्य के तीन नियम १-समीपता २-समानता और ३-विरोध में से प्रारम्भिक दो तो शब्दालङ्कारों में बहुधा रहते ही हैं। कठिन से सरल की ओर ले जाने का नियम भी मनोविज्ञान में स्वीकृत है तदनुसार दुष्कर-चित्रों को भी मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया ही कहा जायगा।

———

[तृतीय अधिकरण]

शब्दालंकार का क्षेत्र, महत्त्व और व्यापकता

शब्दालंकार का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वाणी के किसी भी प्रकार में इसके स्वरूप का साक्षात्कार सहज सुलभ है। सामान्य से सामान्य मानव भी अपनी वाणी को सजा कर बोलने का प्रयास करते हैं। अर्थगत गाम्भीर्य लाना मनीषियों का कार्य है, किन्तु असभ्य भी जाने-अनजाने कुछ ऐसा ही वाग्व्यवहार करता है, जिसमें सहसा शब्दालंकार प्रतिभासित हो जाता है, फिर साहित्य के क्षेत्र में इसका साम्राज्य क्यों न हो ?

क—साहित्य की विभिन्न विधाएँ और शब्दालंकार

साहित्य का अर्थ अत्यन्त व्यापक है किन्तु आलंकारिकों ने इसे शब्दार्थ के सहभाव में संकुचित कर लिया है। भोज ने शृंगार-प्रकाश में साहित्य के इसी सहभाव को बारह प्रकारों में विभक्त माना है जिनमें ग्यारहवाँ विभाग 'अलंकारयोग' भी है। यह अलंकार-योग गद्य और पद्यबद्ध साहित्य की सभी विधाओं में दृष्टिगोचर है। गद्य के प्रकारों में मुक्तक, वृत्तगन्धी उत्कलिकाप्राय अथवा चूर्णक के स्वरूपों का विमर्श करनेपर ज्ञात होता है कि वहाँ शब्दालंकार मनोरंजन तथा आकर्षण का केन्द्र होता है तथा प्रत्येक विकसित, परिष्कृत और कला प्रेमी मस्तिष्क एक विशेष प्रकार के चमत्कार एवं कौतुकपूर्ण कौशल में ही अभिरुचि रखता है। वर्णन की भाषा इस प्रकार सजीव हो कि वह अपने भावों को यथार्थतः पुरस्कृत कर सके। तदनुसार साहित्यदर्पण में प्रदत्त उदाहरणों का स्वरूप द्रष्टव्य है—

मुक्तक—'गुरुर्वचसि, पृथुरुरसि' इत्यादि।

वृत्तगन्धि—समरकण्डूलनिबिडभुजदण्डकुण्डलीकृत-कोदण्ड-शिञ्जिनी-टङ्कारोज्जागरितवैरिनगर, इत्यादि।

उत्कलिकाप्राय—अणिसविसुमरणिसिदसरविसर-विदलिद-समर-परिगदपवरपरबल' इत्यादि।

तथा चूर्णक—'गुणरत्नसागर जगदेकनागर कामिनीमदन जनरञ्जन' इत्यादि।[1]

इन गद्य प्रकारों से निर्मित ग्रन्थ कथा, आख्यायिका एवं अन्य आख्यान-जातियों में शब्दालंकार का पूर्ण विकास देखा जा सकता है। दशकुमारचरित, वासवदत्ता, कादम्बरी, उदयसुन्दरीकथा, तिलकमञ्जरी, शिवराजविजय एवं पञ्चतन्त्रादि ग्रन्थों में अनेक-विध शब्दालंकारों का प्रयोग ही उनकी नृत्यत्पदप्रायता का परिचायक है। इसी प्रकार पद्य के दो प्रकारों

१—द्रष्टव्य-साहित्य-दर्पण—६। ३३०।

में अनुप्रासादि की आवश्यकता सर्वथा सराहनीय रही है। अन्त्यानुप्रास निबद्ध मधुराक्षरसंनिवेश, संगीतलयलहरी और वर्णमैत्रीरूप झंकृति पद्य का सार-सर्वस्व है। तभी तो मुक्तकण्ठ से शब्दालंकार की प्रशंसा निम्न सूक्तियों में की गई है। यथा—

जयन्ति ते पञ्चमनादमित्रचित्रोक्तिसन्दर्भ-विभूषणेषु।
सरस्वती यद्वदनेषु नित्यमाभाति वीणामिव वादयन्ती॥

कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव।
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे, हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव॥

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं, कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय, काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति॥

अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलाऽपि हि, हरति दृशं मालतीमाला॥

—कादम्बरी, विक्रमाङ्कदेव-चरितादि।

अथवा 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' में जगद्धर की यह उक्ति—

शब्दार्थमात्रमपि ये न विदन्ति तेऽपि, यां मूर्च्छनामिव मृगाः श्रवणैः पिबन्तः।
संरुद्धसर्वकरणप्रसरा भवन्ति, चित्रस्थिता इव कवीन्द्रगिरं नुमस्तान्॥५।१७॥

इत्यादि प्रशंसा के अनुरूप नादसौन्दर्य पर मुग्ध करने वाली रचनाओं से ओतप्रोत महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक तथा चम्पूकाव्यों में शब्दालंकार का झंकार अनेकरूप में विकसित हुआ है। कतिपय रचनाएँ तो उत्तरकाल में स्वतन्त्ररूप से किसी विशेष शब्दालंकार का आश्रय लेकर ही निर्मित हुई हैं, जिनका दिग्दर्शन हम प्रत्येक शब्दालंकार के विवेचन के पश्चात् 'मूल्यांकन एवं उपलब्धि' शीर्षक प्रकरणों में करेंगे।

नाटकों में भी शब्दालंकार का स्वारस्य सहृदयों ने नितान्त उपादेय माना है। दृश्य के साथ-साथ श्रव्य की इस सद्यः-प्रसादिनी प्रक्रिया के बिना गम्भीर अर्थालंकार और ध्वनि—व्यंजना से अनुरंजित रचना सर्वभोग्य न बनकर पाठ्य मात्र रह जाती है। रसानुकूल वर्णों के चयन एवं यथास्थान विन्यास से भूषित नाट्यसाहित्य में भवभूति का उत्तर-रामचरित, भट्ट नारायण का वेणीसंहार आदि अनेक ग्रन्थ नितरां प्रशंसनीय हैं। गीतिकाव्य में भी शब्दालंकार की महत्ता मननीय है। जयदेव कवि के गीत-गोविन्द काव्य की ललित पदयोजना में अनुप्रास और यमक का अत्यधिक सहयोग है।

इतना ही नहीं; व्याकरण, कोष, न्याय, वेदान्त, ज्योतिष और आयुर्वेदादि विषयों के प्रतिपादन में भी शब्दालंकार ने अपना पद-प्रसार किया तथा सूत्र-पद्धति में निर्दिष्ट विषयों को विविध छन्दों के माध्यम से अलंकृत किया है।

राजसभाओं में विद्वत्सम्मान के लिये यह आवश्यक हो गया था, कि वह शब्दालंकार के विभिन्न प्रयोगों से परिचित हो। इस तथ्य को स्वीकृत करते हुए श्री अमरचन्द्र यति ने—'वादेऽनुप्रासयुक्तोक्तिः,'[१] कहकर वाद—शिक्षा में अनुप्रासयुक्तोक्ति को प्राथमिकता दी है। समस्यापूर्तियाँ और आश्चर्यपूर्तियाँ राजसभाओं का भूषण थीं। राजप्रशस्ति में सद्योनिर्मित एवं बन्ध-सौन्दर्य से प्राञ्जल रचना को सुनकर साधारण ज्ञान रखनेवाले नृपतिगण भी आह्लादित हो उठते थे। ऐसी ही धारणा को ध्यान में रखकर 'वक्रोक्तिजीवित' कार ने कहा था कि—

अपर्यालोचितेऽप्यर्थे, बन्धसौन्दर्यसम्पदा।

गीतवद् हृदयाह्लादं, तद्विदां विदधाति यत्॥ उन्मेष १, पद्य-३७।

इस काल की लिखी हुई रचनाओं में शब्दालंकार का प्रसार बहुत ही समुन्नत हो गया था।

इसी प्रकार स्तुतिसाहित्य और मुक्तकों में इस का विचार अत्यधिक हुआ है। अनेक स्तुतियाँ केवल एक-एक शब्दालंकार के उदाहरण में निर्मित हुई हैं, जो साहित्य की विभिन्न विधाओं को आवर्जित करती हैं।

अलंकार-शास्त्र के सम्प्रदाय और शब्दालंकार

भारतीय आचार्यों द्वारा उपज्ञात काव्य के प्रमुख तत्त्व रस, अलंकार, गुण—रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य आदि विचारों को अपनी-अपनी निष्ठा के अनुरूप सिद्ध करने के कारण, विभिन्न सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ है। अलंकारशास्त्रों के अनुशीलन से भी यही सिद्ध होता है कि काव्य की आत्मा का विवेचन करने के लिये अलङ्कारिकों ने जो गवेषणा की, उसके फलस्वरूप उपर्युक्त तत्त्वों की प्राप्ति हुई और इन्हीं की दृढ-पुष्टि में किये गये प्रयासों की परम्परा ने सम्प्रदाय का रूप ग्रहण किया।

ये सम्प्रदाय विभिन्न काल में हुई विभिन्न समीक्षाओं के परिणाम के फल हैं। अलंकार-सर्वस्व के टीकाकार 'समुद्रबन्ध' ने इन सम्प्रदायों के उदय के सम्बन्ध में लिखा है कि'—विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य बनते हैं। शब्द और अर्थों की यह विशिष्टता तीन प्रकार से आसकती है १—धर्म से, २-व्यापार से तथा ३-व्यंग्य से। धर्ममूलक वैशिष्ट्य दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। अनित्य धर्म का अभिप्राय अलंकार से है और नित्य धर्मका तात्पर्य गुण से। इस प्रकार धर्ममूलक वैशिष्ट्य के

१—काव्यकल्पलता, प्रतान १, स्तबक ४, पद्य १

प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय हुए—१-अलंकार सम्प्रदाय और २-गुण अथवा रीति-सम्प्रदाय । व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है—वक्रोक्ति और भोजकत्व । इनमें अलंकार-सम्प्रदाय के मानने वाले भामह, उद्भट तथा रुद्रट आदि हैं । द्वितीय गुण अथवा रीति सम्प्रदाय के मानने वाले हैं दण्डी तथा वामन । कुन्तक ने वक्रोक्ति सम्प्रदाय का पूर्ण समर्थन किया, तथा भट्टनायक ने भोजकत्व का प्रतिपादन किया, जो भरत के रस-सम्प्रदाय का ही अंग था । पाँचवाँ सम्प्रदाय व्यंग्यमुख से वैशिष्ट्य माननेवाले आचार्य आनन्दवर्धन का है ।[१]

इन पाँच सम्प्रदायों के अतिरिक्त छठा सम्प्रदाय औचित्य का है जिसकी प्रतिष्ठा क्षेमेन्द्र ने की है । यद्यपि यह औचित्य पूर्वाचार्यों द्वारा भी प्रतिपादित किया गया था किन्तु इसका पल्लवन एवं विशदीकरण क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार-चर्चा' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखकर किया, अतः इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यपद के भागी क्षेमेन्द्र ही माने जाते हैं ।

उपर्युक्त सम्प्रदायों में अलंकार सम्प्रदाय के समानधर्मी सम्प्रदाय गुण—रीतिवादी तथा वक्रोक्तिवादी हैं । औचित्य का सम्बन्ध उपर्युक्त तीन सम्प्रदायों के साथ भी है और रस एवं ध्वनिसम्प्रदाय से भी । प्रमुख ध्वनि रस में समाविष्ट हो जाती है । इस दृष्टि से औचित्य-सम्प्रदाय को उभयवादी कहा जा सकता है । वैसे इन सब सम्प्रदायों के दो पक्ष भी माने जाते हैं–१-विधान पक्ष और २-वस्तुपक्ष । विधान पक्ष का समर्थन अलंकार, गुण-रीति और वक्रोक्ति से होता है जब कि रस, ध्वनि और औचित्य काव्यात्मसम्बन्धी विचार पर दृढ हैं । इनमें पहला विधान-पक्ष अलंकार-सम्प्रदाय का ही विस्तार है और शब्दालंकारों का अलंकार, गुण, रीति और वक्रोक्ति के साथ पूर्ण सम्बन्ध है जबकि औचित्यादि के साथ आंशिक सम्बन्ध है । अतः हम यहाँ इनका क्रमिक विवेचन प्रस्तुत करेंगे ।

क—अलंकार-सम्प्रदाय और शब्दालंकार

अलंकार सम्प्रदाय में शब्दवादी, अर्थवादी और शब्दार्थवादी ऐसे तीन मत समाविष्ट हैं । हम शब्द और शब्दार्थ से सम्बन्धित आचार्यों की दृष्टि को विभिन्न 'शब्दालंकारों की मीमांसा' में स्पष्ट करेंगे । अर्थवादी आचार्यों ने केवल अर्थालंकारों को ही अपनी विवेचना का आधार बनाया है, किन्तु ऐसे आचार्यों की संख्या अंगुलिगण्य है, और वे भी शब्द की महत्ता से प्रभावित होकर अर्थालंकारों में भी शाब्दिक सौन्दर्य की दृष्टि को आवश्यक

१—इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम् । तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापार-मुखेन व्यंग्य-मुखेन वेति त्रयः पक्षाः । आद्येऽप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम् । द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम् । इति पञ्च पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनेनेति ।
—अलङ्कारसर्वस्व- टीका ।

मानते रहे हैं, तथा अपनी अभिव्यक्ति-शक्ति को अन्यत्र पल्लवित करने में पीछे नहीं रहे हैं। उदाहरणार्थ अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द और चित्रकाव्यमीमांसा में शब्दालंकार को चर्चा के योग्य नहीं माना है, किन्तु 'यादवाभ्युदय-महाकाव्य' की टीका में (विशेषत: छठे सर्ग में) चित्रादिशब्दालंकारों का विश्लेषण बड़े मनोयोग से किया है। इसी प्रकार उनके स्तुतिसाहित्य में तथा पण्डितराज जगन्नाथ की लहरियों में शब्दालंकार का पर्याप्त मनोरम प्रयोग है।

ख —गुण-अथवा रीतिसम्प्रदाय और शब्दालंकार

१—गुणों की महत्ता को भरत ने स्वीकृत करते हुए कहा था कि—'काव्यार्थगुणा दशैते' और इसी की प्रस्थापना दण्डी ने 'इति वैदर्भमार्गस्य' 'प्राणा दश गुणा: स्मृता:' कहकर प्राण के रूप में की। भामह ने इनकी संख्या घटाकर तीन ही कर दी तथा मम्मट आदि आचार्यों ने 'माधुर्य, ओज एवं प्रसाद' नामक भामह स्वीकृत तीन गुणों में ही शेष को अन्तर्भूत कर लिया। इस दृष्टि से दण्डी ही ऐसे आचार्य थे, जो गुणों के सम्बन्ध में अधिक स्पष्टता से वैदभमार्ग के प्राण होने की घोषणा कर गये। इसी आधार पर विद्वानों ने दण्डी को गुणसम्प्रदाय का पोषक माना है।

गुणों के भी तीन विभाग हैं, १—शब्दगुण, २—अर्थगुण और ३—शब्दार्थगुण। शब्दगुण में श्लेष, समता, सुकुमारता और ओज ये चार हैं तथा अर्थगुण में 'प्रसाद, अर्थव्यक्ति, उदारता, कान्ति और समाधि'का समावेश होता है। माधुर्य—गुण शब्दार्थ-गुण माना गया है। वामनादि ने शब्द और अर्थ के पृथक्-पृथक् दस गुण भी माने हैं। उपर्युक्त शब्दगुणों का सम्बन्ध शब्दालङ्कार से साक्षात् है, जो दण्डी के उदाहरणों से स्पष्ट है। माधुर्य का शब्दालङ्कार में अधांश निहित है और जो अर्थगुण कहे गये हैं, उनमें प्रसादगुण का सन्बन्ध लोकभोग्य शब्दचयन से है, जो कि कवि की प्रतिभा पर आधारित है। कोई कवि नहीं चाहता कि वह सभ्येतर-कीर्तन करे। वह तो सदा ह्लादकमयी रचना का पक्षपाती रहा है। अत: प्रसाद गुण की स्थिति शब्दालङ्कार में भी रहती है। अर्थव्यक्ति को तो दण्डी ने शब्दालंकार ही माना है। पदों की नृत्यत्प्रायतारूप विकटता को वामन ने 'उदारता' माना है,[1] जो अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों के बिना सम्भव नहीं। भरत ने मन और श्रोत्रेन्द्रिय के आह्लादक तत्त्व को कान्ति गुण कहा है[2] जो शब्द और अर्थ के धर्म से सम्बद्ध है। पण्डितराज जगन्नाथ ने समाधि गुण को शब्द अथवा अर्थ का गुण न मानकर कविता का गुण ही

१—विकटत्वं तु पदानां नृत्यत्प्रायत्वम्, यथा--सुचरणविनिविष्टैर्नूपुरै:।
। इत्यादि काव्यालङ्कारसूत्र-वामन

२—यन्मन: श्रोत्रविषयमाह्लादयति हीन्दुवत्। लीलाद्यर्थोपपन्नां वा, तां कान्तिं कवयो विदु:॥
—नाट्यशास्त्र-भरत।

माना है।[1] इस प्रकार शब्दालंकार के क्षेत्र में गुणों की सत्ता विद्यमान ही है किन्तु गुणों को नित्य धर्म-माना गया है और अलंकारों को अनित्यधर्म। आनन्दवर्धन ने गुणों के सम्बन्ध में अपनी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—'माधुर्य, ओज आदि रस का धर्म है, वर्ण का नहीं।' अतः मम्मट ने भी हारादिवत् अलंकारों को वाच्य-वाचक-रूप अङ्ग पर अवलम्बित माना है। यह सब होते हुए भी वर्णों—शब्दों का उचित चयन ही गुणों का प्रकाशक होता है जो शब्दालंकार में भी आवश्यक है।

२—दण्डी ने वैदर्भमार्ग से पूर्व वैदर्भी रीति का वर्णन किया था, उसी के आधार पर वामन ने गुणों को रीति के अन्तर्गत मानकर रीति को ही काव्य की आत्मा माना। यहाँ रीति का तात्पर्य रचनाशैली है। उनका लक्षण है—"विशिष्ट पद-रचना रीतिः"—पदों की विशिष्ट रचना को ही रीति कहते हैं। पद रचना में वैशिष्ट्य का सम्पादक होता है गुण, और गुणों में बन्धगुण, अलंकार और रस का सन्निवेश रहता है। इस प्रकार परम्परया रीति गुणों का ही अपर रूप है। ये रीतियाँ तीन हैं—१—वैदर्भी, २—गौड़ी तथा ३—पाञ्चाली। भोज ने आवन्तिका, लाटी और मागधी इन तीन नामों को बढ़ाकर छः रीतियाँ मानी हैं। जिनमें माधुर्य व्यञ्जक वर्ण, ललित रचना और अल्प वृत्ति से वैदर्भी, ओजःप्रकाशक वर्णों के आडम्बर तथा समास—बहुलता से गौडी, माधुर्य एवं सौकुमार्य व्यंजक वर्णों से पाञ्चाली, वैदर्भी और पाञ्चाली के मध्य स्थित अर्थात् कहीं ललित पद और कहीं माधुर्य एवं सौकुमार्य-समन्वित पदावली से लाटी, पाञ्चाली और वैदर्भी के मध्यस्थित दो-तीन-चार समस्त पदों से आवन्तिका और पूर्ण रीति का निर्वाह न करते हुए खण्डरीति का निर्वाह होने से मागधी रीति होती है।

ये सभी रीतियाँ वर्ण-योजना को ही महत्त्व देती हैं, अतः शब्दालंकार के क्षेत्र में भी उपादेय हैं। शब्दालङ्कार भी विभिन्न वर्ण-योजनाओं से ही लक्षित होते हैं। इस दृष्टि से की जाने वाली वर्ण-योजना शब्दालंकार की भी पोषक होती है, क्योंकि गुण और रीति का कार्य शब्द के धर्म को पुष्ट करना ही है, जो कार्य शब्दालंकार भी करते हैं।

ग—वक्रोक्तिसम्प्रदाय और शब्दालंकार

वैसे तो रुद्रट और मम्मटादि की वक्रोक्ति को काव्य का जीवित सिद्ध करने के लिये स्वतन्त्ररूप से 'वक्रोक्ति-जीवित' ग्रन्थ की रचना हुई। इसी के आधार पर कुन्तक को इस सम्प्रदाय का आचार्य माना जाता है।

कुन्तक प्रतिपादित वक्रोक्ति का शब्दालंकार के क्षेत्र में पर्याप्त योग है। उनके द्वारा किये गये वक्रता के भेदों में वर्णविन्यास-वक्रता का सम्बन्ध सीधा शब्दालंकार के अनुप्रास

१—अवर्णितपूर्वोऽयमर्थः पूर्ववर्णितच्छायो वेति कवेरालोचनं समाधिः।

—प्रथम आनन, रसगङ्गाधर-जगन्नाथ।

और यमकादि भेदों से तो है ही, साथ ही पदपूर्वाध वक्रता में संवृतिवक्रता, प्रत्ययवक्रता, वृत्तिवक्रता, लिङ्गवैचित्र्य-वक्रता, क्रियावक्रता और पदपरार्धवक्रता के कुछ अंश भी शब्दालङ्कार के पोषक बनते हैं। इसकी चर्चा हम "वक्रोक्ति अलङ्कार" के विवेचन में करेंगे।

छ —अन्यसम्प्रदाय और शब्दालङ्कार

वस्तु पक्ष के तीन सम्प्रदायों में रस, ध्वनि और औचित्य के तत्त्व को प्रशस्त करने में भी शब्दालङ्कार सहायक होते हैं। शब्दालङ्कार के उचित प्रयोग से इनका चारुत्व बढ़ता है और अलङ्कार्य रूप, रसादि में चमत्कारोत्पादन होता है, अतः ये उपादेय हैं, हेय नहीं। इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त चमत्कारवाद के पोषक सम्प्रदाय का भी प्रचलन हो रहा है। इसमें चमत्कार से तात्पर्य है-उक्ति का अनूठापन अथवा काव्य में सौन्दर्योत्पादक साधन। इस प्रकार "काव्यास्वाद" के अर्थ में आनन्दवर्धन ने 'चित्त' विस्तार के अर्थ में विश्वनाथ ने काव्य के 'आकर्षक तत्त्व' के रूप में क्षेमेन्द्र ने तथा 'काव्य के मौलिक रहस्य' के रूप में विश्वेश्वरादि ने चमत्कार को काव्य की आत्मा मान लिया है।[1] यह चमत्कार क्षेमेन्द्र के अनुसार दस प्रकार का है जिसमें शब्दगत और शब्दार्थगत चमत्कार का सम्बन्ध शब्दालङ्कार से है। विश्वेश्वर ने चमत्कार के सात आलम्बन और तीन आधार माने हैं उनमें 'गुण, रीति, रस वृत्ति, पाक, शय्या और अलंकृतिरूप 'आलम्बन' तथा 'शब्दचित्रात्मक चमत्कारी' नामक आधार शब्दालङ्कार के लिये उपयोगी हैं। इसी प्रकार 'शय्या और पाक' से भी शब्दालङ्कार को बल मिलता है।

अलंकारशास्त्र और शब्दालंकार

क —अलंकार शास्त्र

अलङ्कार-शास्त्र की प्राचीनता सर्वमान्य है। काव्यशास्त्र के इतिहास से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विद्वानों की दृष्टि अलङ्कार-विवेचन की ओर प्रारम्भ से ही रही है। वैदिक काल से ही शब्दों का साम्य और भावों की सजावट के स्वरूप हम देखते हैं, जिन्हें व्यवस्थित और क्रमिक स्वरूप देने का कार्य इस शास्त्र ने किया है। विषय के वैज्ञानिक अध्ययन का नाम ही शास्त्र है। इस प्रकार के अध्ययन से अस्तव्यस्त और विश्लेषण-संश्लेषण से विहीन उक्ति-प्रत्युक्तियों का परीक्षण होता है, तर्क-वितर्क के द्वारा वर्गीकरण किया जाता है तथा नियामक तत्त्वों की गवेषणा करके सिद्धान्तों को स्थापना की जाती है।

शास्त्र के लिये यह भी आवश्यक होता है कि वह न्याय एवं तर्क से सर्वथा परिपुष्ट हो। इस पुष्टि के दो पक्षों का विवेचन आवश्यक होता है—१-सैद्धान्तिक और २-व्यावहारिक। अलङ्कार शास्त्रों की रचना में विषय के निरीक्षण तथा उसके आधार पर सिद्धान्तों के

१—विशिष्टशब्दरूपस्य, काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः। काव्यालोक, हरिप्रसाद।

निर्धारण द्वारा अलङ्कार विषय के ज्ञान को सुव्यवस्थित रखकर सैद्धान्तिक पक्ष का निर्वाह किया गया है, जबकि निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर विविध उदाहरणों का परीक्षण करके व्यावहारिक पक्ष को प्रबल बनाया गया है।

शास्त्र के निर्धारित स्वरूप प्राप्त कर लेने पर उसमें मनन और मन्थन के कारण नये नियमों का प्रादुर्भाव होता ही रहता है तथा उसमें विकसित परम्परा के अनुसार यथा-समय उपनियमों और उपभेदों की कल्पना होने लगती है। इस प्रकार शास्त्र अपने बृहद् रूप को धारण कर लेते हैं। अलङ्कार-शास्त्रों में भी प्रायः दो हजार से भी अधिक वर्षों से चिन्तन होता आया है और इसके साथ ही साथ प्रयोगात्मक कार्य में भी शिथिलता नहीं आयी है। सत्य तो यह है कि शास्त्र की अपेक्षा प्रयोग ही अधिक होते रहे हैं और वे भी विभिन्न माध्यमों के अवलम्बन पर। शास्त्र की नींव भी अगणित प्रयोगों के अनन्तर ही पड़ती है फिर प्रयोग-परम्परा की अनन्तता तो प्रत्यक्ष है ही।

अतः अलङ्कार शास्त्रों की भी संख्या सात सौ से अधिक उपलब्ध होती है। इनकी रचना के प्रति उत्साह का एक अन्य कारण यह भी था कि साहित्य का मर्म समझने के लिये अलङ्कार-परिज्ञान अत्यावश्यक हो गया था। इतना ही नहीं, वेदार्थ के परिज्ञान के लिये भी अलङ्कार-ज्ञान आवश्यक था, जिसके सम्बन्ध में राजशेखर की यह उक्ति-उपकारकत्वादलङ्कारः। ऋते च तत्स्वरूप-परिज्ञानाद् वेदार्थानवगतिः' प्रमाण है।

अलङ्कार-शास्त्र सदा ही अलङ्कार के कलारूपों पर अवलम्बित रहा और उसी के विवेचन का कार्य करता रहा है। अलङ्कारों के नामकरण तथा विकास के क्रम में भी यही बात स्पष्ट है कि अलङ्कार के काव्य में प्रयुक्त रूपों को देखकर ही इनका स्वरूप-निर्धारण हुआ। लक्ष्य के पश्चात् ही लक्षण आता है, यह सिद्धान्त है जो अलंकार-शास्त्रों में भी यथावत् स्वीकृत हुआ है।

ख —अलंकार-शास्त्रों के प्रणयन की पृष्ठभूमि

शास्त्र-निर्माण की पृष्ठभूमि में विविध हेतु रहते हैं। कोई प्राचीन ग्रन्थकारों के यश की उपलब्धि के लिये, कोई अपनी विद्वत्ता प्रकट करने के लिये, कोई विद्वत्प्रीति के लिये, कोई अपनी स्मृति के लिये, कोई जड़जनों के उपकार के लिये तथा कोई चित्त के विनोद के लिये इस आर्ष-पुरुषार्थ में प्रवृत्त होता है। कभी-कभी तात्कालिक, सामाजिक एवं धार्मिक अथवा राजनीतिक परिस्थितियाँ भी इस के लिये हेतुभूत होती हैं, तो कभी आश्रयदाता के यशोगान के लिये अथवा इष्टदेव की स्तुति के लिये भी ऐसे प्रयास किये जाते हैं। अलङ्कार-शास्त्रों के प्रणयन की पृष्ठभूमि भी इन हेतुओं से शून्य नहीं है।

इस दृष्टि से 'अलंकार-शास्त्र निरूपण के निम्नरूप, हमें उपलब्ध होते हैं। यथा—

१—काव्यशास्त्र के सर्वांगनिरूपण में अलंकार-निरूपक।

२—विभिन्न सम्प्रदायगत विषयों के निरूपण में अलङ्कार-निरूपक।

३—शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के निरूपक।

४—केवल अर्थालङ्कार के निरूपक।

५—केवल शब्दालङ्कार के किसी विशेष भेद के निरूपक।

इन ग्रन्थों की 'निरूपणशैली' में भी विभिन्न मार्ग अपनाये गये हैं। यथा :—

१—लक्षण और लक्ष्यशैली···भामह, दण्डी आदि के ग्रन्थ।

२—सूत्र और कारिका-शैली · वामन आदि के ग्रन्थ।

३—कविकर्म-प्रधान केवल लक्ष्य-शैली···भट्टिकाव्यादि।

४—लक्षणोदाहरण-समन्वित-शैली···चन्द्रालोक आदि।

५—राजस्तुति, देवस्तुति एवं अन्यान्य माध्यमों के आधार पर निरूपित-प्रकीर्ण-शैली···विद्यानाथ, नञ्जराज आदि के ग्रन्थ।

उपर्युक्त हेतु और शैली दोनों को परिष्कृत करके सर्वसुलभ बनाने के लिये एक और प्रक्रिया का आश्रय लिया गया है वह है टीका, व्याख्या, वृत्ति, टिप्पण आदि का। इस प्रक्रिया के भी विभिन्न रूप उपलब्ध होते हैं। यथा :—

१—स्वतन्त्रचिन्तनात्मक'···जिसमें मूल ग्रन्थकार के विचारों को परिष्कृत करते हुए स्वमत की भी स्थापना की गई।

२—सरलीकरणात्मक···'जिसमें मूल ग्रन्थकार के आशय को स्पष्ट किया गया।

३—संवर्धनात्मक जिसमें ग्रन्थ द्वारा प्रतिपादित विषय को अपने अनुभव के द्वारा पल्लवित करते हुए उसका संवर्धन किया गया।

ग —अन्यशास्त्रों से सम्बन्ध

अलङ्कारशास्त्र-विकास की इस परम्परा से अलङ्कार-मीमांसा में अनेक तत्त्वों का अवलम्बन लिया गया और वे तत्त्व केवल साहित्य के क्षेत्र से ही नहीं, अपितु अन्यान्य शास्त्रों से भी गृहीत हुए हैं। यथा :—

(१) **व्याकरणशास्त्र**—साहित्यशास्त्र का मूल आधार ही व्याकरणशास्त्र माना गया है। पूर्वे विद्वांसः कह कर यत्र-तत्र इस तथ्य को स्वीकार किया गया है। शब्द-संस्कार को शब्द-व्युत्पत्ति अथवा सौशब्द्य कहते हैं और अर्थसंस्कार को वक्रोक्ति। व्याकरण शब्दव्युत्पत्ति का शास्त्र है व्याकरण 'शिष्टप्रयोगशरण' होता है और अलङ्कार-शास्त्र'कविप्रयोगशरण। इस प्रकार व्याकरण का पूर्ण-प्रभाव रहते हुए भी उसकी दासता स्वीकृत नहीं की गई अपितु केवल उपयुक्त का ग्रहण किया गया।

(२) **दर्शनशास्त्र** :—साहित्यशास्त्र में दर्शनशास्त्र की अनेक विधियों का आलम्बन लिया गया है। आत्मा अथवा चैतन्य का विचार दर्शन का लक्षण है। राजशेखर ने काव्य-शास्त्र को जिसे अलङ्कारशास्त्र भी कहा है वेदाङ्ग मानकर चारों विद्याओं-'आन्वीक्षिकी, त्रेयी, वार्ता और दण्डनीति' का समन्वय बताया है। न्याय और मीमांसा का शब्दार्थ-विवेचन और काव्य-शास्त्र का शब्द-शक्ति विवेचन दोनों की व्याख्यान-पद्धति में बहुत

साम्य है। दर्शनों की रचना-प्रणाली, विषय को प्रतिपादित करने की शैली और उनका सैद्धान्तिक दृष्टिकोण काव्यशास्त्र के बहुत निकट हैं। आलोचन-प्रत्यालोचन की दृष्टि से दर्शनकार और काव्यशास्त्र के प्रणेता भी बड़ा तादात्म्य रखते हैं। काव्य की उक्ति सामान्य से भिन्न होती है, वह एक विशिष्टता होती है। वह विशिष्टता क्या है ? इसी की खोज में साहित्य-शास्त्र में अलङ्कार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य, चमत्कार आदि मतों का प्रवर्तन हुआ। इनमें वर्ण्य और अलङ्कार का विचार ग्राह्य की अपेक्षा से हुआ है। उस समय शब्द का महत्त्व अधिक था, ये चमत्कार अथवा बुद्धि की क्रीडा को प्रमुख मानते थे पहले तो काव्य के सौन्दर्य की खोज की जाती थी और कहा जाता था कि काव्य का ग्रहण अलङ्कार-शैली के कारण होता है, अलङ्कार सौन्दर्य है। फिर प्राण की खोज में वक्रता, रस, ध्वनि आदि को आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार सौन्दर्य की खोज, प्राण की खोज और आत्मा की खाज की गई। मनोमय कोष से आगे चिन्तन कर अलौकिकता सिद्ध करना दार्शनिकों का ही काम है। अतः दर्शन और दार्शनिकों का दृष्टिकोण साहित्य में आकर अलङ्कार–विवेचन में भी स्थायी बन गया।

(३) छन्दःशास्त्र—भावमयी भाषा में जो स्वाभाविक गति आ जाती है छन्द उसी का बाहरी आकार है। छन्द में वर्ण नृत्य की भाँति ताल और लय के आश्रित रहते हैं। भाषा को भावों के अनुरूप बनाकर श्रोताओं में एक विशेष आकर्षण उत्पन्न करने का कार्य छन्द ही करते हैं। शब्दों के तत्त्वार्थ की अज्ञानता रहते हुए भी उनकी ध्वनि के द्वारा यत्किञ्चित् अर्थव्यञ्जना होने लगती है तथा छन्दों के द्वारा जो सौन्दर्य उत्पन्न होता है उसके मूल में शब्दों और वर्णों के साम्यमूलक उच्चारण से उन्मीलित श्रवण सम्बन्धी इन्द्रियों का आह्लाद विद्यमान रहता है। छन्द में की गई लय की साधना अलङ्कारों को मुखरित करने में पूर्ण सहायक होती है। छन्दों की इस भावोत्पादकता और वर्णों की विन्यास-विलक्षणता को अलङ्कारशास्त्र ने अपनाया है तथा भावानुकूल छन्दो-योजना का आग्रह भी किया है।

इसी प्रकार अन्यान्यशास्त्रों में **गणित** से-आवृत्तिगत भेदों में स्थानगत उच्चावच प्रकारों के, **अर्थशास्त्र**-से हानोपादान और विनिमयवृत्ति के तथा **समाजशास्त्र** से-सामाजिक विचारों के तत्त्व गृहीत हुए हैं जिनके आधार पर यह कहना उचित होगा कि अलङ्कार-शास्त्र ने मधुप -वृत्ति से काम लिया है।

घ —अलंकार-शास्त्र और शब्दार्थ-विवेक

हमने शब्द की महत्ता, शब्द और अर्थ की सम्पृक्तता तथा वाचमर्थोऽनुधावति शीर्षक विचारों में शब्दार्थ के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं उन्हीं के अनुसार अलङ्कारशास्त्र में भी अलङ्कार के शब्द, अर्थ और शब्दार्थ ऐसे तीन विभाग माने गये हैं जिनमें अधिकांश आचार्यों ने शब्दालंकार को प्राथमिकता दी है और उसमें दो हेतु दिखलाये हैं - १- शब्द से ही अर्थ का ज्ञान होता है तथा २- शब्द के अलङ्कार संख्या में कम हैं। इन दोनों हेतुओं में प्रथम हेतु में कुछ आचार्यों ने विप्रतिपत्ति उठाई और अर्थालङ्कार का प्रथम निरूपण किया

और कुछ ने शब्दालङ्कारों को त्याग दिया। इस सम्बन्ध में विशेष विचार 'शब्दालङ्कार के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विवेचन' में करेंगे।

ङ—अलंकार-शास्त्र और शब्दालंकार

अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिये काव्य को जिन इङ्गितों अथवा आभासों का सहारा लेना पड़ता है उनमें शब्द सर्वप्रथम है। शब्द का धातुगत अर्थ है आविष्कार करना और शब्द करना।[1] कोषकारों ने शब्द का अर्थ किया है—अक्षर, यश, गीतिवाक्य, आकाश, श्रवण और ध्वनि। महाभाष्यकार पतंजलि ने भी 'प्रतीतिपदार्थको लो के ध्वनिः शब्द इत्युच्यते' कहा है। इस शब्द की स्थापना में दो दृष्टियाँ रहती हैं—शब्द और वाक्यखण्ड के निर्वाचन की दृष्टि तथा पंक्तियों में स्थान की दृष्टि। इनके साथ ही शब्दों की ध्वनि, उच्चारणसुलभ गतिशीलता और सार्थकता पर भी ध्यान रहता है। शब्दों के स्थानविशेष में विन्यास से ही अभिलषित अर्थ की व्यञ्जना सम्भव है और इसका प्रभाव भी अन्यान्य शब्दों और वाक्यांशों पर पड़ता है। शब्दों का मानसिक विवेचन और निपुण प्रयोग अनुभूति की अभिव्यक्ति में सहायक होता है। शब्द-प्रयोग के लिये प्रसिद्ध—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे, शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र, वाग्योगविद् दूष्यति चापशब्दैः॥

तथा—

यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते, द्राग्वाच्यवाचकमयः पृतनाविशेषः॥

इत्यादि सूक्तियों में भी यही स्वारस्य निहित है। शब्द के प्रतीतिपदार्थक होने के नाते अलङ्कार जो कि आचार्यों की दृष्टि में बाह्य शोभाकर धर्म हैं उनके धारण का कार्य शब्द पर ही निर्भर है। वाणी का देह शब्द ही तो है यदि देह नहीं तो अलङ्कार का क्या उपयोग? और ये अलङ्कार जितने बाह्य समझे जाते हैं इतने हैं नहीं। क्यों कि इनकी उत्पत्ति हृदय के उसी उल्लास से होती है जिससे कि काव्यमात्र की। लोक में भी प्रसिद्ध है कि नारी के भौतिक अलङ्कारों को धारण करने में एक मानसिक उल्लास रहता है, यही कारण है कि उसके अभाव में विधवा स्त्री अलङ्कार धारण नहीं करती। इसीलिये हृदय का ओज अथवा उल्लास अलङ्कारों के मूल में माना जाता है तथा यह ओज या उल्लास शब्द पर ही अवलम्बित है।

श्रव्यकाव्य के विवेचक वाणी के वैचित्र्य को काव्य मानते हैं और दृश्य-काव्य के विवेचक रस को। इन में एक पक्ष की दृष्टि निर्मिति पर है और अन्य की प्रभाव-परिणति पर, एक का लक्ष्य कर्ता है और अन्य का ग्राहक वर्ग, एक कथन और कथन-कर्ता को समक्ष रखता है और अन्य दृश्यत्व और दृश्य को। इस दृष्टि से भी शब्द की प्राथमिकता स्पष्ट है क्योंकि यदि निर्मिति नहीं तो प्रभाव किसका? कर्ता की सत्ता ही ग्राहक का आकर्षण है और

१—'शब्द-आविष्करणे तथा 'शब्द-शब्दरणे। सिद्धान्तकौमुदी, धातुपाठ

कथन अथवा कर्ता के अभाव में दृश्यत्व और दृश्य की सम्भावना भी कैसे की जा सकती है ?

अतः शब्दालंकार प्राथमिकता के पात्र हैं। अलङ्कारशास्त्रों में शब्द के इन गुणों को ही महत्त्व देते हुए विवेचन हुआ है जो विशृङ्खलित रूप में है सामूहिक रूप में नहीं।

———

[चतुर्थ अधिकरण]

शब्दालंकार की पृष्ठभूमि और इतस्ततः विकीर्ण साहित्य

लोकप्रियता के मूलबिन्दु हैं अनुभूति और अभिव्यक्ति। इनका जनजीवन पर जो प्रभाव पड़ता है, वह बहिरङ्ग की कलात्मक अभिव्यक्ति पर ही निर्भर है। कला आत्मा की क्षुधा है और तृप्ति है अलौकिक आनन्द। शब्दालङ्कार कला के अधिक निकट है, अतः आत्मा की इस क्षुधापूर्ति के लिए कवियों ने जो प्रयास किया वह अलौकिक आनन्द का जनक बनकर तृप्ति में सहायक बन गया। इसी पृष्ठभूमि पर शब्दालङ्कारों की सृष्टि हुई है। शब्दालङ्कार की पृष्ठभूमि में कला और आनन्द का ऐसा मंजुल-मिलन है जो अलौकिक प्रतिभा के परिवेश से आन्तरिक उल्लासों के झूले में बिठाकर आरोहावरोहात्मक गति-प्रगति से आनन्दित करता है। उपनिषद् की उक्ति है कि—आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति—इस तथ्य के अनुसार प्रत्येक कवि वर्णमैत्रीपूर्ण वाक्यावली का प्रयोग आत्मानन्द के लिये उपकारक मानता आया है। इसी प्रकार कलाकृति का अधिकांश भाग शिल्प से प्रकट होता है और शिल्प की सार्थकता शैली पर निर्भर है। शैली शिल्प का प्राण है। शिल्प और शैली के समष्टिभूत आन्तरिक एवं बाह्य-सौन्दर्य से अनुप्राणित आकृति में कला की प्रतिष्ठा होती है जैसे कि इन्द्रियादि से पूर्ण पिण्ड में चेतना की प्रतिष्ठा होती है। आह्लादकता कला का प्रधान गुण है जो शब्दालङ्कारों में भी यथावत् अवस्थित है, अतः वही इसकी पृष्ठभूमि है।

शब्दालंकार का भूमि-वैचित्र्य

शब्दालङ्कार साहित्य की उस प्रत्येक कृति में मिलेगा जहाँ किसी अभिव्यक्ति के लिये काव्यकला का उन्मीलन हुआ हो, जहाँ आत्मा की आत्मा के लिए व्याकुलता हो, उदय का विकास के लिए प्रयास हो। ये प्रयोग साहित्य की प्रत्येक विधा में दृष्टिगोचर होते हैं और इनके उन्मेष के लिए कतिपय उपादानों तथा उनके अनुकरणों का आधार भी सदा से स्वीकृत हुआ है। जिनमें ये उपादान प्रमुख कहे जा सकते हैं—(क) प्रकृति, (ख) उच्चारण, (ग) शास्त्र और संग्राम (घ) आभरण (ङ) भाव-संगोपन आदि। इन का क्रमशः विमर्श इस प्रकार है—

क —प्रकृति और शब्दालंकार

साहित्य का समुदय सहानुभूति-सिक्त हृदय की भावाभिव्यक्ति से हुआ है। हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले प्राकृतिक रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर

बाह्य-प्रकृति के साथ अन्त:प्रकृति का सामञ्जस्य तथा भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास ही साहित्य की साहचर्य-सम्भूत रूप-विभूति है। समन्वय के बिना साधना अपूर्ण है? इस उक्ति के अनुसार भी प्रकृति के कौतूहलपूर्ण आँगन में सांसारिक कृत्रिमता से दूर रहकर समन्वय की सजग साधना करनेवाले प्राचीन महर्षियों ने प्रकृति के अणु-अणु में व्याप्त लीलाओं को भावना की भूमि पर अवतारित किया है।

फलतः कल्पना के सहारे अपने विचारात्मक व्यवसाय से प्रकृति के वन-उपवन, नदी-नद, क्रीड़ा-शैल तथा उत्तुङ्ग शैलश्रृङ्गों की स्थूल और सूक्ष्म अभिव्यक्ति साहित्य में मूर्तिमती बनकर हर्ष, शोक, उल्लास, शौर्य, शृङ्गार आदि के रूप में 'वस्तुगत-सौन्दर्य' को पुरस्कृत करने लगी। प्रातः, सायं, दिन, रात, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष तथा ऋतु—समूह के अभिधान से 'कालगत-सौन्दर्य' की सज्जा सामने आई। सूक्ष्म चिन्तन के माध्यम से सृष्टि में समष्टि-दृष्टि का तथ्यपूर्ण आरोप जगत् के साथ तादात्म्य कराने में सहायक हुआ। सार-ग्राहिणी प्रतिभा और लौकिक कल्याण-कामना से समुद्र और चन्द्र का मिलन, दिनमणि के विरह में कमलिनी की म्लानता, पूर्णिमा और अमा का स्वाभाविक स्वरूप एवं अन्यान्य भिन्न-भिन्न व्यापार ललित भाव-चयन में सफल हुए। कला अन्तर और बाहर के मिलन से नए-नए साँचों में मुखरित होकर शब्द और अर्थ के वैचित्र्य से धूप-छाँह का रूप धारण कर अभिप्रायों का वहन करती है। यह अभिप्रायवाहिनी शब्दार्थ-रूप कला ही मन:प्रसाद का अन्यतम साधन है। इन्हीं सब विचारों के समन्वय को कुन्तक ने भी साहित्य की संज्ञा देते हुए कहा है कि—

मार्ग के लिये उचित सिद्ध होनेवाला माधुर्य आदि गुणों का उदय, वक्रता का अतिशय द्योतित करनेवाला अलंकार-विन्यास एवं रसों का वृत्तियों के औचित्य से निष्पन्न मनोहर परिपोष—ये सभी जिसमें एक-दूसरे-से स्पर्धा करते दिखाई देते हैं, ऐसी रसिकों के मन में आह्लाद निर्माण करनेवाली शब्दार्थों की अवस्थिति साहित्य है।[1]

प्रकृति की गोदी में पलकर प्रकृति-प्रदत्त अन्न-जल पर जीनेवाला कवि प्रकृति से परे कैसे रह सकता है? उसका अणु-अणु प्रकृतिमय है, इसीलिए वह अपनी प्रत्येक वृत्ति में प्रकृति को स्थित मानकर उसे सजाता है, सँवारता है, उसकी पद-पद पर अर्चना करता है। इसी प्रकृतिगत अनुराग के कारण चरणकमल, हस्तकमल, मुखकमल, नेत्रकमल आदि की विभावना साकार हुई। जहाँ अर्थ में वैशिष्ट्य आया, वहीं पुनः-पुनः एक ही समान शब्द के उच्चारण से शब्दालङ्कार को बल मिला। जहाँ समान पद विभिन्नार्थ लेकर उपस्थित

१—मार्गानुगुण्यसुभगो, माधुर्यादिगुणोदयः। अलङ्करणविन्यासो, वक्रतातिशयान्वितः॥
वृत्तौचित्यं मनोहारि, रसानां परिपोषणम्। स्पर्धया विद्यते यत्र, यथास्वमुभयोरपि॥
सा काऽप्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा। पदादिवाक्परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते॥
—वक्रोक्तिजीवित—कुन्तक

हुए तो यमक, गूढार्थ प्रतीति हुई तो श्लेष, सामान्य शब्द-शय्या दिखाई दी तो अनुप्रास और चित्रात्मक विस्मयकारिता के दर्शन हुए तो चित्रालङ्कार माना जाने लगा। मानसिक अभिरुचियों के ऊहापोह से प्रश्नोत्तर और विशेष रहस्य का गोपन प्रहेलिका में मूर्त बन गया।

इसी प्रकृति प्रेम के कारण जहाँ वर्णन में विचित्रता आई वहीं आलेखन में भी अनेकरूपता आविर्भूत हुई। चारुता का आँगन ही कला की लीलास्थली है। जब वाक्सौन्दर्य लाना होता है, तो उसमें सहज ही कलात्मकता आ जाती है। कला से आकर्षण की अभिवृद्धि तो होती ही है साथ ही एक कला अन्य कला को जन्म भी देती है। अतः वीचि-तरंग-न्याय से कला और उसका अनुराग इस छोर से उस छोर तक पूर्णरूपेण व्याप्त है। कभी कला ने प्रकृति को आलोकित किया तो कभी प्रकृति ने कला को। यही कारण है कि साहित्य के समस्त उपादानों में प्रकृति और कला का उदात्त सामञ्जस्य प्रतिष्ठित है।

शब्दालङ्कार के क्षेत्र में प्रकृति की उदारता से अर्चना हुई है तथा उनका शाब्दिक सौन्दर्य प्रकृति की प्रतिकृति के आधार पर ही साकार हुआ है। यही कारण है कि प्रकृति-वर्णन में यत्र-तत्र शब्दालङ्कारों का उपयोग बड़े ही मनोयोग से किया गया है। यथा—ऋग्वेद की उषा-विषयक ऋचाओं में प्रकृति का मूर्ति-विधान सजीवता को लिए हुए है जिसमें शब्दग्रहण और बिम्ब-विधान उत्तमरूप से प्रस्फुरित हुआ है। प्रातःकालीन उषा की अरुणिमा को देखकर हृदय आह्लाद से भर जाता है। भावों की अनुभूति स्वतः अभिव्यक्त हो जाती है। उषा मनश्चक्षुषों के समक्ष एक सुन्दरी और तरुणी के रूप में आती है, सूर्य उसका प्रणयी है, रात्रि उसकी भगिनी है, आदि भावों का चित्रण वहाँ इस प्रकार है—

> एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।
> अपद्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्॥
> एषा प्रतीची दुहिता नृन्योषेव भद्रा नि रिणीते अप्सः।
> व्यूर्ण्वती दाशुषे वार्याणि पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्वथाकः॥ऋग्वेद ५।८०।५६।

यहाँ वर्णसाम्य बड़ी ही चातुरी से निहित है। सामान्य विश्लेषण से ही श्रुत्यनुप्रास, छेकानुप्रास आदि के दर्शन किये जा सकते हैं। कालिदास ने रघुवंश के नवम-सर्गस्थ वसन्त-वर्णन में, भारवि ने किरातार्जुनीय के पंचम-सर्गस्थ हिमालय वर्णन में तथा माघ ने शिशुपाल-वध के चतुर्थ-सर्गस्थ रैवतक-पर्वत के वर्णन में यमक-प्रयोगों का अनुपम वैभव प्रस्तुत किया है। प्रकृति के ऐसे वर्णनों में शब्दालङ्कार का रूप अपेक्षाकृत अधिकता से निखरा है, जो समीक्षणीय है।

ख— उच्चारण और शब्दालंकार

शब्दालङ्कार की समस्त सृष्टि ही वैसे तो उच्चारण-वैचित्र्य और अनुकरण पर

निर्भर है। वर्णमाला की उत्पत्ति और व्याकरण की रचना भी डमरु-निनाद के अनुकरण से हुई है :—

नृत्यावसाने नटराजराजो, ननाद ढक्कां नव पञ्चवारम् ।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥

इत्यादि प्रसिद्धि के अनुसार अ इ उ ण्—ऋ लृ क् आदि का विस्तार ही पाणिनि के द्वारा किया गया है। तथा जैसे वक्ता श्रोताओं को आकृष्ट करने के लिए काकु-कण्ठ-ध्वनि-रूप चातुर्य का प्रयोग करता है, उसी प्रकार कवि भी अनुकरण और अनुरणनपद्धति का आश्रय लेकर कभी बादलों की गड़गड़ाहट, कभी वाद्यों का अनुरणन, कभी उन्मत्तादि जल्पित एवं कभी आराध्य के प्रिय उपादानों को अपने काव्य का साधन बनाकर रचना करता है। ऐसी रचनाओं में व्याकरण के शास्त्रीय नियमों के पालन में कुछ शिथिलता भी स्वीकार्य होती है जिसका कारण 'अनुकारे तु सर्वेषाम्'[१] अर्थात् अनुकरण करने पर दोषों को दोष नहीं माना जाता ऐसी काव्यशास्त्रीय मान्यता है।

अधिकांश कवि काव्यगत रसस्वारस्य की अभिवृद्धि के लिए अनुरणनादि का बोध आराव, आलाप, हुंकार, झंकार, टंकार, रणत्कार, फूत्कार आदि शब्दों के माध्यम से ही करते हैं जो वैदिक साहित्य में भी प्रचलित था। किन्तु लौकिक साहित्य में निरर्थक शब्दों की योजना द्वारा भी श्रोता अथवा पाठक के अन्तरङ्ग को आनन्दित करने के लिए तत्सम ध्वनिकारक पदों का प्रयोग किया जाता है। महानाटक के :—

रामाभिषेके मदविह्वलाया, हस्ताच्च्युतो हेमघटस्तरुण्याः ।
सोपानमासाद्य करोति शब्दं, ठठं ठठं ठं ठठठं ठठं ठः ॥३१५।

इस पद्य के चतुर्थ चरण में ठठं ठठं आदि निरर्थक किन्तु ध्वनिव्यञ्जक पदों की योजना अवश्य ही पदगत भावों की वृद्धि में सहयोग देती है। भोज ने ऐसी शब्द-योजना को 'शब्दकृता गुम्फना' नामक शब्दालङ्कार माना है।[२] ऐसे प्रयोगों का बाहुल्य स्तुतिसाहित्य में अत्यधिक समुन्नत शैली में हुआ है तथा कुछ विद्वानों ने ऐसे प्रयोगों में श्लेष के सहारे अर्थ खोजने का कार्य भी किया है। शिवातण्डवस्तोत्र के—

जटाकटाहसम्भ्रमं भ्रमन्निलिम्पनिर्झरी, विलोलवीचिवल्लरी विराजमानमूर्धनि
धगद्धगद्धगज्ज्वलल्ललाटपट्टपावके, किशोरचन्द्रशेखरे रतिः प्रतिक्षणं मम ॥१॥

पद्य में अग्निज्वाला की उद्दामता का वर्णन धगद् धगद् आदि शब्दों से किया गया है जो भाव और भाषा दोनों की भूषा बढ़ाने में सहायक है। शिव के ताण्डव की छटा कुछ अनूठी ही है उसमें सर्प फुंकार करता है, डमरु डिम्-डिम् करता है और उनके

१—काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास ५२।
२—सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० १८०।

साथ व्योमवाणी भी प्रतिरणन करती है जिसका चित्र महाकवि इस प्रकार अङ्कित करता है—

> फुं फुं फूत्कारशब्दं फणिपतिरतुलं व्यस्य कण्ठे करोति,
> डिं डिं डिन्नातिडिन्नं कलयति डमरुर्यस्य पाणौ प्रकम्पम् ।
> तक्तक्तन्दातितन्दां धिगितिधिगितिगीर्गीयते व्योमवाग्भिः,
> कल्पान्ते ताण्डवीयः सकलभयहरः शंकरो नः स पायात् ॥

इसी प्रकार देवी की स्तुति में उसके शत्रु-संहारक स्वरूप को धड़ धड़–तड़ तड़ शब्दों से, कृष्ण की रासलीला के वर्णन को वाद्यध्वनि के शब्दों से, वर्षा ऋतु को घटा-घटा शब्दों से कवियों ने अभिव्यक्त किया है। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो ऐसी उक्तियों में भावातिरेक के साथ ही कहीं कहीं बीजाक्षरों का भी साहचर्य प्राप्त किया जाता है, जिससे 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी' बन जाती है।

इस प्रकार उच्चारण-सौविध्य के माध्यम से निर्मित साहित्य की विपुलता उपलब्ध होती है, जो शब्दालङ्कार के क्षेत्र में नितान्त उपादेय है।

ग —शस्त्रास्त्र, संग्राम और शब्दालंकार

इतिहासज्ञ मनीषियों का कथन है कि आदिकाल में मानव जंगलों में रहता था और पाषाण के शस्त्रास्त्रों से अपना जीवन-निर्वाह करता था। शस्त्र और अस्त्र ही उसकी सम्पत्ति थे, ये आत्म-रक्षण के भी उत्तम साधन थे। वैसे मानव और प्रकृति का संघर्ष भी आदिकाल से ही चला आया है। प्रकृति पर नियन्त्रण पाने की दिशा में इन शस्त्रास्त्रों का प्रमुख योग है। नृतत्त्व की परिभाषा के अनुसार शस्त्रों का सविधि प्रयोग जो कर सका, वही मानव है। प्रारम्भिक दशा में प्रकृति-प्रदत्त मुष्टिका, नख एवं दाँतों का प्रयोग होता था। पेड़ों की टहनियों तथा उनका तीरवत् उपयोग करना सम्भवतः उसका दूसरा चरण रहा होगा। शस्त्रास्त्रों के इसी विकास-क्रम ने मानव के अन्तर में प्रसुप्त जिगीषा को मूर्त रूप देने के लिये तथा अपना अधिकार सर्वसाधारण पर स्थिर रखने के लिये 'मानव का मानव के साथ संघर्ष'' की भावना को जन्म दिया।

सामाजिक विकास के साथ ही उक्त भावना का भी उत्तरोत्तर विकास हुआ और वैयक्तिक संघर्ष से आरम्भ होकर दल, जाति, ग्राम, नगर, राज्य और राष्ट्र तक बढ़ गया। जैसे-जैसे संघर्ष का विस्तार हुआ उसके उपकरणों का निर्माण और प्रयोग भी बढ़ता ही गया।

पश्चिमी धारणा संसार के प्रायः सभी देशों के साहित्य के इतिहास का आरम्भ वीर-गाथाओं से मानती है और जिस काल में इन वीरगाथाओं का आरम्भ हुआ उसे साधारणतः 'वीरयुग' कहा गया। यही 'वीरयुग' प्रत्येक देश के महाकाव्य का उद्भव काल

समझा जाता है। सभी देशों के इतिहास में इस प्रकार का काल एक ही साथ नहीं आया। भिन्न-भिन्न देशों की सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार उनका साहित्य भिन्न-भिन्न समय में हुआ है। सभी देशों में इसी वीरगाथोपयोगी काल में महाकाव्य का बीजारोपण हुआ और आगे चलकर समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप यह विभिन्न रूपों में विकसित होता रहा। भारत में 'रामायण' और 'महाभारत'-ग्रीस में 'इलियड'[१] और 'ओडेसी,' जर्मनी में 'नेबुलन-गेनालीड, स्पेन में 'सिड', इटली में 'एनिड' और आंग्ल साहित्य में 'ब्युवुल्फ' वीर-युग की कृतियाँ हैं।

वीरयुग की परिस्थितियों में वीरता, शक्ति, शौर्य एवं साहस की प्रधानता होती है। यही काल संघर्षकाल कहलाता है और इस का परिणाम होता है—युद्ध और मारकाट की भरमार। युग के प्रत्येक प्राणी की भावना वीरोन्मुख हो जाती है और उनमें विजिगीषा प्रबलरूप धारण कर लेती है।

वीरयुग में वीरों के अदम्य पराक्रम एवं शौर्य का प्रभाव सर्वव्यापी होता है। क्रमशः यही भावना तीव्ररूप धारण करके काव्यमय बन जाती है।

पद्य ही ऐसा माध्यम है कि जिसमें मनोवेगों को सहज प्रकाशन का अवसर मिलता है। और धीरे-धीरे वे अतीत कीर्तन का रूप धारण कर लेते हैं।

वीरभावात्मक काव्य एवं खण्डकाव्य

लोकदृष्टि-प्रधान काव्य तथा खण्डकाव्यों का आदि स्वरूप उन वीररस-प्रधान काव्यों में दिखाई पड़ता है जिन्हें वीरगीत कहकर अभिहित किया गया है।

वैदिक साहित्य में ऋग्वेद और अथर्ववेद के अनेक सूक्त वीरभावापन्न युद्धवर्णनों से परिपूर्ण हैं। कई मन्त्र केवल शस्त्रास्त्रों की स्तुति में ही लिखे गये हैं। प्रत्येक देवता का अपना-अपना एक या उससे अधिक शस्त्र-अस्त्र मौलिक महत्ता से मण्डित रहता है, । जिसके आधार पर उसका नामाङ्कन रहता है। दुर्गासप्तशती में देवी भगवती के तेजोरूप से आविर्भूत होने पर जो विभिन्न देवताओं ने राक्षसों के विनाशार्थ शस्त्रास्त्र प्रदान किये वे चिर स्मरणीय हैं।[२]

संस्कृत-साहित्य की महाकाव्य परम्परा में यह विजय-वर्णन सर्वाधिक लोकप्रिय विषय रहा है। जिसमें उल्लासाधिक्य के कारण कवि अपने नायक की प्ररोचना करता है और उसी प्रसंग में शब्दालङ्कार की विविध प्रवृत्तियों को मुखरित करता है।

१—इन काव्यों के नाम-स्वरूप अंग्रेजी में इस प्रकार हैं—
Illiad, Odyssey, Nibelungenlied, Cid, Aeneid, Beowulf.

२—द्रष्टव्य-दुर्गासप्तशती-अध्याय—२

उदाहरणार्थ:—१-किरातार्जुनीय २-शिशुपालवध

३-नरनारायणानन्द ४-सुरथोत्सव

५-यादवाभ्युदय ६-कफ्फणाभ्युदय

७-हरचरित ८-कंसवध

आदि महाकाव्यों में आये हुए युद्धवर्णनों में शब्दालङ्कार के रूप अनुप्रास और यमक से आगे बढ़कर चित्र-पद्धति में प्रविष्ट हुए हैं और शस्त्रास्त्रचित्र, संग्राम-पद्धति तथा विजयोल्लास का वर्णन शब्दालङ्कार का उदात्त परिचायक बन गया है।

घ— आभरण और शब्दालङ्कार

मानव बुद्धि में कुछ ऐसे अणु निहित हैं कि वह निश्चेष्ट न रहते हुए कुछ-न कुछ करता रहता है। जैसा-जैसा बुद्धि-बलोदय होता है, मानव की आकांक्षाएँ उत्तरोत्तर बढ़ती रहती हैं। वह एक-दूसरे की उन्नति-अवनति का केवल प्रहरी ही नहीं बनता, अपितु प्रतिस्पर्धी भी बनता है। आदिकाल में जब मानव निरा वन्यवृत्तिवाला था, तब भी वह जंगली जीवों के चर्म और पंख, शृंग और पूंछ को अपने अवयवों में सजाकर अपनी सम्पन्न-बुद्धि का परिचय देता था। वह वृक्षों के पल्लव और पुष्प लेकर ही सन्तुष्ट नहीं रहता था अपितु वृक्षों के फलों से भी अपनी देहसज्जा के उपकरण तैयार करता था। वन्यवृत्ति के कारण नदियों के तटों का भ्रमण उसे सीप और शंखों से परिचित कराता है और सीप से निकले मोती भी उसके प्रसाधन में उपयोगी बन जाते हैं। अपना शरीर भी एक प्रकार के वन-प्रदेश अथवा भवन का प्रतिरूप है, यह मानकर इसे सुसज्जित और आकर्षणपूर्ण रखने का कुतूहल बढ़ता गया। एक ओर आराध्य देवों की विविध आभरणों के कारण लोकोत्तर-पद स्थिति भी मानव के आभरणानुराग की वृद्धि में सहायक हुई। क्रमशः यह अनुराग नैसर्गिक न रहकर कृत्रिम अनुकृति-मूलक बन गया क्योंकि प्रारम्भ में सीमित व्यक्ति या परिवार ही उसके प्रति आकृष्ट थे, किन्तु जैसे-जैसे प्रचार-प्रसार बढ़ता गया वास्तविकता की कमी हुई और कृत्रिमता का उपयोग बढ़ गया।

आस्तिक जगत् में देवताओं के आभरण भी उनकी क्षमता और स्थिति का परिचय देते हैं। विष्णु के अलङ्कार देखकर ही तो किसी कवि ने कह दिया-अलङ्कार-प्रियो विष्णुः। पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में आभरणों के प्रति अधिक आकर्षण देखा जाता है। इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि महिलाएँ अपने शरीर को अलङ्करणविशेष के द्वारा अलंकृत कर आकर्षण को चिरनवीन रखना चाहती हैं। इधर देवताओं के प्रतिनिधि के रूप में माने जाने-वाले राजाओं में भी अपने वैशिष्ट्य-प्रदर्शन की तीव्र भावना से आभरणों का अनुराग निरन्तर बढ़ता ही गया। समाज का प्रतिनिधि कवि इससे प्रभावित हुआ और वह भी वाणी के आभरणों-अलङ्कारों की योजना करने में सफल हुआ।

वैदिक साहित्य में अग्नि, इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि देवताओं की स्तुतियों में उनके

आभरणधारी होने का तथा आभरण के आधार पर ही उनके नाम निर्धारण की भी पद्धति का परिचय प्राप्त होता है। वाणी के इन अलङ्कारों को समुचित स्थान-विशेष पर विन्यस्त करने से देह की लावण्य-प्रभा एवं रमणीयता बढ़ जाती है।

कवियों ने भी अपनी वाणी को इसी आशय से लौकिक अलङ्कारों की भाँति काव्य-शास्त्रीय अलङ्कारों से सजाना आरम्भ किया। शब्दालङ्कारों में अनुप्रास द्वारा विभिन्न लौकिक भूषणों को एक के बाद एक धारण करने से, यमक द्वारा उन्हीं लौकिक भूषणों के द्विधा, त्रिधा धारण से, श्लेष द्वारा विभिन्न रत्नों और सुवर्ण के संयोग से तथा अन्य अलङ्कारों के द्वारा लौकिक आभूषणों से साम्य स्थापन करते हुए जो वाग्विलास किया गया है वह तो चमत्कृति पूर्ण है ही, साथ ही चित्रालङ्कारों में जो अवृत्तियों के माध्यम से अलंकृति लाई गई है, वह और भी विस्मयकारिणी है।

'भिन्नरुचिर्हि लोकः' इस उक्ति के अनुसार जैसे-जैसे समाज का विकास होता गया, उनके अलङ्कारों में भी विभिन्नता आती गई और आज वे अनन्तता को प्राप्त हो गये हैं उसी प्रकार शब्दालङ्कारों में भी कवियों ने अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार निरन्तर वृद्धि की है और उनमें भी अनन्तता आगई है जिनमें से कतिपय प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध शब्दालङ्कारों का विवेचन हम करेंगे।

ङ—भाव-सङ्गोपन और शब्दालङ्कार

भावसंगोपन से कुतूहल की वृद्धि होती है, बुद्धि की तीव्रता, तर्कों की स्फूर्ति और विचारों की प्रौढता का परिपाक होता है तथा एक बात को अनेकरूप में देखते हुए उचितानुचित का विवेक करने में निपुणता प्राप्त होती है। वैदिक-काल से ही यह प्रक्रिया प्रचलित प्रतीत होती है। ऋग्वेद के मन्त्रों में भावों का गोपन, अभिधेय की वक्रता, अभिप्रेतार्थ की दुरूहता, लक्ष्य से विपरीत कथन आदि अनेक स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। इसी गूढता से निष्पन्न रचना को 'कूट' की संज्ञा दी गई है। संस्कृत-साहित्य में कूट-काव्यों का विशिष्ट स्थान है। कूट का अर्थ है कि कैतव-वक्रता। किसी बात को सीधे रूप में न कहते हुए वक्रता से व्यक्त करना कूट कहलाता है। अंग्रेजी में काव्य की इस वक्र अथवा गूढ पद्धति को आब्लीक (Obliuc) अथवा एजिगमेटिक (Anigmatic)कहा गया है जिसका अर्थ सीधे मार्ग से विपथन है।[१] गूढार्थ और कूट-काव्य के अन्य अभिधान—समाधिभाषा, ब्रह्मोद्य,

---

१—"That which diverges from a straight line. जान्सन

इ० एम० डब्ल्यू० टिलियड ने आब्लीक काव्य का विवेचन इस प्रकार किया है:—ऐसा काव्य जिसमें मानस अनुभव को प्रत्यक्ष शब्दों द्वारा न कहकर वक्रोक्ति अथवा गूढार्थ शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया गया हो।—पोइट्री डायरेक्ट एण्ड आब्लीक (१९४८ पृ० ६)

अथवा वाक्कूट, ग्रन्थ-ग्रन्थि, कुतूहलाध्यायी, वैनोदिक, वक्रोक्ति, वैदग्ध्यभंगी-भणिति, प्रहेलिका, सन्धाभाषा-आदि के रूप में प्राप्त होते हैं। ऐसे काव्यों में कविता का अर्थ केवल शब्दों के वाचकार्थ से न समझा जाकर प्रसंग अथवा रूढार्थों से ज्ञात हो, अथवा श्लेष, यमक अनेकार्थवाची शब्दों के प्रयोग से साधारण पाठक के लिये अर्थज्ञान कठिन हो जाता है। ऐसे काव्यों की उद्भूति में चमत्कार-प्रदर्शन और पाण्डित्य-निदर्शन का भाव विद्यमान रहता है। क्लिष्ट-कल्पनाजन्य काव्य के द्वारा भी एक प्रकार का आनन्द होता है ऐसा मानकर ही विद्वानों ने इसे काव्य-कोटि में स्थान दिया है।

शब्दालङ्कार के उपादानों में भावसंगोपन की प्रक्रिया का पूर्ण सहयोग लिया गया है। श्लेष और गूढ-चित्र तो इसी आधार पर स्थिर हैं साथ ही चित्रालङ्कार के अन्य भेदों में भी इसका आश्रय उपादेय माना जाता है। भावसंगोपन के साथ ही आलङ्कारिकगण अपने नाम, धाम, गुरु, रचना, काल आदि को भी गुप्त रखते हैं। इस पद्धति से विरचित साहित्य में स्तुति-साहित्य सब से अधिक है जिनमें कहीं आभाणक और मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, ग्रहनाम, नक्षत्र नाम आदि गुप्त रखते हुए इष्टदेव की स्तुति की गई है।

शब्दालङ्कार की अनन्तता

वाङ्मय की चिन्तनधारा में रुचिपूर्ण अवगाहन कर वाणी के कृपा-प्रसाद से लक्ष-लक्ष कवियों ने लक्ष-लक्ष प्रकारों से साहित्य-सर्जन किया है, जिनका साधिकार इयत्ता-निर्धारण सम्भव नहीं है, यही कारण है कि-कवियों ने वाणी की अनन्तरूप में स्तुति की है। 'पुंसिपुंसि विचित्रैव कापि कापि सरस्वती' के अनुसार अलङ्कार ग्रन्थों में भी अलङ्कारों की अनेकरूपता स्वीकृत हुई है। भामह ने कृत्स्नशः वर्णन में अक्षमता दिखलाई है तो दण्डी ने 'ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते' कहकर शिष्यश्रीवृद्धि के लिये यत्किञ्चित् संग्रह का संकेत किया है। रुद्रट ने यमक विभाजन में 'अपरमसंख्यं' तथा चित्रालङ्कार के भेदों के बारे में—'भेदैर्विभिद्यमानं संख्यातुमनन्तमस्मि नैतदलम्' कहकर शब्दालङ्कारों की अनन्तता का निर्देश किया है। भोज ने तो प्रायः सभी शब्दालङ्कारों के सम्बन्ध में यही कहा है कि—

अत्यन्तबहवस्तेषां, भेदाः सम्भेदयोनयः। सुकरा दुष्कराश्चैव, दर्श्यन्ते तत्र केचन॥
दुष्करत्वात् कठोरत्वाद्, दुर्बोधत्वाद्विनाऽवधेः। दिङ्मात्रं दर्शितं चित्रे, शेषमूह्यं महात्मभिः॥
यस्तु व्यवहितो नाम, नेयत्ता तस्य शक्यते। कर्तुमेकादिगणना, पदवृत्तादि—भङ्गिभिः॥
श्रुत्यनुप्रासवर्णानुप्रासयोरपि दुष्कराः। क्वचिद्भेदाः पृथक्कर्तुमस्यास्तेनेह नेष्यते॥
——स०क० द्वितीय परिच्छेद क्रमशः——६२, १३०, १०४, ८८।

इसी प्रकार आनन्दवर्धन ने 'अनन्ता हि वाग्विकल्पाः' कहा है। अग्रिम विवेचन से यह कथन पूर्णतः सत्य प्रतीत होगा। हमने भी प्रस्तुत प्रबन्ध में दुराग्रह को प्रश्रय न देते हुए यथासुलभ प्रकारों की उदाहरण-मीमांसा को अपने शोध का लक्ष्य बनाया है, जिसका विवेचन अग्रिम आलोकों में किया जा रहा है।

द्वितीय आलोक

[प्रथम अधिकरण]

शब्दालङ्कार का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विवेचन

गत आलोक में हम शब्द और शब्दालङ्कार के महत्त्व पर विचार करते हुए उसकी पृष्ठभूमि एवं इतस्ततः विकीर्ण साहित्य का पर्यालोचन कर चुके हैं। प्रस्तुत आलोक में शब्दालङ्कार के विविध रूपों का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विवेचन करते हुए प्रत्येक के प्रतीक रूप आवश्यक उदाहरणों से उसकी वास्तविक फलद्रूपता पर दृष्टिपात करेंगे।

क— अलङ्कार

'अलं' और 'कार' इन दो शब्दों के योग से अलङ्कार शब्द बना है। अलं का अर्थ है—भूषण तथा कृ धातु से 'कार' शब्द बना है। इसका विग्रह—'अलं करोतीति अलंकारः'-जो भूषित करे वह अलङ्कार है' यह अथवा 'अलं क्रियते अनेनेति अलङ्कारः—जिसके द्वारा भूषित—अलंकृत किया जाय, वह अलङ्कार है'—यह किया जाता है। इन दोनों में दूसरा विग्रह 'करण-व्युत्पत्ति रूप' विद्वानों को अधिक अभीष्ट है। उनका कथन है कि इसमें उपमा आदि अलंकारों का भी ग्रहण हो जाता है।[1] व्याकरण द्वारा निष्पन्न अलङ्कार शब्द का यह सामान्यार्थ है। इस शब्द के विशिष्टार्थ का निदर्शन विभिन्न प्रयोग एवं अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों द्वारा प्रदत्त परिभाषाओं के आधार पर इस प्रकार प्राप्त होता है:—

प्रयोग की दृष्टि से ऋग्वेद में अलङ्कार के पर्याय में 'अरंकृति' और 'अरंकृत' शब्द प्राप्त होते हैं। यथा:—'का ते अरंकृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन् दाशेम।' (७।२९।३) तथा—' वायवा याहि ते सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधि हवम् (।१।१।२।१) इन मन्त्रों में उक्त दोनों शब्द अलंकृति और अलंकृत के अर्थ में ही प्रयुक्त हैं।[2]

१—अलङ्क्रियतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्याऽलङ्कारशब्दः शब्दार्थालङ्कार-बोधकः।
—सा० द० छाया, म० म० दुर्गाप्रसाद पृ० ४७१।

२—अन्यत्र भी ऐसे ही प्रयोग निम्न रूप में प्राप्त होते हैं :—
क—ईडते त्वामवस्यवः करावासो वृक्तबर्हिणः। हविष्मन्तो अरंकृताः॥
—ऋ० १।४।१४।५।
ख—वायवायाहि दर्शनीयेमे सोमा अरंकृताः॥ तथा—सोमा अरंकृता अलंकृताः॥
यास्क, निरुक्त १०।२२ (डा० लक्ष्मण स्वरूप पृ० १७३)॥

यास्क ने अलङ्कार के पर्याय का प्रयोग 'अलङ्करिष्णु' तथा 'रोचिष्णु' शब्दों से किया है।[1]

आलङ्कारिक आचार्यों का मन्तव्य है कि 'अलङ्कार' काव्य के बाह्य शोभाकारक धर्म हैं, इस धर्म का फल काव्य का अलङ्करण है। इस दृष्टि से इसका प्राचीनतम अभिधान 'अलङ्कार' है। जैसे हारादि रमणी के नैसर्गिक सौन्दर्य की शोभावृद्धि के लिये उपकारक होते हैं, वैसे ही ये अलङ्कार काव्य की रसात्मकता के उत्कर्ष-विधायक हैं। वास्तव में अलङ्कार वाणी के विभूषण हैं। इनके द्वारा अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भावों में प्रभविष्णुता एवं प्रेषणीयता तथा भाषा में सौन्दर्य का सम्पादन होता है।

अलङ्कार-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह का अलङ्कार से अभिप्राय ऐसी शब्दोक्ति से है, जो वक्रार्थ की विधायिका हो। वक्रोक्ति के बिना कोई अलङ्कार नहीं है, क्योंकि अर्थ को विभामय बनाने वाली समस्त विधा वक्रोक्ति ही है तथा वे काव्य में अलंकार की स्थिति भी आवश्यक मानते हैं।[2] आचार्य दण्डी सदलंकृत काव्य को चिरस्थायी बनने का कारण बतलाते हुए 'काव्यशोभा के सम्पादक धर्मों' को अलंकार कहते हैं तथा आगमान्तर में जो सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्ति, वृत्यङ्ग और लक्षण आदि हैं उन्हें भी अलङ्कार मानते हैं।[3] उद्भट इस दिशा में मौन हैं। किन्तु वामन दण्डी के कथन का विरोध करते हुए स्पष्टीकरण देते हैं कि—'काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म गुण हैं और अलङ्कार अतिशय के हेतु हैं,' अतः अलङ्कार उनकी दृष्टि में शोभाधायक नहीं है[4]। वामन ने अलङ्कार को सङ्कीर्ण और व्यापक ऐसे दो अर्थों में माना है। फलतः शोभाकर तथा सौन्दर्यमात्र ये दोनों अर्थ उनके अभिप्रेत हैं। इनके अन्तर्गत वे सभी प्रकार आ जाते हैं, जिनके कारण काव्य हमारे मन को आकृष्ट करता है। व्यापक अर्थ में उनका कहना है कि 'अलङ्कार के कारण ही काव्य ग्राह्य-उपादेय है और

१—तितनिषुं धर्मासन्तानादपेतमलङ्करिष्णुमयज्वानम् ॥६।१६॥
अग्निरिव ये मरुतो भ्राजमाना रोचिष्णूरस्का भ्राजस्वन्तो रुक्मवक्षसः। (३।१५) इत्यादि
—अञ्जनाभ्यञ्जने प्रयच्छत्ये वह मानुषोऽलङ्कारः।—शतपथ, १३। ८।४।

तथा यूनानी में अरम्-औरम् का अर्थ सुवर्ण होता है। इसी आधार पर वहाँ भी अरङ्कार—अलङ्कार का अर्थ विभूषण माना गया है।

२—सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। काव्यालङ्कार—२।८५॥
—न कान्तमपि निर्भूषं, विभाति वनितामुखम् ॥ वहीं—१।१३।

३—काव्यं कल्पान्तरस्थायि, जायते सदलङ्कृति।१।१६।
तथा—काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श—२।१।

४—काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ॥३।१।१॥ तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ॥
—काव्यालङ्कारसूत्र।३।१।२।

वह अलङ्कार है सौन्दर्य ।[१] आचार्य रुद्रट अलङ्कार के महत्त्व को स्वीकार करते हैं तथा रचना के लिये चारुत्व को आवश्यक बतलाते हुए आग्रह करते हैं कि 'कवि उसी शब्द की रचना करे जो काव्य को सुन्दर बनाये ।'[२] ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए वाणी की अनन्त शैलियों को 'अलङ्कार' कहा है तथा अंगी रस के अंगाश्रित कटकादि के समान अलङ्कार होते हैं–यह स्पष्ट किया है । वहीं यह भी कहा है कि--जिसका योग रसाक्षिप्त होने के कारण सफल हो और जिसके लिये कवि को स्वतन्त्र प्रयास न करना पड़े, ध्वनिकार के मत में वही अलङ्कार है ।' तथा 'बाह्यालंकार' के समान ही अलङ्कार अंगी रस के चारुत्व का हेतु है ।[३] अग्निपुराण में दण्डी के लक्षण को ही दुहराया गया है ।[४] कुन्तक भामह के कथन की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि—'विदग्धों के कथन-प्रकार ही वक्रोक्ति हैं और वे ही 'अलङ्कार' हैं ।'[५] अलंकारयुक्त शब्दार्थ ही उनके मत में काव्य है ।[६] भोजदेव ने 'शृङ्गार-प्रकाश' के दशम प्रकाश में कहा है कि—'काव्य शरीर के चारुत्वरूप उत्कर्ष की सिद्धि के लिये 'अलङ्कार' उपकारक है तथा उसके बाह्य, आभ्यन्तर एवं बाह्याभ्यन्तर ऐसे तीन भेद किये हैं। इस दृष्टि से भी 'अलंकार' हारादिवत् ही सिद्ध होते हैं ।[७] क्षेमेन्द्र अलंकारों को शोभाकारक वहीं मानते हैं जहाँ उचित स्थान पर उनका निवेश हो ।[८] मम्मट हारादि आभूषणों के समान

१—काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् ॥१।१।१ ॥सौन्दर्यमलङ्कारः ॥१।१।२। (वहीं)

२—काव्यमलङ्कर्तुमलं कर्तुरुदारा मतिर्भवति ॥१।३॥ तथा—
रचयेत् तमेव शब्दं रचनाया यः करोति चारुत्वम् ॥ काव्यालङ्कार २।६॥

३—अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः, पर वृत्ति, ध्वन्यालोक, ॥३।३७॥
क—अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा, मन्तव्याः कटकादिवत् ॥२।६॥ (वहीं)
ख—रसाक्षिप्ततया यस्य, बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥२॥६॥ (वहीं)
ग—अलङ्कारो हि बाह्यालङ्कारसाम्यादङ्गिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते ॥
—द्वि० उ० कारिका ॥१७॥ (वहीं)

४—काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ॥ अग्निपुराण ३४२।१७॥

५—वक्रोक्तिरेव वैदध्य-भङ्गीभणितिरुच्यते ॥ वक्रोक्तिजीवित १।१०॥
यत्रालङ्कार-वर्गोऽसौ, सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥१।२०॥(वहीं)

६—सालङ्कारस्य काव्यता ॥१।६॥ (वहीं)

७—काव्यशरीरस्य चारुत्वोत्कर्षप्रसिद्धये प्राप्तकालोऽलङ्कारयोग उच्यते ।
अलङ्काराश्च त्रिधा-बाह्या आभ्यन्तरा बाह्याऽभ्यन्तराश्च ॥ शृङ्गारप्रकाश ॥
—दसवाँ प्रकाश, आरम्भ ।

८—उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः ॥ औ० वि० चर्चा ६॥

अलङ्कार और उनमें कादाचित्क रसोपकारकत्व मानते हैं ।[1] वैसे अलंकार के सम्बन्ध में मम्मट द्वारा कारिकाओं पर निर्मित वृत्ति के चयन से कहीं—'वृत्ति-वैचित्र्य ही अलंकार है' तो कहीं' अतिशयोक्ति ही अलंकार है' ऐसे विचार भी उपलब्ध होते हैं । वैचित्र्य के अलङ्कारत्व की पुष्टि वे एक स्थान पर दृष्टान्त द्वारा भी करते है । इस परम्परा में रुय्यक ने प्राचीन सभी आलङ्कारिकों के मत का विवेचन तो किया है, किन्तु वे अलंकार की परिभाषा पूर्वोक्त ही मानते हैं । वाग्भटद्वय और हेमचन्द्राचार्य ने इसी प्रकार अपनी मूक सम्मति दी है । एक-निष्ठ शैली में निर्मित 'चन्द्रालोक' के निर्माता जयदेव कवि केवल रसवती कविता को स्वैरिणी तथा निर्विचार कहते हैं और अलङ्कारयुक्त रचना को विचार का उल्लास करने वाली कहते हैं । उनकी दृष्टि में अलंकार के बिना कविता उसी प्रकार है जैसे उष्णता के बिना अग्नि ।[2] एकावलीकार विद्यानाथ ने अलंकारों के वर्गीकरण में पूरा परिश्रम किया है, किन्तु अलंकार के लक्षण के सम्बन्ध में वे पूर्वाचार्यों पर ही निर्भर हैं । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ भी उत्कर्ष हेतु के अतिरिक्त कोई विशिष्ट लक्षण नहीं देते । केशवमिश्र और पण्डितराज जगन्नाथ भी इस दिशा में अधिक विवेचन नहीं दे पाये हैं ।

ख— वस्तुतः अलङ्कार क्या हैं ?

अब इस परिभाषा-दर्शक विवेचन के पश्चात् यह पूछा जासकता है कि वस्तुतः अलङ्कार क्या हैं ? इस प्रश्न का उत्तर उपर्युक्त कथन के सार रूप में यह दिया जा सकता है :—

१—वर्णन करने की अनेकविध चमत्कृतिपूर्ण शैलियाँ हैं, जिन्हें काव्यों से चुन कर प्राचीन आचार्यों ने अलंकारों के नाम रख लिये और लक्षण बनाये हैं । ये शैलियाँ अनन्त हैं अतः परिगणन सम्भव नहीं ।

१—उपकुर्वन्ति तं सन्तं, येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।।का० प्र० -६७।।

क—किं च वैचित्र्यमेवालङ्कार इति य एव कविप्रतिभासंरम्भ—गोचरस्तत्रैव विचित्रतेति वैचित्र्यमेवालङ्कारभूमिः ।। शब्दश्लेषवृत्ति । (वहीं) ।

ख—सर्वत्रैवं विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात् ('विशेष' पर वृत्ति) वहीं ।।

ग—'आयुर्घृतम्' इत्यादिरूपो ह्येष (हेतुः) न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात् । ('कारणमाला' पर वृत्ति) वहीं ।।

२—हंहो चिन्मय चित्त चन्द्रमणयः संवर्धयध्वं रसान्,
रे रे स्वैरिणि निर्विचारकविते मास्मत् प्रकाशीभव ।
उल्लासाय विचारवीचि-निचयालङ्कारवारांनिधे—
श्चन्द्रालोकमयं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती ।।१।२।। तथा—
अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती । असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ।।
चन्द्रालोक— १।८ ।।

२—चमत्कार और अनुरंजन की भावना से अलंकार की उत्पत्ति होती है। यहाँ 'अलं' का अर्थ पूर्णता का सूचक है।

३—अलंकार यद्यपि बाहरी साधन हैं, तथापि उनके पीछे अलंकृतिकार की आत्मा का उत्साह और ओज छिपा रहता है। बाह्य साधन होने के कारण सर्वप्रथम इस पर दृष्टि जाती है।

४—अभिव्यक्ति की आवश्यकतापूर्ति का उत्तम और सरल माध्यम अलंकार है।

५—अलंकार शैली की उत्कृष्टता में सहायक होते हैं। वे इतने ऊपरी नहीं हैं, जितने समझे जाते हैं। अलंकारों का भी रस से सम्बन्ध है। इनकी भी उत्पत्ति हृदय के उसी उल्लास से होती है जिससे कि काव्य मात्र की - (नारी के भौतिक अलंकारों को धारण करने में भी एक मानसिक उल्लास के अभाव में विधवा स्त्री अलंकार धारण नहीं करती।)।

६ —अलंकारों के मूल में हृदय का ओज विद्यमान है। वे मानसिक चित्रों को स्पष्टता प्रदान करते हैं, विचारों को पुष्टि देते हैं, सादृश्य को विविधरूप में प्रस्तुत करते हैं, रचना में क्रम निर्देश करते हैं। कुछ अलंकारों से विरोध द्वारा चमत्कार उत्पन्न करके विधाता की सृष्टि से कवि की सृष्टि की विलक्षणता दिखलाई जाती है, कुछ से प्रभाव बढ़ाया जाता है तथा कहीं भाषा में सजीवता लाई जाती है और शब्दमाधुर्य की सृष्टि की जाती है।

ग— अलङ्कारों का वर्गीकरण और शब्दालङ्कार

विवेचनशील मानव ने वैज्ञानिकता के आधार पर वस्तु के सही स्वरूप को खोजने का पूर्ण प्रयास किया है। अलङ्कार-शास्त्र के आचार्यों ने भी अलङ्कारों का वैज्ञानिक-विवेचन करने के लिये प्रस्तुत अनेक अलङ्कारों का मूलाधार ढूँढने का प्रयास किया, यही प्रवृत्ति अलङ्कारों के वर्गीकरण की जन्मदात्री है।

महर्षि भरत ने अलङ्कार-वर्गीकरण की दिशा में कोई मत नहीं दिया है। किन्तु उनके 'शब्दाभ्यासस्तु यमकम्' इस लक्षण के द्वारा यमक के शब्दालंकार होने की धारणा का अनुमान अवश्य होने लगा था। आचार्य भामह ने भी नामतः शब्दालंकार और अर्थालंकार का निर्देश तो नहीं किया किन्तु अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक तथा उपमा इन अलंकारों के कथन में शब्दालंकार के प्रथम सूचन से कुछ विभाजन का संकेत अवश्य कर दिया था। आचार्य दण्डी ने सम्भवतः इस विभाजन की दिशा में मध्यम मार्ग ग्रहण किया। क्योंकि 'काव्यादर्श' में अनुप्रास का वर्णन प्रथम परिच्छेद में करके यमक का वर्णन तीसरे परिच्छेद में किया है, जब कि उपमादि अलंकारों को दूसरे परिच्छेद में आवर्जित कर लिया है। उद्भट ने भी अलंकारों के वर्गीकरण में जो पहला वर्गीकरण किया है उसमें आठ अलङ्कार हैं, उनमें चार शब्दपरक और चार अर्थपरक हैं परन्तु उद्भट उसका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं करते हैं। वामन ही ऐसे प्रथम आचार्य हैं कि जिन्होंने काव्यालंकार-सूत्र के चतुर्थ अधिकरण का पहला अध्याय शब्दा-

लङ्कार-विचार' नाम से दिया है और द्वितीय अध्याय का 'उपमा-विचार'। द्वितीय अध्याय का नाम 'अर्थालंकार-विचार' न देने में क्या हेतु था ? इसका उत्तर केवल यही दिया जा सकता है कि उस समय (९वीं शती के अर्धांश) तक इस प्रकार का विभाजक-तत्त्व निर्णीत नहीं हो पाया होगा।

आचार्य रुद्रट ही ऐसे आचार्य हैं कि जो शब्दालंकार का स्पष्ट विभाजन करते हैं तथा 'शब्दस्य' और 'अर्थस्य' कह कर स्वतन्त्र विभाजन भी प्रस्तुत करते हैं।

रुद्रट ने 'काव्यालङ्कार' में द्वितीय से पञ्चम अध्याय तक शब्दालंकार तथा सप्तम से दशम अध्याय तक अर्थालंकार का विवेचन किया है। दूसरे अध्याय में ही वे कहते हैं—

वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।
शब्दस्यालङ्काराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यत्तु ॥ १३ ॥

रुद्रट के उपर्युक्त षष्ठ्यन्त पदों के द्वारा हमें दिशाज्ञान अवश्य होता है किन्तु इससे भी अधिक स्पष्टीकरण में प्राथमिकता 'अग्निपुराण' को ही प्राप्त होती है। यहाँ केवल निर्देश ही नहीं है, अपितु शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार तथा शब्दार्थालङ्कार के पृथक्-पृथक् लक्षण भी निर्धारित कर दिये-जो क्रमशः इस प्रकार हैं :—

जो अलङ्कार व्युत्पत्ति अर्थात् शब्दों की विशिष्ट संयोजन-शैली द्वारा शब्द अलंकृत करते हैं, उन्हें शास्त्र के ज्ञाता 'शब्दालङ्कार' कहते हैं।[1]

अर्थों के चमत्कार को 'अर्थालंकार कहते हैं। इसके बिना काव्य शब्द-सौन्दर्य समन्वित होते हुए भी हृदयस्पर्शी नहीं होता।[2]

शब्दार्थालंकार (उभयालंकार) शब्द और अर्थ, दोनों को समान-रूप से उस प्रकार अलंकृत करते हैं जिस प्रकार स्त्रियों के वक्ष का हार उरोजों के साथ-साथ उनके ग्रीवा-सौन्दर्य को भी बढ़ाता है।[3]

भोजराज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार के नाम से अलङ्कारों को विभक्त करके उन्हें ही बाह्य, अभ्यन्तर तथा बाह्याभ्यन्तरालङ्कार नाम से तीन वर्गों में विभक्त किया है।[4] तथा व्युत्पत्त्यर्थ के सम्बन्ध में लिखा है कि 'जो शब्द का अलंकरण

१—ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलङ्कर्तुमिह क्षमाः।
शब्दालङ्कारमाहुस्तान् काव्यमीमांसका विदः ॥ अग्निपुराण ३४२ अध्याय।१८-१९

२—अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते।
तं विना शब्द-सौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम् ॥ १ ॥ वहीं ३४४ अ०।

३—शब्दार्थयोरलङ्कारौ, द्वावलंकुरुते समम्।
एकत्र निहितो हारः स्तनं ग्रीवामिव स्त्रियः ॥ १ ॥ वहीं ३४५ अ०।

४—शब्दार्थोभयसंज्ञाभिरलङ्कारान् कवीश्वराः।
बाह्यानाभ्यन्तरान् बाह्याभ्यन्तरांश्चानुशासति ॥ सरस्वतीकण्ठाभरण। २-१ ॥

करता है, वह शब्दालंकार है, जैसे-जाति आदि। जो अर्थ का अलंकरण करता है, वह विद्वानों द्वारा अर्थालंकार कहा गया है, जैसे-जाति (स्वभावोक्ति) आदि।[1]

जिन शब्दों और पदार्थों से उपमादि विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है, वे उभयालंकार हैं, ऐसा कविगण मानते हैं।[2]

आचार्य मम्मट ने अन्वय-व्यतिरेक का सिद्धान्त ही इनका नियामक माना है। शब्दालंकार में 'शब्द विशेष' से अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध रहता है और अर्थालंकार में शब्द परिवर्तित हो जाने पर भी अर्थ विशेष से अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध बना रहता है। जो अलंकार शब्दार्थ में जिसके आश्रित रहता है, वह उसी का अलंकार होता है।[3]

यहीं से उत्तरवर्ती सभी आलंकारिक आचार्यों में अलंकारों का यह तीन प्रकार का वर्गीकरण सर्वसम्मत बन गया। उभयालंकार को मिश्रालंकार के नाम से विद्यानाथ ने सम्बोधित किया है जो कोई नवीनता का सूचक नहीं है।

इसके पश्चात् यदि कहीं विसंवाद हुआ है तो इस बात में कि किस अलंकार को किस में स्थान दिया जाय ? इस दृष्टि से पुनरुक्तवदाभास, श्लेष और वक्रोक्ति बहुचर्चित हैं, जिनका विचार हम उन- उन अलंकारों के विवेचन में करेंगे।

घ —अर्थालंकारों से सम्बन्ध और निष्कर्ष

किसी भी वाक्य के श्रवण के साथ ही हमारा ध्यान शब्द की ध्वनि और शब्द के अर्थ पर केन्द्रित होता है। शब्द की ध्वनि श्रुतिगोचर होती है और अर्थ मनोगोचर। इस दृष्टि से यह प्रश्न उठता है कि क्या शब्द की ध्वनि का आश्रय लेकर अलंकृत करने वाला शब्दालंकार अर्थहीन होता है ? क्या यह निरर्थक होता है ? ऐसा नहीं। शब्दालंकार में जो अर्थ विद्यमान रहता है वह चमत्कार प्रधान नहीं होता। वहाँ केवल शब्द की चमत्कृति ही प्रमुख होती है। यही बात शब्दालंकार और अर्थालंकार के पृथक् करण में सहायक है। अर्थालंकार अर्थ का परिवर्तन सह सकता है और शब्द परिवर्तन से उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। चूंकि विशेष शब्द में विशेष अर्थ है, विशेष प्रकार की ध्वनि है—इसी लिये वह विशेष शब्द भी अपेक्षित होता है। उसके पर्याय में वैसी क्षमता नहीं होती।

१—ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलङ्कर्तुमिह क्षमाः।
शब्दालङ्कारसंज्ञास्ते, ज्ञेया जात्यादयो बुधैः ॥ २-२ ॥ (वहीं)
अलमर्थमलङ्कर्तुं, यद्व्युत्पत्त्यादिवर्त्मना।
ज्ञेया जात्यादयः प्राज्ञैस्तेऽर्थालङ्कारसंज्ञया ॥ ३-१ ॥ (वहीं)

२—शब्देभ्यो यः पदार्थेभ्य, उपमादिः प्रतीयते।
विशिष्टोऽर्थः कवीनां ता-उभयालङ्क्रिया मताः ॥ ४।१ ॥ (वहीं)

३—काव्यप्रकाश, मम्मट पृ० ५३५।

भिन्न-भिन्न शब्दों में भिन्न-भिन्न अर्थच्छायाएँ चमत्कार उत्पन्न करती हैं। यदि अर्थ न हो तो कविता में उनका उपयोग ही क्या ? एक ही शब्द आवृत्ति में दूसरे अर्थ तथा भिन्न जीवन का सन्दर्भ व्यक्त करता है। इस तरह शब्दालंकार भी तो अर्थ का ही अवलम्बन करता है, फिर शब्दालंकार क्यों ?

इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि शब्दालंकार ध्वनि का अलंकार है। वह ध्वनि—वर्णध्वनि, पदध्वनि और वाक्यध्वनि के रूप में प्राप्त होती है। जब कि लाटानुप्रास, यमक और पुनरुक्तवदाभास में तात्पर्य की भिन्नता समझने के लिए अर्थ का मनन करना पड़ता है, इसलिए इन्हें ध्वन्यर्थ पर आश्रित माना जाता है।

शब्दशक्त्युद्भव वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि से भी शब्दालंकार का सम्बन्ध इसी प्रकार का है। जब वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति किसी विशेष शब्द की शक्ति के कारण होती है तो प्रकृत शब्द के स्थान पर पर्यायवाची शब्द रख देने पर वह ध्वनि तिरोहित हो जाती है। वस्तुध्वनि में श्लिष्ट-शब्द का आश्रय अनिवार्य रहता है और अलंकार-ध्वनि में शब्द की स्थिति अनिवार्य है। अतः शब्द-शक्त्युद्भव-ध्वनि में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि शब्दालंकार में शब्दों के ध्वनिरूप गठन से अर्थ-प्रसार में सहायता प्राप्त होती है और शब्दालंकार शब्दाश्रित नहीं, अपितु ध्वन्याश्रित होता है।

इसके अतिरिक्त अर्थालंकारों में आदृत कतिपय अलंकार ऐसे भी हैं जो शब्द-सापेक्ष हैं। उदाहरणार्थ जैसे—

उपमालंकार में व्याकरण के प्रत्ययों की, इवादि शब्दों की तथा दीपकलंकार में क्रिया और विभक्तिजन्य चमत्कार की सापेक्षता है। सहोक्ति और विनोक्ति में सह और विना शब्द चमत्कार के जनक होते हैं। मुद्रा अलंकार स्पष्ट ही शब्द-सापेक्ष है। परिसंख्या और एकावली में भी शब्द के प्रमुख चमत्कारकारी तत्त्व बने रहते हैं। उभयालंकारों में तो शब्दालंकार की सत्ता रहती ही है। ऐसी स्थिति में शब्दालंकार का अपना क्षेत्र तो सुरक्षित है ही, साथ ही अर्थालंकारों से भी उसका अपना पूर्ण सम्बन्ध बना हुआ है, जो शब्दालंकार के महत्त्व का सूचक है।

सम्भवतः इसी महत्त्व को दृष्टि में रखकर भोजराज ने निम्नलिखित चौबीस अलंकारों को उभयालंकार माना है :—

उपमा, रूपक, साम्य, संशयोक्ति, अपह्नुति, समाध्युक्ति, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुत-प्रशंसा, तुल्योगिता, लेश, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेष,

परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक और संसृष्टि।[१]

इन अलंकारों के विवेचन में स्थान-स्थान पर शब्द-भूयिष्ठ और उभयभूयिष्ठ होने का संकेत भी किया है।[२]

ङ—शब्दालङ्कार के विविध रूप और उनका विश्लेषण

भाषा के सौन्दर्य को बढ़ाने के लिये विशेष रूप से चार बातों पर ध्यान दिया जाता है—१-वर्ण अथवा अक्षर (स्वर एवं व्यंजन), २-शब्द, ३-पद अथवा वाक्य की व्यवस्था एवं सुसज्जित-विन्यास (पदयोजना, समास-संगुम्फन) तथा ४-अर्थ-सौन्दर्य अथवा चमत्कार।

इन चारों में से प्रथम तीन का समावेश शब्दालंकार में हो जाता है। वर्ण-सौन्दर्य के विषय पर कई प्रकार से विचार किया गया है, मधुरता एवं मृदुता के विचार से वर्णों का विभाजन हुआ है और मधुर एवं मृदु वर्णों के प्रयोग से वृत्तियों तथा रीतियों को बल दिया गया है तथा वर्णों की आवृत्ति से अनुप्रासों की सृष्टि हुई एवं वर्णों की व्यवस्था और उनके क्रम के सम्बन्ध में विचार करने से चित्रालंकारों की कल्पना प्रसूत हुई।

वर्ण-कौतुक एवं वर्ण-क्रीड़ा के आधार पर भी कई प्रकार की काव्य-कला-क्रीड़ाओं का आविर्भाव हुआ। वर्णाभ्यास से यमक की कल्पना की गई और इसी के प्रभाव से एकाक्षरावृत्ति, द्व्यक्षरावृत्ति, गतागत, अनुलोम-विलोम, सर्वतोभद्र, अर्धभ्रम जैसी गतियों का विकास हुआ। वर्णलोप और मात्रात्याग आदि के आधार पर वर्णच्युतक, मात्राच्युतक आदि का जन्म हुआ। कौतुक विशेष के माध्यम से प्रहेलिका एवं कूटकाव्यों का विकास तथा विन्यास-वैचित्र्य के कारण अनेक चित्रकाव्यों की उद्भूति हुई।

इस प्रकार व्याकरण द्वारा निष्पन्न शब्दसमूह की विविधता ने प्रारम्भिक आलंकारिकों के लिये शब्दालंकार के विविध रूप प्रस्तुत करने में सर्वाधिक योग दिया।

१—उपमा रूपकं साम्यं,संशयोक्तिरपह्नुतिः।
समाध्युक्तिः समासोक्तिरुत्प्रेक्षाप्रस्तुतस्तुतिः ॥४-२॥
सतुल्ययोगितोल्लेखः, ससहोक्तिः समुच्चयः।
साक्षेपोऽर्थान्तरन्यासः, सविशेषा परिष्कृतिः ॥४-३॥
दीपकक्रमपर्यायातिशयश्लेषभाविकाः।
संसृष्टिरिति निर्विष्टास्ताश्चतुर्विंशतिर्बुधैः॥ सरस्वतीकण्ठाभरण —॥४-४॥

२—शब्दार्थोभूयिष्ठभेदात् त्रेधा तदुच्यते।
शब्दभूयिष्ठमेतेषु, प्रकृतं विकृतं तथा ॥४-२५॥
अर्थभूयिष्ठमप्याहुः, प्राधान्ये व्यंग्ययोर्द्विधा।
द्विधैवोभयभूयिष्ठं, शुद्धसङ्कीर्णभेदतः॥ इत्यादि वहीं—॥४-२६॥

च—शब्दालङ्कारों की संख्या

पूर्वाचार्यों ने अलंकार मात्र के लिए—वाणी की अलंकार-विधि विस्तृत है[1], अलंकारों की सृष्टि तो आज भी हो रही है अतः समस्त अलंकारों की गणना कौन कर सकता है ?[2] आदि वाक्य कह कर उनकी गणना के प्रति असमर्थता व्यक्त की है, उसी प्रकार शब्दालंकार के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है कि शब्दालंकारों की संख्या-निर्धारण असम्भव नहीं तो अशक्य अवश्य है, क्योंकि आज भी अनेक विकल्पों का निर्माण हो रहा है। तथापि पूर्वाचार्यों द्वारा किये गए विवेचन को लक्ष्य में रखकर शब्दालंकारों के प्रचलित भेद इस प्रकार हैं :—

१—अनुप्रास, २—यमक, ३—पुनरुक्तवदाभास, ४—वक्रोक्ति, ५—श्लेष और ६—चित्र।[3]

इन्हीं प्रधान छः भेदों के अनेक भेद और उपभेद होने से संख्या पर्याप्त विस्तृत हो गई है जिनका विवेचन हम अग्रिम अनुच्छेदों में प्रस्तुत करेंगे।

किन्तु इस भेद परम्परा को अग्निपुराण और सरस्वती-कण्ठाभरण में बहुत ही महत्त्व मिला है। फलतः 'अग्निपुराण' में शब्दालंकार के नौ प्रथम भेद, चौंतीस उपभेद तथा अड़तालीस गौणभेद दिखलाए हैं। तथा 'सरस्वती कण्ठाभरण' में शब्दालंकार जाति के चौबीस भेद तथा प्रत्येक छः—छः उपभेद और यमक के अनेक भेद दिखलाकर उनकी अनन्तता उपस्थित की है।

इसी प्रकार अन्य शब्दालंकारों में चित्रालंकार का विकास भी कम नहीं हुआ है। चित्र के शब्दगत सात भेद ही उत्तरोत्तर प्रयोगवश अनेकता को प्राप्त हो गये हैं। इन्हीं प्रधान भेद और गौण भेदों का यथाशक्य संकलन एवं उनका लक्षण और उदाहरण सहित विवेचन यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है।

———

१—गिरामलङ्कारविधिः सविस्तरः। काव्यालङ्कार—भामह ३-५८।

२—ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति। काव्यादर्श दण्डी २-१।

३—यद्यपि विविध आचार्यों ने 'शब्दालङ्कार-विवेचन' में विभिन्न क्रम अपनाए हैं तथापि हमने यहाँ प्रचलित क्रम को ही स्वीकार किया है। तथा प्रत्येक अलङ्कार के सभी उपलब्ध और सम्भाव्य भेदों को सोदाहरण प्रस्तुत करने में संकोच नहीं किया है।

[द्वितीय अधिकरण]

अनुप्रास और उसका लक्षण-विकास

आचार्य भरत ने अनुप्रास को यमक में ही अन्तर्निहित माना है। भामह ने सर्वप्रथम अनुप्रास का लक्षण दिया है। उनका कथन है कि—समान रूपवाले वर्णों के विन्यास को अनुप्रास कहते हैं तथा ये अनुप्रास नानार्थक और समानाक्षरों वाले होते हैं। इन अनुप्रासों के प्रयोग से वाणी में चारुता आती है।[1] आचार्य दण्डी ने इस लक्षण में विशेष संयोजना करते हुए पादों और पदों में होने वाली वर्णावृत्ति को अनुप्रास कहा है। इस वर्णावृत्ति में पूर्वानुभव-संस्कार-बोध की क्षमता एवं अदूरता होनी चाहिये।[2] उद्भट ने 'सरूप व्यंजनों के न्यास को अनुप्रास' कहा है तथा इस व्यंजन-न्यास की पृथक्-पृथक् स्थिति होने से ही अनुप्रास के भेदों का उल्लेख किया है।[3] वामन ने इस दिशा में एक नवीन सुझाव देते हुए सूचन किया है कि—वर्णों का विन्यास अनुल्वण=सरल अथवा कोमल होना चाहिए।[4] रुद्रट ने अनुप्रास का लक्षण विस्तृत और परिष्कृत रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा कि—एक-दो वर्णों का अन्तर रहने पर अथवा निरन्तर रूप में स्वरों की चिन्ता किये बिना अनेक बार जो व्यंजनों की आवृत्ति होती है उसे अनुप्रास कहते हैं।[5] अग्निपुराणकार का कथन है कि—पद और वाक्य में वर्णों की आवृत्ति का नाम अनुप्रास है और इसके एकवर्णगतावृत्ति तथा अनेक वर्णगतावृत्ति—ये दो भेद होते हैं।[6] राजशेखर ने अनुप्रास की उत्पत्ति प्रचेतायन से मानी है साथ ही सानुप्रास एवं उदार

१—सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते ॥२-५॥
नानार्थवन्तोऽनुप्रासा, न चाप्यसदृशाक्षराः।
युक्त्यानया मध्यमया, जायन्ते चारवो गिरः॥ काव्यालङ्कार २-७॥

२—वर्णावृत्तिरनुप्रासः, पादेषु च पदेषु च।
पूर्वानुभव-संस्कार-बोधिनी यद्यदूरता ॥काव्यादर्श १-५५॥

३—सरूपव्यञ्जनन्यासं, तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥ काव्यालङ्कारसारसंग्रह ४ ॥

४—अनुल्वणो वर्णानुप्रासः श्रेयान् ॥ काव्यालङ्कारसूत्राणि।

५—एकद्वित्रान्तरितं व्यञ्जनमविवक्षितस्वरं बहुशः।
आवर्त्यते निरन्तरमथवा यदसावनुप्रासः॥ काव्यालङ्कार २-१८॥

६—स्यादावृत्तिरनुप्रासो, वर्णानां पद-वाक्ययोः।
एकवर्णोऽनेकवर्णो, वृत्तेर्वर्णगतो द्विधा ॥ अग्निपुराण ३४३-१॥

वाणी का प्रयोग देवताओं का और स्तोकानुप्रासयुक्त वचन का प्रयोग विद्याधरों का होता है, ऐसा संकेत करते हुए अनुप्रास की महत्ता प्रदर्शित की है।[1] आचार्य कुन्तक ने व्यंजनवर्ण के सौन्दर्य-विषयक समस्त प्रकारों का विवेचन वर्ण-विन्यास-वक्रता में किया है और अनुप्रास का उसी में अन्तर्भाव मानते हैं। उनकी नवीन धारणा है कि—कवि का अनुप्रास के लिये अत्याग्रह अथवा व्यसन नहीं होना चाहिए तथा अपेशल वर्णों का प्रयोग अनुप्रास के चारुत्व का विनाशक होता है। अतः नूतन आवर्तन से युक्त अक्षरों की योजना अपेक्षित है। जिसमें काव्य के गुण और विशिष्ट मार्ग का अनुसन्धान हो तथा कवि द्वारा अनुसृत मार्ग के गुणों के साथ पूर्ण सामंजस्य किया गया हो, ऐसा ललित अनुप्रास वृत्ति-विचित्रता की सम्पत्ति है।[2] भोजराज—वर्णों की आवृत्ति मात्र को अनुप्रास की संज्ञा देते हैं किन्तु टीकाकार रामसिंह ने मूल का भाव अधिक स्पष्ट करते हुए यमक से पृथक्, श्लेष के अतिप्रसंग से रहित, बन्धच्छायार्थकता-व्यंजक और सनिमित्तक प्रतिबिम्बन से युक्त ज्ञान के विशिष्ट संस्कारों को शीघ्रता से जगाने वाली वर्णावृत्ति को अनुप्रास कहा है।[3]

आचार्य मम्मट ने पुनः अनुप्रास के लक्षण को संकुचित बनाया। वे केवल वर्ण-साम्य को ही अनुप्रास मानते हैं। विषमता होने पर भी व्यंजनसदृशता ही उनके वर्ण-साम्य की परिभाषा है। वर्ण शब्द यह सर्वत्र सामान्यवाची ही है, विशेषवाची नहीं, अतः स्वरशब्द हो अथवा व्यंजन-शब्द किन्तु अनुप्रास शब्द की व्युत्पत्ति में रसानुकूल वर्ण-विन्यास को अपेक्षित माना है।[4] साथ ही लाटानुप्रासादि में होने वाली पदावृत्ति—जिसमें

१—आनुप्रासिकं प्रचेतायनः। काव्यमीमांसा, प्रथम अध्याय। पृ० १।
समास-व्यास-संदृब्धं शृङ्गाराद्भुतसम्भृतम्।
सानुप्रासमुदारं च, वचः स्यादमृताशिनाम्॥
स्तोकानुप्रास-सच्छायं, चतुरोक्ति-प्रसादि च।
द्राघीयसा समासेन, विद्धि वैद्याधरं वचः॥ का० मी० सप्तमाध्याय, पृ० २९॥

२—नातिनिर्बन्धरहिता, नाप्यपेशलभूषिता।
पूर्वावृत्त-परित्याग-नूतनावर्त्तनोज्ज्वला॥२-४॥
वर्णच्छायानुसारेण, गुणमार्गानुवर्तिनी।
वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति, सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः॥ वक्रोक्तिजीवित २-५॥

३—आवृत्तिर्या तु वर्णानां, नातिदूरान्तरस्थिता।
अलङ्कारः स विद्वद्भिरनुप्रासः प्रदर्श्यते॥ तथा रामसिंह कृत प्रस्तुत पद्य की टीका—सर० कण्ठा० ।२-७०॥

४—वर्णसाम्यमनुप्रासः। स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसदृशत्वं वर्णसाम्यम्।
रसानुगतः प्रकृष्टो न्यासो ऽनुप्रास इति। काव्यप्रकाश, पृ० ४०४।

वर्णावृत्ति भी रहती है—का भी समावेश हो, इस दृष्टि से कहीं केवल आवृत्ति को ही अनुप्रास मानकर व्याख्या में पद की आवृत्ति अथवा शब्द की आवृत्ति यह स्पष्टीकरण किया है। राजानक रुय्यक पुनरुक्ति के आधार पर अलंकारों का विभाग करते हुए शब्दपौनरुक्त्याश्रित में छेक और वृत्त्यनुप्रास का निर्देश करते हैं। इस प्रकार स्वर-व्यंजन समुदाय का सादृश्य ही उनकी दृष्टि में अनुप्रास है।[१] वाग्भट (प्रथम) तुल्यश्रुति वाले अक्षरों की आवृत्ति को अपने अनुप्रास लक्षण में प्राधान्य देते हैं[२] जो प्राचीन लक्षणों का नवीन कथन मात्र है।

इसके पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने अतिपरिचित इस अलङ्कार की अनुशंसा करना आरम्भ की और पूर्वदर्शित लक्षणों को ही पुष्ट करने का प्रयास किया। 'विष्णु-धर्मोत्तर-पुराण' में अर्थगति के आधार पर एक-एक वर्ण का पुनः-पुनः विन्यास ही अनुप्रास कहा गया है।[३] नरेन्द्रप्रभ सूरि ने अनुप्रास को सकल-कवि-कुलाराध्य विशेषण दिया है।[४] विश्वनाथ ने अनुप्रास-लक्षण में वर्णसाम्य की अपेक्षा शब्दसाम्य पर बल दिया है तथा स्वर की विषमता को ग्राह्य माना है।[५] इसके पश्चात् उत्तरकाल के सभी आचार्यों ने लक्षण-निरूपण में केवल परम्परा निर्वाह ही किया है।

अनुप्रास के भेद और उनकी सोदाहरण मीमांसा

उपर्युक्त लक्षणों के सूक्ष्म-विवेचन से ज्ञात होता है कि 'कहीं स्वर-साम्य, कहीं व्यंजन-साम्य, कहीं शब्द-साम्य अथवा स्वरादि-वैषम्य रहने पर 'अनुप्रास' अलङ्कार होता है' तथा जब यह साम्य अथवा वैषम्य पदगत, वाक्यगत और पादगत आदि क्रमिक वृद्धि तथा कतिपय विशिष्ट श्रुतिगत, वृत्तिगत एवं अन्यान्य प्रणालियों में व्यवहृत होता है, तो इसके भेदकतत्त्व हमारे समक्ष आते हैं। ऐसे ही तत्त्व-विचारों की मीमांसा

१—इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थपौनरुक्त्याश्रिताः। इत्यादि (अलङ्कारसर्वस्व)

२—तुल्यश्रुतिरक्षरावृत्तिरनुप्रासः स्फुरद्गुणः। वाग्भटालङ्कार—पृ० ८४।

३—एकैकस्य तु वर्णस्य, विन्यासो यः पुनः पुनः। अर्थगत्या तु संख्यातमनुप्रासं पुरातनैः॥
—१४-१॥ (तृ० खण्ड)।

४—आदौ तावत् सकलकविकुलाराध्यमनुप्रासं लक्षयति। अलङ्कारमहोदधि, पृ० २०४।

५—अनुप्रासः शब्दसाम्यं, वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्॥ साहित्यदर्पण, पृ० २७५॥
पदपदैकदेशयोस्तु तत्तद्व्यञ्जनघटितत्वेन छेकलाटानुप्रासयोः संग्रहाय वर्णसाम्यम् इत्यनुक्त्वा शब्दसाम्यमिति कृतम्। वैषम्येऽपि इत्यादिना साम्येऽपीति लभ्यते एतच्च लाटानुप्रासे नियतम्। साहित्यदर्पणविवृति, पृ० ४७४।

ने अलङ्कार के भेदोपभेद प्रस्तुत करने में सहयोग दिया है। अनुप्रास के भेद इस प्रकार हैं—

१— ग्राम्यानुप्रास[1]

भामह ने अनुप्रास के लक्षण और उदाहरण के पश्चात् सर्वप्रथम इस भेद की चर्चा की है, किन्तु इस चर्चा में स्वयं की कोई अभिरुचि न दिखलाकर अन्य विद्वानों के पक्ष के रूप में ही इसका उल्लेख किया है। यथा—

ग्राम्यानुप्रासमन्यत्तु, मन्यन्ते सुधियोऽपरे।

और इसका लक्षण न देकर केवल यह उदाहरण दिया है—

स लोलमालालीलालिकुलाकुलगलो बलः॥ काव्यालङ्कार २।५।

किन्तु इस उदाहरण को 'ग्राम्यानुप्रास' कहने का कोई कारण वहाँ स्पष्ट नहीं है। अतः शङ्का होती है कि 'यदि यह ग्राम्यानुप्रास है तो इससे पूर्व दिये गये उदाहरण 'किन्तया चिन्तया कान्ते नितान्तेति यथोदितम्' में कौन सा अनुप्रास है? इसका समाधान 'काव्यालङ्कार-सार-संग्रह' के टीकाकार 'प्रतीहारेन्दुराज' ने ग्राम्यावृत्ति की चर्चा में दिया है जिसे हम आगे स्पष्ट करेंगे। फिर भी एक प्रश्न और उठता है कि 'यदि यह किसी अन्य प्रकार का अनुप्रास है, तो ग्राम्यानुप्रास और उसका भेदक-तत्त्व क्या माना जाय? इसके समाधान के लिये आचार्य दण्डी द्वारा श्लेषगुण के सम्बन्ध में दिये गये ऐसे ही एक उदाहरण—'मालतीमाला लोलालिकलिला यथा'-पर की गई चर्चा से यह प्राप्त होता है कि 'ऐसे असंयुक्त महाप्राण-बहुल अक्षरों से निर्मित वाक्य शिथिल होते हैं जिन्हें गौड़वासी अच्छा मानते हैं, किन्तु विदर्भवासी—'मालतीदाम लक्षितं भ्रमरैरिति'—जैसी श्लिष्ट और संयुक्त महाप्राण वर्णबाहुल्यवाली वाक्य-रचना को उचित मानते हैं।[2] इस तरह कुछ अंशों

१—प्रत्येक अलङ्कार और उसके भेदों की चर्चा का हमने यहाँ जो क्रम अपनाया है उसमें ऐतिहासिक क्रम से प्रत्येक आलङ्कारिक आचार्य द्वारा दिये गये अलङ्कारों की क्रमिक-वृद्धि को प्राथमिकता दी है तथा जिस अलङ्कार अथवा अलङ्कार-भेद की चर्चा प्रारम्भ में की गई उसमें अग्रिम आचार्यों द्वारा प्रदत्त सभी भेद और अन्य सम्बन्धित विमर्श को भी वहीं स्थान दिया है। जैसे भामह ने सर्वप्रथम अनुप्रास और उसके भेद में ग्राम्यानुप्रास को दिया है, तो हमने ग्राम्यानुप्रास से सम्बन्धित उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने जहाँ-जहाँ इसकी चर्चा की है, उसका यहीं संकलन कर दिया है।

२—श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्।
शिथिलं मालतीमाला-लोलालिकलिला यथा॥ १-४३॥
अनुप्रासधिया गौडैस्तदिष्टं बन्धगौरवात्।
वैदर्भैर्मालतीदाम, लङ्घितं भ्रमरैरिति॥ काव्यादर्श-दण्डी १-४४॥

में ग्राम्यानुप्रास और तदितर प्रदर्शित अन्य उदाहरण का भेदक तत्त्व 'बन्धगत शिथिलता' मानी जा सकती है। इसकी पुष्टि के लिये उद्भट द्वारा वृत्तिभेद के आधार पर अनुप्रास की त्रिविधता में की गई ग्राम्यावृत्ति की चर्चा भी उपयोगी है। उद्भट ने काव्य में आदृतबुद्धि वाले विद्वानों द्वारा प्रशंसित ग्राम्यावृत्ति[1] का उदाहरण—

केलिलोलालिमालानां, कलैः कोलाहलैः क्वचित्।
कुर्वती कानना-रूढश्रीनूपुर-रवभ्रमम्॥ काव्यालङ्कार-सारसंग्रह १-७॥

देते हुए कहा है कि—'यहाँ लकार, ककार और रेफ का समान रूप से उपनिबन्धन होने से ग्राम्यानुप्रास है,' इसी कथन को और अधिक स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने कहा है कि—'परुषा और कोमलावृत्ति के उपयुक्त वर्णों से अवशिष्ट वर्ण लकारादि से निबद्ध ग्राम्यावृत्ति है और उसका दूसरा नाम कोमलावृत्ति है। इन वृत्तियों के आधार पर निर्मित रचना को 'कोमलानुप्रास' अथवा ग्राम्यानुप्रास की संज्ञा दी गई है। इस कथन में ग्राम्यावृत्ति ही ग्राम्यानुप्रास है यह तो स्पष्ट कर दिया है साथ ही भामह के द्वारा प्रदर्शित जिस निर्नामक 'अनुप्रास' के बारे में शंका हो रही थी उसका भी स्पष्टीकरण प्रतीहारेन्दुराज ने वहीं—'भामहो हि ग्राम्योपनागरिकावृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रासं व्याख्यातवान्'—कहकर कर दिया है।[2] इस से यह निश्चित हो जाता है कि भामह ने ग्राम्यानुप्रास से पूर्व 'उपनागरिकानुप्रास' का उदाहरण दिया है। इस कथन की पुष्टि साहित्यदर्पण की भूमिका में म० म० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी ने—'इह स्वरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते' इत्यनेन 'उपनागरिकानुप्रासो बुद्ध्यते। ग्राम्यानुप्रासमन्यतु 'इत्यनेन' ग्राम्यानुप्रासस्तु स्फुटः इति भामहमतेऽनुप्रासद्वयम्' इत्यादि कहते हुए उपनागरिका और ग्राम्यानुप्रासवृत्ति के आधार पर 'उपनागरिकानुप्रास' माना है।[3]

यह ग्राम्यानुप्रास भरत और भामह के बीच प्रादुर्भूत होकर दोलाचल-वृत्ति से किसी प्रकार उद्भट तक पहुँचा, किन्तु भोज ने इसे 'श्रुत्यनुप्रास' के तीन भेदों में एक भेद के रूप में स्थान दिया। भोज ने श्रुत्यनुप्रास के 'ग्राम्य, नागर और उपनागर' ऐसे तीन भेद किये हैं और वहीं ग्राम्य के मसृण, वर्णमसृण, वर्णोत्कट और वर्णानुत्कट' ऐसे चार उपभेद भी किये हैं।[4] जिनके उदाहरणों की समीक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस

१—शेषैर्वर्णैर्यथायोगं, कथिता कोमलाख्यया।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति, काव्येष्वादृतबुद्धयः॥ काव्यालङ्कारसार-संग्रह। १-६।

२—द्रष्टव्य—'काव्यालङ्कार-संग्रह' पृष्ठ ६ टीका भाग।

३—'साहित्यदर्पण' भूमिका पृष्ठ ४५। निर्णयसागर—बम्बई संस्करण

४—स त्रिधा—ग्राम्यः, नागरः, उपनागरश्च। तेषु ग्राम्यश्चतुर्धा इत्यादि।
—सरस्वती कण्ठाभरण, पृष्ठ २२९ तथा ३२१

अनुप्रास में समान श्रुतिवाले कोमल वर्णों की बहुलता रहती है तथा मसृणादि चारों प्रकार के उपभेदों में प्रयुक्त श्रुतिसाजात्य के शब्दानुशासन में अतिप्रसिद्ध होने से इसे 'ग्राम्य' कहते हैं।

भोज के पश्चात् किसी भी उत्तरकाल के आचार्य ने 'ग्राम्यानुप्रास' की चर्चा नहीं की है इस का कारण यह प्रतीत होता है कि भोज ने इसे श्रुत्यनुप्रास के भेदों में जो अन्तर्हित किया वह सभी आलङ्कारिकों को स्वीकृत हो गया होगा।

२— लाटानुप्रास

भामह ने अनुप्रास के अन्य भेद में लाटानुप्रास की भी चर्चा की है किन्तु वहाँ भी—'यहाँ—अनुप्रास के प्रसंग में अन्य विद्वान् लाटानुप्रास को भी मानते हैं'[1] यह कह कर ग्राम्यानुप्रास के समान ही हेतु तथा लक्षण दिये बिना निम्न-लिखित उदाहरण दिया है—

दृष्टिं दृष्टिसुखां धेहि, चन्द्रश्चन्द्रमुखोदितः ॥ काव्यालङ्कार २।८ ॥

इसमें 'दृष्टि और चन्द्र' इन दोनों शब्दों और इनके अर्थों की पुनरुक्ति होते हुए भी तात्पर्यभेद है, इसलिये 'लाटानुप्रास' माना गया है। इसी आधार पर इसका अनुमानित लक्षण 'तात्पर्यभेद से शब्द और अर्थ की पुनरुक्ति रहने पर 'लाटानुप्रास' अलंकार होता है, यह किया जा सकता है।

इस अनुप्रास-भेद के साथ प्रयुक्त 'लाट' शब्द का क्या तात्पर्य है? इस प्रश्न का उत्तर भामह ने नहीं दिया है। और दण्डी ने तो इस भेद की चर्चा भी नहीं की है। किन्तु उद्भट ने 'लाटदेशनिवासिजनवल्लभत्वाल्लाटानुप्रासोऽभिधीयते'[2] कहकर लाटदेशवासियों के प्रिय होने से उक्त नाम देने का संकेत किया है तथा 'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ ने भी इसी कथन को पुष्ट करते हुए कहा है कि 'एष च लाटजनप्रियत्वाल्लाटानुप्रासः'।[3] अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यह लाट देश कौनसा है? इस सम्बन्ध में वात्स्यायन के 'कामसूत्र' की टीका में जयमङ्गल ने देशविशेष के वर्णन में 'अपरमालवपश्चिमेन लाटविषयः' पाठ दिया है। विनयचन्द्र अपनी 'काव्य-शिक्षा' में चौरासी देशों की गणना में लाटदेश की स्थिति बतलाते हुए 'एकविंशति सहस्राणि लाटदेशः' कहते हैं।[4] राजशेखर भी 'काव्यमीमांसा' में 'प्राकृते लाटदेश्याः' कहकर लाटदेशवासियों की प्राकृतभाषाभिरुचि का

१—लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा। काव्यालङ्कार-भामह ।२।८

२—काव्यालङ्कार-सार-संग्रह-पृ० ४।

३—साहित्यदर्पण पृ० ४७६।

४—काव्यमीमांसा-राजशेखर की टिप्पणी पृ० २४८, बडौदा संस्करण।

निर्देश करते हैं ।[1] अतः यह गुजरात के 'बड़ौदा' नगर और उसके निकटवर्ती क्षेत्र का नाम रहा होगा, ऐसी धारणा की जाती है । इस देश की विशेषता कोषगत 'लटा' शब्द और 'लट-बालभावे' धातु से निष्पन्न 'लाट' माना जाए तो कुछ अंशों में 'स्वभाव-मधुरोक्ति और पुनः पुनः कथन' मानी जा सकती है ।[2]

इनके अनुसार लाटदेशवासियों की प्रियता के कारण इस अनुप्रास का यह नामकरण हुआ विदित होता है । वैसे हम देखते हैं कि समस्त अलङ्कारों की नामावली में यही अलङ्कार ऐसा है, जो देश-विशेष के नाम पर प्रसिद्ध हुआ है । सम्भव है यह प्रभाव वैदर्भी गौड़ी, पाञ्चाली आदि रीतियों के संसर्ग से आया हो ! क्योंकि वहाँ इस आधार पर 'लाटी-रीति' को भी स्थान मिला है । इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि इस अलङ्कार की कल्पना ही किसी लाटदेशवासी ने सर्वप्रथम की हो !

भामह द्वारा इसका स्पष्टीकरण न देने का प्रधान कारण यह हो सकता है कि तत्कालीन विदर्भ और गौड़-मार्गों का जो एक को उत्तम तथा अन्य को अनुत्तम मानने का चलन हो रहा था, उससे वे सम्मत नहीं थे । वे इस द्वैविध्य को निःसार तथा अग्राह्य मानते थे । इसीलिये 'यह गौड़ है, यह वैदर्भ है,' क्या ऐसा पार्थक्य (सम्भव) है ? हाँ, गतानुगतिकता के कारण बुद्धिहीन ऐसा अवश्य कहते हैं,—यह कहकर उपेक्षा की है ।[3]

किन्तु यह प्रवृत्ति परवर्ती युग में भी अनुवृत्त रही, इसका प्रमाण हमें बाणभट्ट के हर्षचरित में दिये गये :—

श्लेषप्रायमुदीच्येषु, प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु, गौडेष्वक्षर-डम्बरः ॥१।७॥

१—वहीं, कविरहस्य में १३वाँ अध्याय पृ० ५१, 'गौडाद्याः संस्कृतस्थाः' इत्यादि पद्य । तथा कथासरित्सागर में कर्णाट के निकट लाटदेश का संकेत इस पद्य से प्राप्त होता है—

ददौ तस्मै स्वपुत्राय, प्रीत्या वीरवराय च ।
लाटदेशे ततो राज्यं, स कर्णाटयुते नृपः ॥

२—देखिये—वाचस्पत्य कोष—लट और लटा शब्द । यहाँ लट धातु से निष्पन्न 'लाट' शब्द का अर्थ होगा—बालभाव से पूर्ण उक्ति तथा 'लटा' शब्द से निष्पन्न 'लाट' शब्द का अर्थ होगा—भ्रमरक, रागभेद और वाद्यभेद । कर्णपूर ने 'अलङ्कारकौस्तुभ' में 'लाटो विदग्धः' कहकर लाट का अर्थ विदग्ध किया है । इन सब में बाल्योक्ति रूप लाट शब्द उत्तम प्रतीत होता है क्योंकि इसमें सहज सुकुमारता, सुबोधता तथा प्रमोदजनकता के दर्शन होते हैं ।

३—गौडीयमिदमेतत्तु, वैदर्भमिति किं पृथक् ।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ॥ का० लं० ॥१।३२॥

इस पद्य से प्राप्त होता है तथा रचना-पद्धतियों की सुस्पष्टता भी उपयुक्त पद्य से स्पष्ट है, जो उन-उन क्षेत्रों में लब्ध-प्रसर थीं। ये पद्धतियाँ ही देश-विशेष से सम्बद्ध न रहकर उत्तरकाल में रचना-सरणी की वाचक बन गईं।

रीति-काव्य के प्रमुख विवेचक आचार्य वामन के विचार से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। वामन ने वैदर्भी आदि रीतिभेद के देशविशेष पर आधारित नामों का निर्देश करके स्वयं प्रश्न किया है कि—क्या काव्यों के 'द्रव्यगुण' विशेषता की उत्पत्ति देशविशेष के कारण होती है, जिसके कारण रीतियों का यह देशविशेष से नामकरण किया गया है ? और इसका उत्तर वे नकारात्मक देते हुए स्पष्ट करते हैं कि—विदर्भादि देशों में आविष्कृत (देखी गई) होने से ऐसे नाम दिये गए हैं। अर्थात् विदर्भ, गौड़ तथा पाञ्चाल देशों में वहाँ के कवियों द्वारा वास्तविक रूप में (उपलब्ध, आविष्कृत या) प्रयुक्त होने से इस प्रकार के नाम रखे गए हैं। वैसे देशों से काव्य का कोई उपकार नहीं होता है।[१] और यही सोचकर वामन ने लाटानुप्रास का प्रचलन होते हुए भी इस अनुप्रास का नाम 'पादानुप्रास' दिया है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। फिर भी लाट-प्रदेश के कवियों द्वारा विशेष व्यवहृत होने से इसका 'लाटानुप्रास' नाम रखा गया हो, यह तर्क मान्य हो सकता है।

यही अनुप्रास रुद्रट के काल में पहुँचकर लाटीया रीति के रूप में सर्वप्रथम अवतरित हुआ है।[२] इससे यह अनुमान हो जाता है कि 'लाटदेशवासियों' की इस अनुप्रास-सम्बन्धी स्वतन्त्र विधा का प्रभाव बढ़ते-बढ़ते इतना प्रभावशाली हो गया कि काश्मीर-वासी रुद्रट को अनुप्रास-वर्णन से भी पूर्व रीतियों में स्थान देना पड़ा। रुद्रट लाटीया रीति को मध्यसमासवती मानते हैं जो गौडीया रीति के वर्ग में आई है।[३]

अतः यह कहा जा सकता है कि विशिष्ट 'पदगुम्फन, पाठसौन्दर्य और स्फुटसन्द-

---

१—किं पुनर्देशवशाद् द्रव्यगुणोत्पत्तिः काव्यानां येनायं देशविशेषव्यपदेशः ? नैवम्। यदाह—विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या। विदर्भगौडपाञ्चालेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथा-स्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्या। न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम् ॥१।२।१०॥
—सूत्र और वृत्ति, काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति।

क—उत्तरकाल के आचार्यों ने इस प्रसङ्ग पर बाद में कोई चर्चा नहीं दी है।

२—पाञ्चाली लाटीया, गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र ॥ काव्यालङ्कार २-४॥

३—द्वित्रिपदा पाञ्चाली, लाटीया पञ्च सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो, भवन्ति यथाशक्ति गौडीयाः ॥ वहीं २।५॥

आदि 'लाटानुप्रास' के अन्तस्तत्त्व हैं, जो राजशेखर,[1] अग्निपुराण[2] तथा भोज[3] की उक्ति के अनुसार उच्चारण की मनोज्ञता पर अवस्थित हैं।'

आचार्य दण्डी ने लाटानुप्रास की चर्चा नहीं की है। उद्भट ने इसे स्वतन्त्र शब्दालङ्कार मानते हुए निम्न लक्षण प्रस्तुत किया है—

स्वरूपार्थाविशेषेऽपि, पुनरुक्तिः फलान्तरम्।
शब्दानां वा पदानां वा, 'लाटानुप्रास' इष्यते ॥ का० सा० सं० १।८॥

लाटानुप्रास का यह लक्षण सर्वप्रथम उद्भट ने ही दिया है। इसके अनुसार 'अनुपलभ्यमान सुप्-तिङ्-रूप शब्द और उपलभ्यमान सुप्-तिङ्-रूप पद' ऐसे दोनों शब्द और पदों के स्वरूपार्थ में किसी प्रकार की विशेषता न रहने पर भी तात्पर्यभेद से युक्त यदि पुनरुक्ति हो, तो वह पुनरुक्ति 'लाटानुप्रास' कहलाती है।[4]

इस विशुद्ध और व्यापक लक्षण के साथ ही लाटानुप्रास के भेद प्रदर्शन का श्रेय भी उद्भट को ही है। वे लाटानुप्रास के पादाभ्यास-क्रम से अनेक भेदशाली होने का संकेत करते हुए मुख्यतः पाँच भेदों को प्रस्तुत करते हैं, जो इस प्रकार हैं[5]—

उद्भट-प्रदर्शित लाटानुप्रास के पाँच भेद :—

१—स्वतन्त्रपदाश्रयगत-एकैकपदाश्रय २—स्वतन्त्रपदाश्रय-पादाभ्यासगतपदसमुदायाश्रय	उपलभ्यमान सुप्तिङ्रूप पुनरुक्तिशाली।
३—परतन्त्रपदाश्रयगत-पदद्वितयस्थित ४—परतन्त्रपदाश्रयगत-एकपदाश्रयशब्दद्वितयवर्ती	अनुपलभ्यमानसुप्तिङ्रूप पुनरुक्तिशाली।
५—स्वतन्त्र-परतन्त्र-पदाश्रय	उपलभ्यमान-अनुपलभ्यमान सुप्तिङ्-रूप पुनरुक्तिशाली।

१—पठन्ति लटभं लाटाः, प्राकृतं संस्कृतद्विषः। काव्यमीमांसा, अधि० अ० ७।

२—लाटीया स्फुटसन्दर्भा, नातिविस्फुटविग्रहा।
परित्यक्तापि भूयोभिरुपचारैरुदाहृता ॥ अग्निपुराण ३४०।४॥

३—शृण्वन्ति लटभं लाटाः, प्राकृतं संस्कृतद्विषः।
अपभ्रंशेन तुष्यन्ति, स्वेन नान्येन गुर्जराः ॥सरस्वतीकण्ठाभरण २-१३॥

यहाँ 'लटभ' का अर्थ 'मनोज्ञ' है तथा इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि लाट और गुर्जर उस समय पृथक्-पृथक् सत्तावाले देश थे।

४—देखिये—मूल लक्षण पद्य पर प्रतीहारेन्दुराज की लघुवृत्ति (पृष्ठ ६—निर्णयसागरीय संस्करण सन् १९१५)

५—स पदद्वितयस्थित्या, द्वयोरेकस्य पूर्ववत्।
तदन्यस्य स्वतन्त्रत्वाद्, द्वयोरेकपदाश्रयात् ॥१।९॥
स्वतन्त्रपदरूपेण, द्वयोर्वापि प्रयोगतः।
भिद्यतेऽनेकधा भेदैः, पादाभ्यासक्रमेण च ॥काव्यालङ्कार-सार-संग्रह। १-१०।

उपर्युक्त भेदों के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं :—

१—काशाः काशा इवोद्भान्ति, सरांसीव सरांसि च।
चेतांस्याचिक्षिपुर्यूनां, निम्नगा इव निम्नगाः का० सा० सं० ॥१.६॥

यहाँ प्रथम काश आदि शब्दों में जातिभेदोपरक्त-द्रव्यपरता है तथा द्वितीय काशादि शब्दों में अनन्वयालङ्कार की छाया से उपमानान्तरव्यावृत्तिपरता होने के कारण तात्पर्यभेद है किन्तु स्वरूप एवं अर्थ में भेद नहीं है। अतः यहाँ काशादि पदों की स्वतन्त्र किन्तु एक-एक पद के आश्रय से आवृत्ति होने के कारण 'स्वतन्त्र पदाश्रयगत-एकैकपदाश्रय' नामक लाटानुप्रास का प्रथम भेद है।

२—स्त्रियो महति भर्तृभ्य, आगस्यपि न चुक्रुधुः।
भर्तारोऽपि सति स्त्रीभ्य, आगस्यपि न चुक्रुधुः॥ वहीं १.७॥

यहाँ द्वितीय चरण में नायकगत अपराध के विषय से स्त्रीकर्तृक क्रोधाभाव का प्रतिपादन है तथा चतुर्थचरण में नायिकाओं का भर्तृप्रणय के अतिक्रमण से उत्पन्न अपराध के प्रति नायक-कर्तृक क्रोधाभाव का प्रतिपादन हुआ हैं और दोनों में तात्पर्यभेद है किन्तु स्वरूप और अर्थ में कोई भेद नहीं है। अतः यहाँ 'स्वतन्त्रपदाश्रय-पादाभ्यासगत-पदसमुदायाश्रय' नामक लाटानुप्रास का द्वितीय भेद है।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में पुनरुक्ति वाले शब्दों में सुप्-तिङ्-रूप की उपलब्धि होती है, जबकि 'अनुपलभ्यमान सुप्-तिङ्-रूप' पुनरुक्ति वाले शब्दों के अन्य दो उदाहरण नीचे लिखे अनुसार हैं :—

३—क्वचिदुत्फुल्ल-कमला, कमल-भ्रान्त-षट्पदा।
षट्पद-क्वाण-मुखरा, मुखरस्फार-सारसा॥ वहीं १.८॥

यहाँ पहला कमल शब्द विकास-क्रियाकर्तृत्वपरक है तथा दूसरा भ्रमणक्रिया में कर्तृभूत षट्पद् के आधार से कहा गया है। पहला षट्पद शब्द भ्रमण-क्रिया के प्रति कर्तृत्व रूप तथा दूसरा क्वणन-क्रिया के सम्बन्ध से कहा गया है और मुखर शब्द दोनों ही स्थानों पर विशेषण-रूप होकर पहला शरद् के सम्बन्ध में और दूसरा सारस के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ है। अतः इसमें कारकशक्ति भेद से तात्पर्य है किन्तु स्वरूप और अर्थ में समानता है। इसलिये यहाँ 'परतन्त्रपदाश्रयगत-पदद्वितयस्थित' नामक लाटानुप्रास का तीसरा भेद है।

४—जितान्यपुष्प-किञ्जल्क-किञ्जल्कश्रेणि-शोभितम्।
लेभे वतंसतां नारीमुखेन्दु-श्वसितोत्पलम्॥ वहीं १.९॥

यहाँ प्रथम किञ्जल्क शब्द जीयमानता के रूप में ग्रहण हुआ है और दूसरा किञ्जल्क शब्द जयनक्रिया की कर्तृभूत श्रेणी से सम्बद्ध माना गया है अतः तात्पर्यभेद

है। किन्तु स्वरूप एवं अर्थ में कोई भेद न होने से यहाँ 'परतन्त्रपदाश्रयगत-एकपदाश्रय-शब्दद्वितयवर्ती' नामक लाटानुप्रास का चौथा भेद है।

५—पद्मिनीं पद्मिनीगाढ-स्पृहयागत्य मानसात्।
अन्तर्दन्तुरयामासुर्हंसा हंस-कुलालयात् ॥ वहीं १।१० ॥

यहाँ पहला पद्मिनी शब्द कर्मरूप है और दूसरा स्पृहा-विषय का प्रतिपादक है। इसी प्रकार प्रथम हंस शब्द दन्तुरण क्रिया में कर्तृभूतार्थ का प्रतिपादक है और दूसरा कुल-सम्बन्धी अर्थ का प्रतिपादक है। अतः तात्पर्यभेद है किन्तु स्वरूप एवं अर्थ में भेद नहीं है। इसलिये यहाँ 'स्वतन्त्र-परतन्त्र-पदाश्रय' नामक लाटानुप्रास का पाँचवा भेद है तथा एक शब्द में उपलभ्यमान सुप्-तिङ्-रूप होने से और द्वितीय शब्द में अनुपलभ्यमान सुप्-तिङ्-रूप पुनरुक्ति होने से यह उभयविध-पुनरुक्तिशाली है।

सम्भवतः उद्भट से ही पादाभ्यास की प्रेरणा प्राप्त करके वामन ने 'लाटानुप्रास' का नामतः निर्देशन न करते हुए उसे 'पादानुप्रास' में अन्तर्हित कर लिया है। तथा उसके लक्षण में बतलाया है कि—पादानुप्रास पादयमक के समान होता है।[1] इस दृष्टि से पाद-यमक के जितने भेद होते हैं उतने ही पादानुप्रास के भेद वामन को अभीष्ट हैं, जो इस प्रकार हैं:—

१—समस्त पादगत	८—एकान्तरित पादादिगत
२—पादादिगत	९—एकान्तरित पादमध्यगत
३—पादमध्यगत	१०—एकान्तरित पादान्तगत
४—पादान्तगत	११—समस्त-पादादिगत
५—द्विपादादिगत	१२—समस्तपादमध्यगत
६—द्विपादमध्यगत	१३—समस्त पादान्तगत
७—द्विपादान्तगत	१४—संकर

उपर्युक्त भेदों में पादानुप्रास का प्रथम उदाहरण यह दिया गया है—

कविराजमविज्ञाय, कुतः काव्यक्रियाऽऽदरः।
कविराजं च विज्ञाय, कुतः काव्यक्रिया-दरः ॥ काव्यालंकार ४।१।२२।

इसमें समस्त पादों के वर्णों की आवृत्ति हुई है। अन्य उदाहरण वहाँ नहीं दिये गये हैं। अतएव दूसरे प्रभेदों का विवेचन अग्रिम आचार्यों द्वारा प्रदर्शित उदाहरणों में करेंगे।

रुद्रट ने इस भेद की कोई चर्चा नहीं की है। अग्निपुराण के अनुप्रास-भेदों में 'वाक्यगत अनुप्रास' का जो भेद है वह 'लाटानुप्रास-स्थानीय' कहा जा सकता है। क्योंकि

१—पादानुप्रासः पादयमकवत् ॥४-१-१०॥ 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति-वामन'

वहाँ वर्णगत, पदगत और वाक्यगत ये ही तीन भेद माने गये है।[1] भोज ने लाटानुप्रास को केवल पादयमक तक ही सीमित न रखकर यमक के जितने अवान्तर भेद हैं, उतने ही लाटानुप्रास के भेद माने हैं।[2] वे लाटानुप्रास का लक्षण इस प्रकार देते हैं :—

अर्थभेदे पदावृत्तिः, प्रवृत्त्या भिन्नयेह वा।
स सूरिभिरनुप्रासो, लाटीय इति गीयते ॥ सर० कण्ठा ०२।१०२॥

अर्थात् समानार्थक पदों की आवृत्ति होने पर भी यदि तात्पर्यभेद होता है, तो वहाँ लाटीय अनुप्रास-लाटानुप्रास होता है। इस लक्षण से यमक सर्वथा भिन्न हो जाता है, क्योंकि वहाँ अर्थ की भिन्नता आवश्यक है, किन्तु यहाँ नहीं। भोज ने इसके मुख्य तीन भेद और उनके भी क्रमशः सात, पाँच और छः भेद; कुल मिलाकर अठारह भेद किये हैं, जो इस प्रकार हैं[3] :—

१-अव्यवहित, २-व्यवहित तथा ३-व्यवहिताव्यवहित।

इनमें प्रथम 'अव्यवहित-लाटानुप्रास' के निम्न प्रकार से तीन भेद होते हैं:—

१-व्यस्त, २-समस्त तथा ३-व्यस्तसमस्त।

व्यस्तसमस्त के पुनः दो-दो भेद जिन्हें भोज ने दो प्रकार के 'उभय' कहकर स्पष्ट किया है उनमें पहले व्यस्तसमस्त के दो भेद इस प्रकार हैं :—

४—प्रथमसमस्त अपरव्यस्त और प्रथमव्यस्त अपरसमस्त।

दूसरे व्यस्तसमस्त के दो भेद इस प्रकार हैं :—

५—स्वापेक्षयाव्यस्त अन्यापेक्षयासमस्त प्रतिपादान्तगत अनुप्रासशाली (इसी का दूसरा नाम है—'चक्रवाल') तथा

६—स्वापेक्षया व्यस्त अन्यापेक्षया समस्त प्रतिपादादिगत अनुप्रासशाली (इसी का दूसरा नाम है—'गर्भ')।

इस तरह कुल मिलाकर छः भेद हो गये। इनके अतिरिक्त एक 'अव्यवहित व्यस्त-समस्त द्वैगुण्य (अनेक गुण) नामक भेद व्यवहित के भेदों के अन्त में और दिया है जिसे मिलाने से सात भेद हो जाते हैं।

१—स्यादावृत्तिरनुप्रासो, वर्णानां पदवाक्ययोः। अग्निपुराण।३४३।१।

२—यमकानां हि यावत्या, वर्ण्यन्ते भेदभक्तयः।
अनुप्रासस्य लाटानां, भिदास्तावत्य एव हि ॥ स० क० २-१०५ ॥

१—स चाव्यवहितो व्यस्तः, समस्त उभयः पुनः। उभयं चक्रवालं च, गर्भश्चैवाभिधीयते ॥
यस्तु व्यवहितो नाम, नेयत्ता तस्य शक्यते। कर्तुमेकादिगणना, पादवृत्त्यादिभङ्गिभिः ॥
वहीं—स० क० ॥२।१०३-१०४॥

उपर्युक्त सात भेदों में चार भेद उद्भट के चार भेदों के समान ही हैं, जिन्हें निम्न-तालिका द्वारा समझ सकते हैं—

भोज प्रदर्शित अव्यवहितलाटानुप्रास के भेद जो उद्भट के समान हैं—	**उद्भट प्रदर्शित लाटानुप्रास के भेद जो भोज के समान हैं—**
१—अव्यवहित व्यस्त	१—स्वतन्त्रपदाश्रयगत एकैकपदाश्रय
२—अव्यवहित चक्रवाल	२—परतन्त्रपदाश्रयगत पदद्वितयस्थित
३—अव्यवहित समस्त	३—परतन्त्रपदाश्रयगत एकपदाश्रयशब्द-द्वितीयवर्ती
४—अव्यवहित प्रथम व्यस्त अपरसमस्त	४—स्वतन्त्रपरतन्त्र-पदाश्रय

इनके अतिरिक्त शेष तीन भेदों का विवरण इस प्रकार है :—

१—**प्रथमसमस्त अपरव्यस्त**—इसमें आवृत्त पदों के बीच व्यवधान नहीं रहता है तथा प्रथम पद समासयुक्त और द्वितीय पद असमस्त रहता है।[1]

२—**गर्भ**—इसमें आवृत्त पदों के बीच में व्यवधान न रहने के साथ ही आवृत्त पद स्वापेक्षया व्यस्त और अन्यापेक्षया समस्त रहते हैं। जैसे-समाधवा माधवदत्तदृष्टिः' इत्यादि पद्य में 'समाधवा' और 'माधवदत्तदृष्टि' इन पदों में 'समाधव' वाला प्रथम माधव शब्द अपने आवृत्तरूप 'माधवदत्तदृष्टि' वाले द्वितीय माधव शब्द की अपेक्षा से असमस्त होने के कारण 'स्वापेक्षया व्यस्त' है और 'समाधवा'वाला माधव शब्द अपने पूर्ववर्ती 'सह' के साथ समस्त होने से तथा 'माधवदत्तदृष्टि' वाला माधव शब्द अपने से उत्तरवर्ती 'दत्तदृष्टि' शब्द के साथ समस्त होने से 'अन्यापेक्षया' अर्थात् आवृत्तशब्द से भिन्न शब्दों की अपेक्षा से 'समस्त' भी है। इसलिये इन्हें 'स्वापेक्षया व्यस्त अन्यापेक्षया समस्त' कहा गया है। साथ ही उक्त पदों का अनुप्रास के रूप में प्रतिपाद के आदि में विन्यास होने से' प्रतिपादादिगत अनुप्रासशाली अर्थात् गर्भ 'और आवृत्त पदों में परस्पर शब्दार्थसाम्य के रहते हुए भी तात्पर्य भेद होने के कारण यहाँ उक्त प्रकार के भेदों से युक्त 'लाटानुप्रास' अलङ्कार है।

उपर्युक्त भेद की विशेषता यह है कि प्रथम 'व्यस्तसमस्त' के प्रभेद में दोनों आवृत्तपद की व्यस्त-समस्तता पूर्वापरक्रम पर निर्भर रहती है जब कि इस व्यस्तसमस्त के प्रभेद में दोनों आवृत्त शब्द भिन्न भिन्न समासों के क्रमशः उत्तरपद और पूर्वपद होते हैं तथा इनका परस्पर समास नहीं होता। अतएव इनकी व्यस्तसमस्तता स्वापेक्षा और अन्यापेक्षा पर निर्भर है। इसी को भोज ने 'स्वापेक्षया व्यस्त अन्यापेक्षया समस्त' कहकर प्रतिपाद के अन्त में गर्भित

१—जिन भेदों का पूर्व प्रदर्शित उदाहरणों में समावेश होता है उनके उदाहरण पुरोवर्ती आचार्यों द्वारा प्रदत्त होने पर भी यहाँ न देकर केवल नवीन उदाहरणों की चर्चा ही की गई है साथ ही यत्र तत्र पूरा पद्य न देकर उदाहरणीय अंश ही दिया है।

अनुप्रास' और 'प्रतिपाद की आदि में गर्भित अनुप्रास' के रूप में 'व्यस्तसमस्त' के दो नवीन भेद किये हैं। इस प्रकार का वर्गीकरण 'लाटानुप्रास' में इनकी मौलिक देन है।

इसके अतिरिक्त अव्यवहित का ही एक और भेद 'व्यस्तसमस्त द्वैगुण्य (अनेकगुण)' नामक किया है जिसका कारण यह है कि व्यवहित व्यस्तसमस्त अनेकगुण लाटानुप्रास का उदाहरण प्रस्तुत करने के बाद यह तर्क किया गया है कि 'जैसी अनेकगुण' आवृत्ति व्यवहित में मानते हैं वैसी ही 'अव्यवहित' में भी तो हो सकती है, उसका उल्लेख क्यों नहीं किया गया ? तब भोज कहते हैं कि 'हाँ, अव्यवहित में भी अनेक गुण 'द्वैगुण्यादिरूप' आवृत्ति होती है उसमें हमारा कोई विरोध नहीं है।[1]

यह अनेक गुण आवृत्ति अव्यवहित होने के साथ ही व्यस्त और समस्तरूप में एक ही शब्द के दो से अधिक बार के आवर्तन से होती है। 'वस्त्रायन्ते नदीनां सितकुसुमधराः शक्रसङ्काशकाशाः'[2] इत्यादि पद्य में 'काश' पद की अनेक बार आवृत्ति इसका उदाहरण है। द्वितीय 'व्यवहित-लाटानुप्रास' के पाँच भेद (जो पूर्वापेक्षा नवीन हैं) इस प्रकार हैं—

१—**व्यस्त एकगुण**—इसमें जिन पदों की आवृत्ति होती है, वे असमस्त होते हैं तथा एक बार ही इनकी आवृत्ति होती है। 'प्रकाशो यशसा देवः प्रकाशो महसा रविः'—इसका उदाहरण है। यहाँ 'प्रकाशो' पद की एक बार ही आवृत्ति हुई है और वह असमस्त है।

२—**व्यस्त अनेकगुण**—इसमें जिन पदों की आवृत्ति होती है, वे असमस्त होते हैं तथा उनकी एक से अधिक बार आवृत्ति होती है। 'किंचिद्वच्मि न वच्मि यदि वा किं वच्मि वच्मीदृशं' इत्यादि पद्य में 'वच्मि' पद की अनेक बार आवृत्ति इसका उदाहरण है।

३—**समस्त एकगुण**—इसमें जिन पदों की आवृत्ति होती है, वे अन्य पदों के साथ समस्त होकर आवृत्त होते हैं तथा एक पद की एक बार ही आवृत्ति होती है। 'चन्द्रानन चन्द्रदिन' में 'चन्द्र' पद की आवृत्ति इसका उदाहरण है।

४—**समस्त अनेकगुण**—इसमें जिन पदों की आवृत्ति होती है, वे समस्त होने के साथ ही अनेक बार आवृत्त होते हैं। दण्डी के दशकुमारचरित की पूर्वपीठिका के प्रसिद्ध पद्य 'ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः' इत्यादि में 'दण्ड' शब्द की अनेक बार आवृत्ति इसका उदाहरण है।

५—**व्यस्तसमस्त अनेक गुण**—इसमें आवृत्त होने वाला पद कहीं समस्त और कहीं असमस्त रहता है तथा उसकी आवृत्ति अनेक बार होती है। रघुवंश के 'दशरश्मिशतोपमद्युतिं'

१—'अव्यवहितेऽपि द्वैगुण्यादेर्नविरोधः'-सरस्वतीकण्ठाभरण-पृ० २६३।

२—प्रस्तुत विमर्श में जिन उदाहरणों के आवश्यक अंश यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं वे सभी 'सरस्वती-कण्ठाभरण' के लाटानुप्रास-विवेचन से संकलित हैं। पूरे पद्य के लिये कृपया मूल-ग्रन्थ देखें।

इत्यादि प्रसिद्ध पद्य में तीन स्थानों पर समस्त तथा एक स्थान पर व्यस्तरूप में हुई आवृत्ति इसका उदाहरण है।

तृतीय 'व्यवहिताव्यवहित-लाटानुप्रास' के छः भेद इस प्रकार हैं :—

१—**पदाभ्यास**— इसमें जिन पदों की आवृत्ति होती है, उनमें कहीं तो किसी अन्य पद का बीच में व्यवधान रहता है और कहीं नहीं रहता, तथा एक ही पद की आवृत्ति अनेक बार होती है।

२—**अर्धाभ्यास**—इसमें चरण की अपेक्षा से व्यवहित और अर्धापेक्षा से अव्यवहित होकर दोनों अर्धालियों में समान आवृत्ति होती है अर्थात् प्रथम और द्वितीय चरण ही तृतीय और चतुर्थ चरण के रूप में आवृत्त होते हैं।

३—**द्विभागाभ्यास**—इसमें पद्य के दो भागों की समान आवृत्ति होती है।[1] तथा प्रथम और तृतीय पद के कुछ अंश भी उनके साथ आवृत्त होते है।

४—**व्यवहित-पदाभ्यास**—यह भेद उद्भट के 'स्वतन्त्रपदाश्रयपादाभ्यासगतपदसमुदायाश्रय' नाम के भेद से साम्य रखता है। इसमें द्वितीय और चतुर्थ चरणों की समान आवृत्ति होती है।

५—**अव्यवहित पदाभ्यास**—इसमें जिस चरण की आवृत्ति होती है, उसमें व्यवधान नहीं रहता है।

६—**इवाद्यावृत्तिशाली**—इसमें इवादि शब्दों की पूर्ण पद्य में कई बार आवृत्ति होती है 'लीनेव प्रतिबिम्बितेव' ५।।१० इत्यादि मालतीमाधव के प्रसिद्ध पद्य में इव शब्द की अनेक बार आवृत्ति इसका उदाहरण है। 'इव' शब्द का अर्थ यहाँ सर्वत्र समान होने पर भी इसमें लाटानुप्रास मानने का कारण नहीं टीकाकार ने इन शब्दों में दिया है—**अर्थभेद इति नार्थशब्दोऽभिधेयवचनः किन्तु शब्दप्रतिपाद्यमात्रवचन इत्याशयवानाह-इवादीति।**

—स० क० पृ० २६४ टीकाभाग।

अर्थात् यहाँ अर्थ शब्द अभिधेयबचन नहीं है अपितु शब्द-प्रतिपाद्यमात्र वचन है।

भोज ने शब्दालंकारों के विवेचन में यमक के पश्चात् अनुप्रास का विवेचन किया है और अपने से पूर्ववर्ती उद्भट के सभी भेदों को ग्रहण करते हुए ग्यारह नवीन भेद प्रस्तुत किये हैं।

१—टीकाकार रामसिंह ने इस भेद के उदाहरण 'श्रद्धामेधे यदि स्यातां मेधया किं प्रयोजनम्' इत्यादि में द्वितीय और चतुर्थ चरणों की समान आवृत्ति के अतिरिक्त प्रथम और तृतीय पाद के 'यदि स्याताम्' पदों की भी आवृत्ति होने से इसको **'त्रिभागावृत्ति'** भी कहा है।

—सरस्वतीकण्ठाभरण २। २५५ की टीका।

२—शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ।। तथा वृत्ति। काव्यप्रकाश ९-८१।।

मम्मट के अनुसार 'तात्पर्यमात्र से भेद होने पर शब्दानुप्रास लाटानुप्रास कहलाता है'। इस लक्षण की दृष्टि से लाटानुप्रास में वर्णों की नहीं, अपितु पदों की आवृत्ति होती है। 'पुनरुक्ति-दोष' अथवा 'पुनरुक्तवदाभास' अलंकार से लाटानुप्रास को पृथक् करने के लिये 'तात्पर्य-भेद' का ग्रहण युक्तिसंगत ही है। तथा 'शाब्दः' कहकर वर्णानुप्रास अथवा वर्ण-साम्य का भी प्रत्याख्यान कर दिया है और कुछ विद्वान् इसे 'पदानुप्रास' भी कहते हैं यह कह कर अपनी सम्मति भी दी है। इसके अनुसार 'शब्दनारूप व्यापारशाली प्रातिपदिकादि से निष्पन्न भिन्न तात्पर्यक किन्तु तुल्यार्थक शब्दों की सदृशता' लाटानुप्रास का मूल तत्त्व है—मम्मट ने लाटानुप्रास के पाँच भेद निम्न रूप में किये हैं—

१-अनेकपदावृत्ति, २-एकपदावृत्ति, ३-एक-समासगतप्रातिपदिकावृत्ति, ४-अनेक-समासगतप्रातिपदिकावृत्ति तथा ५-एक समस्त अन्य असमस्त प्रातिपदिकावृत्ति।[1]

इनमें 'प्रातिपदिकावृत्ति' से तात्पर्य यह है कि केवल पदों की आवृत्ति होने पर ही नहीं, अपितु प्रातिपदिक की आवृत्ति होने पर भी लाटानुप्रास होता है। ऐसे प्रातिपदिकों की आवृत्ति समास में ही सम्भव है क्योंकि वहाँ विभक्ति का लोप हो जाता है। ये आवृत्तियाँ तीन प्रकार की होंगी—१-उसी समस्त पद की आवृत्ति, २-एक-पद एक समास में और आवृत्त प्रातिपदिक दूसरे समास में हो अर्थात् दोनों भिन्न-भिन्न समास वाले हों वह, और ३-एक समासगत हो और दूसरा समासगत न हो वह।

उपर्युक्त मम्मट के पाँचों भेद भोज के निम्न भेदों में अन्तर्हित हो जाते हैं—

मम्मट प्रदर्शित भेद जिनका भोज के भेदों में अन्तर्भाव होता है--	भोज प्रदर्शित भेद जिनमें मम्मट के भेद अन्तर्हित होते हैं--
१-अनेकपदावृत्ति	१-व्यवहित द्विभागाभ्यास
२-एकपदावृत्ति	२-अव्यवहित व्यस्त
३-एक समासगतप्रातिपदिकावृत्ति	३-अव्यवहित समस्त
४-अनेक (भिन्न) समासगतप्रातिपदिकावृत्ति	४-अव्यवहित चक्रवाल
५-एक समस्त अन्य असमस्त प्रातिपदिकावृत्ति	५-अव्यवहित प्रथम समस्त अपर व्यस्त

मम्मट के भेदगत नामों में 'प्रातिपदिकावृत्ति' का उल्लेख विशेष है। इस प्रातिपदिकावृत्ति के मूल में उद्भट की 'उपलभ्यमान सुप्-तिङ्रूप-पुनरुक्ति और अनुपलभ्यमान सुप्तिङ्रूप-पुनरुक्ति' से प्रेरणा प्राप्त हुई प्रतीत होती है।

१—पदानां सः पदस्यापि, वृत्तावन्यत्र तत्र वा।
नाम्नाः स वृत्यवृत्योश्च, तदेवं पञ्चधा मतः ॥ वहीं ९।८२॥

इनके अतिरिक्त मम्मट की लक्षणकारिका 'वृत्तावन्यत्र तत्र वा' में प्रयुक्त 'वृत्ति' शब्द को कुछ टीकाकार 'कृत्, तद्धित, समास, एकशेष और सनाद्यन्तधातु' रूप पाँच वृत्तियों के अर्थ में मानने का सूचन करते हैं। तदनुसार लाटानुप्रास के भेद केवल समास में ही सीमित न रहकर और भी विस्तार को प्राप्त हो जाते हैं। इसी दृष्टि से 'चन्द्रायते शुक्लरुचापि हंसी, हंसायते चारुगतेन कान्ता' आदि में भी लाटानुप्रास माना जाता है। कमलाकर ने और आगे बढ़ते हुए 'मधुनि मधुकरत्वं रङ्गमङ्गीकरोषि' इत्यादि में नामैकदेशावृत्ति होने पर भी लाटानुप्रास माना है।

आचार्य रुय्यक ने पूर्वाचार्यों द्वारा वर्णित 'लाटानुप्रास' को नवीन दृष्टि से देखा है। अब तक के सभी आचार्यों ने लाटानुप्रास को अनुप्रास का एक भेद ही माना है, किन्तु रुय्यक ने अनुप्रास के शब्दसाम्य को सूक्ष्मरूप से परखते हुए इसे एक स्वतन्त्र अलङ्कार की संज्ञा दी है। इसके अतिरिक्त अब तक 'लाटानुप्रास' को शब्दालङ्कार-परम्परा में ही स्थान दिया गया, जबकि रुय्यक ने इसमें शब्दतत्त्व और अर्थतत्त्व दोनों के चमत्कार का समानरूप से अनुभव करते हुए इसे 'उभयालङ्कार' में स्थान दिया है। लाटानुप्रास के जीवातु-तत्त्व 'तात्पर्यभेद' की प्रतिष्ठा को ही सर्वग्राह्य मानते हुए 'अर्थपौनरुक्त्य, शब्दपौनरुक्त्य और शब्दार्थपौनरुक्त्य'-रूप[1] पौनरुक्त्य के त्रिविध विभाजन में 'उभयालङ्कारा लाटानुप्रासादयः'[2] कहकर 'शब्दार्थ-पौनरुक्त्य' की कोटि में परिगणित किया है। प्रस्तुत अलङ्कार को उभयालङ्कार कहने का हेतु रुय्यक की दृष्टि में 'आश्रयाश्रयिभाव' है। इसके अनुसार 'जो अलङ्कार जिस पर आश्रित रहता है वह उसका अलङ्कार' माना जाता है।[3] लाटानुप्रास में शब्द और अर्थ दोनों का महत्त्व है, अतः इसे 'उभयालङ्कार' की संज्ञा दी गई है।

रुय्यक के अनुसार 'लाटानुप्रास' का लक्षण है—'तात्पर्यभेदवत्तु लाटानुप्रासः' अर्थात् शब्द और अर्थ की पुनरुक्ति होने पर भी तात्पर्य में भेद रहने पर 'लाटानुप्रास' होता है।[4] तात्पर्यभेद की स्पष्टता करते हुए वृत्ति में कहा गया है कि--तात्पर्य का अर्थ है—'जिस तात्पर्य से आदि का पद कहा गया है उसी तात्पर्य से दूसरा पद नहीं कहा जाए वह अन्यपरत्व,'[5] और यही अन्यपरत्व एक शब्द और अर्थ के अभिधेयार्थ बतलाकर विरत हो जाने पर तथा द्वितीय शब्दार्थ के लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ में विश्रान्त होने पर स्पष्ट होता है। जैसे—

१—इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थपौनरुक्त्यं चेति त्रयः पौनरुक्त्यप्रकाराः।
अलङ्कार-सर्वस्व पृ० १६।

२—वहीं, वृत्ति में पृ० २५६।

३—लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्च तत्तदलङ्कारनिबन्धनम्। इत्यादि वृत्ति।
अलङ्कारसर्वस्व• पृ० २५६-५७

४—अलङ्कार-सर्वस्व पृ० २८।

५—यत्परमादावुक्तं तत्परमेव पुनर्नोच्यते। वहीं, टीका-अलङ्कारविमर्शिनी पृ० २८।

ताला जाअंति गुणा, जाला दे सहिअएहिं घेप्पंति ।
रइकिरणाणुगाहिआइं, होंति कमलाइं कमलाइं ॥[1]

यहाँ आरम्भ में 'कमलानि कमलानि' ये दोनों पद शब्द और अर्थ द्वारा समान प्रतीत होते हैं किन्तु बाद में एक कमल शब्द वाच्य में पर्यवसित और दूसरा कमल शब्द सुगन्ध आदि धर्मों से युक्त प्रतीत होने से 'लाटानुप्रास' के लक्षण में समन्वित होता है। 'अलङ्कार-सर्वस्व' के व्याख्याकार 'समुद्रबन्ध' ने 'उद्देश्य और विधेय' के भेद से जो अन्वय-भेद होता है उसे अन्यपरत्व कहा है। तदनुसार 'ताला' इत्यादि पद्य में प्रथम कमल शब्द का 'रवि-किरणानुगृहीतानि' इस पद के साथ अन्वय होने से उद्देश्यार्थवृत्तित्व और द्वितीय कमल शब्द का 'भवन्ति' इस क्रिया के साथ अन्वय होने से विधेयार्थनिष्ठत्व सिद्ध किया है। यद्यपि यहाँ शोभावत्त्व आदि लक्षण से अर्थान्तर में संक्रमित होने से अर्थभेद है, तथापि संकेतित अर्थ की अपेक्षा से पौनरुक्त्य द्रष्टव्य है।

रुय्यक के मत में 'जहाँ केवल किसी शब्द के प्रकृत्यंश और उसके अर्थ की तो पुन-रुक्ति हो, किन्तु प्रत्ययांश और उसके अर्थ की पुनरुक्ति न हो, तो भी वहाँ 'लाटानुप्रास' हो सकता है, जिसका उदाहरण इस प्रकार है—

ब्रूमः कियन्नय कथञ्चन कालमल्पमत्राब्जपत्रनयने ! नयने निमील्य ।
हेमाम्बुजं तरुणि तत्तरसाऽपहृत्य, देवद्विषोऽयमहमागत इत्यवेहि ॥[2]

यहाँ 'अत्राब्जपत्र-नयने नयने निमील्य' इत्यादि में प्रथम नयन शब्द बहुव्रीहि-समास का अङ्ग है अतः उसके विभक्ति, वचन और लिङ्ग द्वितीय नयन शब्द के विभक्ति, वचन और लिङ्ग से सर्वथा भिन्न हैं। इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में 'प्रकृतिरूप नयन शब्द के अर्थ की तो पुनरुक्ति है किन्तु प्रत्यय और उसके अर्थ की पुनरुक्ति न होने पर भी रुय्यक द्वारा 'लाटा-नुप्रास' माना गया है। इस पर वृत्ति में रुय्यक ने स्वयं आशङ्का की है जिसे समुद्रबन्ध ने विशद करते हुए कहा है कि—'अत्राब्जपत्रनयने नयने' में यद्यपि शब्द का स्वरूप तो भिन्न नहीं होता है किन्तु एक के सम्बुद्ध्यन्त और दूसरे के द्वितीयान्त होने से अर्थ भेद तो है ही। अतः यहाँ अर्थपौनरुक्त्य नहीं माना जाएगा। तब लाटानुप्रास कैसे हो सकता है?[3] इसका उत्तर रुय्यक के शब्दों में—'विभक्त्यादेरपौनरुक्त्येऽपि बहुतरशब्दार्थपौनरुक्त्या लाटानुप्रास-

---

१—संस्कृत छाया-तदा जायन्ते गुणा, यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि, भवन्ति कमलानि कमलानि ॥
—अ० स० टीका अल ०विम० पृ० २८॥

२—वहीं, मूल एवं व्याख्याभाग—पृ० २८ ।

३—अत्राब्जपत्रनयने इत्यादौ नयने नयने इत्यत्र यद्यपि शब्दस्वरूपं न भिद्यते तथापि पूर्वत्रैकत्वविशिष्टायाः सम्बोधनमेवार्थः, उत्तरत्र द्वित्वविशिष्टयोर्दृशोः कर्मत्वमित्यभेदार्थात् कथं लाटानुप्रास इत्याशंक्याह । अलं० सर्व० पर समुद्रबन्ध की व्याख्या

त्वमेव'[1] है जिसका तात्पर्य यह है कि 'विभक्ति, वचन और लिङ्ग की पुनरुक्ति न होने पर भी नयनरूपी प्रातिपदिक का अर्थ पुनरुक्त होने से (यहाँ) लाटानुप्रास ही है।'[2] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'लाटानुप्रास' में प्रातिपदिक और उसके अर्थ का पौनरुक्त्य तथा तात्पर्यभेद आवश्यक है, किन्तु शब्द के प्रकृति और प्रत्यय दोनों का और उन दोनों के अर्थों का पौनरुक्त्य आवश्यक नहीं।

अलङ्कार-सर्वस्व के व्याख्याकार राजानक जयरथ ने 'अत्राब्जपत्र-नयने नयने निमील्य' इत्यादि में पुनरुक्त शब्दों के अर्थ में तात्पर्यभेद का अभाव सिद्ध करते हुए 'लाटानुप्रास' का उदाहरण नहीं माना है। क्योंकि यहाँ दोनों ही नयन पदों के वाच्य में ही विश्रान्त होने के कारण 'अन्यपरत्व' का अभाव है अतः तात्पर्यभेद नहीं हो सकता। यही तात्पर्यभेद तो लाटानुप्रास का जीवातु है। उक्त दोनों पदों की 'वाच्य में विश्रान्ति' होने का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—'अत्राब्जपत्रनयने नयने' में प्रयुक्त द्वितीय नयन शब्द द्वितीया-द्विवचनान्त है जो 'आँखों को' इतना वाच्यार्थ बतलाकर विश्रान्त हो जाता है। प्रथम 'अब्ज-पत्रनयने' में 'बहुव्रीहि-समास' है। इस समास में अन्य पदार्थ प्रधान होता है अर्थात् बहुव्रीहि-समास में उपात्तशब्द संज्ञी को प्रधान बनाते हैं और स्वयं गौण रहते हैं। अतः यदि यह कहा जाय कि 'उक्त समस्त-पद के अन्तर्गत नयन शब्द ने स्वार्थ को गौण करके संज्ञी का अभिधान किया है इसलिए स्वार्थत्याग और परार्थवृत्ति होने से इसमें लक्षणा है, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि वहाँ लक्षणा की सामग्री का सर्वथा अभाव है। यहाँ अन्य पदार्थ प्रधान नयन शब्द का गुणीभाव है मुख्यार्थबाध नहीं, और इसी गौणता के कारण स्वार्थ में विश्रान्ति हुई है। गुणीभाव और मुख्यार्थबाध दोनों एक नहीं है, क्योंकि मुख्यार्थ के रहने पर भी किसी की अपेक्षा रखकर गुणीभाव होता है। किन्तु जहाँ मुख्यार्थबाध है वहाँ स्ववाच्य में विश्रान्ति नहीं होती। यह रूढि भी तो नहीं है और न यहाँ कोई प्रयोजन है, अतः यह दोनों में महान् भेद है। इस प्रकार यहाँ लक्षणा के अभाव में अर्थभेद न होने से लाटानुप्रास नहीं है, अपितु पौनरुक्त्यमात्र है।'[3]

अतः जयरथ के अनुसार यह उदाहरण चिन्त्य है। रुय्यक ने इस उदाहरण को जिस दृष्टि से प्रस्तुत किया था, उसके बारे में जयरथ ने कुछ न कहते हुए यह नवीन ही तर्क उपस्थित किया। किन्तु तात्पर्यभेद के लिए तो रुय्यक ने 'ताला जाअंति' इत्यादि पद्य पूर्व में ही दे दिया था, और अपनी नवीन दृष्टि के स्पष्टीकरण के लिये ही यह दूसरा पद्य उदाहृत

१—अलङ्कार-सर्वस्व पृ० २८।

२—जब पौनरुक्त्य एक ही शब्द का है तब यहाँ 'बहुतरशब्दार्थ' में बहु शब्द और उसके साथ तरप् प्रत्यय के प्रयोग का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है। विमर्शिनीकार ने भी इसे स्पष्ट नहीं किया है। समुद्रबन्ध ने बहुतर की व्याख्या प्रातिपदिक की है, उससे भी कुछ स्पष्ट नहीं होता।

३—अलङ्कार सर्वस्व पृ० २८-२९ में विमर्शिनी व्याख्या।

किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। नहीं तो 'अत्राब्जपत्रनयने नयने निमील्येत्यादौ विभक्त्यादेरपौनरुक्त्येऽपि बहुतरशब्दार्थपौनरुक्त्या लाटानुप्रासत्वमेव' इस वृत्ति में 'तात्पर्यभेद' का समावेश अवश्य करते। इससे यह स्पष्ट है कि 'तात्पर्यभेद' तो लाटानुप्रास का जीवातु है ही परन्तु शब्दार्थपौनरुक्त्य में केवल प्रातिपदिक के शब्दार्थ की पुनरुक्ति से भी लाटानुप्रास की क्षति नहीं होती।

दूसरा प्रश्न यह है कि 'अनन्वय' अलङ्कार में भी शब्द का पौनरुक्त्य रहता है, तो क्या वहाँ भी यही 'लाटानुप्रास' माना जायगा? इस प्रश्न का उत्तर रुय्यक ने यह दिया है कि 'काशाः काशा इवाभान्ति' इत्यादि में अनन्वय के साथ लाटानुप्रास है, ऐसा मानकर 'एकवाचकानुप्रवेशसङ्कर'[1] यहाँ नहीं मानना चाहिये। क्योंकि लाटानुप्रास का चमत्कार शब्दतत्त्व और अर्थतत्त्व दोनों पर अन्योन्यापेक्षया[2] अवलम्बित है, जबकि अनन्वय का चमत्कार केवल अर्थतत्त्व पर निर्भर है। इसी बात को निम्न पद्य द्वारा स्पष्ट किया है—

अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषङ्गिकम्।
अस्मिंस्तु लाटानुप्रासे, साक्षादेव प्रयोजनम्॥

अलङ्कार-सर्वस्व पृ० २६

इससे रुय्यक का निष्कर्ष यह प्रतीत होता है कि—'अनन्वय में उपमान और उपमेय का एक ही शब्द से निर्दिष्ट होना आवश्यक नहीं है।' जयरथ ने इसकी पुष्टि में दो अनन्वय के सुन्दर उदाहरण भी प्रस्तुए किये हैं, जिनमें उपमान और उपमेय की एकता रहने पर भी भिन्न शब्दों से निर्देश किया गया है। (वहीं, विमर्शिनी पृ०-२६ मूल)

रुय्यक की इस विस्तृत चर्चा के पश्चात् हेमचन्द्र ने लाटानुप्रास को सर्वथा भुला दिया है, किन्तु शोभाकर मित्र ने पुनः लाटानुप्रास को शब्दालङ्कार में प्रतिष्ठित किया।

१—एकवाचकानुप्रवेशसङ्कर-एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर का विवेचन मम्मट ने इस प्रकार दिया है—जहाँ एक (पदरूप) दो शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार सन्दिग्धरूप से या अंगांगिभावरूप से न होकर स्पष्ट, असन्दिग्ध और पृथक्-पृथक् व्यवस्थित रूप से रहते हैं वह भी एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर का तीसरा भेद होता है। इस प्रकार यहाँ एक ही पद में शब्दालङ्कार लाटानुप्रास और अर्थालङ्कार अनन्वय होने से उक्त सङ्कर मानने का संकेत किया है। काव्यप्रकाश-१०-२०६। तथा अलङ्कार-सर्वस्व के अन्य टीकाकार-श्रीविद्याचक्रवर्ती ने इसी शब्दैक्य को अनन्वय में स्वीकृत करने का हेतु उद्देश्य प्रतिनिर्देश की एकरूपता न रह सकने के कारण पर्यायप्रक्रमभूतदोष से बचना बतलाया है।

२—तत्र यद्यप्यर्थपौनरुक्त्यं लक्षणमथापि शब्दपौनरुक्त्यं दोषभङ्गभयादङ्गीक्रियत एव। सञ्जीवनी पृ० ३५ तथा इन्हीं के द्वारा रचित अलङ्कारनिकृष्टकारिका में—
दोषपत्तिभयादेव, शब्दैक्यं स्यादनन्वये।
अस्मिंस्तु लाटानुप्रासे, साक्षादेव प्रयोजनम्॥६॥

उनके अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है—'तुल्याभिधेयभिन्नतात्पर्यशब्दावृत्तिर्लाटानुप्रासः'[1] इसमें पूर्वापेक्षा कोई नवीनता नहीं है किन्तु वृत्ति में तात्पर्यभेद की आवश्यकता बतलाते हुए स्पष्ट किया है कि—'यदि दोनों शब्दार्थ वाच्य में विश्रान्त होते हैं तो वहाँ पुनरुक्तदोष होगा और केवल दोषाभाव मात्र से अलङ्कार नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यदि दोषाभाव में अलङ्कार माना जाएगा तो जहाँ अपशब्दादि नहीं है वहाँ भी अलङ्कार मानना होगा। अतः तात्पर्यभेद आवश्यक है। (वहीं-वृत्ति भाग)

लाटानुप्रास को शब्दालङ्कार मानने में शोभाकार ने तर्क यह दिया है कि—'यद्यपि इस अलङ्कार में वाच्य की भी पुनरुक्ति होती है तथापि वह अलङ्कारता में प्रयोजक नहीं है। क्योंकि यमकादि में चारुत्व की उद्भाविका शब्दावृत्ति ही होती है, तुल्यवाच्यता तो यमकादि की विलक्षणता से आती है, चारुता के निमित्तरूप नहीं। पुनरुक्तताधर्म शब्द का चारुत्व है, इसलिये लाटानुप्रास शब्दालङ्कार ही है।[2]

इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि 'कहीं कहीं अभिधेयांश-भेद से भी तात्पर्यभेद हो जाता है,' ऐसे स्थान पर लाटानुप्रास होगा—जैसा कि 'यातायात' इत्यादि पद्य में या धातु से प्रथम 'क्त' प्रत्यय भाव में है और द्वितीय कर्ता में। अतः आंशिकरूप में यहाँ अभिधेय-भेद हो जाता है। इस प्रकार अर्थभेद रहने पर जो शब्दावृत्ति होती है वहाँ 'यमक' होगा और अर्थ के अभेद में भी भेद रहने पर लाटानुप्रास होगा। इस कथन को निम्न पद्य द्वारा व्यक्त किया है—

ऐक्येऽप्यर्थस्य भिन्नत्वमभिधेयांशभेदतः।
लक्ष्यादिना वा तात्पर्ये, भेदो नान्यः समन्वयः॥ अलङ्कार-रत्नाकर

वस्तुतः मम्मट ने जिस अन्वय-व्यतिरेक को अलंकारों की शब्द-निष्ठता और अर्थ-निष्ठता का नियामक माना है वही उचित प्रतीत होता है। क्योंकि जिस आश्रयाश्रयिभाव की कल्पना रुय्यक ने की है वह आश्रयाश्रयिभाव भी तो अन्वय-व्यतिरेक द्वारा ही निर्धारित होता है, यदि अन्वय-व्यतिरेक न माना जाय तो आश्रयाश्रयिभाव का भी निर्णय नहीं हो सकता है। अतः आश्रयाश्रयिभाव की अपेक्षा अन्वय-व्यतिरेक को ही शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार की व्यवस्था का नियामक मानना चाहिये।

लाटानुप्रास को उत्तरकाल के आचार्यों ने निम्नलिखित भिन्न-भिन्न तीन रूपों में मानना आरम्भ कर दिया—

१—अलङ्कार-रत्नाकर सूत्र-५।

२—अत्र च यद्यपि वाच्यस्यापि पौनरुक्त्यं तथापि न तदलङ्कारतायां प्रयोजकम्। शब्दावृत्तेरेव यमकादौ चारुत्वनिबन्धनत्वात्। तुल्यवाच्यता तु यमकादिवैलक्षण्याद् न तु चारुता-निमित्तम्। तेन शब्दस्यैव चारुत्वहेतुः पुनरुक्तताधर्म इति शब्दालङ्कार एवायम्। वहीं-वृत्तिभाग।

१. मम्मट के अनुसार 'अन्वय-व्यतिरेक' के आधार पर लाटानुप्रास को शब्दालङ्कार मानने वाले—'शोभाकर मित्र, जयदेव, विश्वनाथ, नरेन्द्रप्रभ, कर्णपूर' आदि—जिनके द्वारा प्रदत्त लाटानुप्रास के लक्षण और उदाहरणों में भी नवीनता नहीं आ पाई है।

२. द्वितीय पक्ष में रुय्यक के अनुसार 'आश्रयाश्रयिभाव' के आधार पर लाटानुप्रास को उभयालङ्कार मानने वाले-'विद्यानाथ, विद्याधर' आदि। यह परम्परा कुछ ही अंशों में आगे बढ़ी है तथा रुय्यक के विचारों को ही अपने लक्षण और उदाहरणों में पोषण दिया है।

३. तृतीय पक्ष में उपर्युक्त दोनों प्रपञ्चों से निर्लिप्त रहने की इच्छा से लाटानुप्रास का वर्णन ही नहीं किया गया है। सम्भवतः अन्य भेद में अन्तर्हित ही मान लिया हो, किन्तु स्वतन्त्र चिन्तन नहीं हुआ। ऐसे आलंकारिकों में 'हेमचन्द्र वाग्भट' आदि को लिया जा सकता है।

नरेन्द्रप्रभ ने लाटानुप्रास के भेदों में पदस्थ आवृत्ति के भेद बतलाते हुए कविपुङ्गवों की मान्यतानुसार[1] भोज द्वारा वर्णित 'नाम-द्विरुक्त्यनुप्रास' के भेदों को सोदाहरण ग्रहण कर लिया है। किन्तु जिस तात्पर्यभेद को जीवातु मानकर लाटानुप्रास की प्रतिष्ठा हुई है उसका पूर्णतः निर्वाह वहाँ सम्भव नहीं। अतः उनकी चर्चा भोज के 'नामद्विरुक्त्यनुप्रास' में ही करेंगे।

उत्तरकाल के आचार्यों ने भी लाटानुप्रास के भेदों का वर्णन किया है किन्तु उनमें नवीन दृष्टि का अभाव होने से यहाँ चर्चा करना आवश्यक नहीं माना है।

सारांश यह है कि लाटानुप्रास पदावृत्तिमूलक ही अनुप्रास है। इसमें आवृत्ति वाले पदों का अर्थ प्रकाश में तो एक ही रहता है और शब्दावली श्लिष्ट भी नहीं होती, तथापि उसका अर्थ तात्पर्य-पार्थक्य के कारण बदल जाता है। तात्पर्य की सूचना कवि अन्य पदों से स्पष्टरूप में दे देता है। इसी तात्पर्य-पार्थक्य के आधार पर आवृत्तिगत पदों का दूसरे अभिप्राय से सम्बन्ध रखने वाले अर्थ कई प्रकार के साधनों से किये जाते हैं और उनमें परिवर्तन दिखाया जाता है।

१—स्वभावादुपचाराच्च, वीप्सयाऽऽभीक्ष्ण्यतोऽपि वा।
कषादिभ्यश्च धातुभ्यः, स्वात्मन्युपपदस्थिते ॥१७॥
आवृत्तिर्दृश्यते या च, या च काचन सम्भ्रमात्।
अनुप्रासं तमप्याहुर्लाटीयं कविपुङ्गवाः ॥१८॥ अलङ्कारमहोदधि, तरङ्ग-७।

३ —श्रुत्यनुप्रास

यह अनुप्रास-भेद 'श्रुति' से पूर्ण सम्बन्ध रखने वाला है। यहाँ श्रुति का अर्थ है 'कर्णेन्द्रिय'। जिस प्रकार कानों को गीतादिकों के स्वर, ताल एवं लय आदि का ज्ञान केवल सुनने से ही हो जाता है तथा जिस प्रकार मधुर, कटु, कठोर अथवा कोमल वर्णों को-जिनकी कर्णेन्द्रिय सूक्ष्म-विवेचन में अभ्यस्त है—वे सुनकर ही पहचान लेते हैं, उसी प्रकार वे कुछ ही अभ्यास से यह भी पहचान लेते हैं कि उक्त वर्ण कण्ठ, तालु, दन्त आदि किस स्थान से बोले जा रहे हैं। अतः यह अलङ्कार-भेद व्याकरण के 'वर्ण-विचार' अथवा 'उच्चारण-सूचक-वर्ण-वर्गीकरण' से सम्बन्ध रखता है और उसी का सिद्धान्त इसका मूलाधार है।

इस अनुप्रास की विस्तृत चर्चा भोज से आरम्भ हुई है। किन्तु दण्डी ने इसका साक्षात् निर्देश न करते हुए भी बीजरूप में परिलक्षित करने के लिये 'माधुर्यगुण' के विवेचन में 'विशिष्ट वर्ण-विन्यास को रस को व्यञ्जना में साधनरूप मानने वाले वैदर्भमार्गानुयायी विद्वानों के प्रिय अनुप्रास' के रूप में वर्णन किया है। उनका कथन है कि 'जिस पद-समुदाय में कण्ठादिस्थानजन्य वर्णों की बिना किसी व्यवधान के समानश्रुति का अनुभव हो, वहाँ 'श्रुत्यनुप्रास' रूप पदसमुदाय रसावह-रसव्यञ्जक होता है'[१] तथा इस लक्षण की सङ्गति के लिये निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है—

एष राजा यदा लक्ष्मीं, प्राप्तवान् ब्राह्मणप्रियः।
तदा प्रभृति धर्मस्य, लोकेऽस्मिन्नुत्सवोऽभवत्॥ काव्यादर्श १।५३।

इसमें 'एष राजा' इस अंश में षकार और रेफ दोनों मूर्धन्य, 'राजा यदा' इस अंश में जकार और यकार दोनों तालव्य, तथा 'यदा लक्ष्मीं' इस अंश में दकार और लकार दोनों दन्त्य वर्णों में श्रुतिसाम्य है, अतः यहाँ 'श्रुत्यनुप्रास' अलङ्कार है।

उपर्युक्त लक्षण और उदाहरण अग्रवर्ती आचार्यों द्वारा प्रदत्त श्रुत्यनुप्रास के लक्षण और उदाहरणों से भी साम्य रखता है। इसलिये दण्डी के द्वारा दिया गया यह प्रासङ्गिक संकेत भी 'श्रुत्यनुप्रास' का आदि स्रोत माना जा सकता है।

उद्भट, वामन, रुद्रट और अग्निपुराण में श्रुत्यनुप्रास की कोई चर्चा नहीं है। भोज ने 'श्रुत्यनुप्रास' का लक्षण न देते हुए 'अनुप्रास' के छः भेदों की चर्चा में निर्देशमात्र कर दिया है।[२] वहीं टीकाकार ने स्पष्ट किया है कि—'आवृत्ति दो प्रकार की होती है—१-वर्ण-

---

१—यया कयाचिच्छ्रुत्या यत्, समानमनुभूयते।
तद्रूपा हि पदावृत्तिः, सानुप्रासा रसावहा॥ काव्यादर्श १।५२॥

२—श्रुतिभिर्वृत्तिभिर्वर्णैः, पदैर्नामद्विरुक्तिभिः।
लाटानामुक्तिभिश्चायं, षट्प्रकारः प्रकाशते॥ सरस्वती-कण्ठाभरण २।७१॥

मात्रावलम्बिनी तथा २-समुदायगोचरा। वर्णमात्रावलम्बिनी आवृत्ति के भी दो भेद हैं—१-सामान्यतः और २-रूपतः। और जो सामान्यतः आवृत्ति होती है, उसके भी 'स्थानगत और व्यापारगत' दो भेद होते हैं। इन में जो 'स्थानगतसामान्यवर्णमात्रावलम्बिनी आवृत्ति' है, वही कण्ठादि-स्थानों पर आधारित अनुप्रास है और कण्ठादि-स्थान-प्रयुक्त वर्णों का ज्ञान श्रुति पर ही निर्भर है इसलिये उसे 'श्रुत्यनुप्रास' कहा जाता है। 'श्रूयते तयाऽभिव्यक्तो वर्णव्यापारोऽभिव्यञ्जकरूपः'—श्रुति के द्वारा अभिव्यक्त वर्णव्यापार जो अभिव्यञ्जकरूप में सुना जाता है, वह अनुप्रास 'श्रुत्यनुप्रास' कहलाता है।[1] इसके अतिरिक्त भोज ने श्रुत्यनुप्रास को समस्त अनुप्रासों का नायक बतलाया है और इसी के कारण वैदर्भी सनाथ होती है। इतना ही नहीं, इस अनुप्रास को प्रतिभाशाली कवि के पुण्यों से ही उसके सुसमाहित चित्त में स्वयं वाग्देवी अक्लिष्ट पद-वाक्यार्थ के रूप में निविष्ट करती है। इससे यह सिद्ध है कि यह अनुप्रास अत्यन्त महत्वपूर्ण है।[2]

'श्रुत्यनुप्रास' के मुख्य तीन भेद हैं—१-ग्राम्य, २-नागर और ३-उपनागर। जिनमें 'शब्दानुशासन में श्रुतिसाजात्य के अतिप्रसिद्ध होने से पहले भेद को 'ग्राम्य,' अतिप्रसिद्ध न होने से (ग्राम्य के विपरीत) द्वितीय भेद को 'नागर' तथा उक्त दोनों गुणों का योग होने से अर्थात् कुछ अतिप्रसिद्ध और कुछ अप्रसिद्ध वर्णों के प्रयोग से युक्त तृतीय भेद को 'उपनागर' कहा है।'

उपर्युक्त भेदों के कतिपय उपभेद भी भोज ने दिखलाये हैं। उनमें पहले 'ग्राम्य' के उपभेद चार इस प्रकार हैं—

१. **मसृण**—इसमें स्थानगत समान श्रुतिवाले मूर्धन्य तालव्य आदि वर्णों की कहीं अन्तर से युक्त और कहीं निरन्तर आवृत्ति होने पर जैसे किसी वस्त्र में तन्तु मिले रहते हैं अथवा माला में पुष्प संसक्त रहते हैं, वैसे ही वर्णों की योजना होती है। टीकाकार के शब्दों में एक पद के प्रतिभास मात्र से अनुमित होने वाला 'मसृण' कहलाता है। इसका उदाहरण दण्डी के श्रुत्यनुप्रास के उदाहरण से भिन्न नहीं है।

२. **वर्ण-मसृण**—इसमें उपर्युक्त मसृण के गुणों के अतिरिक्त विशेषता यह है कि प्रयुक्त वर्णों में परस्पर रूपसाम्य रहने पर भी मध्य-मध्य में अन्यस्थानीय वर्णों की भी योजना होती है। वे वर्ण विविध रंगवाले वस्त्र में तन्तुओं के समान अथवा बहुरंगी पुष्प-माला में

१—द्रष्टव्य-सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० २२६।

२—प्रायेण श्रुत्यनुप्रासस्तेष्वनुप्रासेषु नायकः।
सनाथैव हि वैदर्भी, भाति तेन विचित्रता॥ वहीं २।७२॥
निवेशयति वाग्देवी, प्रतिभानवतः कवेः।
पुण्यैरमुमनुप्रासं, ससमाधिनि चेतसि॥ वहीं २।७३॥

गुंथे हुए विविध रंगी फूलों के समान दिखाई देते हैं। इसका उदाहरण कुमार-सम्भव का प्रसिद्ध पद्य 'स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः' (५-२४ इत्यादि) दिया है।

३. **वर्णोत्कट**— उपर्युक्त दोनों भेदों के रहते हुए भी जहाँ किसी चरण में एक वर्ण का अधिकता से संयोजन किया गया हो, वहाँ यह उपभेद होता है।

४. **वर्णानुत्कट**— एक श्रुतिवाले वर्णों का पूरे पद्य में अधिक मात्रा में प्रयोग रहने पर भी किसी एक चरण में रूप-साम्य वाले वर्णों की अधिक आवृत्ति न हो, वहाँ यह उपभेद होता है।

द्वितीयभेद 'नागर' के तीन उपभेद इस प्रकार हैं—

१. **भेदेऽप्येकत्वबुद्धिशाली** (समानस्थानीय)—इसमें समानश्रुतिवाले वर्णों में परस्पर भेद रहने पर भी समानस्थानीय होने के कारण एकत्व का आभास होता है। उदाहरणार्थ 'दीर्घेण रंहसा' में घकार और हकार का स्थानसाम्य होने पर भी रूपगत विजातीयता भी है किन्तु पढ़ने में तुल्यश्रुति का आभास होता है, अतः यह उपभेद माना गया है।

२. **भेदेऽप्येकत्वबुद्धिशाली** (असमानस्थानीय)—इसमें समानस्थानीय न होने पर भी परस्पर समानश्रुति होने के कारण एकत्व का आभास होता है। जैसे-'उच्छलन्मत्स्यपुच्छाग्री' इत्यादि में चन्द्र और तस का स्थानभेद है किन्तु श्रुति में साम्य प्रतीत होता है, अतः यह उपभेद माना गया है।

३. **एकत्वेऽपि भेदावभासशाली**—इसमें ईषत्स्पृष्टादिप्रयत्नगत ऐक्य रहने पर भी स्थान साम्य न होने से भेदावभास होता है। जैसे डकार, वकार, यकार आदि में एक प्रयत्नोच्चार्यता रहने पर भी स्थान भेद स्पष्ट है।

तृतीय भेद 'उपनागर' का कोई उपभेद नहीं हैं। इसमें उपर्युक्त दोनों भेदों के गुणों का योग रहता है जो डकार और लकार, नकार और णकार, रकार और लकार तथा दन्त्य और तालव्य वर्णों की तुल्यश्रुति से स्पष्ट होता है अर्थात् प्रत्यक्षतः भिन्नश्रुति किन्तु अनुमानतः समानश्रुति का आभास होता है।

श्रुत्यनुप्रास—

१—ग्राम्य	**२—नागर**	**३—उपनागर.**
१. मसृण	१. भेदेऽप्येकत्वबुद्धिशाली समानस्थानीय	१. प्रत्यक्षतः भिन्न-श्रुति किन्तु अनु-मानतः समान-श्रुति।
२. वर्णमसृण	२. भेदेऽप्येकत्वबुद्धिशाली असमानस्थानीय	
३. वर्णोत्कट	३. एकत्वेऽपि भेदावभासशाली	
४. वर्णानुत्कट		

मम्मट और जयदेवादि आचार्यों ने श्रुत्यनुप्रास को स्थान नहीं दिया है। जबकि विश्वनाथ ने पुनः पूर्वलक्षणों की अपेक्षा विशेष स्पष्टता के साथ कहा है कि 'जब उच्चारण में तालव्य, दन्त्य आदि व्यञ्जनों की समानता किसी एक ही पद में आये तो वहाँ श्रुत्यनुप्रास होता है'[1] 'तथा उक्त नामकरण का कारण भी वे' सहृदयों को सुनने में अतिसुखदायक होना बतलाते हैं। हाँ इसके भेदोपभेद के बारे में वे सर्वथा मौन हैं। नरेन्द्रप्रभ ने भोज के अनुकरण में ही श्रुत्यनुप्रास को 'तुल्यस्थानगतवर्णों की आवृत्ति' माना है तथा कविकर्म में सुप्रसिद्ध कहा है। इनके द्वारा किये हुए भेदों के नाम—१.शुद्ध २. संकीर्ण और ३. नागर हैं किन्तु लक्षण और उदाहरणों में तनिक भी नवीनता नहीं है।[2]

अनुप्रास के इस भेद का अधिकांश आचार्यों ने विश्लेषण नहीं किया है। इसका प्रमुख कारण व्याकरण के नियमों से सुसम्बद्ध होना कहा जा सकता है। उत्तरकाल के काव्य और स्तोत्रों में इसका प्रयोग अन्यरूप में ही किया गया है। वहाँ केवल स्थानों के आधार पर कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य, औष्ठ्य, नासिक्य, अन्तःस्थ और ऊष्म वर्णों का एक-एक पद्य में नियमन करके उक्त नामों के अनुप्रास कहने की पद्धति अपनाई गई हैं। कई स्थानों पर निष्कण्ठ्य निस्तालव्य आदि नाम देकर भी अनुप्रास की संज्ञा दी गई है।

४ —वृत्त्यनुप्रास

श्रुत्यनुप्रास के समान ही दण्डी ने—'गौडमार्ग के अनुयायी जिस वर्णावृत्तिरूप अनुप्रास को अधिक रसव्यंजक मानकर वैसे ही आनुप्रासिक-स्थल में माधुर्यगुण मानते हैं' यह कहकर वृत्त्यनुप्रास का स्वरूप-विवेचन भी किया है, जो साक्षात् निर्दिष्ट नहीं है। किन्तु 'वर्णावृत्तिरनुप्रासः' के साथ ही 'पादेषु च पदेषु च' कह कर जो भेद निर्देश किया है तथा पूर्वानुभवसंस्कार-बोधिनी यद्यदूरता का जो उल्लेख किया है उससे सहज ही वृत्त्यनुप्रास के लक्षण का संकेत उपलब्ध हो जाता हैं।[3]

उनके द्वारा प्रदत्त उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—

१—उच्चार्यत्वाद् यदैकत्र, स्थाने तालु-रदादिके। सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव, श्रुत्यनुप्रास उच्यते॥
साहित्य-दर्पण १०-५

एष च सहृदयानामतीव श्रुतिसुखावहत्वात् श्रुत्यनुप्रासः। वहीं।

२—तुल्यस्थानभवैर्वर्णैरावृत्तैः श्रुतिहारिभिः।
विश्रुतः श्रुत्यनुप्रासः, सर्वस्वं कविकर्मणः॥ ७-३॥
स एष त्रिविधः शुद्धः, सङ्कीर्णो नागरस्तथा। इत्यादि। अलङ्कार-महोदधि।

३—वर्णावृत्तिरनुप्रासः, पादस्य च पदस्य च।
पूर्वानुभव-संस्कार-बोधिनी यद्यदूरता॥ काव्यादर्श १-५५॥

१—चन्द्रे शरन्निशोत्तंसे, कुन्दस्तबकविभ्रमे ।
इन्द्रनीलनिभं लक्ष्म, सन्दधात्यलिनः श्रियम् ॥ काव्यादर्श १।५६॥

यहाँ चारों चरणों में चन्द्र, कुन्द, इन्द्र और सन्द पदों के नकार और दकार की आवृत्ति के कारण पादगत वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है ।

२—चारुचान्द्रमसं भीरु ! बिम्बं पश्यैतदम्बरे ।
मन्मनो मन्मथाक्रान्तं, निर्दयं हन्तुमुद्यतम् ॥ वहीं १। ५७ ॥

यहाँ विभिन्न पदों में चा और रु आदि वर्णों की आवृत्ति हुई है। अतः यह 'पदगत' वृत्त्यनुप्रास का उदाहरण है ।

इस प्रकार दण्डी ने वैदर्भ और गौडमार्गों के माध्यम से श्रुत्यनुप्रास और वृत्त्यनुप्रास का विमर्श दिया है और अलंकार-लोभी आचार्यों की रुचि का निर्देश करते हुए दाक्षिणात्य वैदर्भजनों का मत भी स्पष्ट किया है तथा वहीं अलंकार-प्रस्थान में प्रचलित तत्कालीन प्रस्थानद्वय के अनुप्रास-सम्बन्धी स्पष्टीकरण को बन्धपारुष्य और बन्धशैथिल्य के द्वारा व्यक्त करते हुए केवल पारुष्य अथवा केवल शैथिल्य के प्रति अपनी अरुचि प्रदर्शित की है ।

उद्भट ने वृत्त्यनुप्रास को अधिक मनोयोग से प्रस्तुत किया है तथा वृत्तियों के स्वरूप भी स्पष्ट किए हैं ।। उन्होंने 'परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या' इस प्रकार तीन वृत्तियों का विवेचन करके इन्हीं वृत्तियों के आधार पर कविगण पृथक्-पृथक् अनुप्रास मानते हैं' यह कहा है। इस आधार पर वृत्त्यनुप्रास के तीन भेद '१—परुषानुप्रास, २—उपनागरिकानुप्रास तथा ३—ग्राम्यानुप्रास होते हैं ।[1]

१ —परुषावृत्ति

इसमें शकार, षकारादि वर्णों का प्रचुर प्रयोग, रेफ से संयुक्त क र्क जैसे अक्षरों की प्रधानता, ट-ठ-ड-ढ-ण (टवर्ग) की बहुलता तथा ह्ल, ह्व, ह्य, आदि संयुक्ताक्षरों की अधिकता रहती है ।[2] उदाहरणार्थ 'तत्र तोयाशयाशेषव्याक्रोशितकुशेशया' इत्यादि पद्य में सकार और संयुक्ताक्षरों की बहुलता दर्शनीय है । इन वृत्तियों का विधान रस को लक्ष्य करके ही किया जाता है । 'परुषावृत्ति' में कठोर वर्णों का विन्यास रहता है । इसी को परुषानुप्रास भी कहते हैं ।

१—सरूपव्यञ्जनन्यासं, तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥ १ ।६ ॥ काव्यालङ्कार-सार

२— शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता ।
परुषा नाम वृत्तिः स्याद्, ह्ल-ह्व-ह्याद्यैश्च संयुता ॥ वहीं १ । ४ ॥

२ —उपनागरिका-वृत्ति

इसमें अपने ही समान वर्ण के संयोग से बने हुए 'क्क, प्प, च्च आदि तथा वर्ग के अन्तिम अक्षर ङ, ञ, ण, न, म के साथ बने हुए अक्षर ङ्क, ञ्च, ण्ट, न्त, म्य आदि की पुनरावृत्ति रहती है।[1] इसका उदाहरण-'सान्द्रारविन्द' इत्यादि पद्य है जिसमें नकार और दकार से संयुक्त वर्णों की आवृत्ति हुई है।

नगर की चतुर, सयानी तथा विदग्ध वनिता की सुकुमार वाक्यावली के समान होने से इसे 'उपनागरिका' कहते हैं।[2] उपर्युक्त उदाहरण और भामह के अज्ञातनाम अनु-प्रास (जिसे प्रतिहारेन्दुराज ने उपनागरिकानुप्रास कहा है) का उदाहरण समान है। यहाँ 'न्द' की आवृत्ति है तो वहाँ 'किन्तया चिन्तया कान्ते में 'न्त' की आवृत्ति। इस दृष्टि से अलंकारशास्त्र में अनुप्रासवृत्तियों को सर्वप्रथम उद्भूत करने का श्रेय भामह को भी दिया जा सकता है। इसे 'उपनागरिकानुप्रास' भी कहते हैं।

३ —ग्राम्या-वृत्ति

इसमें परुषा और उपनागरिका से अवशिष्ट वर्णों (लकारादि) का उचित प्रयोग किया जाता है। इसका दूसरा नाम 'कोमला' भी है। काव्यों में आदरपूर्ण बुद्धि रखने वाले इस 'ग्राम्या-वृत्ति' की प्रशंसा करते हैं।[3] इसका उदाहरण 'केलिलोलालिमालानां' इत्यादि पद्य है, जिसमें कोमलवर्ण 'ल' की आवृत्ति हुई है। कोमलवर्ण-विन्यास से युक्त यह कोमलावृत्ति ग्रामीण नारियों की स्वाभाविक, श्रुतिमधुर पदावली के अनुरूप होने के कारण 'ग्राम्या' कही जाती है। इसीको 'कोमलानुप्रास' अथवा 'ग्राम्यानुप्रास' भी कहते हैं।

वामन ने 'पादानुप्रास' में वृत्त्यनुप्रास को अन्तर्हित माना है। उनके द्वारा प्रदत्त पादानुप्रास के उदाहरणों 'आखण्डयन्ति मुहुरामलकीफलानि' आदि में 'लानि' अक्षरों की आवृत्ति से यह ज्ञात होता है।[4] रुद्रट ने वृत्तियों की संख्या तीन से बढ़ाकर पाँच कर दी है। साथ ही उद्भट की परिभाषाओं को भी 'प्रयोग-नियम' के संकेत से परिष्कृत किया

१—सरूपसंयोगयुतां, मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः॥ वहीं १।५॥

२—एषा खलु नागरिकया वैदग्धीजुषा वनितया उपमीयते तत उपनागरिका!
नागरिकया उपमिता उपनागरिकेति। प्रतीहारेन्दुराज, काव्यालङ्कारसार-वृत्ति

३—शेषैर्वर्णैर्यथायोगं, कथितां कोमलाख्यया।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति, काव्येष्वादृतबुद्धयः॥ वहीं १।६॥

४—काव्यालङ्कार-सूत्र-वृत्ति॥ ४।१।१०॥

है। इनकी पाँच वृत्तियों में केवल 'परुषा' नाम यथावद् गृहीत है, किन्तु लक्षण इसका भी बदल दिया है। रुद्रट वर्णित वृत्तियाँ इस प्रकार हैं—[1]

१—**मधुरा**-वृत्ति में अपने ही वर्ग के अन्त्यवर्णों से संयुक्त 'क-च-ट-त-प' वर्गों के अक्षर, लकार से संयुक्त तथा लघुस्वर वाले रकार और णकार का व्यवधान-पूर्वक प्रयोग होता है। इसमें भी णकार का प्रयोग माधुर्यपूर्ण होने से यथाशक्ति अधिक, संयुक्त लकार का प्रयोग दो या तीन बार तथा अन्य वर्णों के अक्षरों का प्रयोग पाँच से अधिक बार नहीं होना चाहिये। 'भण तरुणि रमणमन्दिर' आदि पद्य इसका उदाहरण है।

२—**प्रौढ़ा**-वृत्ति में वर्ग के अन्तिम तथा टवर्ग के अक्षरों को छोड़कर शेष आदि अक्षर, ऊपर के रेफ से संयुक्त यकार एवं णकार का प्रयोग होता है। इसी प्रकार ककार और पकार का तकार के साथ संयोग भी ग्राह्य है। 'कार्याकार्यमनार्यैः' इत्यादि पद्य में प्रयुक्त रेफ संयुक्त यकारादि का प्रयोग इसका उदाहरण है।

३—**परुषा**-वृत्ति में सभी अक्षरों के साथ संयुक्त सकार और (ऊपर या अधो-भाग में संयुक्त) रेफ का प्रयोग होता है। इसी प्रकार रेफ युक्त हकार तथा रेफ एवं अन्य वर्णों से संयुक्त शकार और षकार का प्रयोग होता है। इसमें यह भी स्मरणीय है कि—ऐसे परुषाक्षरों का प्रयोग परुषतासूचक वचनों में अथवा वैसे अनुकरण में ही होना चाहिये, अन्यत्र नहीं। और यदि अन्यत्र अन्य कोई गति न हो तो वहाँ 'ह्ल-ह्ल-ह्व' जैसे अत्यन्त परुषाक्षरों का त्याग कर देना चाहिये। केवल श-षादि का प्रयोग पर्याप्त है। 'लिप्सून् सर्वान् सोऽन्तः' इत्यादि पद्य में प्रयुक्त संयुक्त सकारादि इसके उदाहरण हैं।

४—**ललिता**-वृत्ति में 'घ-ध-भ-र-स' इन लघु अक्षरों का तथा अन्त्याक्षरों के संयोग से रहित किन्तु स्वयं से संयुक्त लकार का प्रयोग होता है। 'मलयानिलललनोल्लल' इत्यादि पद्य में प्रयुक्त लकारादि का प्रयोग इसका उदाहरण है।

५—**भद्रा**-वृत्ति में उपर्युक्त चारों वृत्तियों के उपयोग से अवशिष्ट अक्षर असंयुक्त-रूप में प्रयुक्त होते हैं। यदि कहीं संयुक्तरूप में प्रयोग होता भी है तो वह श्रुतिसाम्य के आधार पर ही। 'उत्कटकरिकरटतटस्फुटन' इत्यादि पद्य में प्रयुक्त क-ट आदि अक्षर इसके उदाहरण हैं।

वृत्तियों के प्रयोग के विषय में रुद्रट एक विज्ञ आलोचक की तरह विवेचन करते दिखाई पड़ते हैं। उनका कहना है कि 'इन वृत्तियों का प्रयोग अर्थ के औचित्य का पूरा विचार करके ही करना चाहिये। विषय के अनुरूप कभी दीर्घ एवं कभी अल्प अक्षरों का

१—इन सभी वृत्तियों के लक्षण और पूरे उदाहरणों के लिये देखिये—काव्यालङ्कार-रुद्रट, पृ० १७ से २०।

प्रयोग होना चाहिये तथा एक ही वृत्ति का प्रयोग बार-बार नहीं करना चाहिये अर्थात् स्थान विशेष पर उनका ग्रहण और त्याग आवश्यक है।"[1]

आनन्दवर्धनाचार्य ने वृत्तियों के सम्बन्ध में कुछ मौलिक सिद्धान्तों की उद्भावना की है। वैसे अनुप्रासजाति से सम्बद्ध वृत्तियों का निर्देश उन्होंने उद्भट के आधार पर ही किया है। वे उपनागरिका आदि वृत्तियों को 'संघटना' के धर्मविशेषरूप माधुर्यादि गुणों से भिन्न नहीं मानते। इसीलिये काव्य में इनकी पृथक् सत्ता भी स्वीकृत नहीं की है।[2] आनन्दवर्धन ने कैशिकी आदि नाट्यवृत्तियों और परुषा आदि अनुप्रासजातियों का काव्य में उपयोग माना है। इनमें पहली रस के अनुगुण, और औचित्ययुक्त अर्थरूप है तथा दूसरी रस के अनुगुण शब्दरूप है। रस के अनुकूल शब्द का व्यवहार उपनागरिका आदि नाम से अभिहित है। उद्भट ने अनुप्रासजातियों को 'रसानुगुण-व्यवहार' कहा है इन्हीं को आनन्दवर्धन ने व्यापक रूप देते हुए 'रसानुगुण-शब्दव्यवहार' कहा है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक के उपर्युक्त प्रसङ्गों की व्याख्या के समय वृत्तियों के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातें दी हैं। उनका कथन है कि 'अनुप्रासभेदों के आश्रय होने के कारण ही वृत्तियों का यह नामकरण हुआ है। वृत्ति शब्द की व्युत्पत्ति यह है—'वर्तन्ते अनुप्रासभेद आसु इति वृत्तयः' अर्थात् इनमें अनुप्रास के भेद वर्तमान हैं, अतः इन्हें वृत्तियाँ कहते हैं। उद्भट द्वारा वर्णित वृत्तियों का स्वरूप-विवेचन भी इन्होंने बड़े विस्तार से किया है और ये रीति को वृत्ति के गुण से भिन्न नहीं मानते।[4] इनके अनुसार अनुप्रास के तीन प्रकार हैं—

१—**परुषानुप्रास**—जिसका प्रयोग दीप्त वस्तु के वर्णन के प्रसंग में किया जाता है। इस प्रकार परुषावृत्ति वीर, रौद्र तथा बीभत्स रसों के सर्वथा अनुकूल है तथा आरभटी के साथ इसका पूर्ण सामञ्जस्य है।

१—एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः, कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः॥
—काव्यालङ्कार, २।३२॥

२—वर्णसङ्घटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशितास्ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। ध्वन्यालोक पृ० ५।६।

३—रसाद्यनुगुणत्वेन, व्यवहारोऽर्थशब्दयोः॥
औचित्यवान् यस्ता एव, वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः॥ वहीं ३।३३॥

४—नैव वृत्तिरीतीनां गुणव्यतिरिक्तत्वं सिद्धम्। तथा हि अनुप्रासानामेव दीप्त-मसृण-मध्यमवर्णनीयोपयोगितया परुषत्व-ललितत्व-मध्यमत्वस्वरूप-विवेचनाय वर्गत्रयसम्पादनार्थं तिस्रोऽनुप्रासजातयो वृत्तय इत्युक्ताः। ध्वन्यालोक-लोचन पृ० ५।६।

२—**ललितानुप्रास**-उपनागरिकावृत्ति अथवा मसृण भी इसी को कहते हैं। इस का प्रयोग ललित विषय के वर्णन में किया जाता है।

३—**मध्यमानुप्रास**-ग्राम्या अथवा कोमलावृत्ति भी इसी को कहते हैं। इसका प्रयोग कोमल विषय के अवसर पर किया जाता है। उपनागरिकावृत्ति का प्रयोग शृङ्गार-रस में, परुषावृत्ति का रौद्रादि में और कोमलावृत्ति का हास्यादि में उचित माना गया है।[1]

अग्निपुराण में रुद्रट की उपर्युक्त पाँचों वृत्तियों का 'एकवर्णगतावृत्ति' के भेदों के रूप में यथावत् ग्रहण हुआ है।[2] तथा नाम-क्रम में भेद करते हुए लक्षण कथन में अधिक स्पष्टता की है। तदनुसार नाम और लक्षण निम्नलिखित हैं—

१—**मधुरा**-इसमें वर्ग के तृतीय और चतुर्थ वर्ण की आवृत्ति होती है। यदि संयुक्त अक्षरों का प्रयोग हो, तो वह नकार के साथ ही। तथा वर्ग्य-वर्णों की आवृत्ति पाँच बार से अधिक न हो। महाप्राण और ऊष्मवर्णों का संयोग इसमें नहीं करना चाहिये और लघु अक्षरों को उत्तरभाग में रखना चाहिये।

२—**ललिता**-अधिक बलवाले (महाप्राण) कठोर अक्षरों के प्रयोग वाली होती है।

३—**प्रौढा**-इसमें प-वर्ग और णवर्ग (टवर्ग ?) का प्रयोग होता है। तथा टवर्ग और अन्य वर्गों के पञ्चमाक्षर रेफ से संयुक्त नहीं होते हैं।

४—**भद्रा**-इसमें उपर्युक्त वर्णों से अवशिष्ट वर्ग प्रयुक्त होते हैं।

५—**परुषा**-इसमें स्वसम्बन्धी अक्षरों के साथ ऊष्मवर्णों का संयोग होता है। अकार को छोड़ कर शेष स्वरों की आवृत्ति की जाती है। अनुस्वार तथा विसर्ग के द्वारा निरन्तर पारुष्य लाया जाता है तथा रेफ और आकार से संयुक्त श-ष-स का प्रयोग होता है। परुषता लाने के लिये अन्तःस्थवर्णों से संयुक्त रेफ और हकार गुरुवर्ण, और वर्गों के आदिम अक्षर उपयुक्त हैं, पञ्चमवर्ण नहीं। निन्दा और शब्दानुवृत्ति में इसका प्रयोग उचित माना जाता है।

इन वृत्तियों के अतिरिक्त अग्निपुराण में पाँच वर्ग, अन्तःस्थ और ऊष्मवर्णों की

१—नागरिकोपमिताऽनुप्रासवृत्तिः शृङ्गारादौ विश्राम्यति। परुषा दीप्तेषु रौद्रादिषु। कोमला हास्यादौ। तथा 'वृत्तयः काव्यमातर' इति यदुक्तं मुनिना तत्र रसोचित एव चेष्टाविशेषो वृत्तिः। ध्वन्यालोक-लोचन ३ उद्योत पृ० २३२।

२—'एकवर्णगतावृत्तेर्जायन्ते पञ्चवृत्तयः' से 'क्षेपे निन्दानुकारे च' तक। अग्निपुराण—अध्याय ३४० पद्य १ से १० तक।

आवृत्ति के आधार पर पृथक्-पृथक् वृत्तियों का भी निर्देश किया गया है, जो इस प्रकार हैं- १-कर्णाटी, २-कौन्तली, ३-कौन्ती, ४-कौंकणी, ५-बामनासिका, ६-द्रावणी और ७-माधवी।[१] भोज ने भौगोलिक आधार पर वृत्तियों का नामकरण करते हुए इनकी संख्या बारह बतलाई है। जिनका विवेचन इस प्रकार है—

१—कर्णाटी	—	कवर्गानुप्रासवती
२—कौन्तली	—	चवर्गानुप्रासवती
३—कोंकी	—	टवर्गानुप्रासवती
४—कौंकणी	—	तवर्गानुप्रासवती
५—बाणवासिका	—	पवर्गानुप्रासवती
६—द्राविडी	—	अन्तःस्थानुप्रासवती
७—माधुरी	—	ऊष्मानुप्रासवती
८—मात्सी	—	द्वित्रिवर्गानुप्रासवती
९—मागधी	—	द्विवर्गमिश्रितैकवर्गानुप्रासवती
१०—ताम्रलिप्तिका	—	स्वान्त्यसंयोगिवर्गानुप्रासवती
११—औण्ड्री	—	सरूपसंयोगग्रथिता
१२—पौण्ड्री	—	असरूपसंयोगिग्रथिता

वृत्त्यनुप्रास के विषय में कतिपय निर्देश करते हुए भोज ने कहा है कि-'अकठोर अक्षरों का प्रयोग, अतिनिर्वाह के दुराग्रह का त्याग तथा अशैथिल्य वृत्त्यनुप्रास के रसिकों के लिये आवश्यक है, वर्णानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास में भेद यह है कि 'वृत्ति में आवृत्ति का निर्वाह निरन्तरता से होता है, जब कि वर्णानुप्रास में कादाचित्क आवृत्ति होती हैं।

इस प्रकार भोज ने वृत्तियों के विषय में अपना मत प्रस्तुत करने के पश्चात् अन्य आचार्यों द्वारा की गई वृत्ति की व्याख्या और भेदों की चर्चा की है। उनके अनुसार 'वर्णों का वर्तन-व्यवहार ही वृत्ति है। इस वर्ण-व्यवहार के तीन प्रकार हैं—१-संघटनबहुलता-समस्तासमस्तवर्णावृत्तिमूलक, २-विघटनबहुलता-असमस्तवर्णावृत्तिमूलक तथा ३-उभय-बहुलता-समस्तासमस्तवर्णावृत्तिमूलक। इनमें कादि स्पर्श, अन्तःस्थ और ऊष्मवर्णों का परस्पर प्रयोग संघटनबहुल और कोमलवर्णों का स्फुट प्रयोग विघटन-बहुल कहा जाता है। जब कि उभयबहुल में मिले-जुले वर्णों का प्रयोग अपेक्षित है। काव्यव्यापी सन्दर्भ को ही वृत्ति कहते हैं और इनमें 'सौकुमार्य, प्रौढि और मध्यमत्व' गुण रहना आवश्यक है। ये बारह

१—द्रष्टव्य वहीं-पद्य ११।

वृत्तियाँ अन्य आचार्यों द्वारा इस रूप में वर्णित हैं[1]—

१—**गम्भीरा**-प्रायः द-ध-प-फ-ब-भ अक्षरों के स्वसंयोग और बिन्दुयोगवाली ।

२—**ओजस्विनी**-प्रायः मूर्धन्य वर्णों में प्रथम, चतुर्थ और पञ्चमवर्णों की दो-तीन बार आवृत्तिवाली । (भोज ने इसका उदाहरण जैसा दिया है उससे लक्षण साम्य नही होता, वहाँ दन्त्यवर्णों का प्रयोग अधिक है ।

३-**प्रौढा**—प्रायः मूर्धन्य और अन्तःस्थ के संयोग से पूर्वाक्षरों के गुरुवर्णों की आवृत्ति-वाली ।

४-**मधुरा**—प्रायः अनुस्वार के कारण अग्रिम वर्ण का स्पर्श करने वाली ।

५-**निष्ठुरा**—प्रायः संयोगबहुल वर्णावृत्तिवाली ।

६-**श्लथा**—प्रायः असंयुक्त व्यञ्जनों की आवृत्तिवाली ।

७-**कठोरा**—प्रायः कण्ठ्य और रेफ के संयोग से युक्त वर्णावृत्तिवाली ।

८-**कोमला**—प्रायः रेफ और णकार आदि असंयुक्त कोमलवर्णावृत्तिवाली ।

९-**मिश्रा**—प्रायः ओष्ठ्य, मूर्धन्यादि कठोर वर्णों की आवृत्तिवाली ।

१०-**परुषा**—प्रायः ऊष्म और अन्तःस्थ वर्णों से संयुक्त वर्णावृत्ति वाली ।

११-**ललिता**—प्रायः दन्त्य, ओष्ठ्य् और तालव्य के मध्य में अन्तःस्थ वर्णों से संयुक्त वर्णावृत्तिवाली ।

१२-**अमिता**—प्रायः ककार् और लकार के बहुल प्रयोगवाली ।

इनमें रुद्रट की भद्रावृत्ति को छोड़कर शेष चार यथावद् गृहीत हैं और अग्निपुराण की भौगोलिक नामों के आधार पर निर्दिष्ट वृत्तियों में संक्षिप्त सुधार करके उन्हें पहले ही यथावद् ग्रहण कर लिया है । अतः अन्य आचार्यों की मान्यतावाली उपर्युक्त वृत्तियों का आधार भोज ने कहाँ से प्राप्त किया होगा ? यह प्रश्न स्वाभाविक है । इसका उत्तर हमें काव्यालङ्कार (रुद्रट) की वृत्ति-लक्षणात्मक आर्या की व्याख्या में नमिसाधु के विवेचन से प्राप्त होता है । उनका कथन है कि 'भद्रेति' पद में जो 'इति' कहा गया है, वह परिसमाप्ति

१—अन्ये पुनरन्यथा वृत्तिं व्याचक्षते—
स्पर्शादीनामसम्बन्धः सम्बन्धो वापि यो मिथः । स्फुटादिबन्धसंसिद्ध्यै, सेह वृत्तिर्निगद्यते ।।
काव्यव्यापी च सन्दर्भो, वृत्तिरित्य- भिधीयते । सौकुमार्यमथ प्रौढिर्मध्यमत्वं च तद्गुणाः ।।
गम्भीरौजस्विनी प्रौढा, मधुरा निष्ठुरा श्लथा । कठोरा कोमला मिश्रा, परुषा ललितामित्यै ।।
इति द्वादशधा भिन्ना, कविभिःपरिपठ्यते । कारणं पुनरुत्पत्तेस्त एवासां विजानते ।।
और टीका भाग उदाहरण ।।—सर० कण्ठा० पृ०२३९-२४२

के लिये है। ये ही पाँच वृत्तियाँ हैं 'न आठ हैं और न (उद्भट दर्शित) तीन।' आठ वृत्तियाँ 'हरि' नामक आचार्य ने कही हैं, वे इस प्रकार हैं—१. मधुरा, २. परुषा, ३. कोमला, ४. ओजिस्वनी, ५. निष्ठुरा, ६. ललिता, ७. गम्भीरा और ८. सामान्या।[1] इनमें 'ओजस्विनी, निष्ठुरा और गम्भीरा' में कोई विशेष भेद नहीं है, अतः इन्हें एक ही मानना उचित है। तथा वृत्तियों का मिश्रण ही सामान्यता है, इसलिये 'सामान्या' का पृथक् ग्रहण आवश्यक नहीं है। इस तरह आठ वृत्तियों का प्रत्याख्यान कर पाँच वृत्तियों की वास्तविकता सिद्ध की हैं। यद्यपि ये आचार्य हरि कौन थे? इसका कुछ पता नहीं मिलता तथा ये आलङ्कारिक थे या कवि? यह भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु भोज ने अवश्य ही इस वर्गीकरण से प्रेरणा ली होगी, यह स्पष्ट है, क्योंकि उनके द्वितीय वर्गीकरण में ये सभी वृत्तियाँ (सामान्या को छोड़कर) सङ्कलित हैं।

भोज ने इन वृत्तियों की विशद चर्चा और उदाहरण देकर भी अन्त में खण्डना कर दी है। वे इन वृत्तियों को सौकुमार्यादि गुणों से और भारती आदि वृत्तियों से पृथक् नहीं मानते। उनकी दृष्टि में इस वृत्ति के और भी भेद हो सकते थे, किन्तु उन्हें दुष्कर मानकर छोड़ दिया है।[2]

वृत्तियों का यह विस्तार दण्डी के 'मार्ग', वामन की 'रीति' और आनन्दवर्धनाचार्य की 'संघटना' शैली के रूप में विकसित होता हुआ मम्मट के यहाँ आकर एकता को प्राप्त हो गया है। मम्मट ने वृत्त्यनुप्रास का लक्षण 'एकस्याप्यसकृत्परः' दिया है। तदनुसार एक वर्ण का और अनेक वर्णों का आवृत्ति-साम्य होने पर दूसरा (वृत्यनुप्रास) होता है। इनकी दृष्टि में वृत्ति का अर्थ है—'नियत वर्णों में रहने वाला रसविषयक व्यापार।'[3] 'उपनागरिका, परुषा और कोमला' ये ही तीन वृत्तियाँ उद्भट के अनुसार मम्मट को अभिमत हैं। इनमें माधुर्य के प्रकाशक वर्णों से युक्त उपनागरिका, ओज के प्रकाशक वर्णों से युक्त परुषा तथा शेष वर्णों से युक्त कोमला-ग्राम्या है, जो वामन के अनुसार क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली रीतियाँ हैं।[4] इन वृत्तियों के रहने से 'वृत्त्यनुप्रास' होता है।

१—महुरं फरुसं कोमलमोजस्सिं निट्ठुरं च ललियं च।
गंभीरं सामण्णं च अट्ठभणिति उनायव्वा॥काव्यालङ्कार २।१९ की टीका

२—इति द्वादशधा वृत्तिः, कैश्चिद्या कथितेह सा। न गुणेभ्यो न वृत्तिभ्यः, पृथक्त्वेनावभासते॥
श्रुत्यनुप्रास-वर्णानुप्रासयोरपि दुष्कराः। क्वचिद् भेदाः पृथक्कर्तुमस्यास्तेनेह नेष्यते॥
सरस्वतीकण्ठाभरण। २।८७-८८।

३—वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः। काव्यप्रकाश पृ० ४०४।

४—केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः।९।८१॥
एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी-गौडी-पाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः। वहीं।

रुय्यक ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया है। किन्तु जयरथ ने अलङ्कारसर्वस्व की विमर्शिनी में 'वृत्त्यनुप्रास' के छः प्रकार दिखलाये हैं। जिसका हेतु रुय्यक के 'वृत्तिस्तु रसविषयो व्यापारः। तद्वती वर्णरचनैवेह वृत्तिः[1] में कथित 'वर्णरचना' है। यह वर्णों की रचना कभी सम्पूर्ण पद्य में समानरूप से आवृत्त होती है और कभी कहीं-कहीं पूरे पद्य में असमान रूप से आवृत्त होती है। अतः १-समस्ताक्षर और २-असमस्ताक्षर ऐसी प्रधानतः दो प्रकार की आवृत्तियाँ होती हैं। ये ही आवृत्तियाँ जब समस्तैकाक्षरा, असमस्तैकाक्षरा आदि रूप में होंगी तो इनके छः या इससे भी अधिक भेद हो जाएँगे। इसमें जो आवृत्तिगत नियमन का संकेत है, वह इसका विभेदक तत्त्व है। जयरथ ने इनके उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। यथा—

यया यायाव्यया यूयं, यो योऽयं येयया यया।
ययुयायि ययेयाय, ययेयायाय याययुक् ॥

यहाँ एक ही अक्षर की पूरे पद्य में आवृत्ति हुई है। अतः यह 'समस्तैकाक्षरावृत्ति-मूलक वृत्यनुप्रास' कहलायेगा।

जयरथ के अनुसार छः भेदों की सूची इस प्रकार है—

१-समस्तैकाक्षरावृत्तिशाली
२-असमस्तैकाक्षरावृत्तिशाली
३-समस्तद्व्यक्षरावृत्तिशाली
४-असमस्तद्व्यक्षरावृत्तिशाली
५-समस्तत्र्यक्षरावृत्तिशाली
६-असमस्तत्र्यक्षरावृत्तिशाली

इनके अतिरिक्त चार अक्षरों के नियमन से युक्त आवृत्तियाँ भी हो सकती हैं, किन्तु अन्य आचार्यों ने इस प्रकार की आवृत्तियों को स्वर-चित्र और व्यंजन-चित्र के भेदों में स्थान दिया है।

परवर्ती आचार्यों ने वृत्त्यनुप्रास की चर्चा में कोई नवीनता नहीं दिखलाई है तथा बहुतों ने इसका स्मरण भी नहीं किया है। मम्मट के अनन्तर वृत्ति और रीति में ऐक्य इतना बढ़ गया था कि पण्डितराज जगन्नाथ ने 'वैदर्भी' को वृत्ति के नाम से ही अभिहित किया।[2]

भोज के द्वारा वर्णित वर्गों के आधार पर वृत्तियों के पृथक्-पृथक् अनुप्रास को तथा जयरथ की समस्तासमस्त-अक्षरावृत्ति को लक्ष्य में रखकर उत्तरकाल में और भेदोपभेद किये गये हैं। वर्गानुसारी वृत्तियों का नामनिर्देश न कर केवल वर्गनाम से—कवर्गानुप्रास, चवर्गानुप्रास, टवर्गानुप्रास, तवर्गानुप्रास, पवर्गानुप्रास, अन्तःस्थानुप्रास, ऊष्मानुप्रास, यमकाभास-वृत्त्यनुप्रास आदि का विधान किया है। कहीं-कहीं वर्गहीनता को लक्षित कर अकवर्गानुप्रासादि और कहीं-कहीं दो-दो, तीन-तीन वर्गों का अथवा वर्गहीनों का अनुप्रास भी माना

१----अलङ्कार-सर्वस्व पृ० २५ मूल एवं विमर्शिनी द्रष्टव्य।

२----व्युत्पत्तिमुद्गिरन्ती निर्मातुर्या प्रसादयुता।
तां विबुधा वैदर्भीं वदन्ति वृत्तिं गृहीतपरिपाकाम् ॥ रसगङ्गाधर, १ आनन पृ० ७३।

गया है। इसी प्रकार अक्षरावृत्तियों में भी एक ही पद्य में एकाक्षर के अतिरिक्त प्रतिपादैकाक्षर अथवा श्लोकार्धैकाक्षर, अक्षरमाला, स्वरक्रम आदि भेदों के प्रदर्शन की भी प्रवृत्ति बढ़ी है।[1]

वृत्त्यनुप्रास वृत्तियों के आधार पर बना है। ये वृत्तियाँ भरत द्वारा 'कैशिकी, भारती, सात्वती और आरभटी' के रूप में प्रथम प्रस्तुत हुईं। तदनन्तर इन्हें ही उपयोगी मानकर आलङ्कारिकों ने काव्य में भी कुछ विशेषता के साथ स्वीकार किया। और जब अनुप्रास के रसानुकूल वर्ण-सन्निवेश को भी वृत्ति के नाम से अभिहित किया जाने लगा तब ये रीतियाँ भी इनमें ही अन्तर्हित हो गईं।

अतः इस अलङ्कार-प्रभेद को 'वृत्तिमूलक' अनुप्रासालङ्कार कहते हैं। वर्णों की आवृत्ति होने से 'वर्णावृत्तिमूलक' और रुय्यक के अनुसार 'शब्दपौनरुक्त्याश्रित' भी माना जाता है। साथ ही अनुप्रास का आधार गुण है, जो मुख्यतया १-माधुर्य, २-ओज, तथा ३-प्रसाद के रूप में तीन हैं, किसी-किसी आचार्य के मत में ये पाँच और दस भी माने गये हैं। वृत्तियाँ और रीतियाँ भीं गुणों से ही अनुप्राणित हैं। गुणों का सिद्धान्त भाषा-विज्ञान में वर्ण-विचार के स्वाभाविक नियमों से नियन्त्रित है। इनमें मधुर, कोमल, परुष, अल्पप्राण, महाप्राण आदि विभाग तथा रुद्रट के अनुसार 'समासवती वृत्ति' होने से वृत्तियों का समास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः हम यह कह सकते हैं कि यह अनुप्रासभेद अंशतः व्याकरण का 'समास-मूलक' अलंकार है।

५—छेकानुप्रास

इस अनुप्रास-भेद की उद्भावना सर्वप्रथम उद्भट ने की है। इसके नाम में प्रयुक्त 'छेक' शब्द से उनका तात्पर्य क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए लघुवृत्ति में कहा है कि—'छेकशब्देन कुलायाभिरतानां पक्षिणामभिधानम्, तेषां च कुलायाभिरतत्वादन्येन केनचिदनायास्यमानानामनेनानुप्रासेन सदृशी मधुरा वागुच्चरति।' 'इत्यादि। इसके अनुसार घोंसले में बैठे हुए पक्षी 'छेक' कहलाते हैं तथा वे जिस प्रकार बिना किसी कष्ट के सुखपूर्वक मधुर वाणी बोलते रहते हैं उसी प्रकार इस अनुप्रास में भी बिना किसी प्रयत्न के सरलता से स्वर और व्यञ्जनों की संयोजना से माधुर्य आ जाता है अतः इसे 'छेकानुप्रास' कहते हैं। छेक का अन्य अर्थ विदग्ध भी होता है, तदनुसार विदग्धजनों को प्रिय होने से भी इसे 'छेकानुप्रास' कहते हैं। उद्भट ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

१----'पद्यामृत-सरोवर' के कूटाख्यान में ऐसे अनुप्रासों का विवेचन है। जगद्धर की 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' में २२ वाँ कादिपदबन्धस्तोत्र, २५ वाँ रुचिरव्यञ्जनस्तोत्र, हरविजय-महाकाव्य के ४३ और ४५वें सर्ग में, एकाक्षर, द्व्यक्षर, तवर्गबन्ध, सप्तव्यञ्जनबन्ध, कप्फिणाभ्युदय में १८वाँ सर्ग, यादवाभ्युदय का छठा सर्ग तथा लक्ष्मीसहस्रकाव्य का २२वाँ चित्रस्तबक आदि ऐसे उदाहरणों के लिये द्रष्टव्य हैं।

छेकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयोः सुसदृशोक्तिकृतौ । काव्यालङ्कार ॥३।२॥पृ० ४

अर्थात् 'जहाँ दो-दो स्वर और व्यञ्जनों के समुदाय का समान उच्चारण हो, वहाँ 'छेकानुप्रास' होता है । इसका उदाहरण यह दिया है—

स देवो दिवसान् निन्ये, तस्मिन् शैलेन्द्रकन्दरे ।
गरिष्ठ-गोष्ठी-प्रथमैः, प्रमथैः पर्युपासितः ॥ वहीं पृ० ४

यहाँ 'देव-दिवस, इन्द्रकन्दर,गरिष्ठ- गोष्ठी तथा प्रथम-प्रमथ' आदि शब्दों में दो-दो स्वर और व्यञ्जनों के समुदाय का समान उच्चारण होने से 'छेकानुप्रास' है ।

उद्भट की इस उद्भूति को वामन, रुद्रट और अग्निपुराण में स्थान नहीं मिला है । भोज ने अनुप्रास के भेद कुछ अपने ही ढंग से किये हैं । यद्यपि वहाँ 'छेकानुप्रास' की तो कोई चर्चा नहीं है, तथापि उनके 'वर्णानुप्रास'[1] और उसके भेदों में यह अनुप्रास-भेद अन्तर्हित हो जाता है । मम्मट ने पुनः इस 'अनुप्रास' की चर्चा की है । वे अपने द्वारा किये गये 'वर्णानुप्रास और पदानुप्रास' रूप दो भेदों में 'छेकानुप्रास' को वर्णानुप्रास का भेद मानते हैं किन्तु इनके लक्षण में कोई नवीनता नहीं आई है । रुय्यक, शोभाकर, जयदेव आदि ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया है । विद्याधर ने उद्भट के लक्षण से कुछ नवीनता देते हुए कहा है कि—'जिससे संख्यानियम रहते हुए व्यञ्जन-समुदायाश्रित शब्द का पौनरुक्त्य हो, वह 'छेकानुप्रास' कहलाता है ।[2] किन्तु इसके टीकाकार मल्लिनाथ ने पौनरुक्त्यमूलक पाँच शब्दालङ्कारों का वर्गीकरण करते हुए 'छेकानुप्रास' की परिभाषा इस प्रकार दी है—'अव्यवधानेनासकृद्व्यञ्जनद्वयपौनरुक्त्याश्रितश्छेकानुप्रासः'[3] इस कथन से विद्याधर और मल्लिनाथ के विचारों में थोड़ा अन्तर आ गया है । विद्याधर व्यञ्जनद्वय और संख्यानियम चाहते हैं, जबकि मल्लिनाथ उद्भट के लक्षण से अधिक निकटता रखते हैं ।

विश्वनाथ ने छेकानुप्रास के लक्षणों में व्यञ्जनसंघ के साम्य को अनेकधा कहकर 'स्वरूपतः और क्रमशः' ऐसे दो भेदों का संकेत दिया है ।[4] वहीं टिप्पणी में म० म० दुर्गाप्रसादजी ने कहा है कि 'यह अनुप्रास सजातीय अव्यवहित दो-तीन आदि वर्णों

१—इस अनुप्रास के भेदों की चर्चा स्वतन्त्ररूप से अगले पृष्ठों में करेंगे ।

२—शब्दस्य पौनरुक्त्यं व्यञ्जनसमुदायमाश्रितं यस्मात् ।
स च्छेकानुप्रासः संख्यानियमे समुल्लसति ॥ एकावली ७।३ ॥

३—वहीं, टीकाभाग ।

४—छेको व्यञ्जनसङ्घस्य, सकृत्साम्यमनेकधा ॥ साहित्यदर्पण १०।३ ॥
अनेकधेति स्वरूपतः क्रमतश्च ।

के आवर्तन में भी होता है—ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।,[1] विद्यानाथ ने इस विषय में अधिक विवेचन नहीं दिया है। भानुकर ने छेकानुप्रास का 'पदान्तछेक' नामक भेद किया है जिसमें चरण के अन्तिम अक्षर की आवृत्ति होती है। वहीं यह भी बतलाया है कि—विभक्ति भेद और वचनभेद के रहने पर इसी पदान्तछेक को 'भंग्यनुप्रास' कहेंगे।[2] नरेन्द्रप्रभसूरि छेकानुप्रास के चार भेद बतलाते हैं—१-क्रमशाली, २-विपर्यस्त, ३-वेणिका और ४-गर्भिता। ये भेद भोज के वर्णानुप्रास के भेदों में आये हुए गर्भ, क्रमवान्, विपर्यय और वेणिका ही हैं तथा इनके उदाहरण भी भोज प्रदर्शित ही दिये हैं। पुञ्जराज ने अनुप्रास के आवर्तन के आधार पर स्वतन्त्ररूप से नौ भेद किये हैं। जिनमें नवम संकीर्णानुप्रास में छेकानुप्रास का समावेश किया है। गोस्वामी कर्णपूर, श्रीकृष्ण-ब्रह्मतन्त्रपरकाल, कृष्णकवि, नरसिंहसूरि, धर्मसूरि तथा कृष्णकविसुधी ने छेकानुप्रास को अनुप्रास के भेदों में स्थान अवश्य दिया है किन्तु इसका विशेष विश्लेषण न करने से कोई नवीनता नहीं आ पाई है।

छेकानुप्रास में आवृत्तिवाले वर्ण आदि या अन्त कहीं के भी हो सकते हैं। इस प्रकार इसके चार रूप हो सकेंगे—

(क) आदि के एक वर्ण की एक या कई बार आवृत्ति।
(ख) आदि के अनेक वर्णों की एक या कई बार आवृत्ति।
(ग) अन्त के एक वर्ण की एक या कई बार आवृत्ति।
(घ) अन्त के अनेक वर्णों की एक या कई बार आवृत्ति।

इनमें भी स्वरसाम्य और स्वर-वैषम्य के आधार पर प्रत्येक के दो-दो रूप और हो जाएँगे, और इस प्रकार छेकानुप्रास के कुल आठ भेद हो सकेंगे।

६ —वर्णानुप्रास

भोज ने अनुप्रास के छः भेदों में 'वर्णानुप्रास' को तृतीय भेद मानकर इसके बारह उपभेद किये हैं। इस अनुप्रास-भेद का लक्षण भोज ने इस प्रकार दिया है—'जैसे किसी माला अथवा वस्त्र में सजातीय पुष्पों और तन्तुओं के बीच विजातीय रंगवाले अन्य पुष्पों और तन्तुओं का समावेश रहता है, वैसे ही सजातीय वर्णों में विजातीय वर्णों का समावेश-विन्यास 'वर्णानुप्रास' कहलाता है।[3]

१—अयमनुप्रासः सजातीयाव्यवहितद्वित्रादिवर्णानामप्यावर्तने सम्भवति। तथा चोक्तम्—
सजातीयाव्यवहितवर्णा द्वित्रादयो यदि। आवर्तन्ते तदा केचिच्छेकानुप्रासमूचिरे॥
मन्दारमरन्दचम्पू, साहित्यदर्पण टिप्पणी पृ० ४७५।

२—द्रष्टव्य—अलङ्कार-तिलक—भानुकर का 'शब्दालङ्कार निरूपण'।

३—यथाम्रातकपुष्पादि-स्रगादेर्वर्ण उच्यते।
वर्णावृत्तिस्तथा वाचां, वर्णानुप्रास उच्यते॥ सरस्वतीकण्ठाभरण २।८६॥

इस वर्णानुप्रास के बारह भेद होते हैं, जिनके लक्षण और उदाहरणों का विश्लेषण इस प्रकार है—

१—**स्तबकवान्**-इसमें गुच्छ में ग्रथित पुष्पों के समान स्थान-स्थान पर अनुप्रास का विन्यास रहता है। यथा—'यस्यावासीकृतहिमगिरिर्गुञ्जतां कुञ्जराणाम्' इत्यादि पद्य में 'गुञ्जतां कुञ्जराणाम्' आदि वर्णों का विन्यास हुआ है।

२—**स्थानी**-इसमें श्लोक के चरणों में प्रथम, द्वितीय आदि भाग की कल्पना के आधार पर 'स्थान-नियम-विवक्षा' से वर्णावृत्ति होती है। यथा—'बाले माले-यमुच्चैर्न भवति गगनव्यापिनी नीरदानाम्' इत्यादि पद्य में' 'बाले माले' आदि की नियमतः आवृत्ति हुई है।

३—**गर्भ**-इसमें आवृत्त वर्णों के बीच में अन्य वर्णों का जो व्यवधान रहता है, वह गर्भ-रूप में निहित होने से 'गर्भ' कहलाता है। यथा—'कालं कपाल-मालाङ्कमेकमन्धक-सूदनम्' इत्यादि पद्य में 'काल-कपाल' के बीच में पकार का गर्भरूप में निधान हुआ है।

४—**विवृत-संवृत**-इसमें आवृत्त वर्णों का स्थान-स्थान पर विकास और संकोच रहता है, जिसमें 'पूर्णविकास, कुछ संकोच, कुछ विकास और सर्वथा संकोच' यह क्रम अपनाया जाता है। यह क्रम वर्ण-विन्यास में शोभाधायक होने से उक्त नाम द्वारा सम्बोधित किया गया है। यथा—

न मालतीदाम विमर्दयोग्यं, न प्रेम नव्यं सहतेऽपराधान्।
म्लानाऽपि न म्लायति केसरस्रग् देवी न खण्डप्रणया कथञ्चित्॥

'इस पद्य के प्रथम चरण में मकार की आवृत्ति का विकास है किन्तु द्वितीय चरण में मकार का एक बार ही प्रयोग होने से कुछ संकोच हुआ है। तृतीय चरण में नकार और सकार की आवृत्ति का विकास है जबकि चतुर्थ चरण में नकार का एक ही बार प्रयोग होने से संकोच हुआ है।

५—**गृहीत-मुक्त**—इसमें चक्रवाल के क्रम से वर्णों का ग्रहण और त्याग होता है। यथा—'लोलल्लवङ्गलवलीवलया-निकुञ्ज-कूजत्' 'इत्यादि पद्य के 'वलीवल', 'कुञ्जकूजत्' आदि में वर्णों का ग्रहण और त्याग हुआ है।

६—**क्रमवान्**—इसमें दो-तान अथवा तीन-चार वर्णों की आवृत्ति स्वर-संयुक्त अथवा स्वर-संयोग से रहित होती है, किन्तु क्रम का लोप नहीं होता। यथा—

नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता, वधूर्विधातृप्रतिमेव तेन ।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा, लज्जावती लाजविमोकमग्नौ ।।

यहाँ 'गुर्वीगुरुणो' और 'वधूर्विधातृ' में दो-दो व्यञ्जनों की तथा चकार चकोर' एवं 'लज्जावती लाजविमोक' मेंतीन-तीन व्यञ्जनों की आवृत्ति है ।

७—विपर्यय—इसमें क्रमशाली वर्णों का व्युत्क्रम से विन्यास रहता है । यथा— 'प्रणवः प्रवणो यत्र' इत्यादि पद्य में 'प्रणव' का व्युत्क्रम' 'प्रवण' के रूप में हुआ है ।

८—सम्पुट—इसमें अपने पद से पूर्ववर्ती वर्ण की स्वर के साथ आवृत्ति अपेक्षित है । यथा 'स्थिरापायः कायः' इत्यादि पद्य के' 'पायः कायः' वर्णों में 'आयः' की आवृत्ति हुई है ।

६—मिथुन—इसमें वृत्तौचित्य के आधार पर चरण के दो खण्डों में प्रथम खण्ड के उपसंहार और द्वितीय खण्ड के उपक्रम में वर्ण की सस्वर आवृत्ति होती है । यथा—' त्यज मनसि सदाहे हे स्मर ! स्थानमस्मिन्' इत्यादि पद्य में, 'हे' की आवृत्ति हुई है ।

१०—वेणिका—इसमें वाक्य की परिसमाप्ति तक वर्णानुप्रास का निर्वाह होता है । यथा-'विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले' इत्यादि पद्य में विभिन्न वर्णों की आवृत्ति का निर्वहण हुआ है ।

११—चित्र—इसमें उपयुंक्त वर्णानुप्रास के भेदों का समावेश नहीं होते हुए एक नवीन ही प्रकार का आलम्बन लिया जाता है । यथा—

'नीते निर्व्याजदीर्घा मघवति मघवद्वज्रनिद्रानिदाने,
निद्रा द्रागेव देवद्विषि मुषितरुषः संस्मरन्त्याः स्वभावम् ।
देव्या दृग्भ्यस्तिसृभ्यस्त्रय इव गलिता राशयो रक्तताया,
रक्षन्तु त्वां त्रिशूलक्षतिकुहरभुवो लोहिताम्भ्यः समुद्राः ।।

यहाँ स्थान-स्थान पर स्तबक की विवक्षा न होने से 'स्तबकवान्' नही है,विभाग का परिहरण होने से 'स्थानी' नहीं है, वर्णव्यवधान का अभाव होने से 'गर्भ' और संकोच-विकास का अभाव होने से 'विवृत-संवृत' भी नहीं है । चक्रवालक्रम के अभाव में 'गृहीत-मुक्त' तथा 'क्रमविपर्यस्त' के न होने से 'विपर्यय' भी नहीं है । इसी प्रकार उपसंहार और उपक्रमगत आवृत्ति का अभाव रहने से 'मिथुन' और 'वाक्य परिसमाप्ति तक वर्णानुप्रास के निर्वाह' की न्यूनता रहने से 'वेणिका' भी नहीं कहा जा सकता । अतः उक्त

अन्य लक्षणों की अपेक्षा नवीनता आने से इसे 'चित्र' कहा गया है।

१२—**विचित्र**—इसमें एक वर्णावृत्तिशाली वृत्त्यनुप्रास के समान वर्णावृत्ति रहने पर भी बीच-बीच में विभिन्नजातीय वर्णों की आवृत्ति भी रहती है। यथा—

चञ्चत्काञ्चनकाञ्चयो लयवलच्चोलाञ्चलैर्वञ्चिता—
श्चारीसञ्चरणैकचारुचरणाः सिञ्चन्ति चित्तं मम।
लीला चञ्चुरचञ्चरीकरुचिभिश्चूलालकैश्चर्चिताः,
किञ्चिच्चन्दनचन्द्रचम्पकरुचां चौर्यो मृगीलोचनाः॥

यहाँ सन्दर्भ समाप्ति तक चकार की आवृत्ति होने पर भी बीच-बीच में ककार, लकारादि अनुप्रासजनक वर्णों की आवृत्ति हुई है, जो वृत्त्यनुप्रास की अपेक्षा नवीन है।

भोज ने उपर्युक्त अन्तिम 'चित्र' और 'विचित्र' नामक वर्णानुप्रास के लक्षणों को अन्य विद्वान् दूसरे प्रकार से मानते हैं, ऐसा कहकर दो उदाहरण और प्रदर्शित किये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(क) **चित्र**—इसमें विभिन्नार्थों की एकरूपता, स्थान-विभाग का आलम्बन और व्यपेत-अव्यपेतभाव के कारण यमक की छाया रहती है। अतः यह 'यमकच्छायानुकारी' कहलाता है। यथा—'सर्वाशारुधि दग्धवीरुधि सदा सारङ्गबद्धक्रुधि' इत्यादि पद्य में पाद के तीन भागों में 'धि' प्रभृति वर्णों की व्यपेतरूप से आवृत्ति हुई है। इसी प्रकार अव्यपेत का उदाहरण भी ढूँढा जा सकता है। यहाँ वर्णानुप्रास उत्कट नहीं है।

(ख) **विचित्र**—इसमें पूर्वोक्त यमकच्छाया के साथ ही वर्णानुप्रास उत्कट रूप से प्रयुक्त होता है। यथा—'उद्यद्बर्हिषि दर्दुरारवपुषि प्रक्षीण-पान्थायुषि' इत्यादि पद्य के दो चरणों में 'षि' वर्ण की छः बार आवृत्ति हुई है और तृतीय तथा चतुर्थ चरणों में अन्य वर्णों की आवृत्ति करते हुए अन्त में पुनः 'वि' वर्ण की आवृत्ति हुई है।

भोज द्वारा प्रदत्त 'वर्णानुप्रास' नाम का आधार अनेक आलङ्कारिकों ने लिया है, किन्तु उनका आशय वहाँ 'वर्ण, पद और वाक्य गत तीन भेदों में से प्रथम 'वर्ण' मात्र रहा है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में 'छेकानुप्रास' और 'वृत्त्यनुप्रास' ये दोनों वर्णानुप्रास

के भेद माने गये हैं। अलङ्कारमहोदधिकार नरेन्द्रप्रभ ने भोज प्रदर्शित वर्णानुप्रास के भेदों में क्रमशः छः, सात, दस और तीन संख्यक भेदों को छेकानुप्रास का भेद दिखलाते हुए सामान्य नामभेद अवश्य किया है किन्तु उदाहरणों में कोई भेद नहीं ला पाये हैं। इसी प्रकार भोज द्वारा वर्णित वर्णानुप्रास के अन्य भेदों के उदाहरणों में नरेन्द्रप्रभ ने 'विवृत-संवृत' के उदाहरण को 'उपनागरिका' तथा 'गृहीतमुक्त' के उदाहरणों को 'कोमला' वृत्ति के भेदों में स्थान दिया है। तथा वृत्ति के 'उपनागरिका, परुषा और कोमला' ऐसे तीन भेद मानकर प्रत्येक के दो-दो भेद और माने हैं। जिनमें प्रथम उपनागरिका के दो भेद 'चित्र' और 'विचित्र' बतलाकर भोज द्वारा वर्णित अन्य विद्वानों के अभिमत यमकच्छायानुकारी (चित्र) तथा अनुप्रासान्तर प्रवेशशाली (विचित्र) के उन्हीं उदाहरणों को पुरस्कृत किया है। तथा प्रकारान्तर से भी 'विचित्र' माना जाता है यह कहकर भोज के मूल उदाहरण को दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि नरेन्द्रप्रभ भोज के वर्णानुप्रास के आठभेदों को आत्मसात् करते हुए भी चार को छेकानुप्रास में और चार को वृत्त्यनुप्रास में स्थान देते हैं।[1]

भोज ने वर्णानुप्रास की पूर्ति करते हुए पुष्पिका के रूप में कहा है कि—'वर्णों की आवृत्ति से वर्णानुप्रास होता है, यह जो लक्षण किया था उसे बारह प्रकार के भेदों में विभक्त करके यह दिखलाया है।'[2] इस पद्य की टीका में टीकाकार रामसिंह का कथन है कि—'ये शुद्धवर्णावृत्ति के छत्तीस प्रकार दिखलाये गए हैं' और उसकी पुष्टि में 'द्वादशधा' पद में वीप्सा अर्थात् 'द्वादशधा द्वादशधा द्वादशधा' इस प्रकार की आवृत्ति माननी चाहिये जिससे कुल छत्तीस प्रकार बन जाते हैं, यह कहा है। इस कथन से यह ज्ञात होता है कि 'वर्णानुप्रास' के उक्त बारह भेद तथा पूर्वोक्त वृत्त्यनुप्रास के चौबीस भेद दोनों मिलकर छत्तीस भेद होते हैं। अतः वर्णानुप्रास भी वृत्त्यनुप्रास का ही एक स्वतन्त्र भेद

१—अलङ्कारमहोदधि के सातवें तरङ्ग के निम्न लक्षण दर्शनीय हैं :—

यत्रावृत्तिरनेकस्य, वर्णस्य सकृदीक्ष्यते। स च्छेकानामनुप्रासश्चतस्रस्तद्भिदास्त्विमाः॥
क्रमशाली विपर्यस्तो, वेणिकागर्भितस्तथा। क्रमशाली क्रमोपेतो विपर्यस्तः क्रमात्ययी॥
आवाक्यान्तर्गतानेकवर्णावृत्तिस्तु वेणिका। गर्भितस्त्वपरो वर्णस्तोमो यत्रान्यगर्भितः॥
उपनागरिकादीनां वृत्तीनामनुरोधतः। त्रैविध्यजुषि वर्णानामेकतानैकतावताम्॥
यस्मिन्नसकृदावृत्तिर्दृश्यते तं विपश्चितः। वृत्त्यनुप्रासमिच्छन्ति त्रिविधोऽपि द्विधा च सः॥
चित्रो विचित्रश्च तयोराद्यो यमकसन्निभः। द्वितीयस्त्वाद्य एवानुप्रासान्तरतरङ्गितः॥
आवृत्तेरेकवर्णा या, वाक्यव्यापकताजुषः। यद्वर्णान्तरवैचित्र्यं तं विचित्रं वदन्ति वा॥

२—वर्णावृत्तिरनुप्रास, इति यः कृतलक्षणः।
सोऽयं द्वादशधा भेदैः, प्रविभज्य प्रदर्शितः॥ सरस्वतीकण्ठाभरण, २-९२॥

है । इस प्रकार अलङ्कारमहोदधिकार नरेन्द्रप्रभ द्वारा भोज प्रदर्शित वर्णानुप्रास के कतिपय भेदों को वृत्त्युनुप्रास में ग्रहण करने का हेतु भी सम्भवतः यही हो सकता है ।

यद्यपि वर्णानुप्रास के नाम से सूक्ष्म-विवेचन-पूर्वक किया गया यह विवेचन भोज के पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों में स्वीकृत नहीं हुआ है, तथापि इसमें उनकी मौलिक सूझ अवश्य है, इससे मुँह नहीं मोड़ा जा सकता ।

७ —पदानुप्रास

भोज ने अनुप्रास के छः भेदों में चौथा भेद 'पदानुप्रास' को बतलाकर इसके बारह उपभेद किये हैं। इस अनुप्रास भेद का लक्षण भोज ने इस प्रकार दिया है—'समग्र अथवा असमग्र पद की जिसमें आवृत्ति हो, वह प्रायः पदाश्रयी होने के कारण 'पदानुप्रास' कहलाता है ।'[१] इस दृष्टि से पद अथवा पदावयव की आवृत्ति होने पर यह अनुप्रास होता है ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यह आवृत्ति यदि एकार्थक पदों की होती है, तो वहाँ 'पुनरुक्ति' होगी और यदि भिन्नार्थक पदों की आवृत्ति होती है, तो वहाँ 'यमक' होगा । अतः यह पदानुप्रास पृथक् क्यों माना गया है ? इसका उत्तर भोज ने यह दिया है कि 'विसर्ग, बिन्दु, संयोग, स्वर और स्थान की विवक्षा से यमक का पूर्णतः निर्वाह न हो सकने के कारण इस 'पादानुप्रास' को पृथक् माना गया है ।'[२] इसके बारह भेदों का विश्लेषण इस प्रकार हे :—

१—मसृण—इसमें असंयुक्त वर्णवाले पदों की आवृत्ति होती है । यथा—'सरणे वारणास्यस्य' इत्यादि पद्य में 'रणे रणा' आदि पदों की आवृत्ति स्फुटरूप से हुई है ।

२—दन्तुर—इसमें संयुक्त वर्णवाले पदों की आवृत्ति होती है । यथा—'स नैषधस्याधिपतेः सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः' इत्यादि पद्य में 'निषिद्धशत्रुः' इत्यादि संयुक्त वर्णवाले पदों की आवृत्ति हुई है ।

३—श्लक्ष्ण—इसमें स्वर के साथ आवृत्ति होती है । यथा—'अप्येहि कान्ते वैदेहि

१—समग्रमसमग्रं वा यस्मिन्नावर्तते पदम् ।
पदाश्रयेण स प्रायः, पदानुप्रास उच्यते ॥ सरस्वतीकण्ठाभरण. २।९३ ॥

२—विसर्ग-बिन्दु-संयोग-स्वरस्थानविवक्षया ।
अनिर्वाहाच्च स प्रायो, यमकेभ्यो विभिद्यते ॥ वहीं २।९४ ॥

देहि प्रतिवचो मम' इत्यादि पद्य में 'प्येहि वैदेहि देहि' में सस्वर आवृत्ति हुई है।

४—**सम्पुट**—इसमें सम्पुट के समान एक रूप खण्ड की ही निरन्तर आवृत्ति होती है। यथा—'सदर्प इव कन्दर्पस्तरला' इत्यादि पद्य में इव शब्द को मध्य में रख कर सदर्प और कन्दर्प का सम्पुट दिया गया है।

५—**सम्पुटावली**—इसमें उपर्युक्त प्रकार के एकाधिक सम्पुटों का प्रयोग होता है। यथा—

करोति किं किरातोऽयं, समाकृष्य शिलीमुखान्।
शिलीमुखान् समाकृष्य, किङ्किरातः करोति यत्॥

यहाँ 'करोति करोति' से एक सम्पुट बनता है। 'किं किरातः किंकिरातः' से दूसरा, 'समाकृष्य समाकृष्य' से तीसरा तथा 'शिलीमुखान् शिलीमुखान्' से चौथा सम्पुट बनता है। अथवा सर्वप्रथम मध्य में 'शिलीमुखान् शिलीमुखान्' से पहला सम्पुट, फिर इसके बाहर आवरण के रूप में 'समाकृष्य समाकृष्य' से दूसरा सम्पुट, इसके बाहर पुनः 'किंकिरातः किंकिरातः' से तीसरा सम्पुट और इससे भी बाहर 'करोति करोति' पदों से चौथा सम्पुट बनता है और यहाँ समग्र पद की आवृत्ति हुई है।

६—**खिन्न**—इसमें किसी एक रीति का निर्वाह न होने से खिन्नता बनी रहती है। यथा—

कुलजातिसमाकुलीकृतानां, सुखदसुखाशयमूढचेतनानाम्।
अभवविभवलाभलोलुभानां, भव भवबन्धविभेदनाय भूयः॥

यहाँ प्रथम चरण में 'कुल' इस अविवक्षित स्वरादि-युगल की आवृत्ति चार अक्षरों के व्यवधान से 'कुली' के रूप में हुई है। द्वितीय और तृतीय चरणों में 'सुखदाता' और 'अभवविभव' में एक-एक वर्ण के व्यवधान से आवृत्ति हुई है। तथा चौथे चरण में 'भव भव' दोनों पदों को व्यवधान-रहित कह देने से रीति भंग हो गई है। इस प्रकार रीतिनिर्वाह न होने से यहाँ 'खिन्न' नामक पदानुप्रास माना गया है।

७—**स्तबकवान्**—इसमें वर्णानुप्रास के समान ही स्थान-स्थान पर पदनिवेश होता है। यथा—'भासयत्यपि भाषादौ' इत्यादि पद में भास, भाषा आदि का स्थान स्थान पर निवेश किया गया है।

८—**स्थानी**—इसमें आवृत्तपद के वर्णों का स्थान-नियमन रहता है। यथा—'परं जोण्हा उण्हा' आदि पदों के वर्णों की आवृत्ति स्थान-नियमन से हुई है।

९—**मिथुन**—इसमें स्वरभाग की विवक्षा रहते हुए दो व्यंजनों की आवृत्ति प्रति-चरण में दो-दो पदों के अनुप्रास-विन्यास से होती है। यथा—'पुरः पारा-पारातटभुवि' इत्यादि पद्य में 'पारा पारा' आदि पदों की क्रम से चार चरणों में आवृत्ति हुई है।

१०—**मिथुनावली**—इसमें व्यञ्जनावृत्तिवाले पदों का अनेक बार विन्यास होता है। यथा—'शिरसि शरभः क्रोडे क्रोडः करी करटे रटन्' इत्यादि पद्य में शिर-शर, क्रोड-क्रोड, करी-कर' इत्यादि पदों का निरन्तर विन्यास हुआ है।

११—**गृहीतमुक्त**—इसमें चक्रवाल के समान पदों का ग्रहण और त्याग होते हुए अनुप्रास-विन्यास होता है। यथा—पुंन्नागनागकेसर-केसरपरिवासनासुरभिः' 'इत्यादि पद्य में 'पुंन्नाग—नागकेसर' आदि पदों में 'पुं' का त्याग तथा केसर का ग्रहण करते हुए 'नाग-नाग' पदों का विन्यास हुआ है।

१२—**पुनरुक्तिमान्**—इसमें आवृत्तपद पुनरुक्ति के समान प्रतीत होते हैं। यथा—'धूमार धूम कलुषे' इत्यादि पद्य में 'धूम-धूम' पद पुनरुक्ति के समान प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त पदानुप्रासों में पदों की आवृत्ति को महत्त्व दिया गया है और भोज ने अनुप्रास के लक्षण में वर्णों की आवृत्ति को ही अनुप्रास कहा है, ऐसी स्थिति में पदानुप्रास मानने पर पूर्वोक्त लक्षण में विरोध न जाने पाये तदर्थ स्पष्टीकरण दिया है कि—'समुदाय की आवृत्ति भी वर्णों की ही आवृत्ति है, क्योंकि वर्णों के अतिरिक्त समुदाय हो ही नहीं सकता। इसमें विशेषता यह है कि वह पदादि की निकटता पूर्वानुभव के संस्कारों को उद्बुद्ध करने वाली हो।[1]

पदानुप्रास के सम्बन्ध में भोज का यह भी कथन है कि 'लाटानुप्रास-वर्ग के जितने प्रकार उपलक्षित होते हैं, उतने ही प्रकार पदानुप्रास के भी मानने चाहिये।[2] इसदृष्टि से इस पदानुप्रास के यमक के समान अनेक भेद हो सकते हैं। यह भेद भी आचार्यों द्वारा स्वीकृत नहीं हो पाया है। पूर्वाचार्यों ने अनुप्रास के वर्णगत, पदगत, और वाक्यगत ऐसे तीन भेद अवश्य किये हैं किन्तु भोज की दृष्टि में यह विभाजन अपने ढंग का अनूठा है।

१—वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च। पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता ॥ २।९७ ।

२—लाटानुप्रासवर्गस्य, यावद् वा लक्ष्यते गतिः।
पदानुप्रासवर्गेऽपि, तावदेव प्रपञ्च्यते ॥ सरस्वतीकण्ठाभरण २-९८ ॥

८ —नामद्विरुक्त्यनुप्रास

भोज ने 'नामद्विरुक्त्यनुप्रास' को अनुप्रास के भेदों में पाँचवा स्थान देते हुए इसका लक्षण दिया है कि 'जहाँ स्वभाव, गौणीवृत्ति, वीप्सा, आभीक्ष्ण्य, निमूल-शब्द-प्रयोग अथवा सम्भ्रम के आधार पर वाक्य में नाम की द्विरुक्ति होती है, वहाँ उसी नाम का यह अनुप्रास होता है।'[1] तथा इसी लक्षण को परिष्कृत करते हुए वहीं टीकाकार रामसिंह ने इस अनुप्रास भेद की आवश्यकता इस रूप में व्यक्त की है—'यद्यपि पदानुप्रासादि पूर्वोक्त भेदों में 'नामद्विरुक्ति' की अतिव्याप्ति हो जाती है, तथापि यह 'नामद्विरुक्ति' अर्थ की अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखने के कारण स्वतन्त्ररूप से कही गई है, जब कि पदानुप्रास में अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं रहता।'[2] उदाहरण के लिये जैसे—'वैदेहि देहि' इस वाक्य में देहि पद की द्विरुक्ति तो है पर इसकी द्विरुक्ति से अर्थों का कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु 'नामद्विरुक्ति' में अर्थ का सम्बन्ध सर्वथा अपेक्षित रहता है। जैसे—'शैले शैले न माणिक्यं' में शल शब्द की द्विरुक्ति अर्थ से भी सम्बन्ध रखती है।

यह 'नामद्विरुक्ति' जिस अर्थ पर निर्भर रहती है वह अर्थ दो प्रकार से प्राप्त होता है। १—जिस नाम की द्विरुक्ति होती है उसी शब्द का अर्थ, जो मुख्यार्थ अथवा गौणार्थरूप में हो तथा २—जिस नाम की द्विरुक्ति है उसके अर्थ से बहिर्भूत किसी अन्य तत्त्व-'वीप्सा, आभीक्ष्ण्य, सम्भ्रम' आदि—पर निर्भर रहने वाला अर्थ। इस प्रकार पहला अर्थ स्वभावतः और गौणीवृत्ति से प्राप्त होने के कारण दो प्रकार का होता है तथा दूसरा अर्थ वाप्सा, आभीक्ष्ण्य आदि से प्राप्त होने के कारण अनेक प्रकार का होता है। साथ ही इस नामद्विरुक्ति का यह दो प्रकार का विभाजन एक अन्य दृष्टिकोण से भी किया गया है। यथा—जिस नाम की द्विरुक्ति हो, वह नाम पहले से ही निष्पन्न रहता है। जैसे—'अमृतममृतम्' में सम्पूर्ण रूप से सिद्ध अमृतशब्द की द्विरुक्ति हुई है, अतः यह 'निष्पन्न नाम' की द्विरुक्ति है। तथा इसके विपरीत 'पायं पायं' में जो 'पायं' इस भाग की द्विरुक्ति है, वह सिद्ध शब्द की द्विरुक्ति नहीं है अपितु इस पूरे शब्द की द्विरुक्ति 'पायं' इस भाग की द्विरुक्ति पर ही निर्भर है। अतः यह द्विरुक्ति 'नामशरीर-सम्पादिका'—द्विरुक्ति हो जाने के पश्चात् शब्द का निर्माण करने वाली है। इस प्रकार एक 'पूर्वसिद्ध-नामद्विरुक्ति' है और दूसरी 'नामशरीरसम्पादिका द्विरुक्ति' है।

१—स्वभावतश्च गौण्या च, वीप्साभीक्ष्ण्यादिभिश्च वा।
नाम्नां द्विरुक्तिभिर्वाक्ये, तदनुप्रास उच्यते ॥स० क० २-६६॥

२—उपर्युक्त लक्षण-पद्य में 'वा' के स्थान पर 'सा' तथा 'नाम्नां' के स्थान पर 'नाम्ना' ऐसा पाठ मूल में दिया गया है, जो अर्थ की दृष्टि से उचित प्रतीत न होने के कारण सुधारा गया है। द्रष्टव्य, निर्णयसागरीय संस्करण पृ० २५३

इस अनुप्रास के निम्नलिखित तीन भेद होते हैं—

१—स्वभावतः नामद्विरुक्ति-अनुप्रास :—इसमें अर्थ के कारण स्वभावतः द्विरुक्ति होती है यथा—'कुर्वन्तोऽमी कलकलं' इत्यादि पद्य में 'कलकलं' आदि पद स्वभावतः द्विरुक्त है, क्योंकि इसमें प्रथम 'कल' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है उसी अर्थ में उसकी द्विरुक्ति हुई है।

२—गौणीवृत्ति—जनित-नामद्विरुक्त्यनुप्रास—इसमें द्विरुक्त शब्दों का मुख्यार्थ अभिन्न होने पर भी उनका परस्पर विशेष्य-विशेषणभाव द्वितीय बार आवृत्त शब्दों के गौणीवृत्ति से प्राप्त अर्थ पर निर्भर रहता है। यथा—'अमृतममृतं चन्द्रश्चन्द्रः'[1] इत्यादि पद्य में 'अमृतममृतं' में प्रयुक्त दोनों अमृत शब्दों का मुख्यार्थ एक ही है, किन्तु विशेष्य-विशेषणभाव की सङ्गति लाने के लिये प्रथम अमृत शब्द का साधारण गुणयुक्त अमृत और द्वितीय अमृत शब्द का गौणीवृत्ति से असाधारणगुणयुक्त अमृत ऐसा अर्थभेद किया गया है,यह 'नामद्विरुक्ति' गौणीवृत्ति पर आधारित है।

३—वीप्सा-जनित-नामद्विरुक्त्यनुप्रास—इसमें अनेक पदार्थों को किसी एक ही पद से एक साथ व्याप्त करने की इच्छारूपी अपने धर्म को प्रयोक्ता द्विरुक्ति द्वारा अभिव्यक्त करता है अतएव जैसे 'सप्तपर्ण' शब्द का शाब्दिक अर्थ—केवल सात पत्र वाला 'वृक्ष' ऐसा न होकर 'सप्त सप्त पर्णानि यस्मिन् सः—सात सात पत्र है जिसमें अर्थात् 'अनन्त स्थानों पर सात सात पत्रों के समूह वाला वृक्ष' ऐसा अभिप्राय अर्थसामर्थ्य से अभिव्यक्त होता है, शब्दसामर्थ्य से नहीं[2] वैसे ही यहाँ अर्थ के सामर्थ्य से द्विरुक्ति होती है। यथा —'शैले शैले न माणिक्यं'[3] इत्यादि पद्य में 'शैले शैले' में जो द्विरुक्ति है वह अनेक द्रव्यों को माणिक्याभावरूपी एक द्रव्य से ही व्याप्त करने की इच्छारूप वीप्सा के कारण हुई है और यहाँ शैलादि अप्रस्तुत हैं। जब कि प्रस्तुत है'—श्रेष्ठ गुणों का सर्वत्र नहीं होना।'

१—अमृतममृतं चन्द्रश्चन्द्रस्तदम्बुजमम्बुजं, रतिरपि रतिः कामः कामो मधूनि मधून्यपि ॥
इति न भजते वस्तु प्रायः परस्परसङ्करं, तदियमबला कान्ति धत्ते कुतः सकलाममाम् ॥

२—नानार्थानां युगपदेकेन पदेन केनचिद् वक्तुर्व्याप्तिविवक्षा वीप्सा। स प्रयोक्तृधर्मो द्विरुक्त्या व्यज्यते। अत एव या काचिदर्थ-सामर्थ्याकृष्टा द्विरुक्तिः साः सप्तपर्णा-दिवन्नाम-द्विरुक्ति-समाख्यया प्रतिपाद्यते। सरस्वती-कण्ठाभरण. टीकाभाग पृ० २५४ में वीप्सा के उदाहरण पर।

३—शैले शैले न मणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे। देशे देशे न विद्वांसश्चन्दनं न वने वने ॥

यह वीप्सा 'द्रव्य, गुण, जाति और क्रिया' इन चार प्रकारों से होती है। उपर्युक्त उदाहरण में शैलादि शब्द का द्रव्य से सम्बन्ध होने के कारण वहाँ 'द्रव्य वीप्सा-जनित-नामद्विरुक्ति' नामक अनुप्रास माना गया है। इसी प्रकार अन्य गुणवीप्सा, जातिवीप्सा और क्रियावीप्सा के उदाहरण भी समझने चाहिये।

(क)—व्याकरण के द्विरुक्ति-प्रकरण में 'प्रकारे गुणवचनस्य'[1]—सूत्र द्वारा जो द्विरुक्ति होती है वह भी वीप्सा का ही एक प्रकार है, इस रहस्य को स्पष्ट करते हुए टीका में कहा गया है कि 'उपर्युक्त वीप्सा से इसमें यह विशेषता है कि यहाँ एक स्थान पर सिद्ध पदार्थ का दूसरे पदार्थ में प्रतिबिम्ब न होकर सादृश्य अभिव्यक्त होता है, जब कि शुद्ध वीप्सा में एकसाथ एक पदार्थ का नाना पदार्थों से सम्बन्ध रहता है। अतएव यहाँ 'प्रकार' का अर्थसादृश्य ग्रहण करते हुए पृथक् सूत्र का निर्माण हुआ है। यथा—

मानिनीजनविलोचनपातानुष्णबाष्पकलुषान् प्रतिगृह्णन्।
मन्दमन्दमुदितः प्रययौ खं, भीतभीत इव शीतमयूखः। स० क० ॥२।२३१॥

इस पद्य में प्रयुक्त 'मन्द-मन्द' पद में पहले मन्द शब्द का सिद्ध पदार्थ दूसरे मन्द शब्द में प्रतिबिम्बित है और वह 'मन्दं मन्दमिव उदितः' 'इस अर्थ को अभिव्यक्त करता क्रियाविशेषण के रूप में उपमित है। इसी प्रकार 'भीतभीतः' इस पद में पहले भीत शब्द का सिद्धपदार्थ दूसरे भीत शब्द में प्रतिबिम्बित है और वह 'भीतः भीत-इव' इस अर्थ को अभिव्यक्त करता हुआ कर्तृविशेषण के रूप में प्रयुक्त है।

४—आभीक्ष्ण्य-जनित.नामद्विरुक्त्यनुप्रास—इसमें कर्ता जिस क्रिया को प्रधानता और अविच्छिन्नरूप से करना चाहता है उसको तिङन्त अथवा कृदन्तान्त अव्यय की द्विरुक्ति द्वारा अभिव्यक्त करता है और यह द्विरुक्ति दोनों स्थानों पर क्रिया की प्रधानता-प्रतीति कराने के कारण असाधारण होती है। यथा—

श्लेषं श्लेषं मृगदृशा, दत्तमाननपङ्कजम्।
मया मुकुलिताक्षेण, पायं पायमरम्यत ॥ स० क० २।३३२ ॥

इस पद्य में 'श्लेषं श्लेषं' और 'पायं पायं' पदों में आलिङ्गन एवं पानरूप क्रिया को प्रधानता देते हुए अविच्छिन्न रूप से अभिव्यक्त करने के कारण उक्त अनुप्रास हुआ है। यहाँ कृदन्तान्त अव्यय द्विरुक्त है।

१—अष्टाध्यायी, (पाणिनि) सूत्र संख्या ८।१।१२॥

क—यही द्विरुक्ति क्रियापद में होने पर 'क्रियापदाभीक्ष्य-जनित-द्विरुक्त्यनुप्रास' नाम से अभिहित होती है। साथ ही ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि ये शब्द दो बार ही प्रयुक्त हो अपितु जितने शब्दों से अभिमतार्थ की प्रतीति अभीष्ट हो, उतने ही आभीक्ष्यशब्द प्रयुक्त किये जा सकते हैं किन्तु वे कृदन्तान्त अव्यय में दृष्टिगोचर नहीं होते, तिङ्पदों में ही होते हैं। तदनुसार विरुद्ध क्रियापदों की बहुलता होने पर पुनरुक्ति की पुनरुक्ति होती है यथा:—

जयति जयति देवः श्यामकण्ठः पिनाकी, जयति जयति देवी लोकमाता भवानी।
जयति जयति धन्यः सोऽपि भक्तस्तयोर्यः, किमपरमिह धन्यं वर्ण्यते तावदेव ॥

स० क० २।२३३

इस पद्य में 'जयति' क्रिया पद की छः बार आवृत्ति हुई हैं जो कि आभीक्ष्य-गत अर्थ को अभिव्यक्त करने के कारण उक्त अनुप्रास-भेद का सूचन करती है।

लक्षण पद्य में आभीक्ष्यादि पद में जो 'आदि' शब्द का ग्रहण हुआ है उससे निमूलादि-शब्दप्रयोग के आधार पर हुई द्विरुक्ति का ग्रहण होता है। तथा प्रस्तुत निमूल शब्द के साथ जुड़े हुए आदि शब्द से आनुपूर्वी, स्वार्थ और अवधारणजन्य द्विरुक्तियों के भी ग्रहण का सूचन टीकाकार ने किया है। इसके अतिरिक्त सम्भ्रम-जनित-द्विरुक्ति भी उसी लक्षणोक्त 'आदि' पद से गृहीत है। ग्रन्थकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि यद्यपि महा-कवियों के प्रबन्धों में हर्ष, आवेग, विस्मय, आदि के माध्यम से हुई द्विरुक्तियों के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं किन्तु वे सम्भ्रम से पृथक् नहीं होते। क्यों कि हर्षादि के कारण असाधारणता को प्राप्त हो जाने पर वे सम्भ्रम के प्रयोजक बन जाते हैं, किन्तु सम्भ्रमता का परित्याग नहीं करते। अतः उन्हें भी सम्भ्रमद्विरुक्ति के प्रकार-विशेष ही मानना चाहिए। तदनुसार प्रत्येक के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं :—

(क)-निमूल शब्द प्रयोग जनित नामद्विरुक्त्यनुप्रासः-इसमें निमूलादि शब्द-प्रयोग के आधार पर द्विरुक्त शब्दों का प्रयोग रहता है। यथा-निमूलकाषं कषति स्वान्तमन्तः-स्मरज्वरे' इत्यादि पद्य में 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' इस सूत्र[1] के आधार पर द्विरुक्ति सिद्ध होने से उक्त अनुप्रास होता है।

(ख)-आनुपूर्वी-जनित-नामद्विरुक्त्यनुप्रासः—इसमें क्रम-प्रदर्शन के लिए द्विरुक्त

१—अष्टाध्यायी ३।४।४६ तथा इस प्रकार की द्विरुक्तियाँ 'निमूलसमूलयोः कषः।३।४।३४' सूत्र से उपर्युक्त सूत्र के बीच में आये हुए सूत्रों से णमुल् प्रत्यय द्वारा सिद्ध प्रयोगों में भी होती है।

शब्दों का प्रयोग होता। टीकाकार रामसिंह ने इस भेद का उदाहरण—

अर्वागर्वाग् बलवदुपलग्रन्थयः क्षेत्रशैला, ।
दूरे दूरे मणिमयदृषन्मेखलो रत्नसानुः ॥

इत्यादि पद्य से दिया है। इसमें 'अर्वाग् अर्वाग्' इत्यादि शब्द क्रम-प्रदर्शन के लिए द्विरुक्त होने से उक्त अनुप्रास का सूचन करते हैं। इसी प्रकार स्वार्थ और अवधारण-जन्य द्विरुक्तियों के उदाहरण स्वयं ढूंढ़ने चाहिए।

(ग)-**सम्भ्रमजनित नामद्विरुक्त्यनुप्रासः**—इसमें किसी आकस्मिक घटना के कारण हुई आतुरता के कारण भय, संवेग अथवा आदर के आधार पर शब्दों की द्विरुक्ति रहती हैं। यथा:- अस्थीन्यस्थीन्यजिनमजिनं भस्म भस्मेन्दुरिन्दुः' इत्यादि पद्य में भगवान् शिव का ताण्डवारम्भ हो जाने पर वेष-भूषादि उपकरणों की उपलब्धि के लिए गणों की सम्भ्रमोक्ति होने से उक्त अनुप्रास माना गया है।

(घ)-**हर्ष-सम्भ्रम-जनितनामद्विरुक्त्यनुप्रासः**—इसमें हर्षातिरेक के कारण शब्दों की द्विरुक्ति रहती है। यथा—

रुरुधुः कौतुकोत्तालास्ततस्ताममरावतीम् ।
क्वार्जुनः क्वार्जुन इति, ब्रुवन्त्यो नाकयोषितः ॥

इस पद्य में अर्जुन के आगमनजन्य कौतुक से हर्ष-विभोर अप्सराओं द्वारा अर्जुन कहाँ है, अर्जुन कहाँ है ? इस कथन में द्विरुक्ति के प्रयोग से उक्त अनुप्रास माना गया है।

(ङ)-**आवेगसम्भ्रमजनित-नामद्विरुक्त्यनुप्रासः**—इसमें किसी गुप्त और गम्भीर उद्वेग के कारण हुई शब्दों की द्विरुक्ति रहती है। यथा:—

कञ्चुकं कञ्चुकं मुञ्च, हारं हारं परित्यज ।
हा हा दहति दावाग्निर्वस्त्रं वस्त्रमपाकुरु ॥

इस पद्य में विजयाभिलाषी आक्रान्ताओं के भय से घने जंगल में प्रविष्ट शत्रुवनिताओं में से किसी एक को कोई दावाग्नि की लपटों से त्रस्त देखकर कहती है, इसी आवेग-सम्भ्रम के कारण यहाँ कञ्चुकादि पदों में द्विरुक्ति होने से उक्त अनुप्रास माना गया है।

यहाँ ग्रन्थकार ने स्वयं प्रश्न करके स्पष्ट किया है कि यहाँ मुञ्च, परित्यज, दहति और अपाकुरु' इन क्रियापदों में द्विरुक्ति नहीं है क्यों कि कंचुक, हार और उत्तरीय वस्त्र के साथ तो उत्तरोत्तर व्यासंग भावना ही आवेगसम्भ्रम हेतु है, जब कि उक्त क्रियापदों में इसका अभाव है।

(च)-**विस्मयसम्भ्रमजनित द्विरुक्त्यनुप्रासः**—इसमें आश्चार्यातिशय के कारण हुई शब्दों का द्विरुक्ति रहती है। यथा-'अहो रूपमहोरूपम्' इत्यादि पद्य में सारंगनयनी स्त्री

के रूप, मुख और कटिप्रदेश की अपूर्वता को आश्चर्य से देखकर सम्भ्रम-पूर्वक रूपादि शब्दों की द्विरुक्ति की गई है। अतः यहाँ उक्त अनुप्रास माना गया है।

उपर्युक्त नामद्विरुक्त्यनुप्रास में द्विः-दो बार का जो कथन है, वह तो उपलक्षण मात्र है। इसके अतिरिक्त आवृत्तियाँ भी हा सकती हैं जिनका निषेध नहीं किया जा सकता। इसी दृष्टि से भोज ने निम्न उदाहरण भी प्रस्तुत किया है।

(छ)—**सम्भ्रमजनित-त्रिरुक्त्यनुप्रास**—इसमें क्रिया-पद अव्यय अथवा शब्दों की सम्भ्रम विशेष से हुई तीन बार उक्ति रहती है। यथा 'जय-जय-जय श्रीमन् भोज प्रभाति विभावरी' इत्यादि पद्य में जय जयादि क्रिया-पदों की तीन बार उक्ति हुई है जो वैतालिकों द्वारा निशा-गमन का सूचन करते हुए ससम्भ्रम कही गई है, अतः यहाँ उक्त अनुप्रास माना गया है।[१]

इन अनुप्रासों के अतिरिक्त 'क्रियासमभिहार' और 'क्रियाभ्यास' से भी नामानुप्रास होता है जो 'युक्ति' नामक शब्दालङ्कार में कहा गया है।[२]

उपर्युक्क पद्धति के अनुप्रासों का वर्णन अन्य आलङ्कारिकों ने कहीं नहीं किया है। भोज ने इन अनुप्रास भेदों में भौगोलिकता और सूक्ष्म-दर्शिता से एक नवीन मार्ग दिखाने का प्रयास किया है।

९ —क्रियानुप्रास

श्री रुय्यक ने अनुप्रास भेदों की चर्चा करते हुए लिखा है कि कुछ विद्वान् क्रिया और कारकों का यथाक्रम विन्यास होने पर 'क्रियानुप्रास' और 'कारकानुप्रास' भी चाहते हैं-मानते हैं।[३]इसके अनुसार 'वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति' इस अर्धाली में क्रियाओं का क्रमिक विन्यास होने से 'क्रियानुप्रास' अलंकार है।

१० —कारकानुप्रास

श्री रुय्यक ने उपर्युक्त लक्षण के आधार पर 'कारकानुप्रास' का उदाहरण इस अर्धाली द्वारा प्रस्तुत किया है :—

१—उपर्युक्त 'नामद्विरुक्त्यनुप्रास के प्रकरण में उदाहृत पदखण्डों के अवशिष्ट पाठ-सरस्वती-कण्ठाभरण के द्वितीय परिच्छेद में पद्य क्रमाङ्क २२८ से २३६ तक द्रष्टव्य हैं।

२—क्रियासमभिहारश्च, क्रियाभ्यासश्च यः पुरा।
युक्तावुदाहृतः सोऽपि, नामानुप्रास इष्यते ॥ स० क० २-१०० ॥

३—पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा।
क्रियाणां कारकाणां च, यथासंख्य-निवेशनम् ॥ साहित्य-मीमांसा।

नद्यो घना गजा वनान्ताः, प्रिया विहीनाः शिखिनः प्लवङ्गाः ।' यहाँ कर्तृ कारक से युक्त शब्दों का क्रमिक विन्यास होने से उक्त अनुप्रास माना गया है।

११ —श्लोकानुप्रास

श्री रुय्यक ने वहीं श्लोकों में दो-दो समान उक्तियों का विन्यास रहने पर श्लोकानुप्रास[1] मानने का भी निर्देश किया है किन्तु कोई उदाहरण नहीं दिया है।

१२ —स्फुटानुप्रास

पीयूषवर्ष जयदेव ने 'स्फुटानुप्रास' का नवीन निर्देश करते हुए उसका लक्षण यह दिया है--जहाँ श्लोक के अर्धपाद में अथवा अर्धपाद के भी अर्धभाग में यदि निश्चितरूप से वर्णावृत्ति होती है, तो वहाँ स्फुटानुप्रास होता है।[2] यथा—

तदा मता मतिमतां, स्फुटानुप्रासता सताम्।

इस अर्धाली में पादान्तरगत दोनों चरणों में तकाराक्षर- साम्य होने से श्लोकार्धपादगत स्फुटानुप्रास है तथा प्रथम चरण में चार स्थानों पर तकाराक्षर-साम्य रहने से 'एक चरणगत स्फुटानुप्रास' है इस प्रकार यह अनुप्रास दो प्रकार का होता है। अन्य अनुप्रासों में इसकी 'वृत्त्यनुप्रास' से निकटता है किन्तु यह पदनिष्ठ न होकर 'वर्णनिष्ठ' होने से पृथक् कहा गया है किन्तु आचार्यों ने इसे छेकानुप्रास में अन्तर्हित मान कर वर्णन नहीं किया है।

१३ —अर्थानुप्रास

जयदेव ने 'अर्थानुप्रास' नामक एक अनुप्रास भेद की और भी चर्चा की है, जिसका लक्षण इस प्रकार है —जहाँ उपमेय और उपमान दोनों के वर्णों में समानता रहती है, वहाँ अर्थानुप्रास होता है। यथा—

चन्दनं खलु गोविन्द--चरणद्वन्द्ववन्दनम्।

इस अर्धाली में वन्दन उपमेय है और चन्दन उपमान है। इन दोनों शब्दों में 'न्दन' अक्षरों की समानता रहने से तथा अर्थ में-वन्दन चन्दन के समान है-ऐसा कहने से प्रतिपाद्यत्व में सादृश्य होने के कारण 'उपमानोपमेय-भाव' बन जाने से उक्त अनुप्रास माना गया है। जयदेव की यह कल्पना अपने ढंग में अनूठी है किन्तु अन्य आचार्यों ने इस पर विचार नहीं किया है। यह अर्थालङ्कार भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह शब्दनिष्ठ है। अतः यह शब्दालंकार ही है।

१—श्लोकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयोः सुसदृशोक्तिकृतत्वोक्तत्वात्। साहित्य-मीमांसा

२—द्रष्टव्य 'चन्द्रालोक' शब्दालङ्कार-प्रकरण।

३—व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं, सहाद्येन स्वरेण तु। आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत्।।
साहित्यदर्पण १०।५।

१४ —अन्त्यानुप्रास

इस अनुप्रास-भेद का प्रारम्भिक रूप वामन के 'समस्त पादान्त' और 'समस्त पादादि' अनुप्रास से मिलता है किन्तु विश्वनाथ ने इसका स्पष्ट रूप उपस्थित किया है। अन्त्यानुप्रास का लक्षण विश्वनाथ के अनुसार इस प्रकार है—जहाँ आद्यस्वर के साथ यथासम्भव अनुस्वार, विसर्ग अथवा स्वर से युक्त व्यञ्जन की आवृत्ति हो वहाँ अन्त्यानुप्रास होता है।[१] यह 'पादान्तगत' और 'पदान्तगत' होने से दो प्रकार का होता है। यथा—

केशः काशस्तबकविकासः, कायः प्रकटितकरभविलासः।
चक्षुर्दग्धवराटककल्पं, त्यजति न चेतः काममनल्पम् ॥

इस पद्य में 'विकासः विलासः' और 'कल्पं अनल्पं' शब्दों से चरणों के अन्त में समान आवृत्ति होने से 'पादान्तगत' अनुप्रास है। तथा 'मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तः' इत्यादि पद्य के प्रतिपद के अन्त में अनुप्रास का निर्वाह होने से 'पदान्तगत' अनुप्रास होता है।

१५ —चरणगत-आद्यानुप्रास

श्री पुञ्जराज ने अनुप्रास के भेदों की चर्चा में पर्याप्त विस्तार करते हुए कहा है कि 'वर्णावृत्ति को अनुप्रास कहते हैं। यह वर्णावृत्ति चरणों में और पदों में होती है, जिनका स्वरूप उदाहरणों से ही स्पष्ट हो जायगा।[१]' इस दृष्टि से उपर्युक्त अनुप्रास का निम्न उदाहरण दिया है:—

जानकीं विरहय्यान्यां, जायां स्वप्नेऽपि नेच्छति।
जानेऽहमिति रामस्य, जाग्रद्रागामवस्थितिम् ॥

इसमें प्रतिचरण के आदि में 'जा' अक्षर के समान रूप में आवृत्त होने से उक्त अनुप्रास होता है।

१६ —चरणगत-मध्यानुप्रास

इसमें प्रतिचरण के मध्य में समान अक्षर की योजना रहती है। यथा—

सदा नमोऽस्तु रामाय, विश्वव्यामोहहारिणे।
रक्षस्तमो-दिनेशाय, गुणग्रामोन्नताय ते ॥

इसमें प्रतिचरण का चौथा अक्षर 'मो' समान रूप से आवृत्त होने से उपर्युक्त अलङ्कार माना गया है।

१—वर्णावृत्तिरनुप्रासश्चरणेषु पदेषु च।
तेषामुदाहृतिष्वेव, रूपमाविर्भविष्यति ॥ शिशुप्रबोध-काव्यालङ्कार ७-२३।

१७ —चरणान्त्यानुप्रास

इसमें प्रतिचरण का अन्तिम अक्षर समान रहता है। यथा—

रामं जगत्त्रयीबन्धुं, जानकीरजनीविधुम्।
नमामि करुणासिन्धुं, तत्त्वसंविद्वनी मधुम्॥

यहाँ चारों चरणों के अन्त में 'धुं' अक्षर की योजना होने से उक्त अनुप्रास माना गया है। विश्वनाथ के अन्त्यानुप्रास में दो-दो चरणों में पृथक्-पृथक् अनुप्रास की योजना है और यहाँ चारों चरणों में एक समान अनुप्रास की योजना की गई है। अतः यह उससे भिन्न अथवा उसका द्वितीय भेद कहा जा सकता है।

१८ —आद्यन्तचरणानुप्रास

इसमें चारों चरणों के आदि और अन्त में समानाक्षर का विन्यास रहता है। यथा:—

कातरेक्षणमवेक्ष्य गोपिका, काऽपि कृष्णमतिमात्रमुत्सुका।
काममोहमथितश्लथांशुका, कानने कलितकेलि-कौतुका॥

यहाँ चारों चरणों के आदि और अन्त में 'का' अक्षर का विन्यास होने से उक्त अनुप्रास माना गया है।

१९ —यत्यन्त्यानुप्रास

इसमें चारों चरणों में प्रत्येक यति स्थान पर समानाक्षर की योजना रहती है। अर्थात् छन्द के अनुसार जहाँ-जहाँ यति होगी वहाँ-वहाँ समानाक्षर का विन्यास रहेगा। विश्वनाथ के प्रतिपदान्तर्गत अनुप्रास से इसका साम्य है, जो कि उनके उदाहरण 'मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तः' से स्पष्ट है। अतः विश्वनाथ ने जो नाम दिया है, उसके स्थान पर यह नाम उचित है और सम्भवतः यही कारण था कि जिससे पुञ्जराज ने 'पदान्त्यानुप्रास' का पृथक् निरूपण किया है। वहाँ पद से 'शब्द' अभिप्रेत है।

२०— पदाद्यनुप्रास

इसमें पद्य के प्रतिपद के आरम्भ में समान व्यञ्जन का विन्यास रहता है। यथा—

कापि कान्तकृतकैतवाकुला, कोपना कलित-कामकर्मणा।
कोकिला कलकलेऽपि कामिनी, कम्पते कुसुमकेलिकातरा॥

यहाँ प्रतिशब्द के आरम्भ में 'क' व्यञ्जन का विन्यास होने से उक्त अनुप्रास है।

२१ —पदमध्यानुप्रास

इसमें पद्य के प्रत्येक पद के मध्य में समान व्यञ्जन का विन्यास रहता है। यथा—

विन्दते मदनवेदनामियं, चन्दनार्द्रसदनानि निन्दति ।
ऐन्दवादुदयतोऽवसादतः, स्वेदनेन सुदतीं न निन्दति ॥

यहाँ प्रतिशब्द के मध्य में 'द' व्यञ्जन का विन्यास होने से उक्त अनुप्रास है ।

२२ —पदान्त्यानुप्रास

इसमें पद्य के प्रत्येक पद के अन्त में समानव्यञ्जन का विन्यास रहता है । यथा:—

अवता भवताऽपहृता भवता, जनता सततामवता मुदिता ।
अहिता विहृताऽऽत्महता विहिता, वनिता जनिता रसिताऽऽकुलिता ॥[1]

यहाँ सभी शब्दों के अन्त में 'ता' व्यञ्जन की योजना का निर्वाह होने से उक्त अनुप्रास माना गया है ।

उपर्युक्त पद्धतियों का मिश्रण क्रम से अथवा अक्रम से किये जाने पर जो अनुप्रास होगा उसे पुञ्जराज ने **संकीर्णानुप्रास** की संज्ञा दी है । यही संकीर्णानुप्रास पूर्वोक्त श्रुत्यनुप्रास अथवा छेकानुप्रास में अन्तर्हित हो जाता है । इनके अतिरिक्त पुञ्जराज ने 'अभिन्नार्थक पदावृत्ति' और 'स्थाननियमरहित-भिन्नार्थक पदावृत्ति' को भी अनुप्रास मानने का आग्रह किया है जो लाटानुप्रास की कोटि में आ जाते हैं ।[2]

कतिपय विद्वानों ने उपर्युक्त आदि, मध्य और अन्त्य के प्रथमाक्षर-साम्य तथा द्वितीयाक्षर-साम्य का महत्व देते हुए अनुप्रास के और भी नाम दिये हैं जो नीचे लिखे अनुसार हैं—

२३ —अष्टप्रास

इसमें पूरे पद्य के आठ स्थानों पर अर्थात् प्रतिचरण में दो-दो स्थानों पर समान रूप से अनुप्रास का निर्वाह होने से उक्त अनुप्रास माना गया है । यथा—

या काऽपिस्मरकोटिसुन्दरतनुर्लोकाधिका सम्मिलद्,
राका कैरविणी सुहृद्वशशतीनीकाश वक्त्रामला ।
एकानेकचराचरैकजननी, शोकामयान् हन्तु मे,
कोकाकारपयोधराऽद्रितनयाऽभीका परा दैवता ॥ शिवाष्टप्रासस्तोत्र ३॥

१—उपर्युक्त चरणगत—आद्यानुप्रास से पदान्त्यानुप्रास तक के उदाहरण 'शिशुप्रबोध-काव्यालङ्कार' के शब्दालङ्कार-निरूपण नामक सातवें अध्याय के २४ से ३१ तक की संख्या के पद्य हैं ।

२—अभिन्नार्थतया यत्तु, पदानां परिवर्तनम् । तन्महाकविभिर्नूनमनुप्रासेषु जायते ।।-७-२८।।

इसमें प्रति चरण के प्रथम द्वितीय और तेरह चौदह संख्यावाले अक्षरों से आठ स्थानों पर अनुप्रास का निर्वाह हुआ है। इस पद्धति के आधार पर शिवाष्टप्रास, रामाष्ट-प्रास आदि शतकों की रचना हुई है। इस उदाहरण में 'द्वितीयाक्षर का साम्य है, किन्तु प्रथमाक्षर में स्वर-साम्य न होने से यह उतना स्पृहणीय नहीं माना गया है जब कि पूर्वाक्षर में स्वर-साम्य और द्वितीयाक्षर में वर्ण-साम्य से जो अष्टप्रास होता है, वह अधिक श्लाघनीय माना जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत अष्टप्रास के निम्नलिखित भेद होंगे।

१—प्रतिचरण में दो स्थानों पर पद के आदि में द्वितीयाक्षर-साम्य और पूर्वाक्षर में असमान स्वरवाले शब्दों की आवृत्तिवाला।

२—प्रतिचरण में दो स्थानों पर पद के आदि में द्वितीयाक्षर-साम्य और पूर्वाक्षर में समान स्वरवाले शब्दों की आवृत्तिवाला।

३—प्रतिचरण में दो स्थानों पर पद के अन्त में द्वितीयाक्षर-साम्य और पूर्वाक्षर में असमान स्वरवाले शब्दों की आवृत्तिवाला।

४—प्रतिचरण में दो स्थानों पर पद के अन्त में द्वितीयाक्षर-साम्य और पूर्वाक्षर में समान स्वरवाले शब्दों की आवृत्तिवाला।

५—पूर्वार्ध के चार स्थानों पर अन्य एक समान वर्णों की आवृत्ति और उत्तरार्ध के चार स्थानों पर अन्य एकसमान वर्णों की आवृत्तिवाला।

६—प्रतिचरण के दो-दोस्थानों पर भिन्न-भिन्न किन्तु समानवर्णों की आवृत्तिवाला।

इन पाँच और छः संख्यावाले भेदों के पदादिगत और पदान्तगत वर्णावर्तन से दो और भेद बन सकते हैं।

२४ ——द्वादशानुप्रास-अश्वधाटी

उपर्युक्त अष्टप्रास की पद्धति का अवलम्बन लेकर अश्वधाटी छन्द में की जानेवाली पद्य-रचना को द्वादशानुप्रास की संज्ञा दी जाती है। इस छन्द में बाईस अक्षर होते हैं तथा यह वर्णिक छन्द है। अतः इसके प्रतिपद में द्वितीय, नवम और षोडश संख्या वाले अक्षरों में अनुप्रास रहता है। प्रतिचरण में तीन स्थानों पर अनुप्रास रहने से चारों चरणों के अनुप्रास मिल कर बारह अनुप्रास होते हैं। यथा:—

न्यायावधिः श्रुतनिकायाकरस्त्रिभुवनायावताररसिक-
श्छायावधीरितकलायाबलिः कनकदायादपट्टवसनः।
जायास्पृहा जटिलमायातनूविहितकायाभिमानचरितः,
पायाददो जगदपायाददभ्रकरुणाया निधी रघुपतिः॥[1]

१——देवराजचरित, म०म० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, साहित्यदर्पण—टिप्पण भाग पृ० ४७७

इस पद्य में बारहों स्थानों पर पूर्वाक्षर में स्वर-साम्य तथा द्वितीयाक्षर में वर्ण-साम्य का पूर्ण-निर्वाह किया गया है। इस पद्धति में भी कुछ विकल्पों के कारण निम्न भेद हो सकते हैं:–

१–प्रतिचरण में तीन स्थानों पर पद के आदि में द्वितीयाक्षर-साम्य और पूर्वाक्षर में असमान स्वरवाले शब्दों की आवृत्ति।

२–प्रतिचरण में तीन स्थानों पर पद के आदि में द्वितीयाक्षर-साम्य और पूर्वाक्षर में समान स्वरवाले शब्दों की आवृत्ति।

३–प्रतिचरण में तीन स्थानों पर पद के अन्त में द्वितीयाक्षर-साम्य तथा पूर्वाक्षर में असमान स्वरवाले शब्दों की आवृत्ति।

४–प्रतिचरण में तीन स्थानों पर पद के अन्त में द्वितीयाक्षर-साम्य तथा पूर्वाक्षर में समान स्वरवाले शब्दों की आवृत्ति।

५–पूर्वार्ध के छः स्थानों पर अन्य एकसमान वर्णों की आवृत्ति और उत्तरार्ध के छः स्थानों पर अन्य एकसमान वर्णों की आवृत्ति।

६–प्रतिचरण में तीन-तीन स्थानों पर भिन्न-भिन्न किन्तु समानवर्णों की आवृत्ति।

इन पांच और छः संख्यावाले भेदों के पदादिगत तथा पदान्तगत वर्णावर्तन से ही और भी भेद बन सकते हैं। यही द्वादशप्रास निम्नलिखित छन्दों में भी मनोहारी प्रतीत होता है—

अमृत ध्वनि-- **चञ्चच्चन्दिरविमलकुलकीर्तिविमञ्जुलरूप।**
राज सदा सुखसम्पदा, राजन् जयपुरभूप॥
राजन्, जयपुर रज्जज्जनभर, सज्जज्जयकर,
सिध्यद्धिषण विशुध्यद्धरणिविबुध्यद्धृतिधर।
विच्छच्छलपरिगच्छच्छमलसदच्छच्छविकिर,
न्यञ्चच्चपलमुदञ्चच्चरितसुचञ्चच्चन्दिर॥

त्रिभङ्गी— **यमुनातटचारी विपिनविहारी सुरसुखकारी दृशमयताम्।**
वृन्दावनवासी वेणुविलासी सुकृतिविकासी संनयताम्॥
यो विभवविधायी रुचिपरिचायी वाञ्छितदायी स्मृतिमयताम्।
स हि ललितत्रिभङ्गी निजजनसङ्गी रतिरसरङ्गी मयि दयताम्॥[1]

२५ —स्वरानुप्रास

कतिपय विद्वानों ने केवल स्वरों की आवृत्ति को ही प्रमुखता देते हुए स्वरानुप्रास

१— जयपुरवैभव, भट्ट मथुरानाथ, पृ. १२४ पद्य २५ तथा वहीं पृष्ठ २८, पद्य ११

की योजना की है। यथा—

अधिकाञ्चिकेलिलोलैरखिलागमयन्त्रमन्त्रतन्त्रमयैः।
अतिशीतं मम मानसमसमशरद्रोहिजीवनोपायैः॥[1]

यहाँ चारों चरणों के आरम्भिक पदों में अकारस्वर की योजना है, जो स्वरानुप्रास का पादादिगत भेद कहा जा सकता है। इसी प्रकार समस्त स्वरवर्णों के क्रमिक विन्यास का उदाहरण—

भट्टिर्नष्टो भारविश्चापि नष्टो, भिक्षुर्नष्टो भीमसेनोऽपि नष्टः।
भुक्कुण्डोऽहं भूपतिस्त्वं च राजन्, भम्भापङ्क्तावन्तकः सम्प्रविष्टः॥

इत्यादि पद्य में माना जाएगा। किन्तु ऐसे स्वरानुप्रास को भी चित्रालङ्कार में ही सम्मिलित कर लिया गया है।

अव्यापक और व्यापक अनुप्रास

विश्वेश्वर ने 'चमत्कार-चन्द्रिका' में अनुप्रास के दो भेद अव्यापक और व्यापक दिखलाये हैं। तथा उदाहरण निम्नलिखित दिये हैं—

१—अव्यापक अनुप्रास—गोली सङ्गीतभङ्गी रहसि विलसितं कौसली कौशलीनां,
नेपाली गण्डपाली मृगमदमकरीं केरलीं पानकेलिम्।
लाटी पाटीरवर्जां कुसुमविरचितां कुन्तली कुन्तलानां,
शिङ्क्ष्माकान्त भिन्ते तव विजयरमा स्निग्धवेणिः कृपाणिः॥
विलास-६।

यहाँ प्रतिवाक्य में भिन्नरूप अनुप्रास की योजना होने से उक्त भेद माना गया है।

२—व्यापक अनुप्रास—यत्र चरणसन्नाहिनी तृणचरणं निजपुराच्च निःसरणम्।
वनचरणं तच्चरण ससपरिचरणं वा विरोधिनाँ शरणम्

यहाँ रेफ और णकार की सर्वत्र आवृत्ति होने से उक्त भेद माना गया है।

यद्यपि अव्यापक एवं व्यापक का ऐसा विचार अन्य आचार्यों ने यमकादि शब्दालङ्कारों के भेदों में किया है, किन्तु ऐसे अनुप्रास के सम्बन्ध में स्वतन्त्रविचार अन्यत्र नहीं है।

१—मूक कवि का 'आर्याशत' ऐसे स्वरों की योजनाओं से निर्मित पद्यों के लिए स्पृहणीय है। ऐसे स्वरानुप्रास का विशेष विचार श्रीयुत प्रो० वि० वेङ्कटाचलम् महोदय (संस्कृत विभागाध्यक्ष, विक्रमविश्वविद्यालय, उज्जैन) ने अपने 'अनुप्रास-लक्षण-परिशुद्धिः' नामक लेख में विस्तार से किया है।

अनुप्रास के तत्त्वों को लक्ष्य में रखकर उसके विन्यास पर यदि दृष्टिपात किया जाए तो उनके द्वारा भी अनेक रूपों का संकेत हमें मिल जाता है। उदाहरणार्थ कुछ पद्धतियाँ इस प्रकार हैं :-

१–**द्विःप्रास**–एक पद में दो बार अनुप्रास का विन्यास। यथा–

पीयन्ते दृशैव रसिकेन फुल्लवासन्तिकाः,
काममभी वासन्तिका वासराः सुगीयन्ते।

अथवा- **दर्पितदनुजवधूवीक्षणेषु वर्षागमो,**
गोविन्दो ममाद्य मनोहर्षायोपपद्यताम्।

२–**त्रिःप्रास**–एक पद में तीन बार अनुप्रास का विन्यास। यथा—

मनसि मनोभुवोऽपि पूर्णपरिक्षोभावहा,
श्रीगोविन्दशोभा मनोलोभायोपकल्पताम्।

३–**चतुःप्रास**–एक पद में चार बार अनुप्रास का विन्यास। यथा–

कोऽन्यो मयि तन्यात् सदा स्तन्यावधि रक्षा कृपां,
वत्सलताजन्या तव धन्या करुणा प्रभो।

४–**सर्वपादप्रास**–चारों चरणों में एक ही पद का विन्यास। यथा–

भूमिवलयं तं दुष्टदैत्यैर्भारवन्तं वीक्ष्य लोकेऽवतरन्तं शक्तिमन्तं शीलयामहे।
शकटं हरन्तं पावयन्तं पूतनां तामथ दावाग्निं पिबन्तं बलवन्तं चिन्तयामहे॥
कालियफणासु नृत्यवन्तं विहरन्तं वने कंसमुद्धरन्तं केशवं तं कामयामहे।
सर्वतो लसन्तं विकसन्तं व्रजगोपिकासु पीताम्बरवन्तं भगवन्तं भावयामहे॥

जयपुर वैभव पृ०८९–९१

इसी प्रकार ५– वृत्त्यनुप्रास द्वारा चतुर्थ चरण की पूर्ति, ६–चारों चरणों में पृथक्–पृथक् वृत्त्यनुप्रास का निर्वाह, ७- चारों चरणों में आरम्भ से अन्त तक एक ही अक्षर की आवृत्ति का निर्वाह तथा ८- वृत्त्यनुप्रास के साथ ही पदान्तानुप्रास का निबन्धन इत्यादि प्रकारों के द्वारा अनुप्रास के भेदों में अनेकविध नवीनताएँ लाकर रचनागत सौष्ठव की अभिवृद्धि की जा सकती है।

संसृष्टि और सङ्कर

अनुप्रास के उपर्युक्त भेद-प्रभेदों के अतिरिक्त केयूरादि आभूषणों में जटित भिन्न-भिन्न मणियों के समान एक ही वाक्य में चाहे वह अर्थाविच्छिन्न शब्दरूप हो अथवा आकांक्षादि पदसमूह हो, या अनेक वाक्यों की एकवाक्यता से युक्त हो अथवा एक छन्द, एक सङ्घटना, एक पद्यात्मक आदि रचना हो, वहाँ—परस्पर निरपेक्ष एक से अधिक अनुप्रास के भेदों की अथवा अनुप्रास एवं अन्य शब्दालङ्कारों की एकत्र स्थिति रहने पर

संसृष्टि अलङ्कार होगा। इसी प्रकार अनुप्रास एवं अन्य अलङ्कारों को एकत्र नीरक्षीर न्याय से हुआ समवाय भी सङ्कर अलङ्कार का जनक होगा जो दो या दो से अधिक अलङ्कारों की स्थिति से विभिन्नरूप बनेगा। एतदर्थ संसृष्टि और सङ्कर के निम्न उदाहरण दर्शनीय हैं—

१—वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसम्भ्रमसम्भृतशोभया।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशाऽन्यया॥

२—मार्गं मार्गं मृगयति मृगे हेति रामेति रामे,
शोकं शोकं गतवति गते लक्ष्मणे लक्ष्मणेन।
सीता सीता जनकतनया राज्यलङ्कामलङ्कां,
नीता नीता सुरसुरवधू रावणे रावणेन॥

उपर्युक्त उदाहरणों में परस्पर निरपेक्ष अनुप्रास और यमकों की एकत्र स्थिति होने से संसृष्टि है। इसी प्रकार संकर के उदाहरण भी प्राप्त किये जा सकते हैं।

अनुप्रास : मूल्याङ्कन एवं उपलब्धि

शब्द एक बहुमूल्य धन है। इस धन का चतुराई से प्रयोग तथा उपयोग करना साहित्यकार का आवश्यक कर्तव्य है। भारतीय जनजीवन में बहुमूल्य धातु के रूप में स्वीकृत सुवर्ण भी एक अंश में सु-अच्छा, वर्ण-अक्षर,शब्द की ओर संकेत करता है। सुवर्ण स्वयं प्रशस्य है तथा उसके द्वारा कुशल-शिल्पी के हाथों से बनाये हुए अलङ्कार तो और भी प्रशस्य बन जाते हैं। नेत्रों के माध्यम से मनोहारी सौन्दर्य का आविष्करण लौकिक अलङ्कारों का कार्य है जब कि श्रुतियों के माध्यम से मनोहारी वर्ण-विन्यासरूप सौन्दर्य के आविष्करण का कार्य साहित्यिक अलङ्कारों का है। यह कार्य 'अनुप्रास' के द्वारा भली भाँति सम्पन्न होता है।

अनुप्रास को विद्वानों ने नादमूलक अथवा नादसङ्गतिमूलक अलङ्कार माना है। नाद की परस्पर सङ्गति ही सङ्गति है और सङ्गीत की श्रुतिसुखदता नाद-सौन्दर्य पर अवलम्बित है। वर्णों की समानता से एक विशेष प्रकार का नाद उत्पन्न होता है जिसका अनुभव अर्थ को न जाननेवाला व्यक्ति भी सहजरूप से कर लेता है। अतः प्रक्रिया और परिणाम दोनों ही में नाद की प्रधानता है इस दृष्टि से इसे 'नाद-सङ्गतिमूलक' कहना युक्तियुक्त है। इस चमत्कार-पूर्ण प्रस्फुटन के लिये किया गया प्रभावशाली चयन आवयविक गठन और लयात्मक गठन दोंनों को प्रभावित करता है जिससे काव्य में एक अन्तर्धारा प्रवहमान होती है और वही अर्थ-प्रसारण में सहायक भी बनती है।

अभिववगुप्त ने ऐसी वर्ण-योजना को दीप्त, मसृण और मध्यम ऐसे तीन प्रकारों में विभाजित माना है। यह वर्ण-व्यवहार रसानुगुण होने पर और भी अनुपम बन जाता है।

इसी रसानुकूल वर्णन-विन्यास का शास्त्रीय नाम 'अनुप्रास' है। अनुप्रास में स्वर और व्यञ्जनों की नादात्मकता से विशिष्ट अनुभव होता है तथा सुनते ही सभी इद्रियाँ अहम-हमिका से आस्वाद के लिये उद्यत हो जाती हैं तब जिह्वा भी बोलने के लिये आतुर होती है। ऐसी स्थिति में भावावबोधकत्व और नादसौन्दर्य का यह मोहक-मिलन चेतन के आकर्षण का मुख्यकेन्द्र बन जाता है, जो उसकी साहजिक-प्रवृत्ति में सहायक होता है।

अनुप्रास के लक्षण-विकास का पर्यालोचन करने से ज्ञात होता है कि—भामह से विश्वनाथ तक तथा उत्तरकाल के आचार्यों में भी लक्षणगत कोई विशेष वैषम्य नहीं आया है। केवल कहने का ढंग और उसके प्रयोग-विशेष को अवश्य ही परिष्कृत करने का प्रयास किया गया है। अनुप्रास के भेदों में ग्राम्यानुप्रास सब से पहला भेद है जो भरत और भामह के बीच के काल में प्रादुर्भूत हो चुका था। वस्तुतः यह अनुप्रास वृत्तिगत भेद का सूचक था। इसी दृष्टि से कोमलावृत्ति ने कोमलानुप्रास का रूप ग्रहण किया जो उपनागरिकावृत्ति भी कहा जाता था। भोज ने इस भेद को श्रुत्यनुप्रास में अन्तर्हित कर लिया जिसका फल यह हुआ कि उत्तरकाल में यह पूर्णतः लुप्त हो गया। लाटानुप्रास अनुप्रास के क्षेत्र में प्रौढता से परिपूर्ण भेद है यद्यपि यह देश गत नामपर आधारित है किन्तु इसके जो भेद-विभेद किये गये वे अवश्य ही सहृदयग्राह्य हैं। पद के आश्रय को ध्यान में रखकर किये गये उद्भट के पाँच भेद अपने—आप में परिपूर्ण थे, जिन्हें वामन ने पदानुप्रास कह कर चौदह भेदों तक पहुँचाया।। भोज ने पुनः उद्भटप्रदत्त नाम को ही ग्रहण करते हुए तीन दृष्टियों से उसका विवेचन किया और प्रत्येक के साथ, पाँच और छः भेद मिलाकर अठारह भेद बना दिये। मम्मट ने पुनः पाँच भेद ही स्वीकृत किये जब कि रुय्यक ने तथा उनके टीकाकारों ने लाटानुप्रास को शास्त्रार्थ का विषय बना लिया। श्रुत्यनुप्रास की विस्तृत चर्चा भोज ने की है तथा उसके छः भेद बतलाये हैं किन्तु यहाँ होने वाली आवृत्ति की स्पष्टता का निर्देश टीकाकार रामसिंह ने मार्मिक ढंग से किया है। भोज को यह अनुप्रास-भेद अतिप्रिय था जिसका निर्देश उन्होंने इसे सर्वविध अनुप्रास का नायक कहकर किया है तथा क्रमशः चार, तीन और एक उपभेदों के योग से आठ भेद किये हैं। वृत्त्यनुप्रास का विस्तृत विचार उद्भट से आरम्भ हुआ है जिसमें केवल तीन वृत्तियों का निर्देश है। रुद्रट ने वृत्तियों की संख्या दो और बढ़ा दी तथा लक्षण में भी अधिक स्पष्टता दी है। आनन्दवर्धन वृत्ति को सङ्घटना-विशेष मानते हैं। अग्निपुराण में यह संख्या बारह तक पहुँचती है। भोज ने बारह स्वानुकूल और बारह अन्य प्रोक्त इस प्रकार चौबीस वृत्तियों का विवेचन दिया है। जयरथ ने अलङ्कार-सर्वस्व की टीका में वृत्ति के छः भेद बतलाये हैं जिनमें अक्षर की आवृत्तियों को प्रमुखता मिली है। छेकानुप्रास की उद्भावना उद्भट की है किन्तु वामनादि इसके पक्ष में नहीं थे। विश्वनाथ ने इसके दो भेद किये और भानुकर ने कुछ नवीन भेद करके पदान्तछेक और भंग्यनुप्रास को प्रस्तुत किया जब कि पुञ्जराज ने इसके नौ भेद प्रस्तुत किये हैं जो आवर्तन के आधार पर स्थित हैं। वर्णानुप्रास, पदानुप्रास और नामद्विरुक्त्यनुप्रास, के बारह-बारह भेद केवल भोज की देन हैं। क्रिया, कारक, श्लोक, स्फुट और अर्थानुप्रास का विवेचन रुय्यक और जयदेव

की सूझ से उत्पन्न हैं तथा विश्वनाथ ने अन्त्यानुप्रास के दो भेद दिखलाये हैं। पुञ्जराज ने स्थानगत आवृत्तियों केअनुसार आठ भेद किये और लक्ष्यग्रन्थों में अष्टप्रास तथा द्वादशप्रास की योजना भी दिखाई देती है जिनके छः-छः विकल्पों का निर्देश एवं अन्य विभिन्न आवृत्तियों का विचार यहाँ किया गया है।

उपर्युक्त भेद-विवेचन से अनुप्रास की लोकप्रियता का तो आभास मिलता ही है साथ ही आवृत्ति की अनेकरूपता के कारण और भी सम्भावनाओं का संकेत प्राप्त होता है। अनुप्रास का चमत्कार आवृत्ति के ही अधीन है यह आवृत्ति व्यञ्जन अथवा व्यञ्जनों की ही आचार्यों ने मानी है जब कि कवियों ने स्वरावृत्ति के भी उदाहरण दिये हैं, किन्तु उन्हें अनुप्रास न मानकर चित्रालङ्कार ही माना है। यहाँ स्वरों की उद्भट आवृत्ति रहती है जब कि यही अनुद्भट आवृत्ति होगी तो वहाँ स्वरानुप्रास होगा जिसके कतिपय उदाहरण मूक कवि के आर्याशतक से प्राप्त किये हैं।

अनुप्रास की आवृत्तियों में यमक की आवृत्तिप्रणाली का पूर्ण प्रभाव है और यही कारण है कि एक स्थान पर तो यमकाभासवृत्त्यनुप्रास माना गया है। संख्या के आधार पर निर्धारित भेदों को ही यदि विभक्त किया जाए तो वे श्लोकगत, अर्धश्लोकगत, पादगत और पदगत के आधार पर चार भेदवाले होंगे तथा उनमें नियतवर्णाक्षर, अनियतवर्णाक्षर, नियतस्थान और अनियतस्थानगत अनुप्रास के रहने से प्रत्येक के चार–चार भेद वाले और होंगे। तदनन्तर संकीर्ण भेदों से भी इनका विश्लेषण किया जा सकता है। इसी प्रकार क्रियानुप्रास और कारकानुप्रास में भी काल, पुरुष और वचनगत एवं लिंग, विभक्ति और वचनों के आश्रय से ये अनेकरूपता को प्राप्त हो जाएँगे।

इन्हीं प्रक्रियाओं को ध्यान में रखकर 'अलङ्कार-कौस्तुभ' की टिप्पणी में कहा गया है कि—अनुप्रासस्य कृत्रिमतायां स्वभावसिद्धायामपि न तावत् किमपि मानवकृतं काव्यं भूतं भवद्भव्यं वा यत्रास्य साहाय्यकमनपेक्षितुमर्हति—अर्थात् यद्यपि अनुप्रास की कृत्रिमता स्वभावतः सिद्ध है तथापि ऐसा मानव द्वारा निर्मित कोई भी काव्य नहीं बना, बनता है और बनेगा जिसमें इसकी सहायता की अपेक्षा न की जाए। इस दृष्टि से स्पष्ट है कि अनुप्रास का विकास सर्वव्यापी है और यह सर्वप्रिय है।

ऐतिहासिक-पर्यालोचन

सानुप्रास रचनाओं का प्रचलन वैदिककाल से ही हो गया था। नादसौन्दर्य से अनुरञ्जित ऐसी अनेक मसृण-मन्त्रस्तुतियाँ वैदिक-साहित्य में सहज मिल जाती हैं जिनके आधार पर अनुप्रास की प्राचीनता एवं लाकप्रियता का आभास होता है। उदाहरणार्थ कतिपय मन्त्र-प्रस्तुत हैं—

१—सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतो शेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जरायवजरं मरायुः॥ ऋक्० १०।१-६-६

२—हंसः शुचिषद्वसुरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥
ऋग्० ४।४०।५ ।

३—नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमः, इत्यादि
'नमकाध्याय, शुक्लयजुर्वेद १६ ऋ०

४—'वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे' इत्यादि
'चमकाध्याय' शुक्लयजुर्वेद १८ अध्याय

तथा—५—रक्षाणा अग्ने तव रक्षणेभी रारक्षाणः ॥ ४।४०।५ ॥
६—प्रतार्यग्ने प्रतरं न आयुः ॥ ४।१२।६ ॥
७—वयमग्ने वनुयाम त्वोता वसूयवो ॥ ५।३।६ ॥
८—ददृचा सनिं यते ददन्मेधामृ तायते ॥ ५।२७।४ ।

आदि मन्त्रों के द्वारा अनुप्रास की व्यापकता स्पष्ट है। यजुर्वेदीय 'शन्नो देवी-रभीष्टय आपो भवन्तु पीतये' इत्यादि मन्त्र में लाटानुप्रास का स्वरूप उपलब्ध होता है तथा अन्य भेद-प्रभेदों की भी गवेषणा की जाय तो अवश्य ही उपलब्ध हो सकेंगे।

लौकिक साहित्य में अनुप्रास का स्वरूप भी अतिप्राचीन काल से प्रचलित हो गया था। महाक्षत्रप रुद्रदामन् के द्वारा ई. सन् १५० के आसपास में लिखाये गये जूनागढ़ स्थित अभिलेख में उसके अज्ञात लेखक ने रुद्रदामन् को काव्य के स्फुट, मधुर आदि गुणों और अलङ्कारों से सहित गद्य-पद्य-प्रणयन में पटु बताया है। यथा-'स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दरूप-समयोदारालङ्कृतगद्य-पद्य' इत्यादि। वहीं 'आर्येण आहार्येण, गद्य-पद्य, नाम्ना दाम्ना, अभ्यस्तनाम्नः रुद्रदाम्नः' तथा 'गिरिशिखरतरुतटाट्टालिकोपतल्पद्वारशरणोच्छ्रयविध्वंसिना' जैसे चूर्णक और समासभूयिष्ठ वाक्यों में स्वर-वर्णों की कुशल आवृत्ति द्वारा वर्णानुप्रास उपलब्ध होता है। इसी प्रकार 'पारण-धारण, विधेयानां यौधेयानां' आदि पदों में पदांशों की आवृत्ति तथा 'कामविषयाणां विषयाणां' आदि में पदावृत्ति के उदाहरण प्राप्त होते हैं।[1] जो ऐसे प्रयोगों के प्रचलन की प्राचीनता को पुष्ट करते हैं।

महाकाव्यों में कालिदास ने अनुप्रास के प्रयोग में अपनी मर्मज्ञता का परिचय देते हुए सूक्ष्मता से प्रयोग किया है। स्फुटचन्द्रतारका विभावरी की भाँति सहजसौन्दर्य से युक्त उनकी काव्यधारा में अनुप्रास सहज ही आगये हैं। यथा-प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि (रघु.), मायूरी मदयति मार्जना मनांसि (माल), मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् (रघु.) आदि। अश्वघोष ने अपने 'सौन्दरनन्द-महाकाव्य' में अनुप्रास-प्रयोग का उत्तम रीति से निर्वहण किया है। यथा—

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष, भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सो निश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ, तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः ॥ ४। ४२॥

१—द्रष्टव्य—अभिलेखमाला, पृ. १ से ४—झा बन्धु कृत व्याख्या।

भारवि ने तो अनुप्रास के अनेक भेदों का प्रयोग किया है। विद्वानों का यह भी कथन है कि महाकाव्य-परम्परा में अन्त्यानुप्रास के दर्शन सर्वप्रथम भारवि के 'किराता-र्जुनीय' में ही होते हैं। कुमारदास को भी अनुप्रास-प्रिय कवि ही कहना चाहिये। इनके द्वारा अनुप्रास का निर्वाह अत्युत्तम हुआ है। यथा—

प्रालेयकालप्रियविप्रयोगग्लानेवरात्रिः क्षयमाससाद।
जगाम मन्दं दिवसो वसन्तक्रूरातपक्लान्त इव क्रमेण ॥–जानकीहरणमहाकाव्य।

माघ का यह पद्य भी प्रसिद्ध ही है :—

मधुरया मधुबोधित-माधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे॥
—शिशुपालवध । ६ । २० ॥

श्रीहर्ष ने भी अनुप्रास का सर्वाधिक प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं-प्रथमचरमयोर्वा शब्दयोर्वर्णसाम्ये, विलसति चरमेऽनुप्रासभासां विलासः (नैषध १३ । ५४) इस उक्ति में अन्तिम वर्णों के अनुप्रासों की, अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे, भृगुर्महान् यत्कुल-शैलशीली (७:९६) में प्रथमवर्णानुप्रास की, निमेषयन्त्रेण किमेष दृष्टः (वहीं) में मध्यवर्णा-नुप्रास की, कुलं सुधांशोर्बहलं वहन् बहु (१ । १०), स्मरहरः किममुं बुभुजे विभुः (४। ६०) पुण्येन मेऽन्ये पुनरन्यजन्य (८ । ३३), 'कल्याणि कल्यानि तवाङ्गकानि' में श्रुत्यनुप्रास और छेकानुप्रास की; तथा—

ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये, लोकेशलोकेशयलोकमध्ये।
तिर्यञ्चमप्यञ्चमृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम् ॥ ३ । ६४ ॥

में वृत्त्यनुप्रास की छटा दर्शनीय है।

उत्तरकाल में तो अनुप्रास का प्रचुर प्रयोग ही नहीं हुआ, अपि तु पूरे के पूरे ग्रन्थों का निर्माण भी हुआ है जिनमें कुछ ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

१–भट्टिकाव्य-आचार्य भट्टि, १०वा सर्ग, २–श्रीकृष्णकर्णामृत–लीलाशुक,
३–श्रीकृष्ण–विजय—शङ्कर कवि, ४–सूर्यशतक—मयूरकवि
५—गीतगोविन्द–जयदेव ६—अमरुशतक–अमरुक,
७—प्रासभारत–माधवाचार्य, ८—विजयिनीमहाकाव्य--श्रीश्वरभट्टाचार्य,
९—शव्दार्थचिन्तामणि–(?) १०—श्रृङ्गारकलिकात्रिशती-कामराज दीक्षित
११—रोमावलिशतक–विश्वेश्वर, १२—गङ्गालहरी–जगन्नाथ,
१३—अष्टप्राशसशतकत्रय–गोमतीदास, १४—निरोष्ठ्यचम्पू–स्वामीदीक्षित,
१५—वर्णमाला-स्तोत्र–रामभद्र दीक्षित, १६—किङ्किणीमाला–महालिङ्ग कवि,
१७–वसन्त-विलास, १८–रामाष्टप्रास–स्तोत्र, १९–खड्गशतक,

२०–राधापरिणयकाव्य २१–जगद्विजय छंद २२– निरनुनासिकचम्पू
२३–स्तुतिकुसुमाञ्जलि आदि ।

इनके अतिरिक्त अनेक स्तोत्रादि भी प्राप्त हैं जिनमें अनेकविध अनुप्रास की योजनाएँ की गई हैं तथा कहीं प्रतिपदाङ्कित दोहरी, तिहरी और चौहरी शब्द-संगतिवाले अनुप्रासों की स्थिति है । इन्हीं अनुप्रास के गुणों पर मुग्ध होकर भोज ने कहा है कि–

यथा ज्योत्स्ना चन्द्रमसं, यथा लावण्यमङ्गनाम् ।
अनुप्रासस्तथा काव्यमलङ्कर्तुमयं क्षमः ॥ २/७६ ॥
निवेशयति वाग्देवी, प्रतिभानवतः कवे : ।
पुण्यैरमुमनुप्रासं, ससमाधिनि चेतसि ॥ स० क० २ । ७३ ॥

———

[तृतीय अधिकरण]

१ यमक और उसका लक्षण-विकास

'यमक' शब्दालङ्कारों में भरत द्वारा सर्वप्रथम वर्णित है, अतः यह शब्दालङ्कारों का आदिस्रोत माना गया है । इसकी शाब्दिक व्युत्पत्ति—'यम्यते गुण्यते आवर्त्यते पदमक्षरं वेति यमः' की जाती है । यहाँ 'यम' धातु से बहुलग्रहणाद् 'घ' प्रत्यय किया गया है तथा 'यम एव यमकम्' में स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होकर 'यमक' शब्द बना है । इसके अनुसार 'पद अथवा अक्षर की जहाँ आवृत्ति हो, उसे यमक कहते हैं ।'

आचार्य भरत ने शब्दाभ्यास को ही 'यमक' कहा है ।[1] भामह ने 'सुनने में समान प्रतीत होने वाले किन्तु अर्थों में परस्पर भिन्न ऐसे वर्णों की आवृत्ति अथवा पुनरुक्ति को 'यमक' की संज्ञा दी है ।[2] साथ ही यमक की विशेषता और हेयता पर भी विचार किया है, जिससे यमक का लक्षण पूर्णरूपेण परिष्कृत हो गया है । भामह का कथन है कि 'जिसके शब्द प्रसिद्ध और पद-सन्धियाँ सुश्लिष्ट हों, जो ओजस्वी, प्रसाद-सम्पन्न तथा सुखोच्चार्य हो, वही विद्वानों का अभिमत यमक है, अर्थात् विद्वान् उसी यमक को उत्कृष्ट मानते हैं जिसमें

१—शब्दाभ्यासस्तु यमकम् ॥ नाट्यशास्त्र १६।५८॥

२—तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् ।
वर्णानां यः पुनर्वादो, यमकं तन्निगद्यते ॥ काव्यालङ्कार-भामह २।१७ ॥

ये गुण हों।[1] इस प्रकार यमक में ओजोगुण-समासवत्ता से सम्पन्न शब्दों की स्थिति रहने से धर्म-धर्मी में अभेदोपचार करके अर्थ की सुलभता लाई जाती है। पदों की सत्ता में पार्थक्या-भास न रहने के लिये पद-सन्धियों को महत्त्व दिया जाता है। प्रसादगुण के अभाव में यमका-लंकृतपद्य का पहेली बन जाना भी आचार्य को अभीष्ट नहीं है तथा सुखोच्चार्यता से कविता-पाठ में सरलता रहनी चाहिये—यह यमक की विशेषता है। यमक की हेयता में—'अनेक अप्रसिद्ध धातुओं से निष्पन्न दुर्बोध शब्दों के प्रयोग' को कारण माना है तथा रामशर्मा के 'अच्युतोत्तर' काव्य (जो अब अप्राप्य है) की ओर संकेत किया है। जिससे ज्ञात होता है कि सम्भवत: उस काव्य में निकृष्ट यमक के प्रचुर उदाहरण रहे हों! साथ ही यह भी निर्देश किया है कि 'यदि ये काव्य भी शास्त्रों के समान व्याख्यागम्य बन जाएँ तो विद्वान् ही आनन्द उठाएँगे:—जो बेचारे विद्वान् नहीं है, वे तो मारे गये।' अत: यमक में यथासाध्य क्लिष्टता का अभाव भी रहना चाहिये।[2]

आचार्य दण्डी ने 'वर्णसङ्घात (स्वर-व्यञ्जनसमुदाय) की आवृत्ति को 'यमक' माना है,[3] तथा उस पूर्वोच्चारित वर्णसमुदाय की आवृत्ति में अव्यवधान अथवा व्यवधान दोनों को ग्राह्य बतलाया है।[4] उद्भट ने सम्भवत: दण्डी के 'यमकचक्र' की विशालता देखकर ही न तो यमक की कोई चर्चा की है और न किसी अन्य अलङ्कार में इसका अन्तर्भाव ही किया है। वामन ने यमक के लक्षण में अधिक विशदता लाते हुए कहा है कि 'स्थाननियम के साथ अनेकार्थक पद अथवा अक्षर की आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं।'[5] इस प्रकार यमक में 'अर्थभिन्नता' जिसे दण्डी ने छोड़ दिया था, को पुन: स्थान दिया गया है। यह अनेकार्थ विशेषण पद के सम्बन्ध में ही उपयुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि पद में ही अनेकार्थ हो सकते हैं, अक्षर में नहीं। अत: भिन्नार्थक एक अथवा अनेक पदों की आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समानार्थक पदों की आवृत्ति इस यमकालङ्कार का विषय नहीं है। जहाँ पूर्ण पद की आवृत्ति न होकर उसके किसी एक देश की आवृत्ति हो उसको अक्षर की आवृत्ति कहा जायगा। ये एकदेशभूत अक्षर सार्थक न होने से अनर्थक हैं,

---

१—प्रतीतशब्दमोजस्वि, सुश्लिष्टपदसन्धि च।
प्रसादि स्वाभिधानं च, यमकं कृतिनां मतम्॥ वहीं। २।१८॥

२—नानाधात्वर्थगम्भीरा, यमक-व्यपदेशिनी।
प्रहेलिका सा ह्युदिता, रामशर्माच्युतोत्तरे॥ २।१६॥
काव्यान्यपि यदीमानि, व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव, हन्त दुर्मेधसो हताः॥ वहीं॥ २।२०॥

३—आवृत्ति वर्णसङ्घात-गोचरां कवयो विदुः॥ काव्यादर्श १।६१॥

४—अव्यपेत-व्यपेतात्मा, व्यावृत्तिर्वर्ण-संहतेः। यमकं॥ वहीं ३।१॥

५—पदमनेकार्थमक्षरं वा वृत्तं स्थाननियमे यमकम्॥ का० लं० सू० वृ० ४।१।१॥

इसलिये वामन के सूत्र में प्रयुक्त अनेकार्थ विशेषण के साथ सङ्गत नहीं होता, केवल पदों के साथ अन्वित होता है।[1] वामन के 'यमक' लक्षण की यह विशेषता है कि इन्होंने अपने लक्ष्य में स्थान-नियम का विशेष रूप से उल्लेख किया है और उन स्थानों का विस्तार-पूर्वक विवेचन भी किया है, जबकि भामह और दण्डी ने इस स्थान-नियम को स्वयं समझ लेने योग्य मानकर लक्षण में स्थान नहीं दिया। साथ ही वृत्ति में 'स्थान-नियम' का लक्षण निर्धारित करते हुए कहा गया है कि 'यमक' के प्रयोजक पद की स्थिति से अथवा दो भिन्न-भिन्न पदों के अंशों से मिलकर एक पद जैसे प्रतीत होने वाले सजातीय पद के साथ सम्पूर्ण रूप से अथवा एक देश से अनेक पादों में होने वाली व्याप्ति को 'स्थान-नियम' कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि आवृत्त पदों की स्थिति एक पाद में न होकर मुख्यतः अनेक पादों में होनी चाहिये। यह भी वामन का विशेष सिद्धान्त है। परन्तु यदि एक पादस्थ आवृत्ति को यमक न माना जाए तो 'रघुवंश' के नौवें सर्ग में प्रयुक्त चतुर्थचरणगत यमक के उदाहरणों में यमक का यह लक्षण नहीं जाएगा क्योंकि वहाँ एक ही पाद में यमक है। अतः ऐसे उदाहरणों में भी संगति करने और अव्याप्ति को हटाने के लिये वृत्ति में कहा गया है कि—'और जो कहीं-कहीं एक ही पाद के भाग में स्थित यमक दिखाई देते हैं, उनमें अन्य श्लोकों में समुचित स्थान पर अर्थात् भिन्न-भिन्न पादों में स्थित यमकों की अपेक्षा से उनकी सजातीयता के कारण गौणी वृत्ति लक्षणा के द्वारा अनेक पाद व्याप्ति समझी जा सकती है। इस प्रकार वामन ने 'यमक' के लक्षण में पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत किया है जो सहृदय-ग्राह्य है।

रुद्रट ने यमक का विषय प्रायः छन्द को बतलाते हुए 'तुल्य श्रुति और क्रम रहते हुए भी परस्पर भिन्नार्थक वर्णों की आवृत्ति को 'यमक' कहा है।'[2] इस लक्षण में यद्यपि नवीनता नहीं आ पाई है तथापि तुल्यश्रुतिपूर्वक क्रम की सत्ता को महत्त्व दिया गया है। टीकाकार नमिसाधु ने लिखा है कि 'श्रुति' शब्दग्रहण करने से वर्ण-विकार द्वारा षत्व अथवा रत्व में क्रम रहने पर भी—'वपुष्टा वपुस्ता' और 'पुनर्गता-पुना रौति' जैसे पदों में तुल्यश्रुतित्व का अभाव रहने से यमक अलङ्कार नहीं होगा। इसी प्रकार 'क्रम' शब्द का ग्रहण करने से प्रतिलोम, अनुलोम, सर्वतोभद्र तथा अनुप्रास आदि का यमक में अन्तर्भाव नहीं होगा। यही विशेषता 'अन्यार्थ' शब्द के ग्रहण में भी है।[3] 'अग्निपुराण' का यमक-लक्षण उपर्युक्त विवेचनों पर ही आधारित प्रतीत होता है।[4] राजशेखर यमक का उपदेष्टा 'चित्राङ्गद' को मानते

१—द्रष्टव्य-काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति पर आचार्य विश्वेश्वर कृत टिप्पणी—पृ० १६१।

२—तुल्यश्रुतिक्रमाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम्।
पुनरावृत्तिर्यमकं प्रायश्छन्दांसि विषयोऽस्य॥ काव्याङ्कार-रुद्रट॥ ३।१॥

३—द्रष्टव्य वहीं उपर्युक्त पद्य पर नमिसाधु की टीका पृ०। २१।

४—अनेकवर्णावृत्तिर्या भिन्नार्थप्रतिपादिका॥ ३४३।११॥

हैं। तथा 'शब्दहरण' के प्रकरण में श्लेष से यमक का और यमक से यमक का हरण प्रदर्शित किया है, जो एक नवीन विधा है।[१] भोजराज आवृत्त्युपजीवी अलङ्कारों में 'यमक' को प्रधान मानते हैं तथा 'वर्णसंहति' की आवृत्ति में एकरूपता की ओर संकेत करते हैं।[२] आचार्य मम्मट द्वारा निर्धारित 'यमक' के लक्षण ने उत्तरवर्ती आचार्यों के लक्षणों में पूर्ण सम्मान प्राप्त किया है। उनका कथन है कि—'अर्थ होने पर (नियमेन) भिन्नार्थक वर्णों की उसी क्रम से पुनरावृत्ति अथवा पुनः श्रवण को यमक कहते हैं।[३] इस लक्षण में 'अर्थे सति भिन्नानां' कहा गया है केवल 'भिन्नार्थानां' नहीं। इसका कारण यह है कि यदि 'भिन्नार्थानां' कहा जाता, तो आवृत्तपद के दोनों स्थलों पर सार्थक होने पर ही एकार्थकता अथवा भिन्नार्थकता हो सकती है। यमकस्थल में यह आवश्यक नहीं कि आवृत्तवर्ण दोनों स्थलों पर सार्थक ही हों। इसी बात को 'समरसम-रसोऽयम्' इत्यादि में पहली बार के 'समर' वर्णों के सार्थक और दूसरी बार के 'सम-रस' को मिला कर बनाये गये 'समरस' के अनर्थक होने से यमक की सत्ता तथा 'सरो रसः' इत्यादि में की गई भिन्नक्रमावृत्ति का यमकत्व-निषेध वृत्ति में स्पष्ट किया है।[४] इस प्रकार समश्रुतिवाले पदों की सार्थक अथवा निरर्थक किन्तु क्रमबद्ध आवृत्ति को यमक का अपरिहार्य धर्म माना है। आचार्य रुय्यक स्वर और व्यञ्जन-समुदाय की पुनरुक्ति को ही 'यमक' की संज्ञा देते हैं और वृत्ति में कहीं भिन्नार्थ, कहीं अभिन्नार्थ तथा कहीं एक अनर्थक और अन्य सार्थक व्यञ्जनसमुदाय की आवृत्ति के माध्यम से संक्षेप में तीन प्रकार स्थिर करते हैं।[५] यहीं अलङ्कार-विमर्शिनी व्याख्या में जयरथ ने वामन के स्थाननियम को वैवक्षिक माना है, वास्तव नहीं।[६] आचार्य रुय्यक ने अलङ्कार के विकास-क्रम में विवेचना-सम्बन्धी जो नई बातें कहीं हैं उनमें यमक को 'शब्द-पौनरुक्त्याश्रित' बतलाया है। पुरोवर्ती सभी आचार्यों में यमक के लक्षण का उपर्युक्त सामञ्जस्य हृदयग्राही बन गया। फलतः किसी ने किसी एक प्रिय अंश को और किसी ने सामान्य शब्द-परिवर्तन के साथ अपने-अपने लक्षण पुरस्कृत किये हैं, जिनमें कोई विशेष नवीनता नहीं दिखलाई है।

१—यमकं साव्यपेतं च, व्यपेतं चेति तद् द्विधा ॥ अग्निपुराण।
यमकानि चित्रं चित्राङ्गदः ॥ काव्यमीमांसा अ० १, तथा वहीं अ० ११।

२—विभिन्नार्थैकरूपाया, या वृत्तिर्वर्णसंहतेः।
अव्यपेत-व्यपेतात्मा, यमकं तन्निगद्यते ॥ स० क०। २।५८ ॥

३—अर्थे सत्यर्थभिन्नानां, वर्णानां सा पुनः श्रुतिः।
यमकं पादतद्भागवृत्ति तद् यात्यनेकताम् ॥ काव्यप्रकाश। ९।८३ ॥

४—काव्यप्रकाश-नवम उल्लास-यमक पर वृत्ति द्रष्टव्य।

५—स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम् ॥ काव्यालङ्कार-सर्वस्व पृ० २६।

६—वहीं-अलङ्कार-विमर्शिनी, पृ० २७। स च स्थाननियमो वैवक्षिको न वास्तवः। इत्यादि।

यमक के भेद और उनकी सोदाहरण मीमांसा

शब्दालङ्कारों में यमक की परिधि अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत होने के कारण उसमें प्रयुक्त विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली का विमर्श करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। तदनुसार निम्न विमर्श प्रस्तुत किया जा रहा है।

यमक का व्यापक लक्षण

उपर्युक्त विभिन्न आचार्यों द्वारा दिखलाये गये लक्षणों से ज्ञात होता है कि—'शब्दाभ्यास, भिन्न अर्थ वाले वर्णों की आवृत्ति, व्यवधान-रहित अथवा व्यवधान-सहित वर्णसङ्घात की आवृत्ति, स्थान-नियम के साथ अनेकार्थ समस्तपद्य, पद्य का आधा भाग दो चरण, समस्त चरण, समस्तपद अथवा पदैकदेशस्थ कतिपय अक्षरों की आवृत्ति तथा तुल्यश्रुति और क्रम पूर्वक सार्थक अथवा कतिपयांश में निरर्थक किन्तु भिन्नार्थक वर्णों की आवृत्ति होने पर 'यमक' अलङ्कार होता है।

यमक की भेदकल्पना के लिये प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावली

आचार्यों ने यमक के भेदों को समझने के लिये कतिपय विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया है, जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(क) अव्यपेतः—जहाँ किसी वर्णसमुदाय की आवृत्ति के बीच अन्यवर्णों का व्यवधान नहीं रहता है। जैसे–'मानेन मानेन सखि; प्रणयोऽभूत् प्रिये जने, इस पद्यांश में पहले 'मानेन' पद के बाद दूसरे 'मानेन' पद की आवृत्ति के बीच में अन्यवर्णों का व्यवधान नहीं रखा गया है।

(ख) व्यपेतः—जहां किसी वर्णसमुदाय की आवृत्ति के बीच में अन्यवर्णों का व्यवधान रहता है, उसे 'व्यपेत' कहते हैं। जैसे–'मधुरेणदृशां मानं मधुरेण सुगन्धिना' इस पद्यांश में पहले पद 'मधुरेण' के बाद दूसरे 'मधुरेण' पद की आवृत्ति के बीच में अन्य वर्णों का व्यवधान रखा गया है।

(ग) अव्यपेतव्यपेतः—जहाँ उपर्युक्त दोनों पद्धतियों का मिश्रण करते हुए वर्णसमुदाय की आवृत्ति की जाती है उसे 'अव्यपेतव्यपेत' कहते हैं। जैसे–'सालं सालम्बकलिकासालं सालं न वीक्षितुम्' इस पद्यांश के प्रथम पाद में 'सालं सालं' पदों की व्यवधान रहित आवृत्ति होने से अव्यपेत' यमक है, जब कि प्रथम पाद के द्वितीय पद में प्रयुक्त 'सालं' पद के बाद 'बकलिका' रूप अन्य वर्णों का व्यवधान रखकर पुनः द्वितीय पाद में प्रयुक्त 'सालं' पद की आवृत्ति होने से 'व्यपेत' यमक होता है। अतः इन दोनों के मिश्रण से यहाँ 'अव्यपेतव्यपेत' यमक की व्यवस्था की गई है।

(घ) **सजातीय-मिश्रण**—यमक के प्रयोगों में बहुलता लाने के लिये आवृत्ति-प्रक्रियाओं का मिश्रण दो प्रकार से होता है १-सजातीय और २-विजातीय। उसमें यदि 'व्यपेत' प्रक्रियाओं का 'व्यपेत-प्रक्रिया' के अन्य प्रकारों में मिश्रण होता है तो वह 'सजातीय-मिश्रण' कहलाता है। इस सजातीय मिश्रण के भी दो भेद किये हैं—१- अव्यपेत-प्रक्रिया' का अव्यपेत-प्रक्रिया' के अन्य प्रकारों के साथ प्रयोग होने पर। जैसे पूर्वोक्त उदाहरणों में हुआ है जो पाद या पद के किसी भाग की आवृत्ति से स्पष्ट है। और २-'अव्यपेत-व्यपेत-प्रक्रिया' में भी एक विशेष पद्धति का अनुगमन से होता है।

(ङ) **विजातीय-मिश्रण**—इसमें अनेक प्रकार के यमकों का मिश्रण किया जाता है जिसमें कहीं अव्यपेत-व्यपेत-यमक, कहीं सन्दष्टयमक, कहीं व्यपेत-यमक आदि विभिन्न प्रकारों का एक ही पद्य में प्रयोग होता है।

(च) **अनुलोम आवृत्ति**—जहाँ पदों के वर्णसमुदाय की आवृत्ति सीधे क्रम से हो।

(छ) **प्रतिलोम आवृत्ति**—जहाँ वर्णों की आवृत्ति विपरीत क्रम से होती है। जैसे 'यानमान' का प्रतिलोम 'नमानया' होता है।

(ज) **भंग और उसके भेद**—वामन ने यमक की उत्कृष्टता के लिये पदों में किये जानेवाले—'भंग पद-विच्छेद' को उत्तम बतलाया है तथा उस भंग के तीन प्रकारों का निर्देश किया है।[1] जो इस प्रकार है—

(१) **शृंखला**—वर्णों के विच्छेद का क्रमशः आगे सरकना 'शृंखला' कहलाता है।[2] यथा—'असज्जनवचो यस्य कलिकामधुर्गर्हितम्' इस पद्यांश में प्रयुक्त 'कलिकामधु' शब्द में पहले 'कलिकामधुक्' यह पदच्छेद करने पर कलि पद से काम शब्द को अलग करने से 'लि' अक्षर पर वर्ण-विच्छेद होता है। फिर 'कलिकामधु' ऐसा पदच्छेद करने से वह विच्छेद 'लि' अक्षर से आगे सरक कर 'का' अक्षर पर आ जाता है। तथा मधु शब्द के विच्छेद करने पर उस वर्णविच्छेद का 'लि' अक्षर से 'का' अक्षर की ओर चलन हाता है। क्योंकि 'कलिकामधु' शब्द में बीच के 'का' अक्षर का एक और 'लि' और दूसरी ओर 'म' अक्षर से विच्छेद होने से 'वर्णविच्छेद' के चलन की एक शृंखला बन जाती है।

(२) **परिवर्तक**—पास के किसी अक्षर का किसी सम्बद्ध अक्षर से सम्बन्ध छूट जाने पर उस वर्ण की संगति के कारण विस्तृत हुए वर्ण को जो संगति हट जाने से पुनः अपने स्वरूप की प्राप्ति होती है, वह वर्ण की विकृति से स्वरूपभूत की प्रकृति की ओर

१—भङ्गादुत्कर्षः ॥ ४।१।३॥ तथा—शृङ्खलापरिवर्तकश्चूर्णमिति-भङ्गमार्गः ॥
—काव्या०-वामन ४।१।४॥

२—वर्ण-विच्छेद-चलन-शृङ्खला ॥ वहीं ४।१।५॥

परिवर्तित हो जाने से 'परिवर्तक' नामक यमकभङ्ग का दूसरा प्रकार होता है।[1] यथा—पूर्वोक्त पद्यांश 'कलिकामधुगर्हितम्' में 'अर्हितम्' यह पद व्यञ्जनरूप गकार की संगति से —अपने अर्हितम्—श्रेष्ठ-पूज्य अर्थ के प्रतिपादक स्वरूप को छोड़कर 'गर्हितम्' इस प्रकार के अन्य रूप को प्राप्त हो गया है। उस 'गर्हितम्' में से गकार रूप व्यञ्जन का संग हट जाने पर गर्हितम् पद 'अर्हितम्' इस रूप में अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस परिवर्तक के दो भेद इस प्रकार हो सकते हैं— १–विच्छेद-युक्त अनेक पदों के मिलाने से स्वरूप की प्राप्ति और २–भिन्न-भिन्न दो हलों—अर्थात् व्यञ्जनों के मिलाने से स्वरूप की प्राप्ति।

(३) **चूर्ण**—संयुक्ताक्षर-पिण्डाकार को अलग कर देने पर पद के स्वरूप का लोप हो जाना 'चूर्ण' नामक यमक-भङ्ग का तीसरा प्रकार है।[2] जैसे—

योऽचलकुलमवति चलं, दूरसमुन्मुक्तशुक्तिमीनां कान्तः।
साग्नि बिभर्ति च सलिलं, दूरसमुन्मुक्तशुक्तिमीनां कान्तः।[3]

इस पद्य में द्वितीय चरण के 'शुक्ति' पद में 'क्ति' यह संयुक्ताक्षर है। इसको विभक्त कर देने पर शुक्ति पद का लोप हो जाता है। शुक्तमीनां पद में अक्षर का 'उन्मुक्त-शुक्' पद में और और 'ति' अक्षर का 'तिमीनां' पद में तथा अन्यत्र शुक् तथा तिमीनां पदों में संक्रम हो जाने से—'शुक्ति' पद का लोप हो जाता है—चूर्ण हो जाता है।

उपर्युक्त यमकभङ्ग के प्रकारों के विषय में चार संग्रह-श्लोक[3] भी वामन ने दिये हैं, जिनके द्वारा यमक के इन भङ्गों की महत्ता उदाहरणों द्वारा समझाई गई है। जिनका सारांश इस प्रकार है—

पूर्ण वर्णों के विन्यास का पदच्छेद के अवसर पर इधर-उधर सरक जाना शुद्ध शृंखला कहलाता है। इस शृंखला रूप-भंग से यमकों की विचित्रता प्रतीत होने लगती

१—सङ्गविनिवृत्तौ स्वरूपापत्तिः परिवर्तकः ॥वही ४।१।६॥
२—पिण्डाक्षरभेदे स्वरूपलोपश्चूर्णम्, काव्यालङ्कार-वामन ॥४।१।७॥
३—अखण्डवर्णविन्यासचलनं शृङ्खलाऽमला।
अनेन खलु भङ्गेन, यमकानां विचित्रता ॥१३॥
यदन्यसङ्गमुत्सृज्य, नेपथ्यमिव नर्तकः।
शब्दस्वरूपमारोहेत्, स ज्ञेयः परिवर्तकः ॥१४॥
पिण्डाक्षरस्य भेदेन, पूर्वापरपदाश्रयात्। वर्णयोः पदलोपो यः, स भङ्गश्चूर्णसंज्ञकः ॥
अप्राप्तचूर्णभङ्गानि, यथास्थानस्थितान्यपि। अलकानीव नात्यर्थं, यमकानि चकासति ॥
१५-१६ : काव्यालङ्कार-वामन अधि० ४, अ०

हैं। जैसे नाटक में नट अन्य रामादि के वेश को छोड़कर अपने स्वरूप को प्राप्त होता है उसी प्रकार जो वर्ण विकृतिजनक अन्य वर्ग के संग को छोड़कर अपने वास्तविक शब्द-स्वरूप को प्राप्त हो जाय, उस यमक भेद को 'परिवर्तक' कहते हैं तथा संयुक्ताक्षर को तोड़ने से दोनों संयुक्त वर्णों के क्रमशः पूर्व और उत्तर पदों में मिल जाने से जो संयुक्ताक्षर-जन्य पद का लोप हो जाता है, उस भङ्ग को 'चूर्ण' नामक यमक-भङ्ग का प्रकार समझना चाहिये। जैसे चूर्ण-भङ्ग केशपाश की रचना-विशेष से रहित होने पर अपने उचित स्थान में रहने पर भी 'केश' शोभित नहीं होते, उसी प्रकार 'चूर्ण' भङ्ग नामक यमकभङ्ग के बिना उचित स्थान पर स्थित रहने पर भी यमक अधिक शोभाजनक नहीं होते हैं।

इनके अतिरिक्त भोजराज ने भङ्ग के प्रकारों में 'स्वभेदोच्छेदी, अन्यभेदोच्छेदी, स्वभेदानुच्छेदी और अन्य-भेदानुच्छेदी' नाम से पाद-सन्धि के कारण होने वाले भङ्गों का निर्देश किया है तथा बहुत वर्णों की आवृत्ति को 'स्थूल' और थोड़े वर्णों की आवृत्ति को 'सूक्ष्म' नाम से सम्बोधित किया है। इन यमक के उपभेदों की योजना में न ण,श स, र ल, आदि अक्षरों तथा अनुस्वार, विसर्ग आदि की आवृत्ति में स्वानुकूल-प्रयोग करने पर भी यमक में किसी प्रकार का दोष न मानने का भी विद्वानों ने संकेत दिया है।

यमक में होनेवाली विभिन्न आवृत्तियाँ

यमकालङ्कार में होने वाली आवृत्तियाँ प्रधानतः स्वर और व्यञ्जनों के समुदाय पर निर्भर हैं किन्तु उस वर्ण-समुदाय से निष्पन्न शब्द, पद, पदैकदेश, चरण, पद्यार्धभाग और सम्पूर्ण पद्य की आवृत्ति होने पर उसमें अनेकरूपता आ जाती है। इस प्रकारवर्णों की आवृत्ति में आवृत्तवर्णों की चार प्रकार की स्थिति हो सकती है—

१—जहाँ दोनों सार्थक हों। इस दशा में दोनों पद होंगे और उनको समानार्थक नहीं, अपितु भिन्नार्थक ही होना चाहिये। २—दूसरी दशा में दोनों अनर्थक रहेंगे। यह पदों की नहीं अपितु केवल वर्णों की आवृत्ति कहलायेगी। ३—तीसरे रूप में प्रथम अंश सार्थक और उत्तरभाग अनर्थक हो सकता है। इसमें पहला सार्थकभाग पद होगा तथा दूसरा अनर्थक भाग पदांश अथवा वर्णरूप होगा। ४—चौथी स्थिति में पूर्वभाग अनर्थक और उत्तरभाग सार्थक हो सकता है। इसमें सार्थक उत्तर भाग पद और अनर्थक पूर्वभाग पदांशरूप वर्ण अथवा अक्षर कहलाएगा। यमक की वर्णावृत्ति कम-से-कम दो बार और अधिक से अधिक कवि की प्रतिभा के अनुसार कई बार की जा सकती है।

भामह ने 'अनन्तरपाद और एकान्तरपादों की आवृत्ति का भी निर्देश किया है।'[1] तदनुसार निम्नलिखित स्वरूप किये जा सकते हैं—

१—अनन्तरैकान्तरयोरेवं पादान्तयोरपि।
कृत्स्नं च सर्वपादेषु, दुष्कृतं साधु तादृशम्॥
काव्यालङ्कार-भामह २। १६॥

अनन्तरपादावृत्ति—जहाँ पद्य के चरणों की आवृत्ति इस प्रकार की जाए कि एक चरण के बाद दूसरे चरण की आवृत्ति निरन्तरता से हो, उसे अन्तरपाद कहते हैं। इस दृष्टि से अनन्तर पादावृत्ति के तीन भेद होंगे—१—प्रथम और द्वितीय पादावृत्ति। २—द्वितीय और तृतीय पादावृत्ति तथा ३ तृतीय और चतुर्थ पादावृत्ति।

एकान्तर पादावृत्ति—जहाँ पद्य के चरणों की आवृत्ति इस प्रकार की जाए कि एक चरण के बाद दूसरे चरण की आवृत्ति न होकर तीसरे चरण की आवृत्ति हो, अर्थात् प्रतिचरण के पश्चात् निरन्तर आवृत्ति न होकर अगले चरण की आवृत्ति की जाय, उसे एकान्तरपाद कहते हैं। इस दृष्टि से एकान्तरपाद-पादावृत्ति के दो भेद होंगे—१—प्रथम और तृतीय पादावृत्ति तथा २—द्वितीय और चतुर्थ पादावृत्ति। यह प्रक्रिया व्यपेत, अव्य-पेत, और अव्यपेताव्यपेत से साम्य रखती है। दण्डी ने आवृत्ति के अनेक प्रकारों का वर्णन किया है, जिनमें निम्नलिखित प्रकार दर्शनीय हैं—

एक पाद में आवृत्ति के चार भेद—

१—प्रथम पाद में, २–द्वितीय पाद में, ३–तृतीय पाद में तथा ४–चतुर्थ पाद में आये हुए शब्दों की आवृत्ति होने पर 'एकपाद यमक' के ये चार भेद होते हैं।

दो पादों में आवृत्ति के छः भेद—

१—प्रथम और द्वितीय पादों में, २–प्रथम और तृतीय पादों में, ३–प्रथम और चतुर्थ पादों में, ४–द्वितीय और तृतीय पादों में, ५–द्वितीय और चतुर्थ पादों में तथा ६–तृतीय और चतुर्थ पादों में आवृत्ति होने पर 'द्विपाद-यमक' के ये छः भेद होते है।

तीन पादों में आवृत्ति के चार भेद—

१—प्रथम, द्वितीय और तृतीय पादों में, २—प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ पादों में, ३—प्रथम, तृतीय और चतुर्थ पादों में तथा ४—द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पादों में आवृत्ति होने पर 'त्रिपाद यमक' के ये चार भेद होते हैं।

चार पादों में आवृत्ति का एक भेद—

१—चारों पादों में समान आवृत्ति होने पर 'चतुष्पाद–यमक' एक प्रकार का होता है। इस प्रकार क्रमशः चार, छः, चार और एक आवृत्ति के भेदों का योग करने से कुल, पन्द्रह भेद होते हैं। इन पन्द्रह स्थानों की आवृत्तियों को—१-आदि, २-मध्य, ३-अन्त तथा ४-आदि-मध्य-अन्तर्गत-स्थानों के साथ प्रत्येक को जोड़ देने से १५ × ७ = १०५ एक सौ पाँच आवृत्तियों के प्रकार बन जाते हैं। और जब ये ही प्रकार १-अव्यपेत, २-व्यपेत और ३-व्यपे-ताव्यपेत के रूप में आवृत्त होते हैं तो तिगुने होकर कुल ३१५ तीन सौ पन्द्रह प्रकार बन

जाते हैं। दण्डी ने इनके अतिरिक्त प्रतिलोम आवृत्ति के १-पादप्रतिलोम, २-अर्धप्रतिलोम, ३-श्लोकप्रतिलोम ऐसे तीन प्रकार और दिखलाये हैं।

एकाक्षरावृत्ति और अनेकाक्षरावृत्ति

वामन ने शब्दों की आवृत्ति से आगे बढ़ कर अक्षरों की आवृत्तियों को भी यमक में स्थान दिया है। ये अक्षरावृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—१-एकाक्षरावृत्ति और २-अनेकाक्षरावृत्ति और ये आवृत्तियाँ भी पद के आदि, मध्य तथा अन्त के स्थानों में होने पर विविध प्रकार की हो सकती हैं। रुद्रट ने एकदेशज और समस्तपादज आवृत्तियों का जो-निर्देश किया है वह उपर्युक्त प्रकारों में समाविष्ट हो जाता है।

कतिपय अन्य आवृत्तियाँ

किन्तु भोज ने दो आवृत्तियों से अधिक बार आवृत्ति को **'आवृत्त्याधिक्य'** और चारों चरणों में समानजातीय पद की आवृत्ति होने पर **'आवृत्त्येकरूपता;** स्पष्ट आवृत्ति रहने पर 'स्थूल' और सूक्ष्म-परस्पर सङ्कीर्ण अल्पवर्णों की आवृत्ति रहने पर **'सूक्ष्म'** पाद-सन्धि में अन्य भेद का उच्छेद हो जाने पर **'अन्य-भेदोच्छेदी'** तथा पाद-सन्धि करने पर भी अन्य भेद का उच्छेद न होने पर **'अन्यभेदानुच्छेदी'** और अपने भेद में पूर्वभेद का उच्छेद होने पर **'स्वभेदे पूर्वभेदोच्छेदी'** तथा अपने भेद में पूर्वभेद का उच्छेद न होने पर **'स्वभेदे पूर्वभेदानुच्छेदी'** आदि आवृत्तियों के भेद प्रस्तुत किये हैं।

आवृत्ति का विशेष नियम

यमक की आवृत्ति में विद्वानों के प्रयोगों को लक्ष्य में रख कर परीक्षण करने से यह नियम ज्ञात होता है कि **'यमक की आवृत्ति में किसी एक सुनिश्चित क्रम की एकरूपता का पालन होना नितान्त आवश्यक है**। इसके अभाव में वहाँ यमकालङ्कार 'न मान कर अनुप्रास अलङ्कार मानना चाहिये। इसी प्रकार भिन्नार्थकता भी यमक का उपजीव्य तत्त्व है!

यमक के पदों की विशिष्ट नामावली

अन्य अलङ्कारों में किसी भेद विशेष को जिस प्रकार किसी विशिष्ट नाम द्वारा अभिहित किया जाता है, उसी प्रकार यमक के विभिन्न भेदों में से कतिपय-भेदों को विशिष्ट नाम देकर विवेचन करने का कार्य सर्वप्रथम भरत ने किया है! सामान्यतः भरत-दर्शित दस भेदों में छः का पूर्णतः और दो का अंशतः नामकरण हुआ है। पूर्णतः जिनका नाम निर्देश है वे नाम इस प्रकार हैं —१-माला, २-सन्दष्टक, ३-काञ्ची, ४-चक्रवाल, ५-विक्रान्त एवं ६-समुद्ग। इनमें माला का पुष्प-ग्रथन-प्रक्रिया से, सन्दष्टक का स्थानों की कसाहट से, काञ्ची का आभरणगत रचना-विशेष से, चक्रवाल का गति-विशेष से, विक्रान्त का आकृति-गत विशिष्टता से तथा समुद्ग का वस्तु विशेष से सम्बन्ध स्थापित करते हुए नामकरण हुआ

है। जब कि अंशतः निर्दिष्ट १-पादान्ताम्रेडित और २-चतुर्व्यवसित में; प्रथम में स्थान कथन के साथ 'आम्रेडित' शब्द का व्यवहार किया है। जिसका अर्थ है 'दो बार आवृत्ति। किन्तु ऐसी आवृत्ति यमक के अन्यतम भेद सन्दष्टक में भी होती है फिर भी वहाँ इस शब्द का व्यवहार नहीं किया गया है। इसी प्रकार द्वितीय नाम में स्थान-कथन के साथ 'व्यवसित' शब्द प्रयुक्त है जिसका अर्थ है— समान व्यवस्थायुक्त, किन्तु ऐसी व्यवस्था 'अर्धाभ्यास' नामक यमक प्रभेद में भी होती है जब कि उसमें अभ्यास पद दिया है। इनके अतिरिक्त अवशिष्ट दो भेदों में पादादि और पादान्त कह कर ही काम चलाया गया है। ऐसी स्थिति में भरत की इस नामकरण-प्रक्रिया का न तो कोई तार्किक क्रम विदित होता है और न कोई विशेष महत्त्व। यही कारण है कि अन्य आचार्यों ने भी इसका यथावत् पालन नहीं किया है।

भामह ने केवल 'अवली' नाम से अपने पाँच भेदों में एक भेद का नामकरण किया है जिसका स्वरूप 'यमक-संसृष्टि, से मिलता है किन्तु उनके लक्षण भरत से पृथक् ही हैं। वामन ने 'सुप्तिङ्-विभक्तिगत' वैशिष्ट्य के कारण 'अद्भुत यमक' के रूप में एक और नवीन नाम दिया है जो अपनी आश्चर्योत्पादक-प्रणाली के कारण सार्थक ही है। रुद्रट ने इस दिशा में स्वतन्त्र-चिन्तन से काम लिया है। उनके द्वारा प्रदर्शित ग्यारह भेदों के नाम इस प्रकार हैं—१-मुख, २-सन्दंश, ३-आवृत्ति, ४-गर्भ, ५-सन्दष्टक, ६-पुच्छ, ७-पंक्ति, ८-परिवृत्ति, ९-युग्मक, १०-समुद्गक और ११-महायमक। इनमें सन्दष्टक और समुद्गक—भरतप्रोक्त नाम हैं तथा महायमक भामह द्वारा उपेक्षित किन्तु दण्डी द्वारा सुगृहीत नाम है। रुद्रट के मुखादि नामकरण में रोचकता और मौलिकता दोनों के दर्शन होते हैं जिन्हें हम आवृत्तिगत-विशेषता की नीचे दी गई तालिका द्वारा समझ सकते हैं—

क्रम	नाम	आवृत्तिस्थान
१	मुख	प्रथम और द्वितीयपादावृत्ति
२	सन्दंश	प्रथम और तृतीय पादावृत्ति
३	आवृत्ति	प्रथम और चतुर्थ पादावृत्ति
४	गर्भ	द्वितीय और तृतीय पादावृत्ति
५	सन्दष्टक	द्वितीय और चतुर्थपादावृत्ति
६	पुच्छ	तृतीय और चतुर्थपादावृत्ति
७	पंक्ति	चारों चरणों की समान आवृत्ति
८	परिवृत्ति	द्वितीय-तृतीय और प्रथम-चतुर्थचरणों की आवृत्ति
९	युग्मक	प्रथम-द्वितीय और तृतीय-चतुर्थ चरणों की आवृत्ति
१०	समुद्गक	अर्धश्लोकावृत्ति
११	महायमक	सर्वश्लोकावृत्ति

इस प्रकार 'यथा नाम तथा गुणः' की उक्ति को यहाँ चरितार्थ किया गया है। अग्निपुराण में भरत का अनुसरण करते हुए भी ससर्ग-यमक नाम में नवीनता दिखलाई है किन्तु लक्षण न होने से इस नाम-करण का कारण नहीं जाना जा सकता। वैसे भरत की तुलना में यह समुद्ग अथवा चक्रवाल से साम्य रखता होगा ! भोज ने यमक के भेदों के स्वतन्त्ररूप से नाम तो नहीं दिये हैं किन्तु आवृत्तिगत सूक्ष्मता का निदर्शन करने के लिए आवृत्त्यधिकता, आवृत्त्येकरूपता, स्थूल, सूक्ष्म, अन्यभेदोच्छेदी, पादसन्धि आदि नामों का प्रयोग किया है, जो नवीन परिलक्षित होते हैं।

वर्गीकरण के प्रकार

आचार्य भरत ने जिस रूप में यमक का वर्गीकरण दिया है, वह उत्तरकाल के आचार्यों से कथमपि सामंजस्य नहीं रखता है। भरत की दृष्टि में सम्भवतः वर्गीकरण का लक्ष्य न रहकर केवल वर्णन का ही लक्ष्य रहा होगा ! यही कारण है कि उन्होंने यमक के दस भेदों का कोई क्रम-स्थापन नहीं किया है। ऐसा लगता है कि उनके द्वारा यमक का जो लक्षण 'शब्दाभ्यासस्तु यमकम्' कहा गया है उसका उनके उदाहरणों में भी यथावत् पालन नहीं हो पाया है। इसे हम निम्न तालिका द्वारा देख सकते हैं—

भरत के यमकों का क्रम

१—**पादान्तयमक**—एक शब्द की एक बार चारों चरणों के अन्त में आवृत्ति।
२—**काञ्चीयमक**—एक शब्द की दो दो बार चारों चरणों के आद्यन्त में आवृत्ति।
३—**समुद्गयमक**—पूर्वार्ध की उत्तरार्ध में आवृत्ति।
४—**विक्रान्तयमक**—द्वितीय चरण के चौथे चरण में आवृत्ति।
५—**चक्रवालयमक**—एक शब्द की पादादि में एकबार तथा पादान्त में दो बार आवृत्ति।
६—**सन्दष्टकयमक**—एक शब्द की चारों पादों के आदि भाग में दो-दो बार आवृत्ति।
७—**पादादियमक**—एक शब्द की चारों पादों के आदिभाग में एक-एक बार आवृत्ति।
८—**पादान्ताम्रेडित**—एक शब्द की चारों पादों के अन्त में दो-दो बार आवृत्ति।
९—**चतुर्व्यवसित** —एक पद की चारों चरणों में समान आवृत्ति।
१०—**मालायमक** —एक अक्षर की अनेक स्थानों पर आवृत्ति।

इनमें अक्षरावृत्ति से सम्बन्धित जो मालायमक है वह शब्दाभ्यास से शून्य है और न उसमें उत्तरकाल में स्वीकृत आवृत्त पदों का अर्थभेद ही है अन्य भेदों में भी यदि पादादि, पादान्त, एकशब्दावृत्ति और आद्यान्तावृत्ति को सुविहित क्रम से रखा जाता तो उचित होता। भरत के समय अनुप्रास का स्वतन्त्र निरूपण न होने से अर्थभेद की महत्ता भी सर्वग्राह्य नहीं हुई। यद्यपि नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त ने भरतोक्त उदाहरणों के

आवृत्त शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थ करने का प्रयास किया है पर वह सर्वत्र नहीं हो सकता[१], अतः स्पष्ट ही भरत का मालायमक वृत्त्यनुप्रास मात्र है।[२] इसके अतिरिक्त भेदों को उत्तर-काल के आचार्यों द्वारा किये गये वर्गीकरण के आधार पर इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

भरत के यमकों का नवीन दृष्टि से वर्गीकरण

क्रम	भरत प्रोक्त नाम और उनकी क्रम संख्या	नवीन नाम	लक्षण
१	माला-यमक १०	स्वतन्त्र एकाक्षर की आवृत्ति	स्वतन्त्र रूप से एक व्यञ्जन की पूरे पद्य में आवृत्ति होने से यह वृत्त्यनुप्रास मात्र है।
२	सन्दष्ट-यमक ६	समस्त-पादादि-यमक अव्यपेत	एक शब्द की दो-दो बार चारों चरणों के आदि भाग में आवृत्ति।
३	पादादि-यमक ७	समस्त-पादादि-यमक व्यपेत	एक शब्द की एक-एक बार चारों चरणों के आदि भाग में आवृत्ति।
४	पादान्ताम्रेडित-यमक ८	समस्त-पादान्त-यमक अव्यपेत	एक शब्द की दो-दो बार चारों चरणों के अन्त भाग में आवृत्ति।
५	पादान्त-यमक १	समस्त-पादान्त-यमक व्यपेत	एक शब्द की एक-एक बार चारों चरणों के अन्त भाग में आवृत्ति।
६	काञ्ची-यमक २	समस्त-पादाद्यन्त-यमक अव्यपेत	एक शब्द की दो-दो बार चारों चरणों के आद्यन्त भाग में आवृत्ति।
७	चक्रवाल-यमक ५	पादान्तादि-यमक (सन्दष्टक)	एक शब्द की प्रतिपाद के अन्त भाग में दो-दो बार तथा द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद के आदि भाग में एक-एक बार आवृत्ति।
८	चतुर्व्यवसित-यमक ९	पादाभ्यास अव्यपेत	प्रथम चरण की अन्य तीनों चरणों में आवृत्ति।
९	विक्रान्त-यमक ४	पादाभ्यास व्यपेत	द्वितीय और चतुर्थ चरणों में एक चरण की समान आवृत्ति।
१०	समुद्ग-यमक ३	अर्धाभ्यास	पूर्वार्ध की उत्तरार्ध में आवृत्ति।

१—द्रष्टव्य—नाट्यशास्त्र, भरत, बड़ौदा संस्करण, सटीक पृ० ३२६.२७ ॥

२—मालायमक के अन्य अक्षर परक उदाहरणों से भी यह स्पष्ट है। देखिये वहीं यमकालङ्कार।

इसी प्रकार भामह का वर्गीकरण भी इतना क्रम-पूर्ण नहीं बन पाया है। यद्यपि उन्होंने आदियमक, मध्यान्तयमक, पादाभ्यास, आवली और समस्तपादयमक का वर्णन किया है तथा महायमक का भी सूचन किया है, किन्तु यहाँ जो 'मध्यान्त-यमक' को एक-रूप माना है वह विशेष-युक्ति-सङ्गत नहीं प्रतीत होता। क्योंकि वे आदि-यमक को जब पृथक् मानते हैं, तो मध्य और अन्त को भी पृथक्-पृथक् न मानने में क्या हेतु हो सकता है? उनके वर्गीकरण में 'आवली' को स्थान मिलना भी इसी प्रकार उचित नहीं लगता, क्योंकि यदि वे सीधा १-आदि २-अन्त ३-पादाभ्यास तथा ४-समस्तपाद यमक, इस प्रकार विभाग करते तो उसके मिश्ररूप में आवली भी अन्तर्गत हो जाती। अतः ऐसा लगता है कि यहाँ कोई पाठस्खलन हुआ है, और उसकी यह पूर्ति अविचारित प्रतीत होती है। इस पर भी भामह का यह कथन है कि—'हमने जो पाँच भेद यमक के दिये हैं उनमें ही सन्दष्टक-समुद्गक आदि अन्य भेद अन्तर्भूत हो जाते हैं'—इतना सन्तोषकारक प्रतीत नहीं होता। और सम्भवतः वे भी इस कथन से सन्तुष्ट नहीं हो पाये थे। यही कारण था कि उन्होंने अनन्तर-पादावृत्ति और एकान्तर-पादावृत्ति का संकेत दिया। अतः यमक के वर्गीकरण को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय आचार्य दण्डी को ही है। वामन, रुद्रट, अग्नि-पुराणकार, भोज और मम्मट आदि अलङ्कारिकों ने दण्डी का ही अनुकरण किया है किन्तु संक्षिप्त नाम-भेद अवश्य है।

इन्हीं सब कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए हम यहाँ भरत और भामह के प्राचीन क्रम को न लेकर 'भरत के यमकों का नवीन दृष्टि से वर्गीकरण' शीर्षक तालिका में दिये गए क्रम के अनुसार यमक की सोदाहरण-मीमांसा कर रहे हैं। मीमांसा करते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखा गया है—

१—नवीन क्रम का निर्वाह और तदनुकूल नामावली।
२—ऐतिहासिक क्रम-निर्वाह, और भरत के नाम लक्षण तथा उदाहरणों को प्राथमिकता।
३—भरत से भोज तक का ही विवेचन।
४—सुलभ और आवश्यक उदाहरणों पर विचार।
५—यथासम्भव प्रथम निर्दिष्ट प्रमुख भेद के साथ ही अन्य उपभेदों का सूचन।
६—अन्य किन्हीं कारणों से बने हुए भेदों का समन्वय।
७—उत्तरोत्तर आचार्यों द्वारा दिखलाये गये नवीन भेदों का प्रथम विवेचन।

इनमें क्रमांक ३ के सम्बन्ध में विशेष यह है कि—समस्त अलङ्कार ग्रन्थों के पर्यवेक्षण से यह ज्ञात होता है कि—'यमक के भेद-प्रभेदों का विस्तृत विवेचन भरत से भोज तक हुआ है, उसी का अनुकरण उत्तरकाल के आचार्यों ने भी किया है और अपनी कोई नवीनता वे नहीं दे पाए हैं। अतः पिष्टपेषण को यहाँ स्थान नहीं देना ही उचित माना है।

स्वतन्त्र एकाक्षर की आवृत्ति

भरत ने ऐसी स्वतन्त्र एकाक्षर की आवृत्ति को यमक का दसवाँ भेद माना है। उनके अनुसार इसका नाम और लक्षण यह है—'जहाँ अनेकरूप स्वरों के द्वारा एक व्यञ्जन की आवृत्ति होती है, वहाँ विद्वानों को 'मालायमक' समझना चाहिये।[1] जैसे—

हली बली लली माली, शूली जाली लली जली।
बलो बलोच्चलोलाक्षो, मुसली त्वाभिरक्षतु॥ वहीं १६।८५॥

यहाँ अनेक स्थानों पर 'ल' व्यञ्जन की अनेकरूप स्वरों के साथ आवृत्ति हुई है, अतः 'मालायमक' अलङ्कार है।[2]

भामह ने इस प्रकार के भेद की चर्चा नहीं की है क्योंकि ऐसी रचना को तो वे 'ग्राम्यानुप्रास' मात्र मानते हैं जो उनके 'सरूपवर्ण-विन्यास' की परिधि में 'सलोलमाला-लीलालिकुलाकुलगलो बलः' जैसे उदाहरण से समानता रखता है और यह उनके यमक लक्षण में सूचित 'भिन्नाभिधेयता' से भी साम्य नहीं रखता है। दण्डी ने स्पष्ट ही 'वर्ण-सङ्घात' की आवृत्ति को यमक का तत्त्व माना है अतः कहीं भी इस प्रकार का भेद ग्राह्य नहीं हुआ है। रुद्रट ने 'मालायमक' का नाम-निर्देश किया है किन्तु वह इससे सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार वामन ने जिस एकाक्षर-यमक की चर्चा की है वह भी इससे पृथक् है और उत्तरवर्ती आचार्य ऐसे यमक के प्रति उदासीन ही हैं।

वस्तुतः यह यमक न होकर वृत्त्यनुप्रास की कोटि में आता है किन्तु भरत के समय अनुप्रास और यमक में भेद न होने से यह यमक के रूप में ही वर्णित है। यह आवृत्ति व्यवधानपूर्ण होने से व्यपेत कहलाती है तथा इसी प्रकार अव्यपेतावृत्ति भी हो सकती है।

१—[क] पादादियमक (अव्यपेत)

इस भेद को भरत ने यमक का छठा भेद 'सन्दष्ट-यमक' कहा है तथा उसका

१—नानारूपैः स्वरैर्यत्र, यत्रैकं व्यञ्जनं भवेत्। तन्मालायमकं नाम, विज्ञेयं पण्डितैर्यथा॥
नाट्यशास्त्र—भरत॥१६।८४॥

२—भरत की यमक सम्बन्धी धारणा का स्पष्टीकरण अभिनवगुप्त के अलङ्कार-विवेचन में कथित—'क्वचिदर्थमात्रं, क्वापि चित्रतः कुत्रचिच्छब्द इति त्रिविधव्यापारगामी' के आधार पर हो जाता है तथा 'शब्दाभ्यासस्तु यमकम्' के व्याख्यान में भी 'शब्दशब्देन वर्णाः, पदं तदेकदेश इति सर्वं गृह्यते। तेनानुप्रास-लाटीयादेरनेनोपसंग्रहः।' द्वारा यमक और अनुप्रास की एकरूपता प्रतिपादित की है।
—नाट्यशास्त्र १६ अध्याय, आरम्भ भाग।

लक्षण यह बतलाया है—'जहाँ चरणों के आदि में दो अक्षर समान हों, वहाँ विद्वानों को 'सन्दष्ट-यमक' समझना चाहिये।[1] उदाहरण इस प्रकार है—

यस्य यस्य रमणस्य मे गुणा, येन येन वशगां करोति माम्।
येन येन हितमेति दर्शनं, तेन तेन वशगां करोति माम्॥ वहीं १६।७७॥

यहाँ प्रतिचरण के आरम्भ में दो-दो अक्षरों की समान आवृत्ति हुई है। अतः 'सन्दष्ट-यमक' अलङ्कार है। भामह ने इस भेद को पृथक् नहीं माना है, किन्तु सन्दष्टक-समुद्गादेरत्रैवान्तर्गतिर्मता[2] कहकर ऐसे भेदों का अपने द्वारा किये गये पाँच भेदों में ही अन्तर्भाव कर लिया है। वैसे यह भामह के अनुसार 'अनन्तर-आदि-यमक' कहलायेगा। जो उनके उदाहरण 'साधुना साधुना तेन'[3] इत्यादि से स्पष्ट है। दण्डी ने पूर्वाचार्यों द्वारा कथित होने के कारण अपने द्वारा कहे गये भेदों में इसका अन्तर्भाव रखते हुए भी पृथग् रूप से इसका वर्णन किया है, किन्तु भरत का लक्षण और दण्डी का लक्षण एक-दूसरे से साम्य नहीं रखता। भरत ने जो लक्षण दिया है उससे और सन्दष्ट शब्द के अर्थ-दोनों ओर से कसकर पकड़ना—से भी कोई साम्य नहीं बैठता। अतः यह दण्डी के अनुसार 'अव्यपेत-चतुष्पादादि यमक' है[4] तथा इसके विभिन्न पादों में विभिन्न रूपों में यमकित होने से दण्डी ने कुल पन्द्रह भेद दिखलाये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१—अव्यपेत प्रथम-पादादियमक   २—अव्यपेत द्वितीय-पादादियमक
३—अव्यपेत तृतीय-पादादियमक   ४—अव्यपेत चतुर्थ-पादादियमक
५—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादादियमक   ६—अव्यपेत-प्रथम-तृतीय-पादादियमक
७—अव्यपेत प्रथम-चतुर्थ-पादादियमक   ८—अव्यपेत-द्वितीय-तृतीय-पादादियमक
९—अव्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादादियमक   १०—अव्यपेत तृतीय-चतुर्थ-पादादियमक
११—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादादियमक।
१२—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादादियमक।

१—आदौ द्वे यत्र पादे तु, भवेतामक्षरे समे। सन्दष्टयमकं नाम विज्ञेयं तद्बुधैर्यथा॥ वहीं १६।७६॥

२—काव्यालङ्कार, भामह २।१०

३—वहीं, उदाहरण पद्य २।११।

३—दण्डी के द्वारा सन्दष्ट-यमक का जो लक्षण और उदाहरण दिया गया है, उसे हम अन्यत्र क्रम में दे रहे हैं। इसी प्रकार यमक के विभिन्न पादगत स्थानों के अव्यपेत, व्यपेत एवं अव्यपेत-व्यपेतरूप दण्डी प्रदर्शित पन्द्रह-पन्द्रह भेदों की तालिका को हम यथास्थान प्रस्तुत करेंगे और उनसे सम्बन्धित कतिपय आवश्यक तथा सरलता से प्राप्त उदाहरणों को ही इस विवेचन में स्थान देंगे।

१३—अव्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादादियमक ।
१४—अव्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादादियक ।
१५—अव्यपेत चतुष्पादादि यमक ।

इनमें अन्तिम भेद का उदाहरण भरत का उदाहरण ही है । शेष भेदों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

मानेन मानेन सखि, प्रणयोऽभूत् प्रिये जने ।
खण्डितं कण्ठमाश्लिष्य, तमेव कुरु सत्रपम् ।। काव्यादर्श ३।४।।

यहाँ प्रथम चरण के आरम्भ में 'मानेन' पद की आवृत्ति व्यवधान रहित हुई है, अतः यहाँ 'अव्यपेत प्रथमपादादि यमकालङ्कार' है । इसी प्रकार प्रथम और द्वितीय पाद के आदि में अव्यपेत आवृत्ति का उदाहरण यह है—

मधुरं मधुरम्भोज-वदने वद नेत्रयोः ।
विभ्रमं भ्रमरभ्रान्त्या, विडम्बयति किं नु ते ।। वहीं ३।८।

यहाँ 'अव्यपेत प्रथम-द्वितीयपादादियमकालङ्कार' है ।

इसी प्रकार क्रमशः द्विपादादियमक के अन्य पाँच भेद समझने चाहिये । त्रिपादादि यमक का उदाहरण इस प्रकार है—

विशदा विशदामत्त-सारसे सारसे जले ।
कुरुते कुरुतेनेयं, हंसी मामन्तिकामिषम् ।। वहीं ३।१४।।

यहाँ तीन चरणों के आरम्भ में व्यवधान रहित आवृत्ति होने से 'अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादादि यमक अलङ्कार' है । इसी प्रकार क्रमशः त्रिपादादि-यमक के अन्य तीन भेद समझने चाहिये । वामन ने इसे 'पादादि-यमक' माना है किन्तु उसके व्यपेत, अव्यपेत अथवा अन्य पादगत आवृत्तिजन्य भेदों का निरूपण नहीं किया है । रुद्रट भी दण्डी के समान ही 'पादादि-यमक' मानते हुए इसे 'वक्त्र' नामक यमक मानते हैं । उनका कथन है कि—'पद्य के आदि भाग को आधे-आधे भाग में विभक्त करके उसी भाग में यमकित करने पर 'वक्त्र' नामक यमक होता है ।[1] तदनुसार यहाँ प्रतिपाद के आदि भाग का आधा भाग 'यस्य' इतना मानकर उसी पादादिभाग के अन्य अर्धभाग में आवृत्ति होने से यहाँ उक्त यमक माना गया है । यह 'वक्त्र-यमक' द्विधा विभक्त और त्रिधा विभक्त में भी होता है । यहाँ उक्त उदाहरण का पद्य ग्यारह अक्षरों का है, अतः यह 'द्विधा-विभक्त-

१—आवृत्तानि तु तस्मिन्नाद्यर्धान्यर्धशो विभक्तानि ।
वक्त्रं.................काव्यालङ्कार—रुद्रट ।३।४०।

पादादिगत-निरन्तर-यमक' माना जायेगा अथवा इसे एकदेशज द्विधा-विभक्त भी कहा जा सकता है (सन्दष्ट नहीं)—

रुद्रट के अनुसार इस यमक के निम्न प्रकार से दस भेद होंगे—

१—**मुख**-प्रथम-द्वितीय-पादादियमक
२—**सन्दंश**-प्रथम-तृतीय-पादादियमक
३—**आवृत्ति**-प्रथम-चतुर्थ-पादादियमक
४—**गर्भ**-द्वितीय-तृतीय-पादादियमक
५—**सन्दष्टक**-द्वितीय-चतुर्थ-पादादियमक
६—**पुच्छ**-तृतीय-चतुर्थ-पादादियमक
७—**पंक्ति**-प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादादियमक
८—**परिवृत्ति**-द्वितीय-तृतीय-प्रथम-चतुर्थ-पादादियमक
९—**युग्मक**-प्रथम-द्वितीय और तृतीय-चतुर्थ-पादादियमक
१०—**समुद्गक**-पूर्वार्ध और उत्तरार्ध पादादियमक।

इन भेदों में दण्डी के आरम्भिक चार भेद एवं एक अन्तिम समस्तपादयमक के मिल ने से वही पन्द्रह की संख्या आजाती है। इस प्रकार रुद्रट के इन भेदों में 'नाम-करण' के अतिरिक्त और कोई विशेषता नहीं है। रुद्रट ने सन्दष्टक का लक्षण भरत और दण्डी दोनों से भिन्न किया है।[1]

अग्निपुराण में दण्डी के अनुरूप ही भेद-विभाग का सूचन है और भरत का अनुकरण करते हुए भी 'सन्दष्ट' को छोड़ दिया है। भोज के अनुसार आवृत्त्याधिक्य और आवृत्त्येक-रूपता भी उपर्युक्त उदाहरणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

१—[ख]पादादि-यमक (व्यपेत)

भरत ने यमक का सातवाँ भेद 'पादादि-यमक' दिया है जिसका लक्षण इस रूप में है—'जहाँ चरण के आदि में समान अक्षरों का समावेश हो, वहाँ 'पादादि-यमक' अलङ्कार होता है।[2]

विष्णुः सृजति भूतानि, विष्णुः संहरति प्रजाः।
विष्णुप्रसूतं त्रैलोक्यं, विष्णुलोकादि-दैवतम्
नाट्यशास्त्र ॥१६। ७८ ॥

१—इस की विवेचना हम 'चक्रवाल-यमक' में करेंगे।

२—आदौ पादस्य यत्र स्यात्, समावेशः समाक्षरः। पादादियमकं नाम, तद्विज्ञेयं बुधैर्यथा ॥ नाट्यशास्त्र, भरत २६-७८ ॥

यहाँ चारों चरणों के आरम्भ में 'विष्णु' पद के समान अक्षरों का समावेश होने से उक्त अलङ्कार माना गया है। यह भरत के प्रथम भेद 'पादान्त-यमक' का विपरीत भेद है।

भरत के लक्षण और उदाहरणों से उत्तरकाल के आचार्यों के लक्षणों में अर्थभेद की स्वीकृति को महत्त्व देने से अधिक वैशद्य आया है। भरत के इस उदाहरण को भी अर्थभेदावृत्ति की न्यूनता के कारण 'पादाद्यनुप्रास' ही कहना चाहिये। उत्तरकाल के आचार्यों में आवृत्त पद की अर्थभिन्नता को प्रमुख मानते हुए भामह ने ऐसी आवृत्ति को 'आदि-यमक' कहा है और इसका स्वतन्त्र उदाहरण न देते हुए 'एकान्तर' से भी यमक होता है, इतना कहकर दिशानिर्देश कर दिया है। तननुसार यह 'एकान्तर-आदियमक' का उदाहरण होगा। दण्डी ने 'पादादि-यमक' को यथावद् ग्रहण किया है और उसके १-अव्यपेत, २-व्यपेत तथा ३-अव्यपेताव्यपेत' ऐसे तीन भेदों में भरत का यह उदाहरण 'व्यपेत चतुर्थ-पादादि-यमक' है। इस पादादि-यमक के विभिन्न पादों को विभिन्न रूप में यमकित करते हुए दण्डी ने कुल पन्द्रह भेद किये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१—व्यपेत प्रथम-पादादियमक
२—व्यपेत द्वितीय-पादादि-यमक
३—व्यपेत तृतीय-पादादि-यमक
४—व्यपेत चतुर्थ पादादि-यमक
५—व्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादादि-यमक
६—व्यपेत प्रथम-तृतीय-पादादियमक
७—व्यपेत प्रथम-चतुर्थ पादादियमक
८—व्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादादि-यमक
९—व्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादादि-यमक
१०—व्यपेत तृतीय-चतुर्थ-पादादियमक
११—व्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादादियमक
१२—व्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादादियमक
१३—व्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादादियमक
१४—व्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादादियमक
१५—व्यपेत चतुष्पादादि-यमक

इन भेदों के अनुसार कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

मधुरेणदृशां मानं, मधुरेण सुगन्धिना।
सहकारोद्गमेनैव, शब्दशेषं करिष्यति ॥ २० ॥[1]

इसमें 'मधुरेण मधुरेण' की आवृत्ति है, इन आवर्त्यमान वर्णसमुदायों के बीच में 'दृशां मानम्' यह व्यवधान है, अतः इसे 'व्यपेत-प्रथम-द्वितीय-पादादि-यमक' कहा जाता है। इसी तरह द्विपादादियमकों के अन्य पाँच विकल्पों के उदाहरण समझने चाहिये।

करेण ते रणेष्वन्तकरेण द्विषतां हताः।
करेणवः क्षरद्रक्ता, भान्ति सन्ध्याघना इव ॥ २६ ॥

१—यहाँ दिये गये श्लोक क्रमांक 'काव्यादर्श' तृतीयपरिच्छेद के हैं तथा अन्य विकल्पों के उदाहरण भी वहीं प्राप्त हो सकते हैं।

यहाँ 'करेण' पद क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय-चरणों के आदिभाग में व्यवधानपूर्वक आवृत्त हुआ है, अतः यह 'व्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादादियमक' का उदाहरण है। इसी प्रकार त्रिपादादियमक के अन्य तीन विकल्प और होते हैं। वामन ने 'एकान्तर पाददि-यमक' के भेदों का स्वयं ऊहन करने की सूचना दी है। तदनुसार यह 'एकान्तर-पादादि-यमक' का उदाहरण है। रुद्रट ने इस प्रकार के भेद का विवेचन नहीं किया है किन्तु इसे उनके 'एकान्तर-पादादि-यमक' में एकदेशज आवृत्ति मान सकते हैं तथा वैसा मानने पर इसके 'मुख, सन्दंश, आवृत्ति, गर्भ' आदि पूर्व सूचित नाम वाले दस भेद होंगे जो कि दण्डी के उपर्युक्त भेदों के समान ही हैं केवल नामगत भेद रुद्रट की विशेषता के सूचक हैं। तथा इनमें दण्डी द्वारा कथित आरम्भ के चार और एक अन्तिम के मिलाने से पन्द्रह भेद बन जाएँगे। अग्निपुराण में पादादियमक यथावद् गृहीत है तथा इसकी भरत-दर्शित व्यपेतावृत्ति को भी वहाँ माना है। इसके अतिरिक्त दण्डी के अनुसार एक, दो और तीन चरणों की आवृत्ति भी वहाँ स्वीकृत हुई है। भोज ने दण्डी के अनुसार भेदों का विवेचन न करते हुए द्विपादादि, त्रिपादादि के सम्भावित भेदों का समूहशः विवेचन किया है किन्तु उनके पर्यालोचन से भी पादादि-यमक के दण्डी द्वारा कथित भेदों में साम्य आ जाता है। भोज की 'आवृत्त्याधिक्य' और 'आवृत्त्येकरूपता' सम्बन्धी सूक्ष्म प्रक्रिया के आधार पर उक्त भेदों के और भी अधिक भेद हो सकेंगे। तदनुसार 'आवृत्त्याधिक्य पादादिव्यपेत यमक' का उदाहरण इस प्रकार है—

अवसितं हसितं प्रसितं मुदा, विलसितं हसितं स्मरभासितम्।
न समदाः प्रमदा हतसम्मदाः, पुरहितं विहितं न समीहितम्॥
स०क० २।१२१॥

यहाँ प्रतिपाद के आदि में आये हुए शब्द के अंश 'सितं' की दो बार आवृत्ति से यमक निर्वाह हो जाता है तथापि तीसरी बार जो आवृत्ति की गई है वह आधिक्य सूचक है अतः यहाँ आवृत्त्याधिक्य यमक माना है। 'आवृत्त्येकरूपता' का उदाहरण इस प्रकार है—

सारयन्तमुरसा रमयन्ती, सारभूतभुरूसारधरा तम्।
सारसानुकृतसारसकाञ्चि, सा रसायनमसारमवैति॥ २।१२१॥

यहाँ आदि और मध्यभाग के आवृत्तपदों में एकरूपता आने से उक्त नाम द्वारा इसे सम्बोधित किया गया है।[3]

भोज की इस सूझ में मौलिकता अवश्य है किन्तु इस प्रकार की रचना का सभी भेदों में निर्वाह सम्भव नहीं है।

३—यही उदाहरण दण्डी ने 'व्यपेत पादचतुष्टयगत आदि-मध्य-यमक' का भी दिया है।

१—[ग]पादादियमक (अव्यपेत-व्यपेत)

दण्डी ने इस पादादि यमक का एक तीसरा भेद और भी किया है, जिसमें कहीं, व्यवधानरहित आवृत्ति और कहीं व्यवधान-सहित आवृत्ति रहती है। तदनुसार इस भेद के भी निम्नलिखित पन्द्रह उपभेद होते हैं—

१—अव्यपेत-व्यपेत-प्रथम-पादादियमक
२—अव्यपेत-व्यपेत द्वितीय पादादि-यमक
३—अव्यपेत-व्यपेत तृतीय पादादियमक
४—अव्यपेत-व्यपेत चतुर्थ-पादादियमक
५—अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादादियमक
६—अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-तृतीय-पादादियमक
७—अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-चतुर्थ पादादियमक
८—अव्यपेत-व्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादादियमक
९—अव्यपेत-व्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादादियमक
१०—अव्यपेत-व्यपेत तृतीय-चतुर्थ-पादादियमक
११—अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीयपादादियमक
१२—अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थपादादियमक
१३—अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादादियमक
१४—अव्यपेत-व्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादादियमक
१६—अव्यपेत-व्यपेत समस्तपादादि-यमक

इस प्रकार के मिश्र पादादियमकों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

सालं सालम्बकलिका, सालं सालं न वीक्षितुम् ।
नालीनालीनबकुलानाली नालीकिनीरपि ॥ काव्यादर्श ३।३४ ॥

यहाँ प्रथम पादादि में 'अव्यपेत-यमक' है और प्रथम-पादादि में आवृत्त 'सालं' पद ही द्वितीय पाद के आदि भाग में भी आवृत्त होने से तथा उसके पूर्व आये हुए अन्याक्षरों का व्यवधान होने से 'व्यपेतयमक' है। अतः यह 'अव्यपेतव्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादादियमक' हुआ। इसी प्रकार प्रथम-चतुर्थ-पादादिगत अव्यपेत-व्यपेत का उदाहरण यह है—

कालं कालमनालक्ष्य, तारतारकमीक्षितुम् ।
तारतारम्यरसितं, कालं कालमहाधनम् ॥ काव्यादर्श ३।३५ ॥

यहाँ प्रथम-पादादि में प्रयुक्त 'कालं कालं' आदि पदों में अव्यपेत-यमक है और प्रथम चरण की अपेक्षा चौथे चरण में पुनः 'कालं कालं' की आवृत्ति होने से व्यपेत-यमक होता है। अतः यहाँ उपर्युक्त भेदवाला यमक है।

'पादचतुष्टयगत अव्यपेत व्यपेत पादादियमक' का उदाहरण दण्डी ने इस प्रकार दिया है।

याम याम त्रयाधीनायामया मरणं निशा।
यामयाम धियाऽस्त्वर्या, या यया मथितैव सा॥ काव्यादर्श ३।३६॥

यहाँ चारों चरणों के आदि भाग में अव्यपेत और एक चरण की आवृत्ति की दूसरे चरणगत आवृत्ति के कारण व्यपेत-यमक होने से उक्त प्रकार का भेद होता है। वामन ने इस प्रकार के भेद को 'सङ्कर' कहा है किन्तु इतना विस्तार नहीं किया है। रुद्रट ने 'अनियतदेशावयवजन्य आवृत्ति' के असंख्य भेद होने का संकेत मात्र किया है जब कि भोज ने दण्डी की पद्धति का ही अनुसरण किया है।

२—[क] पादमध्ययमक (अव्यपेत)

दण्डी के अनुसार इस भेद के भी पन्द्रह उपभेद होते हैं जो इस प्रकार हैं—

१—अव्यपेत प्रथम-पादमध्य-यमक
२—अव्यपेत द्वितीय-पादमध्य-यमक
३—अव्यपेत तृतीय-पादमध्य-यमक
४—अव्यपेत चतुर्थ-पादमध्य-यमक
५—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादमध्य-यमक
६—अव्यपेत प्रथम-तृतीय-पादमध्य-यमक
७—अव्यपेत प्रथम-चतुर्थ-पादमध्य-यमक
८—अव्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादमध्य-यमक
९—अव्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादमध्य-यमक
१०—अव्यपेत तृतीय-चतुर्थ-पादमध्य-यमक
११—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय,-पादमध्य-यमक
१२—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादमध्य-यमक
१३—अव्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादमध्य-यमक
१४—अव्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादमध्य-यकक
१५—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादमध्य-यमक

इन उपभेदों के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

विलुलितालकसंहतिरामृशन्मृगदृशां श्रमवारि ललाटजम्।
तनुतरङ्गततीः सरसां दलत्कुवलयं वलयं मरुदाववौ॥
सरस्वतीकण्ठा-भरण २।१०३॥

यहाँ चतुर्थ चरण के मध्य में 'वलयं' पद की आवृत्ति होने से अव्यपेत चतुर्थ-पादमध्य-यमक है। इसी प्रकार—

स्थिरायते यतेन्द्रियो, न हीयते यतेर्भवान्।
अमायतेयतेऽप्यभूत्, सुखायते यते क्षयम्॥ वहीं० २।१०६॥

यहाँ चारों चरणों के मध्यभाग में 'यते यते' की आवृत्ति होने से 'अव्यपेत समस्त-पादमध्य-यमक' है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी देखे जा सकते हैं। वामन ने 'एकपाद-

मध्य, द्विपादमध्य यमक का जो उल्लेख किया है वे इसकी समानता में आते हैं। रुद्रट ने 'मध्यान्यर्धार्धानि तु मध्यं कुर्वन्ति तत्र परिवृत्त्या'[1] कहकर 'मध्य' नामक यमक का सूचन किया है तथा इस मध्य के पादगत अंश के 'आदि, मध्य और अन्त' तीन विभाग करके परस्पर आवृत्ति करने से दस प्रकार बतलाये हैं जिनके 'मुख' आदि नाम होंगे। इस दृष्टि से पादमध्य के मुखादि दस भेद तथा समस्तपादमध्य और प्रतिपादादिमध्य यमक के योग से दण्डीप्रोक्त पन्द्रह भेद हो जाते हैं। और इनकी निरन्तर आवृत्ति होने से ये अव्यपेत कहलाते हैं। अग्निपुराण में भी इसी प्रकार के भेदों का संकेत है तथा भोज ने भी इसी पद्धति को अपनाया है, केवल आवृत्त्याधिक्य तथा आवृत्त्येकरूपता के कारण वैशिष्ट्य लाने का निर्देश अधिक है।

२ —[ख]पादमध्ययमक (व्यपेत)

भरत दर्शित पादादि यमक और पादान्तयमक की शृंखला को यथावत् जोड़ने के लिये आचार्य दण्डी ने पादमध्य-यमक की सृष्टि की है। क्योंकि आदि-अन्त के बीच की योजक कड़ी 'मध्य' के बिना सूनी-सूनी-सी प्रतीत होती है। इस दृष्टि से पादमध्ययमक के भी दण्डा ने पादादियमक के समान ही पन्द्रह उपभेद दिखलाये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१—व्यपेत प्रथम-पादमध्ययमक
२—व्यपेत द्वितीय-पादमध्ययमक
३—व्यपेत तृतीय-पादमध्ययमक
४—व्यपेत चतुर्थ-पादमध्ययमक
५—व्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादमध्ययमक
६—व्यपेत प्रथम-तृतीय-पादमध्ययमक
७—व्यपेत प्रथम-चतुर्थ-पादमध्य-यमक
८—व्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादमध्ययमक
९—व्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादमध्य-यमक
१०—व्यपेत तृतीय-चतुर्थ-पादमध्य यमक
११—व्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीयपादमध्ययमक
१२—व्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादमध्ययमक
१३—व्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादमध्ययमक
१४—व्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादमध्ययमक
१५—व्यपेत समस्तपादमध्य-यमक

इन उपभेदों के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

तुलयति स्म विलोचनतारकाः, कुरबकस्तबकव्यतिषङ्गिणि।
गुणवदाश्रयलब्धगुणोदये, मलिनिमालिनि माधवयोषिताम्॥
सरस्वतीकण्ठाभरण २।१०१॥

१—काव्यालङ्कार-३।३४ रुद्रट

यहाँ द्वितीय और चतुर्थ चरणों के मध्य में व्यवधानपूर्वक आवृत्ति होने से 'व्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादमध्य-यमक' है। इसी प्रकार--

सभासु राजन्नसुराहतैर्मुखैर्महीसुराणां वसुराजितैः स्तुताः
न भासुरा यान्ति सुरान्न ते गुणाः, प्रजासु रागात्मसु राशितां गताः ॥
काव्यादर्श ३-४० ॥

यहाँ चारों चरणों के मध्य में 'सुरा' पद की व्यवधान-पूर्वक आवृत्ति होने से 'व्यपेत समस्तपादमध्ययमक' अलङ्कार है। इसी प्रकार इन प्रभेदों के अन्य उदाहरण भी देखे जा सकते हैं। वामन ने 'एकान्तर-पादमध्य' और 'समस्तपादमध्य' का जो सूचन किया है वे इस कोटि में आते हैं। रुद्रट, अग्निपुराण तथा भोज भी इसी वर्गीकरण के पक्ष में हैं किन्तु आवृत्ति की अधिकता और एकरूपता लाने पर विशिष्ट चमत्कार आ सकता है।

२ —[ग] पादमध्ययमक (अव्यपेतव्यपेत)

दण्डी के अनुसार इस भेद के भी पन्द्रह उपभेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं–

१– अव्यपेतव्यपेत प्रथम–पादमध्य-यमक
२– अव्यपेतव्यपेत द्वितीय-पादमध्य-यमक
३– अव्यपेतव्यपेत तृतीय-पादमध्य-यमक
४– अव्यपेतव्यपेत चतुर्थ-पादमध्य-यमक
५– अव्यपेतव्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादमध्ययमक
६– अव्यपेतव्यपेत प्रथम-तृतीय-पादमध्यमक
७– अव्यपेतव्यपेत प्रथम-चतुर्थ-पादमध्ययमक
८– अव्यपेतव्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादमध्ययमक
९– अव्यपेतव्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादमध्ययमक
१०-अव्यपेतव्यपेत तृतीय चतुर्थ-पादमध्ययमक
११– अव्यपेतव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादमध्ययमक
१२– अव्यपेतव्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादमध्ययमक
१३– अव्यपेतव्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादमध्ययमक
१४– अव्यपेतव्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादमध्ययमक
१५– अव्यपेतव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादमध्ययमक।

इन उपभेदों के उदाहरण दण्डी ने नहीं दिये हैं। पूर्व दर्शित उदाहरणों का यदि मिश्रण होगा तो, यहाँ इसके भेदों का उदाहरण बन जाएगा। वामन ने इस प्रकार के भेदों को सङ्कर कहा है तथा उसी का अनुकरण रुद्रट के संकीर्ण और भोज के 'मिश्र' कथन में हुआ है, जो नवीन नहीं है। किन्तु भोज की आवृत्तिगत अधिकता और एकरूपता से विशेष चमत्कार आ सकता है।

३ —[क] पादान्तयमक (अव्यपेत)

भरत ने यमक के इस भेद को अपने यहाँ आठवाँ भेद पादान्ताम्रेडित मानते हुए यह लक्षण दिया है—जहाँ पाद का एक ही अन्तिम पद दो-दो बार आवृत्त हुआ हो,

वहाँ निपुणजनों का 'पादान्ताम्रेडित-यमक' जानना चाहिए।[1] उदाहरण इस प्रकार हैं–

विजृम्भितं निःश्वसितं मुहुर्मुहुर्यथाभिधानं स्मरणं पदे पदे।
यथा च ते ध्यानमिदं पुनः पुनस्तथा गता ते रजनी विनाविना॥
—नाट्यशास्त्र १६। ८१॥

यहाँ 'मुहुर्मुहुः' आदि पदों की चारों चरणों में आवृत्ति होने से उक्त अलंकार माना गया है।

यहाँ आम्रेडित शब्द से तात्पर्य है, द्विरुक्ति। यह द्विरुक्ति जब आम्रेडित के रूप में होती है, तब अन्य आचार्य इसे अनन्तर, अव्यपेत या अव्यवधान की संज्ञा देते हैं, और इस के अभाव में जो दूर दूर, व्यवधानयुक्त आवृत्ति होती है, उसे एकान्तर या व्यपेत कहते हैं। इस प्रकार भरत ने अग्रिम आचार्यों के लिए बीजरूप में प्रत्येक यमक के तीन-तीन भेदों का संकेत कर दिया था, जो आगे चल कर पूर्णतः ग्राह्य हुआ है। भामह के अनुसार यह अनन्तर-समस्त-पाद-यमक है, जिसका उन्होंने नामोदाहरणादि पृथक् न देकर अन्तर्भाव कर लिया है। दण्डी के अनुसार 'यह अव्यपेत समस्त पादान्त-यमक' है। इसके विभिन्न पादों में विभिन्नरूप से यमकित होने के कारण दण्डी ने कुल पन्द्रह भेद दिखलाये हैं, जो इस प्रकार हैं–

१—अव्यपेत–प्रथमपादान्तयमक
२—अव्यपेत द्वितीयपादान्तयमक
३—अव्यपेत-तृतीय पादान्तयमक
४—अव्यपेत चतुर्थ पादान्त-यमक
५—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय पादान्तयमक
६—अव्यपेत प्रथम-तृतीय-पादान्त-यमक
७—अव्यपेत-प्रथम-चतुर्थ-पादान्त यमक
८—अव्यपेत द्वितीय तृतीय-पादान्तयमक
९—अव्यपेत-द्वितीय-चतुर्थ पादान्तयमक
१०—अव्यपेत-तृतीय-चतुर्थ-पादान्त-यमक
११—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादान्त-यमक
१२—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादान्त-यमक।
१३—अव्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ पादान्त-यमक
१४—अव्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ पादान्त-यमक
१५—अव्यपेत चतुष्पादान्त-यमक

इनमें भरत प्रोक्त पूर्वदर्शित 'विजृम्भितं' आदि पद्य अन्तिम भेद का उदाहरण है।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि भरत ने पादान्त में आवृत्त पदों को चारों चरणों में समान रूप से आवृत्त होने पर ही आम्रेडित माना है अथवा भिन्न-भिन्न पदों में आवृत्त होने पर भी 'पादान्ताम्रेडित' यमक माना है? इसका निर्णय नहीं किया जा सकता किन्तु परवर्ती आचार्यों ने दोनों ही रूपों को उदाहरणों में स्थान दिया है। यथा–

१— पादस्यान्त्यं पदं यत्र, द्विर्द्विरेकमिहोच्यते।
पादान्ताम्रेडितं नाम, विज्ञेयं निपुणैर्यथा॥ नाट्यशास्त्र-भरत १६। ८०॥

व्यथितसिन्धुमनीरशनैः शनैरमरलोकवधूजघनैर्घनैः ।
फणवतामभितो विततं ततं, दयित-रम्यलता बकुलैः कुलैः ॥ स० क० २-१४ ॥

यहाँ शनैः शनैः, घनैर्घनैः' आदि पदों की पादान्त में अव्यवधान-पूर्वक आवृत्ति होने से यह 'अव्यपेत-समस्त-पादान्तयमक' का उदाहरण है । इसी प्रकार—

खण्डिताशंसया तेषां, पराङ्मुखतया तया ।
आविवेश कृपा केतूकृतोच्चैर्वानरं नरम् ॥ सरस्वतीकण्ठाभरण २।१०१ ॥

यहाँ द्वितीय और चतुर्थपाद के अन्त में 'तया तया' और 'नरं नरं' पदों की आवृत्ति होने से 'अव्यपेत द्वितीय-चतुर्थपादान्तयमक' अलङ्कार माना गया है । अन्य उदाहरण भी इसी प्रकार से अन्यत्र गवेषणीय है ।

वामन ने इसे 'पादान्तवर्ती-यमक' कहा है ।[1] रुद्रट के अनुसार यहाँ 'त्रिधाविभक्त एक देशज निरन्तर शिखा' नामक यमकालङ्कार है । क्योंकि जहाँ पाद के अन्त्यार्धभाग का खण्ड करके उसी भाग में आवृत्ति की जाए, वहाँ शिखा नामक यमकालङ्कार होता है ।[2] इसके भी मुखादि नामक दस भेद होते हैं जो दण्डी के अवशिष्ट पाँच भेदों के साथ मिलकर बराबर पन्द्रह हो जाते हैं । अग्निपुराण में केवल आम्रेडित नामग्रहण किया गया है । भोज भी दण्डी का अनुकरण करते हैं तथा यहाँ एक बात और स्पष्ट हो जाती कि जिसे भोज आवृत्त्याधिक्य कहते हैं उसमें आम्रेडित और उससे अधिक आवृत्ति अर्थात् दो या दो से अधिक आवृत्ति दोनों का समावेश है तथा 'आवृत्त्येकरूपता' कहने का कारण यह है कि प्रतिपाद में भिन्नशब्दों की आवृत्ति अव्यपेत यमक में सापेक्ष है तथा सर्वत्र एक-रूप आवृत्ति होने पर चमत्काराधिक्य रहता है । इस दृष्टि से 'समस्तपादान्तगत-अव्यपेत यमक' में 'आवृत्त्याधिक्य' का उदाहरण इस प्रकार है—

वियद्वियद्वृष्टिपरम्परं परं, घनाघनाली रसिता सिता सिता ।
सरः सरस्यः स्वरसारसारसा, समा समा रात्रिरतारतारता ॥ स० क० २-१०४ ॥

यहाँ 'परम्परं परं' आदि पदों की तीन-तीन बार अव्यपेत आवृत्ति हुई है ।

३— [ख] पादान्तयमक (व्यपेत)

भरत ने यमक के भेदों में सर्वप्रथम पादान्तयमक को प्रस्तुत किया है । और लक्षण में स्पष्ट किया है कि-'चारों चरणों के अन्त में जहाँ समान अक्षर हों, उसे पादान्त

१—उदाहरणसाम्य के लिए द्रष्टव्य—काव्यालङ्कार सूत्र-वामन ४ । १ । ४

२—तथा शिखान्त्यानि । काव्यालङ्कार-रुद्रट ३-४० ॥

यमक समझना चाहिए'।[१] तथा इसका उदाहरण यह दिया है—

दिनक्षयात् संहृतरश्मिमण्डलं, दिवीव लग्नं तपनीयमण्डलम्।
विभाति ताम्रं दिवि सूर्यमण्डलं, यथा तरुण्याः स्तनभारमण्डलम्॥[२]

यहाँ प्रतिचरण के अन्त में 'मण्डलं, इन तीन अक्षरों की समान रूप से आवृत्ति हुई है अतः यहाँ 'पादान्त-यमक' अलङ्कार है।

भामह ने इस भेद को 'समस्त-पाद' यमक कहा है, जो उनके उदाहरण 'अमी नृपा दत्तसमग्रशासनाः'[३] इत्यादि पद्य से स्पष्ट है। और अपने पाँच भेदों में अन्तभाग की स्वतन्त्र आवृत्ति को स्वीकृत नहीं किया है, किन्तु उदाहरण से स्पष्ट है कि 'केवल अन्त-भाग की आवृत्ति में भी उन्हें स्वीकृति अवश्य थी। अतः भामह ने जो 'मध्यान्त' रूप सम्मिलित भेद माना है, वह उचित प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार जो 'समस्त-पादयमक कहा गया है उसे 'समस्त पादान्त-यमक' कहना चाहिये था क्योंकि भरत का उदाहरण उनके 'एकान्तर-समस्त-पाद' के समान है। दण्डी के अनुसार यह पादान्त-यमक के भेदों में 'व्यपेत-चतुष्पादान्त-यमक है। पादान्तभाग के विभिन्न पादों में विभिन्न-रूपों से यमकित होने पर दण्डी ने इसके कुल पन्द्रह भेद किये हैं, जो इस प्रकार हैं—[४]

१—व्यपेत प्रथम-पादान्त-यमक
२—व्यपेत द्वितीय-पादान्त-यमक
३—व्यपेत तृतीय-पादान्त-यमक
४—व्यपेत चतुर्थ-पादान्तयमक
५—व्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादान्तयमक
६—व्यपेत प्रथम-तृतीय-पादान्तयमक
७—व्यपेत प्रथम-चतुर्थ-पादान्तयमक
८—व्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादान्त-यमक
९—व्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादान्तयमक
१०—व्यपेत तृतीय-चतुर्थ-पादान्तयमक
११—व्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादान्तयमक
१२—व्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादान्तयमक
१३—व्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादान्तयमक
१४—व्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादान्तयमक
१५—व्यपेत चतुष्पादान्तयमक

१—चतुर्णां यत्र पादानामन्ते स्यात् सममक्षरम्।
तद् वै पादान्तयमकं, विज्ञेयं नामतो यथा॥ नाट्य-शास्त्र १६।६६॥

२—वहीं १६।६७॥ तथा अभिनवगुप्त ने यहाँ आवृत्त मण्डल शब्द के विभिन्न अर्थों का भी सूचन किया है।

३—काव्यालङ्कार—भामह २।१५ उदाहरण पद्य

४—दण्डी के इन भेदों में 'व्यपेत एक पादान्त यमक' के चार भेदों में जो यमक होगा वह छोटे छंद के पादों में सम्भव नहीं है अतः बड़े छन्दों में इसका उपयोग होगा। वहाँ अन्तिम भाग में 'जीव रे जीव' ऐसी आवृत्ति हो सकती है।

इनमें अन्तिम भेद का उदाहरण भरत का 'दिनक्षयात्' आदि पद्य ही है। शेष भेदों में कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

इह मुहुर्मुदितः कलभैरवः, प्रतिदिशं क्रियते कलभैः रवः।
स्फुरति चानुवनं चमरीचयः, कनकरत्नभवां च मरीचयः॥
स० क० ।२।१११७॥

यहाँ प्रथम और द्वितीय चरण के अन्त में 'कलभैरवः' पद की व्यवधान-पूर्वक आवृत्ति होने से 'प्रथम-द्वितीय-पादान्त-व्यपेत-यमक' अलङ्कार है। इसी प्रकार इसी पद्य में तृतीय और चतुर्थ चरणों के अन्त में 'चमरीचयः' पद की आवृत्ति होने से 'तृतीय-चतुर्थ-पादान्त व्यपेत यमक' अलङ्कार भी है। तथा 'द्वितीय-चतुर्थ-पादान्त-व्यपेतयमक' का उदाहरण निम्नलिखित पद्य भी दर्शनीय है—

यस्याहुरतिगम्भीरगलदप्रतिमङ्गलम्।
स वः करोतु निःसङ्गमुदयं प्रतिमङ्गलम्॥ स० क० २।११९॥

यहाँ 'प्रतिमङ्गलम्' पद की आवृत्ति हुई है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझने चाहिये। वामन के अनुसार यह 'समस्तपादान्तयमक' है। रुद्रट के 'एकदेशज-पादान्त-यमक' में इसकी गणना की जा सकती है। इसके 'मुख—सन्दंशादि' नाम से दस भेद होंगे। जिनमें दण्डी के आरम्भिक चार और अन्तिम एक मिलाने से बराबर पन्द्रह भेद होते हैं। अग्निपुराण में भरत का यथावद् अनुकरण हुआ है। तथा भोज भी 'आवृत्त्याधिक्य' और 'आवृत्त्येकरूपता' के अतिरिक्त दण्डी का ही अनुकरण करते हैं।

३—[ग] पादान्तयमक (अव्यपेतव्यपेत)

दण्डी ने इस पादान्तयमक का एक तीसरा भेद भी दिखलाया है, जिसमें कहीं व्यवधानरहित और कहीं व्यवधान सहित आवृत्ति रहती है। तदनुसार इस भेद के भी पन्द्रह उपभेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

१—अव्यपेत-व्यपेत-प्रथमपादान्तयमक
२—अव्यपेत-व्यपेत-द्वितीय-पादान्त-यमक
३—अव्यपेत-व्यपेत-तृतीय-पादान्तयमक
४—अव्यपेत-व्यपेत-चतुर्थ-पादान्त-यमक
५—अव्यपेत-व्यपेत-प्रथम-द्वितीय-पादान्तयमक
६—अव्यपेत-व्यपेत-प्रथम-तृतीय-पादान्तयमक
७—अव्यपेत-व्यपेत-प्रथम-चतुर्थ-पादान्तयमक
८—अव्यपेत-व्यपेत-द्वितीय-तृतीय-पादान्तयमक
९—अव्यपेत-व्यपेत-द्वितीय-चतुर्थ-पादान्तयमक
१०—अव्यपेत-व्यपेत-तृतीय-चतुर्थ-पादान्त-यमक
११—अव्यपेत-व्यपेत-प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादान्तयमक
१२—अव्यपेत-व्यपेत-प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादान्त-यमक

१३—अव्यपेत-व्यपेत-प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादान्त-यमक

१४—अव्यपेत-व्यपेत-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ पादान्तयमक

१५—अव्यपेत-व्यपेत-समस्तपादान्तयमक

इस प्रकार के भेदों के उदाहरण दण्डी ने नहीं दिये हैं, किन्तु पूर्वोक्त व्यपेत और अव्यपेत दोनों प्रकारों के मिलाने से इसके उदाहरण बन सकेंगे।

वामन ने संक्षेप में इस भेद को 'समस्तपादान्तयमक' के रूप में स्वीकृत किया है तथा साथ ही एकाक्षर-यमक के भेदों में 'स्थानान्तरयोगेऽपि द्रष्टव्यः' कहकर 'पादान्तैकाक्षर यमक' का संकेत भी किया है। रुद्रट ने इस प्रकार का सूचन 'संकीर्ण' द्वारा तथा भोज ने 'मिश्र' द्वारा किया है।

४—[क] आदिमध्य-यमक (अव्यपेत)

आदि और मध्यभाग की आवृत्ति जहाँ व्यवधान रहित होती है, वहाँ 'अव्यपेत पादादिमध्य यमक' होता है। इस दृष्टि से इसके भी नीचे लिखे अनुसार दण्डी ने पन्द्रह भेद दिखलाये हैं—

१—अव्यपेत प्रथम-पादादिमध्ययमक

२—अव्यपेत-द्वितीय पादादिमध्ययमक

३—अव्यपेत-तृतीय पादादिमध्य-यमक

४—अव्यपेत चतुर्थ-पादादिमध्य-यमक

५—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय पादादिमध्य-यमक

६—अव्यपेत प्रथम-तृतीय पादादिमध्य-यमक

७—अव्यपेत प्रथम-चतुर्थ पादादिमध्य-यमक

८—अव्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादादिमध्य-यमक

९—अव्यपेत द्वितीय-चतुर्थ पादादिमध्य-यमक

१०—अव्यपेत तृतीय-चतुर्थ पादादिमध्ययमक.

११—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय तृतीय पादादिमध्य-यमक

१२—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ पादादिमध्य-यमक

१३—अव्यपेत-प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्य-यमक

१४—अन्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ पादादिमध्य-यमक

१५—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ पादादिमध्य-यमक

इस प्रकार के उपभेदों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

घनाघनाभस्य महीयसः, सुरासुराणां दयितस्य तस्य सा।
धराधराकारगृहा गृहाशिनो, बभूव भूमेर्नगरी गरीयसी।
—सरस्वतीकण्ठाभरण २।९५।

यहाँ प्रति चरण के आदि और मध्य में अव्यपेत आवृत्ति होने से 'पादचतुष्टय-गत पादादिमध्ययमक' अलङ्कार है।

वामन और अग्निपुराणकार ने इन उपभेदों की चर्चा नहीं की है तथा रुद्रट और दण्डी का ही अनुसरण करते हैं। भोज की आवृत्त्याधिक्य और आवृत्त्येकरूपता इस दिशा में चमत्कार-वर्धक होंगी।

४—[ख] आदिमध्ययमक (व्यपेत)

दण्डी ने एकभागावृत्ति के आदि, मध्य और अन्त यमक के पश्चात् द्विभागावृत्ति के क्रम में 'आदि-मध्य' यमक का निरूपण किया है। इसमें एक ही पाद के तीन-आदि, मध्य और अन्तर्गत विभागों में से आदि और मध्य के विभागों की विभिन्न रूप में आवृत्तियाँ होती हैं। इन आवृत्तियों के नीचे लिखे अनुसार पन्द्रह-प्रकार होते हैं——

१——व्यपेत प्रथमपादादि-मध्य-यमक
२——व्यपेत द्वितीय-पादादि-मध्ययमक
३——व्यपेत तृतीय-पादादिमध्य-यमक
४——व्यपेत चतुर्थ-पादादिमध्य-यमक
५——व्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादादिमध्य-यमक
६——व्यपेत प्रथम-तृतीय-पादादिमध्य-यमक
७——व्यपेत-प्रथम चतुर्थ-पादादिमध्य-यमक
८——व्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादादिमध्य-यमक
९——व्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादादिमध्य-यमक
१०——व्यपेत तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्य-यमक
११——व्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय पादादिमध्य-यमक
१२——व्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ पादादिमध्य-यमक
१३——व्यपेत-प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्य-यमक
१४——व्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्य-यमक
१५——व्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्य-यमक।

इस प्रकार के उपभेदों में से एक का उदाहरण इस प्रकार हैं——

घनगिरीन्द्रविलङ्घनशालिना, वनगजा वनजद्युतिलोचना।
जनमता ददृशे जनकात्मजा, तरुमृगेण तरुस्थलवासिनी॥
स० क० २।१११।

यहाँ प्रतिचरण के आदि और मध्य में पदों की व्यपेत आवृत्ति होने से व्यपेतपाद-चतुष्टयगत आदि-मध्य-यमक अलङ्कार है वामन और अग्निपुराण ने इन उपभेदों की चर्चा नहीं की है तथा रुद्रट और भोज दण्डी का ही अनुसरण करते हैं। भोज की आवृत्त्याधिक्य और आवृत्त्येकरूपता इस दिशा में चमत्कारवर्धक होंगी।

४—[ग] आदिमध्ययमक (अव्यपेतव्यपेत)

जहाँ किसी अंश में व्यवधान-रहित आवृत्ति हो, तथा अन्य किसी अंश में व्यवधान सहित आवृत्ति हो, वहाँ अव्यपेत-व्यपेत यमक होता है। इस दृष्टि से आदिमध्य-यमक के

नीचे लिखे अनुसार दण्डी ने पन्द्रह भेद दिखलाये हैं—

१—अव्यपेतव्यपेत प्रथमपादादिमध्ययमक
२—अव्यपेतव्यपेत द्वितीयपादादिमध्ययमक
३—अव्यपेतव्यपेत तृतीय-पादादिमध्य-यमक
४—अव्यपेतव्यपेत चतुर्थ-पादादिमध्य-यमक
५—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादादिमध्य-यमक
६—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-तृतीय-पादादिमध्य-यमक
७—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-चतुर्थ-पादादिमध्य-यमक
८—अव्यपेतव्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादादिमध्य-यमक
९—अव्यपेतव्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादादिमध्य-यमक
१०—अव्यपेतव्यपेत तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्य-यमक
११—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादादिमध्ययमक
१२—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादादिमध्ययमक
१३—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्ययमक
१४—अव्यपेतव्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्ययमक
१५—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्ययमक

दण्डी आदि ने इन भेदों का कोई उदाहरण नहीं दिया है। वामन और अग्निपुराण-कार ने इन उपभेदों की चर्चा नहीं की है। तथा रुद्रट और भोज दण्डी का ही अनुसरण करते हुए संकीर्ण और मिश्ररूप में इन उपभेदों को स्वीकृत करते हैं। भोज की आवृत्त्याधिक्य और आवृत्त्येकरूपता इस दिशा में चमत्कारवर्धक होंगी।

५—[क] पादाद्यन्तयमक (अव्यपेत)

भरत ने इस यमक को अपने विभाजन में द्वितीय स्थान देकर इसको 'काञ्ची-यमक' माना है और लक्षण में स्पष्ट किया है कि—'पाद के आदि और अन्त में जहाँ समान पद हों, उसे विद्वज्जन 'काञ्ची-यमक' समझें।[1] लक्षण समन्वय के लिये उदाहरण इस प्रकार दिया है—

माया माया चन्द्रवतीनां द्रवतीनां, व्यक्ता व्यक्ता सारजनीनां रजनीनाम्।
फुल्ले फुल्ले सम्भ्रमरेवा भ्रमरे वा, रामा रामा विस्मयते स्मयते च ॥नाट्य० १६।६६॥

इस पद्य में आदि और अन्त में प्रयुक्त—'माया, द्रवतीनां, व्यक्ता' आदि में समानता है अर्थात् समानरूप से आवृत्ति हुई है, अतः यहाँ, 'काञ्ची-यमक' अलङ्कार है। यह आवृत्ति

१—पादस्यादौ तथा चान्ते, स्यातां यत्र समे पदे। तत्काञ्चीयमकं नाम विज्ञेयं सूरिभिर्यथा॥
नाट्यशास्त्र-भरत १६-६८

'काञ्ची-मेखला' में निबद्ध शृंखला की उत्तरोत्तर संयोजन-प्रणाली के समान होने से इस नाम से सम्बोधित की गई है।

भामह ने ऐसा स्वतन्त्र भेद नहीं किया है, अतः यह उनके अनुसार 'अनन्तर आदि-यमक' और 'अनन्तर समस्तपादयमक' के मिश्रण में अन्तर्भुक्त होगा। दण्डी ने यमक के भेदों का नामकरण नहीं किया है किन्तु उनके द्वारा किये गये विभेदों में 'अव्यपेत आद्यन्तचतुष्पादयमक' का यह रूप है।

दण्डी ने 'अव्यपेत-आद्यन्तचतुष्पादयमक' के आद्यन्त स्थान को लक्ष्य में रखकर किये गये स्थान-परिवर्तन से इसके कुल पन्द्रह भेद दिये हैं, जो इस प्रकार है—

१—अव्यपेत प्रथमपादाद्यन्तयमक
२—अव्यपेत द्वितीयपादाद्यन्तयमक
३—अव्यपेत तृतीय-पादाद्यन्त-यमक
४—अव्यपेत चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
५—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादाद्यन्त-यमक
६—अव्यपेत प्रथम-तृतीय-पादाद्यन्त-यमक
७—अव्यपेत प्रथम-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
८—अव्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादाद्यन्त-यमक
९—अव्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
१०—अव्यपेत तृतीय-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
११—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादाद्यन्त-यमक
१२—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
१३—अव्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
१४—अव्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
१५—अव्यपेत प्रथमद्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक

इनमें भरत का 'माया माया' आदि पद्य अन्तिम भेद का उदाहरण है। इसके अन्य उदाहरण भी इसी प्रकार समझने चाहिये। वामन ने इस प्रकार के प्रभेद नहीं किये हैं। रुद्रट ने 'काञ्ची-यमक' का लक्षण भिन्न प्रकार से दिया है, जिसमें 'मध्य के अर्धार्ध की वहीं मध्य के अर्धार्ध में आवृत्ति हो, ऐसे 'मध्य-यमक' तथा आद्यन्त के अर्धार्ध की वहीं आद्यन्त के अर्धार्ध में आवृत्ति हो, ऐसे 'आद्यन्त-यमक' के मिश्रण से 'काञ्ची-यमक' माना है।[1] इस दृष्टि से यहाँ रुद्रट के अनुसार 'काञ्ची-यमक' नहीं होगा, अपि तु 'वक्त्र' और 'शिखा' के योग से बने हुए 'माला-यमक' का यह उदाहरण होगा। इसमें भी आवृत्त-पदों के बीच में एक-एक अक्षर का व्यवधान रहने से यह एकान्तर-भेद में गृहीत होगा। तथा इसके भी 'मुख' आदि नाम से दस भेद होंगे जो नामकरण के आधार पर नवीन होंगे, भेदगत नहीं। इन्हीं दस भेदों में समस्त पाद और पृथक्-पृथक् प्रथमादि चरणों की आवृत्ति को मिलाने से दण्डी के अनुरूप ही पन्द्रह भेद बन जाएँगे। भोज भी इससे सहमत हैं जो उनके 'आवृत्त्याधिक्य' और 'आवृत्त्येकरूपता' से चमत्कार जनक होंगे।

१—मध्यान्यर्धार्धानि तु मध्यं कुर्वन्ति तथा परिवृत्त्या।
आद्यन्तान्याद्यन्तं काञ्चीयमकं तथैकत्र ॥ काव्यालङ्कार-रुद्रट ३-४४॥

५–(ख) पादाद्यन्त-यमक (व्यपेत)

पादगत आदि और अन्तभाग की व्यपेत आवृत्ति होने पर भी दण्डी के अनुसार निम्नलिखित पन्द्रह उपभेद होते हैं—

१–व्यपेत प्रथम पादाद्यन्त-यमक
२–व्यपेत द्वितीय-पादाद्यन्त-यमक
३–व्यपेत तृतीय-पादाद्यन्त-यमक
४–व्यपेत चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
५–व्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादाद्यन्त-यमक
६–व्यपेय प्रथम-तृतीय-पादाद्यन्त-यमक
७–व्यपेत प्रथम चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
८–व्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादाद्यन्त-यमक
९–व्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
१०–व्यपेत तृतीय-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
११–व्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादाद्यन्त-यमक
१२–व्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
१३–व्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
१४–व्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
१५–व्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक

इनमें पादचतुष्टयगत पादाद्यन्तयमक का उदाहरण दण्डी ने काव्यादर्श में इस प्रकार किया है—

रवेण भौमो ध्वजवर्तिवीरवैरवैजि संयत्यतुतारवीर वे ।
रवेरिवोग्रस्य पुरो हरेरवेरवेत तुल्यं रिपुमस्य भैरवे ।।३।४०।।

यहाँ प्रति चरण के आदि और अन्त में 'रवे' पद की आवृत्तियाँ हुई हैं। वामन ने ऐसे उप-भेद नहीं किये हैं। रुद्रट ने आद्यन्त के दस भेद किये हैं, जो दण्डी के प्रथम एवं अन्तिम एक भेदों को मिलाने पर यथावत् बन जाते हैं। अग्नि-पुराण में इसका विचार नहीं है। भोज ने दण्डी के अनुसार ही भेद किये हैं जो आवृत्तिगत अधिकता और एकरूपता के कारण चमत्कारोत्पादक होंगे।

५--[ग]पादाद्यन्तयमक (अव्यपेत-व्यपेत)

पादगत आदि और अन्त के भागों की कहीं व्यवधान-रहित और कहीं व्यवधान-पूर्वक आवृत्ति होने से 'अव्यपेत-व्यपेत पादद्यन्तयमक' के दण्डी के अनुसार निम्नलिखित पन्द्रह उपभेद होते हैं—

१–अव्यपेतव्यपेत प्रथम-पादाद्यन्त-यमक
२–अव्यपेतव्यपेत द्वितीय-पादाद्यन्त-यमक
३–अव्यपेतव्यपेत तृतीय-पादद्यन्त-यमक
४–अव्यपेतव्यपेत चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
५–अव्यपेतव्यपेत प्रथम-द्वितीय पादाद्यन्त-यमक
६–अव्यपेतव्यपेत प्रथम-तृतीय-पादाद्यन्त-यमक

७—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
८—अव्यपेतव्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादाद्यन्त-यमक
९—अव्यपेतव्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादाद्यन्तयमक
१०—अव्यपेतव्यपेत तृतीय-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
११—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादाद्यन्त-यमक
१२—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
१३—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
१४—अव्यपेतव्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक
१५—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादाद्यन्त-यमक

इनमें पाद-चतुष्टयगत यमक का उदाहरण दण्डी ने 'काव्यादर्श' में इस प्रकार दिया है—

नयानयालोचनयानयानया-नयानयान्धान् विनयानयायते ।
नयानयासीज्जिनयानयानया,-नयानयाँस्ताञ्जनयानयाश्रितान् ॥ ३-४६ ॥

यहाँ 'नया' पद की आदि और अन्त में कहीं अव्यपेत और कहीं व्यपेतरूप में आवृत्ति हुई है। वामन ऐसे यमक को 'संकर, रुद्रट संकीर्ण' और भोज 'मिश्र' मानते हैं किन्तु आवृत्ति की अधिकता और एकरूपता से अधिक चमत्कार आ सकता है।

६ —[क] पादमध्यान्तयमक (अव्यपेत)

भामह ने अनन्तर-मध्यान्तयमक का सामान्य विवेचन किया है किन्तु ऐसे पादगत मध्य और अन्तभाग की अव्यपेत आवृत्ति होने पर दण्डी के अनुसार निम्नलिखित पन्द्रह उप-भेद होते हैं:—

१— अव्यपेत प्रथम-पादमध्यान्त-यमक
२— अव्यपेत द्वितीय-पादमध्यान्तयमक
३— अव्यपेत तृतीय-पादमध्यान्त-यमक
४— अव्यपेत चतुर्थ-पादमध्यान्त-यमक
५— अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादमध्यान्तयमक
६— अव्यपेत प्रथम-तृतीय-पादमध्यान्तयमक
७— अव्यपेत प्रथम-चतुर्थ-पादमध्यान्तयमक
८— अव्यपेतद्वितीय-तृतीय-पादमध्यान्तयमक
९— अव्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादमध्यान्तयमक
१०— अव्यपेत तृतीय-चतुर्थ-पादमध्यान्तयमक
११— अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादमध्यान्त-यमक
१२— अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादमध्यान्त-यमक
१३— अव्यपेत प्रथम-तृतीय चतुर्थ-पादमध्यान्त-यमक
१४— अव्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादमध्यान्त-यमक
१५— अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादमध्यान्तयमक।

इन उपभेदों में 'पादचतुष्टयगत-मध्यान्तयमक' का उदाहरण इस प्रकार है—

श्रीमानमानमरवर्त्मसमानमानमात्मानमानतजगत्प्रथमानमानम् ।
भूमानमानमतयः स्थितिमानमाननामानमानमतमप्रतिमानमानम् ॥

काव्यादर्श ३-४४ ॥

यहाँ चारों चरणों के मध्य और अन्त भाग में 'मान' शब्द की अव्यपेत-आवृत्ति हुई है। वामन और अग्निपुराणकार ने ऐसे प्रभेदों की चर्चा नहीं की है। रुद्रट और भोज दण्डी का अनुसरण करते हैं किन्तु भोज की आवृत्तिगत अधिकता और एकरूपता से इसमें चमत्कार आ सकता है।

६—[ख] पादमध्यान्तयमक (व्यपेत)

भामह ने एकान्तर-मध्यान्त-यमक का सामान्य विवेचन किया है, किन्तु ऐसे पादगत मध्य और अन्तभाग की व्यपेत आवृत्ति होने पर दण्डी के अनुसार निम्नलिखित पन्द्रह उपभेद होते हैं—

१—व्यपेत प्रथम-पादमध्यान्तयमक
२—व्यपेत द्वितीय-पादमध्यान्तयमक
३—व्यपेत तृतीय-पादमध्यान्तयमक
४—व्यपेत चतुर्थ-पादमध्यान्तयमक
५—व्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादमध्यान्तयमक
६—व्यपेत प्रथम-तृतीय-पादमध्यातयमक
७—व्यपेत प्रथम-चतुर्थ पादमध्यान्तयमक
८—व्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादमध्यान्तयमक
९—व्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादमध्यान्त-यमक
१०—व्यपेत तृतीय-चतुर्थ-पादमध्यान्त-यमक
११—व्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादमध्यान्त-यमक
१२—व्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादमध्यान्त-यमक
१३—व्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादमध्यान्त-यमक
१४—व्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादमध्यान्त-यमक
१५—व्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ पादमध्यान्त-यमक

इन उपभेदों में 'पादचतुष्टयगत-मध्यान्तयमक' का उदाहरण इस प्रकार है—

लीलास्मितेन शुचिना मृदुनोदितेन, व्यालोकितेन लघुना गुरुणा गतेन ।
व्याजृम्भितेन जघनेन च दर्शितेन, सा हन्ति तेन गलितं मम जीवितेन ॥

—काव्यादर्श ३-४३ ॥

यहाँ चारों चरणों के मध्य और अन्त भाग में व्यपेत आवृत्ति हुई है। वामन और अग्निपुराणकार ने ऐसे प्रभेदों की चर्चा नहीं की है। रुद्रट और भोज दण्डी का अनुसरण करते हैं किन्तु भोज की आवृत्तिगत अधिकता और एकरूपता से इस में चमत्कार आ सकेगा।

६—[ग] पादमध्यान्तयमक (अव्यपेतव्यपेत)

भामह ने ऐसी मिश्र आवृत्ति के बारे में विचार नहीं किया है, जब कि इस पादगत मध्य और अन्तभाग की कहीं अव्यपेत और कहीं व्यपेत आवृत्ति होने पर दण्डी के अनुसार निम्नलिखित पन्द्रह उपभेद होते हैं—

१—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-पादमध्यान्तयमक २—अव्यपेतव्यपेत द्वितीय-पादमध्यान्तयमक
३—अव्यपेतव्यपेत तृतीय-पादमध्यान्तयमक ४—अव्यपेतव्यपेत चतुर्थ-पादमध्यान्तयमक
५—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादमध्यान्तयमक
६—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-तृतीय-पादमध्यान्तयमक
७—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-चतुर्थ-पादमध्यान्तयमक
८—अव्यपेतव्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादमध्यान्तयमक
९—अव्यपेतव्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादमध्यान्तयमक
१०—अव्यपेतव्यपेत तृतीय-चतुर्थ-पादमध्यान्तयमक
११—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादमध्यान्तयमक
१२—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादमध्यान्तयमक
१३—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादमध्यान्तयमक
१४—अव्यपेतव्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादमध्यान्तयमक
१५—अव्यपेतव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादमध्यान्तयमक

दण्डी आदि ने ऐसे उपभेदों के उदाहरण नहीं दिये हैं। वामन और अग्निपुराणकार ने इनकी चर्चा नहीं की है। रुद्रट और भोज दण्डी का अनुसरण करते हैं किन्तु भोज की आवृत्तिगत अधिकता और एकरूपता से इसमें चमत्कार आ सकता है।

७—[क] पादादिमध्यान्तयमक (अव्यपेत)

भामह ने इस प्रकार के उपभेद की कोई चर्चा नहीं की है, जब कि इस पादगत आदि, मध्य और अन्तभाग की अव्यपेत-आवृत्ति होने पर दण्डी के अनुसार निम्नलिखित पन्द्रह उपभेद होते हैं—

१—अव्यपेत प्रथम-पादादिमध्यान्तयमक २—अव्यपेत द्वितीय-पादादिमध्यान्तयमक
३—अव्यपेत तृतीय-पादादिमध्यान्तयमक ४—अव्यपेत चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक
५—अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादादिमध्यान्तयमक
६—अव्यपेत प्रथम-तृतीय-पादादिमध्यान्तयमक
७—अव्यपेत प्रथम-चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक
८—अव्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादादिमध्यान्तयमक
९—अव्यपेत द्वितीय-चतुर्थ पादादिमध्यान्तयमक

१०——अव्यपेत तृतीय-चतुर्थ पादादिमध्यान्तयमक
११——अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादादिमध्यान्तयमक
१२——अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक
१३——अव्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक
१४——अव्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक
१५——अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक

इन उपभेदों में पादचतुष्टयगत आदि-मध्यान्तयमक का उदाहरण इस प्रकार है——

सीमासी मानभूमिः फणिबलवलनोद्भाविराजीविराजी,
हारी हारीतवद्भिः परिसरसरणावस्तमालैस्तमालैः ।
देवादेवाप्तरक्षः कृतभवभवतोऽग्रे न दीनो नदीनो,
मुक्तामुक्ताच्छरत्नः सितरुचिरुचिरोल्लासमुद्रः समुद्रः ।।
सरस्वतीकण्ठाभरण २-६८ ।।

यहां चारों चरणों के आदि, मध्य और अन्त में विभिन्न शब्दों की अव्यपेत आवृत्ति हुई है। वामन ने 'एकान्तर-आदिमध्यान्त-यमक' का सूचन किया है। रुद्रट और भोज दण्डी का अनुसरण करते हैं। अग्निपुराण में ऐसे उपभेद नहीं हैं । भोज की आवृत्तिगत अधिकता और एकरूपता से इसमें चमत्कार आ सकता है।

७ —[ख]पादादिमध्यान्तयमक(व्यपेत)

पादगत आदि, मध्य और अन्तभाग की व्यपेत आवृत्ति होने पर दण्डी के अनुसार निम्नलिखित पन्द्रह उपभेद होते हैं——

१——व्यपेत प्रथमपादादिमध्यान्तयमक
२——व्यपेत द्वितीय-पादादिमध्यान्तयमक
३——व्यपेत तृतीय-पादादिमध्यान्तयमक
४——व्यपेत चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक
५——व्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादादिमध्यान्तयमक
६——व्यपेत प्रथम-तृतीय-पादादिमध्यान्तयमक
७——व्यपेत प्रथम-चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक
८——व्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादादिमध्यान्तयमक
९——व्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक
१०——व्यपेत तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक
११——व्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादादिमध्यान्तयमक
१२——व्यपेत प्रथत-द्वितीय-चतुर्थपादादिमध्यान्तयमक
१३——व्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पाददिमध्यान्तयमक
१४——व्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक
१५——व्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक

इन उपभेदों में 'पादचतुष्टयगत पादादिमध्यान्तयमक' का उदाहरण यह है--

मताधुनानारमतामतामता-मतापलब्धाग्रिमतानुलोमता ।
मतावयत्युत्तमताविलोमतामताम्यतस्ते समता न वामता ॥

--काव्यादर्श ३-४९ ॥

यहाँ चारों चरणों के आदि, मध्य और अन्त में 'मता' शब्द की व्यपेत-आवृत्ति हुई है। वामन ने 'एकाक्षर आदिमध्यान्तयमक' का सूचन किया है। रुद्रट और भोज दण्डी के समान ही हैं। अग्निपुराण में ऐसे उपभेद नहीं हैं। भोज की आवृत्तिगत अधिकता और एकरूपता से चमत्कार आ सकता है।

७ —[ग] पादादिमध्यान्तयमक (अव्यपेतव्यपेत)

पादगत आदि, मध्य और अन्तभाग की कहीं अव्यपेत और कहीं व्यपेत आवृत्ति होने पर दण्डी के अनुसार निम्नलिखित पन्द्रह उपभेद होते हैं--

१--अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-पादादिमध्यान्तयमक
२--अव्यपेत-व्यपेत द्वितीय-पादादिमध्यान्तयमक
३--अव्यपेत-व्यपेत तृतीय-पादादि-मध्यान्तयमक
४--अव्यपेत-व्यपेत चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक
५--अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-द्विती य-पादादिमध्यान्तयमक
६--अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-तृतीय-पादादिमध्यान्तयमक
७--अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक
८--अव्यपेत-व्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादादिमध्यान्तयमक
९--अव्यपेत-व्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक
१०--अव्यपेत-व्यपेत तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक
११--अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादादिमध्यान्तयमक
१२--अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक
१३--अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक
१४--अव्यपेक-व्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक
१५--अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादादिमध्यान्तयमक

इन उपभेदों में 'पादचतुष्टयगत आदि-मध्यान्त-यमक' का उदाहरण इस प्रकार है–

काल काल गल काल काल मुख काल काल—
काल काल पन काल काल घन काल काल–
काल काल सित कालकालका ललनि काल काल–
काल काल गतु कालकाल कलि काल काल ॥ काव्यादर्श ३–५० ॥

यहाँ चारों चरणों के आदि, मध्य और अन्त में 'काल' शब्द की अव्यपेत और व्यपेत आवृत्ति हुई है। वामन, रुद्रट और भोज के क्रमशः संकर, संकीर्ण अथवा मिश्र में इन प्रभेदों की गणना होगी जो भोज के अनुसार आवृत्तिगत अधिकता और एक-रूपता से चमत्कार-जनक बन सकेंगी।

८—पादान्तादि-यमक (सन्दष्टक)

भरत ने इस भेद को अपने यमक-भेदों में पाँचवा भेद 'चक्रवाल-यमक' माना है जिसका लक्षण इस प्रकार है—जहाँ पूर्वपाद का अन्तिम भाग अग्रिम पाद के पूर्वभाग से साम्य रखते हुए आवृत्त होता हैं, उसे चक्र के समान भ्रमण करने के कारण 'चक्रवाल-यमक' जानना चाहिए।[१] जैसे—

शैला यथा शत्रुभिराहता हता, हताश्च भूयोऽप्यनुपुङ्खगैः खगैः।
खगैश्च सर्वैर्युधि सञ्चिताञ्चिता, चिताधिरूढा निहताः फलैः फलै॥ ना० शा० १६।७५॥

यहाँ प्रथम-द्वितीय पाद में 'हता हता' द्वितीय-तृतीय पाद में 'खगैः खगैः' और तृतीय-चतुर्थ पाद में 'चिता चिता' की आवृत्ति चक्रवत् होने से 'चक्रवालयमक' अलङ्कार है। भामह ने इस भेद के लिये 'समस्त-पादयमक' के पश्चात् 'अनन्तरपादयमक' के रूप में सामान्य संकेत किया है।[२] अनन्तर पाद क्रमशः प्रथम-द्वितीय, द्वितीय-तृतीय और तृतीय-चतुर्थ होते हैं। तदनुसार यह 'एकान्तर आदियमक' और 'अनन्तर समस्तपादयमक' के मिश्रण में अन्त-र्भुक्त होगा। दण्डी ने जो 'सन्दष्ट-यमक' का लक्षण दिया है, उसमें और भरत के 'चक्रवाल' में कुछ साम्य है। अतः यह दण्डी के अनुसार 'अव्यपेत-व्यपेत-सन्दष्टयमक' का उदाहरण है।

आचार्य दण्डी का कथन है कि—प्रथम पाद के अन्त में तथा द्वितीयपाद के आदि में रहने वाले यमक का नाम पूर्वाचार्यों ने 'सन्दष्टयमक' रखा है, वह यद्यपि हमारे द्वारा कहे गये 'व्यपेत आद्यन्तचतुष्पादादियमक' में आजाता है, तथापि प्राचीनानुरोध से यहाँ स्वतन्त्र रूप से वर्णन किया जाता है।[३]

किन्तु इसके अनुसार यदि हम देखते हैं तो भरत के 'चक्रवाल' का रूप तथा आचार्य दण्डी के 'व्यपेत आद्यन्तचतुष्पाद-यमक' का रूप तुलना में समान नहीं दिखाई देता। क्यों कि

१—पूर्वस्यान्तेन पादस्य, परस्यादिर्यदा समः। चक्रवच्चक्रवालं तद्विज्ञेयं नामतो यथा॥
—ना० शा० १६-७४।

२—अनन्तरैकान्तरयोरेवं पादान्तयोरपि। काव्यालङ्कार (भामह) २-१६ तथा भरत के इस उदाहरण में द्वितीय, तृतीय और चतुर्थपाद के आदिभाग के अन्त में प्रयुक्त शब्द का एक-बार प्रयोग अन्यापेक्षया नवीन है।

३—सन्दष्टयमकस्थानमन्तादी पादयोर्द्वयोः। उक्तान्तर्गतमप्येतत्स्वातन्त्र्येणात्र कीर्त्यते॥
—काव्यादर्श—दण्डी ३-५१॥

चक्रवाल में प्रथमपाद का अन्त अव्यपेतयमक तथा द्वितीय-पाद का आदि व्यपेत-यमक के रूप में प्रयुक्त है, जब कि दण्डी के 'व्यपेत आद्यन्तचतुष्पाद-यमक' में प्रथमादि चारों पदों के आदि और अन्त में व्यपेतरूप में ही आवृत्ति होती है। अतः वहाँ 'चक्रवाल-यमक' मानने पर प्रथम पाद का आदि और चतुर्थ पद व्यर्थ हो जाता है। सम्भवतः इसी विशेषता को ध्यान में रख कर दण्डी ने 'सन्दष्ट-यमक' का पृथक् विवेचन किया है। दण्डी का उदाहरण इस प्रकार है—

उपोढरागाप्यबला मदेन सा, मदेनसा मन्युरसेन योजिता।
न योजितात्मानमनङ्गतापिताङ्गतापि तापाय ममास नेयते॥ काव्यादर्श ३।५२॥

इसमें प्रथमपाद के अन्त में और द्वितीयपाद के आदि में, द्वितीयपाद के अन्त में और चतुर्थपाद के आदि में व्यपेतरूप से पदावृत्ति हुई है। अतः यह भरतोक्त उदाहरण से कुछ नवीनता लिए है। इसके अतिरिक्त भेदों की दण्डी ने चर्चा नहीं की है। वामन ने ऐसा भेद नहीं किया है। रुद्रट ने दण्डी के द्वारा सन्दष्ट-यमक की पृथक् चर्चा करने की न्यूनता को पूर्ण करने के लिये ही **'अन्तादिक-यमक'** की व्यवस्था की है, तथा उसके छः भेद दिखलाये हैं।[1] जो इस प्रकार हैं—

१—प्रथमपादान्त का द्वितीयपादादि के साथ व्यस्त यमक

२—तृतीयपादान्त का चतुर्थपादादि के साथ व्यस्त यमक

३—प्रथमपादान्त का द्वितीयपादादि के साथ और तृतीयपादान्त का चतुर्थपादादि के साथ समस्त यमक

४—द्वितीय पादान्त का तृतीयपादादि के साथ मध्य यमक।

५—प्रथमपादान्त का द्वितीयपादादि के साथ, द्वितीयपादान्त का तृतीयपादादि के साथ और तृतीयपादान्त का चतुर्थपादादि के साथ-'वंश यमक'।

६—प्रथमपादान्त का द्वितीयपादादि के साथ, द्वितीयपादान्त का तृतीयपादादि के साथ तथा चतुर्थपादान्त का प्रथमपादादि के साथ-'चक्रक-यमक'।

यहीं नमिसाधु ने एक सातवें भेद की भी सूचना दी है जो केवल प्रथम पादाद्यर्ध का चतुर्थ-पादान्तार्ध के साथ यमक होने पर होगा।[2]

१—प्रथमतृतीयान्त्यार्धे तदन्तरभागयोः परावृत्ते।
अन्तादिकमिति यमकं व्यस्त–समस्तं त्रिधा कुरुतः।३–२३॥
द्वैतीयमन्यमर्धं परिवृत्तमनन्तरे भवेन्मध्यम्।
मध्यसमस्तान्तादिकयोगादपि जायते वंशः॥ काव्यालङ्कार, रुद्रट ३–३७।

२—द्रष्टव्य काव्यालङ्कार, पृ० २८ श्लोक ३२ की टीका

इस प्रकार भरत का यह उदाहरण रुद्रट के अनुसार 'वंश-यमक' का उदाहरण है। उस में भी एक भाग में निरन्तर और द्वितीय भाग में एकान्तर आवृत्ति है, जो मिश्र-भेद में समाविष्ट होती है।

रुद्रट के अन्य भेदों के अन्य उदाहरण इस प्रकार है—

१—नारीणामलसं नाभि, लसन्नाभि कदम्बकम्।
परमास्त्रमनङ्गस्य, कस्य नो रमयेन्मनः॥[1]

यहाँ प्रथम चरण का अन्त्य और द्वितीय चरण का आदि भाग यमकित है, अतः यह 'व्यस्त पादान्तादि यमक' है।

२—पश्यन्ति पथिकाः काम-शिखिधूम-शिखामिव।
इमां पद्मालयालीनां, लयालीनां महावलीम्॥

यहाँ तृतीय चरण का अन्त्य और चतुर्थ चरण का आदिभाग यमकित है, अतः यह 'व्यस्तपादान्तादि यमक' का द्वितीय भेद है।

३—पुष्यन्विलासं नारीणां, सन्नारीणां कुलक्षयम्।
आ कल्पं वसुधासारसुधासार जगज्जय॥

इसमें प्रथम चरण का अन्त्य और द्वितीयचरण का आदि तथा तृतीयचरण का अन्त्य और चतुर्थचरण का आदिभाग यमकित है, अतः यहाँ 'समस्तपादान्तादियमक' है।

४—समस्तभुवनव्यापियशस्ततिरसेह ते।
रसेहते प्रियं कर्तुं, प्राणैरपि महीपते॥

यहाँ द्वितीय चरण का अन्त्य और तृतीय चरण का आदि भाग यमकित है, अतः पादान्तादियमक में 'मध्ययमक' नामक भेद का उदाहरण है।

५—इस भेद का उदाहरण भरत के उदाहरण के समान है।

६—सभाजनं समानीय, स मानी यः स्फुटन्नपि।
स्फुटं न पिहितं चक्रे, हितं चक्रे सभाजनम्॥

यहाँ क्रमशः प्रथमपादान्त का भाग द्वितीयपादादि, द्वितीयपादान्त का भाग तृतीय-पादादि, तृतीयपादान्त का भाग चतुर्थपादादि और चतुर्थपादान्त का भाग प्रथमपादादिभाग के साथ परस्पर यमकित है, अतः 'चक्रक-यमक' है।

दण्डी ने इसे 'सन्दष्ट-यमक' की संज्ञा दी है किन्तु रुद्रट ने 'सन्दष्टक' का लक्षण द्वितीयपाद या पादादिभाग की चतुर्थपाद या पादादिभाग के साथ आवृत्ति को माना है।

१—यहाँ से पाँचों उदाहरण देखिये—काव्यालङ्कार, रुद्रट, अध्याय ३, पृ० २७-२८।

अतः यह भरत, दण्डी और रुद्रट तीनों के मत में विभिन्न परिभाषावाला बन गया है। अग्निपुराण में भरत का अनुकरण रहते हुए भी न तो चक्रवाल और न सन्दष्टक का स्मरण किया है तथापि कञ्ची-यमक के बाद कहा गया 'संसर्ग–यमक' भरत का चक्रवाल हो सकता है क्यों कि इसमें प्रथमपादान्त का द्वितीयपाद के आदिभाग से संसर्ग होता है, किन्तु यह लक्षण निरूपण के अभाव में सुनिश्चित नहीं कहा जा सकता। भोज ने भी इस प्रकार का कोई भेद नहीं किया है।

६— अस्थान-यमक

भरत ने ऐसा कोई भेद नहीं किया हैं। भामह ने जो 'आवली' नामक यमक का चौथा भेद किया है उसमें "स्थाननियम की रहितता" को लक्षण में जोड़ते हुए अनेक क्रमिक यमक प्रयोगों को "आवली-यमक" की संज्ञा दी है।[1] तथा उसका उदाहरण इस प्रकार दिया है–

सिता सिताक्षीं सुपयोधराधरां, सुसम्मदां व्यक्तमदां ललामदाम्।
घना घनानीलघना घनालका, प्रियामिमामुत्सुकयन्ति यन्ति च॥[2]

यहाँ बिना किसी स्थान-नियम के प्रथम चरण के आद्यन्त में, द्वितीय चरण में एक ही शब्द की आदिमध्यान्त में, तृतीयचरण के आदिमध्य में तथा चौथे चरण के अन्त में आवृत्ति हुई है। अतः इसे शृंखलात्मकता के साथ ही विविध भेदों का मिश्रण होने के कारण "अस्थान-यमक" कहा जा सकता है।

दण्डी ने 'सजातीय-मिश्रण-जनित' यमक भेदों की ही बहुधा चर्चा की है किन्तु अन्त में कहा है कि–'पूर्ववर्णित यमकों के सजातीय-विजातीय-सम्मिश्रणजन्य प्रभेद बहुत अधिक हो जाते हैं, उनकी गणना नहीं हो सकती। उनमें कुछ भेद ऐसे होते हैं जिनकी रचना सुखसाध्य है और कुछ भेद ऐसे हैं जिनकी रचना कठिनता से साध्य है। इस तरह यमकों में से कुछ के उदाहरण यहाँ पर दिए जा रहे हैं।[3] इस कथन की पूर्ति में एक उदाहरण बहुत प्रकार के विजातीय यमकों के मिश्रण का भी दिया है जो भोज के अनुसार 'पादसन्धिगत-सूक्ष्मव्यपेत-अस्थान-यमक' का उदाहरण है। वामन ने ऐसे भेद को संकर और रुद्रट ने संकीर्ण कह कर उदाहरण दिए हैं किन्तु व्यवस्थित विभाजन नहीं किया है।

१— आदिमध्यान्तयमकं, पादाभ्यासं तथावली। समस्तपादयमकमित्येतत् पञ्चधोच्यते॥
काव्यालङ्कार-भामह २-६॥

२— वहीं आवली यमक का उदाहरण, द्रष्टव्य-द्वितीय परिच्छेद।

३— न प्रपञ्चभयाद् भेदाः, कात्स्न्येनाख्यातुमीहिताः।
दुष्कराभिमता ये तु वर्ण्यन्ते तेऽत्र केचन"॥कायदर्शा-दण्डी ३-३८॥

अग्निपुराण में इसकी चर्चा नहीं है। इसलिए हम उपर्युक्त आचार्यों के द्वारा दिये गए उदाहरणों की मीमांसा न करते हुए भोज के ही विभाजन के अनुसार मीमांसा करेंगे।

भोज ने पाद के आदि, मध्य और अन्तगत स्थानों के अतिरिक्त अनियमित रूप से सन्धि स्थानों में प्रकाशित होने वाले यमक को अस्थान-यमक की संज्ञा दी है। इस यमक के 'पादगत और श्लाकगत' ऐसे प्रारम्भिक दो भेद होते हैं तथा पादगत का एक अन्य भेद पादसन्धिगत माना है। ये तीनों भेद अव्यपेत, व्यपेत और स्थूल तथा सूक्ष्मरूप से आवर्तित–त हाते हैं। इनमें भी छन्दोगत औचित्य के आधार पर इनमें स्वभेद और अन्यभेद के उच्छेदक और अनुच्छेदक आवर्तन से चार भेद होते हैं तथा दो अन्यभेद मिश्ररूप के माने गये हैं।[1] इस प्रकार पादगत के चार, पादसन्धिगत के छः, श्लोकगत के चार तथा मिश्ररूप के दो भेद होते हैं जिनकी सूची एवं उदाहरणादि निम्नलिखित हैं––

१–– पादगत स्थूल अव्यपेत अस्थान-यमक
२–– पादगत सूक्ष्म अव्यपेत अस्थानयमक
३–– पादगत स्थूल व्यपेत अस्थानयमक
४–– पादगत सूक्ष्म व्यपेत अस्थान यमक
५–– पादसन्धिगत अन्यभेदोच्छेदक स्थूल अव्यपेत अस्थानयमक
६–– पादसन्धिगत अन्यभेदानुच्छेदक सूक्ष्म अव्यपेत अस्थानयमक
७–– पादसन्धिगत स्वभेद में पूर्वभेदानुच्छेदक सूक्ष्म स्थूल अव्यपेत अस्थानयमक
८–– पादसन्धिगत स्वान्यभेदानुच्छेदक सूक्ष्म अव्यपेत अस्थानयमक
९–– पादसन्धिगत स्थूल व्यपेत अस्थानयमक।
१०–– पादसन्धिगत सूक्ष्म व्यपेत अस्थानयमक
११–– श्लोकगत स्थूल अव्यपेत अस्थानयमक
१२–– श्लोकगत सूक्ष्म अव्यपेत अस्थानयमक
१३–– श्लोकगत स्थूल व्यपेत अस्थानयमक
१४–– श्लोकगत सूक्ष्म व्यपेत अस्थानयमक
१५–– स्वान्य भेदगत स्थूल-सूक्ष्म व्यपेत अस्थानयमक
१६–– सूक्ष्म बह्वावृत्ति रूप स्थूलसूक्ष्म व्यपेत अस्थानयमक,

१–– नादौ न मध्ये नान्ते यत्सन्धौ वा यत्प्रकाशते।
अव्यपेतव्यपेतं तदस्थानयमकं विदुः ॥ २-६३ ॥

पादे श्लोके च तत्प्रायः पादसन्धौ च बद्धयते। स्वभेदे चान्यभेदे च, स्थूलं सूक्ष्मं च सूरभिः ॥ २-६४ ॥ तथा वहीं टीकाकार ने सन्धि का अर्थ-"सन्धौ पादसन्दंशे एकस्यादि परस्यान्त इति" किया है। सरस्वतीकण्ठाभरण

(१)—पागदतस्थूल अव्यपेत अस्थानयमक

वीनां वृन्दं चैतत्कूटे, समरुति सुतरुणि समरुति सुतरुणि ।
चित्तं वा तेन क्रोडेऽस्मिन्, सुरमणि गुणरुचि सुरमणि गुणरुचि ॥ स.क.२।१२४ ॥

यहाँ 'समरुति सुतरुणि और सुरमणि गुणरुचि' ऐसे आठ वर्णों की द्वितीय और चतुर्थ-पाद में स्थूलरूप से पादव्यापी अव्यपेत आवृत्ति होने के कारण उक्त भेदवाला यमक अलङ्कार है। यह आवृत्ति श्लोक के दोनों चरणों में व्याप्त होने के कारण आदि, मध्य अथवा अन्त-गत न होने से अस्थानगत मानी गई है।

(२)—पादगत सूक्ष्म अव्यपेत अस्थानयमक

स्वस्थः शैले पश्यास्तेऽसौ, रुरुरुरुरतिरतितनुतनु मतिमति ।
लोको यद्वद्दृत्यानीकं, गुरु गुरुमयि मयि तरितरि सतिसति ॥
स० क० २।१२५॥

यहाँ रुरु, रति, तनु, मति, आदि पदों की द्वितीय और चतुर्थचरणों में सूक्ष्मरूप से पादव्यापी अव्यपेत आवृत्ति होने के कारण उक्त भेदवाला यमक अलङ्कार है।]

यहाँ टीकाकार रामसिंह ने सूचन किया है कि—इस प्रकार की आवृत्ति के सम्बन्ध में पादद्वय का विशेष आख्यान न होने से यह आवृत्ति एक पादगत होने पर भी ऐसे यमक-भेद की जनक होगी। तदनुसार और भी भेद हो सकेंगे।[1]

(३)—पादगत स्थूल व्यपेत अस्थानयमक

अखिद्यतासन्नमुदग्रतापं, रविं दधानेऽप्यरविन्दधाने ।
भृङ्गावलिर्यस्य तटे निपीतरसा नमत्तामरसा न मत्ता ॥ स० क० ।२।१३२॥

यहाँ 'रविं दधानेऽप्यरविन्दधाने' और 'रसानमत्तामरसान मत्ता' पदों में हुई आवृत्ति के बीच एक अक्षर का व्यवधान रहने से तथा द्वितीय और चतुर्थचरणों में स्थूल रूप से पादव्यापी आवृत्ति होने के कारण उक्त भेदवाला यमक अलङ्कार है।

(४)—पादगत सूक्ष्म व्यपेत अस्थानयमक

करेणुः प्रस्थितोऽनेको, रेणुर्घण्टाः सहस्रशः ।
करेऽणुः शीकरो जज्ञे, रेणुस्तेन शमं ययौ ॥ स० क० ।२।१३३॥

यहाँ प्रथम और तृतीय पाद में 'करेणु' पद की आवृत्ति होने से तथा द्वितीय और चतुर्थपाद में 'रेणु' पद की आवृत्ति होने से और इन दोनों आवृत्तियों के स्वापेक्षा एवं अन्यापेक्षा से अनियतस्थानगत होने से उक्त भेदवाला यमक अलङ्कार है।

१—तदेतदेकस्मिन्नपि पादेऽनुक्तद्वयादिपादविकल्पेन च बोद्धव्यम्। वहीं, टीकाभाग पृ० २०६।

(५)—पादसन्धिगत अन्यभेदोच्छेदक स्थूल व्यपेत अस्थानयमक

उपोढरागाप्यबला मदेन सा, मदेन सा मन्युरसेन योजिता ।
न योजितात्मानमनङ्गतापितां, गतापि तापाय ममास नेयते ॥ स० क० ।२।१२८॥

यहाँ प्रथम-द्वितीय और तृतीय-चतुर्थ चरणों के अन्त एवं आदि स्थलों में 'मदेनसा, नयोजिता आदि पदों की जो आवृत्ति सन्दंश के रूप में हुई है वह अव्यपेत है किन्तु यदि प्रत्येक चरण को विच्छिन्न करके पृथक्-पृथक् पढ़ा जाए तो वह सन्धिस्थानों में व्यपेतावृत्ति-रूप बन जाएगा और निरन्तर-पठन से अव्यपेत ही रहेगा। इस दृष्टि से यहाँ अन्यभेद जो व्यपेत का है उसका उच्छेद हो जाता है और सन्धिस्थलों में स्थूल आवृत्ति बहुवर्णावृत्ति होने से उक्त भेदवाला यमक अलङ्कार है।

(६)—पादसन्धिगत अन्यभेदानुच्छेदक सूक्ष्म अव्यपेत अस्थानयमक

मतां धुनानारमतामकामता, मतापलब्धाग्रिमतानुलोमता ।
मतावयत्युत्तमता विलोमता, मताम्यतस्ते समता न वामता ॥ स० क० ।२।१२९॥

यहाँ प्रतिपाद के आदि, मध्य और अन्तगत स्थानों में 'मता' शब्द की व्यपेत आवृत्ति हुई है और सन्दंश के रूप में सन्धिस्थानों में आवृत्ति करने पर भी वह अव्यपेत आवृत्ति बन जाती है किन्तु पूर्व भेद व्यपेतयमक का यहाँ उच्छेद नहीं होता। तथा इसमें हुई आवृत्ति सूक्ष्म स्वल्पवर्णों की ही है, अतः उक्त भेदवाला यमक अलङ्कार है।

(७)—पादसन्धिगत स्वभेद में पूर्वभेदानुच्छेदक स्थूल अव्यपेत अस्थान-यमक

सतमाः सतमालो यः, पारापारायतः स दावो दावः ।
लोकालोकानुकृतिः, सह्यः सह्यमनभ्रकूटैः कूटैः ॥ स० क० २।१३१॥

यहाँ प्रथम और तृतीयचरण के आदि में और द्वितीय एवं चतुर्थचरण के आद्यन्त में जो आवृत्ति हुई है, वह व्यपेतावृत्ति है। तथा इस आवृत्ति का उच्छेद न करते हुए ही सन्दंश के रूप में सन्धिस्थानों में आवृत्ति करने से दोनों आदि यमक और दोनों आद्यन्त यमक की अव्यपेत आदिमध्यान्त आवृत्ति प्रकट हो जाती है क्योंकि द्वितीय और चतुर्थपाद के आदि-मध्यान्त यमक ही यहाँ मध्ययमक की भूमिका को प्राप्त हो जाते हैं। इस दृष्टि से स्वभेद अर्थात् अव्यपेत आदिमध्यान्तयमक में पूर्वभेद व्यपेत आदियमक और आद्यन्तयमक का उच्छेद न होने से तथा स्थूल आवृत्ति रहने से उक्त भेदवाला यमक अलङ्कार है।

(८)—पादसन्धिगत स्वान्यभेदानुच्छेदक सूक्ष्म अव्यपेत अस्थानयमक

सनाकवनितं नितम्बरुचिरं चिरं सुनिनदैर्नदैर्वृतममुम् ।
महाफणवतोऽवतो रसपरा परास्त वसुधा सुधाधिवसति ॥ स० क० २।१३१॥

यहाँ प्रतिचरण में नितं, नितं इत्यादि पदों की अव्यपेत आवृत्ति हुई है तथा सन्धि में पादविच्छेद हो जाने से 'चिरं चिरं' आदि पदों में व्यपेत यमक बन जाता है किन्तु उसी को सन्दंश के रूप में आवृत्त करने से व्यपेतत्व निवृत्त हो जाता है जब कि अव्यपेत मध्य-यमक तो बना ही रहता है और सामूहिकरूप में अव्यपेत यमक ही है तथा स्वल्पवर्णों की ही आवृत्ति हुई है, इस दृष्टि से यहाँ उक्त भेदवाला यमक अलङ्कार है।

(९)—पादसन्धिगत स्थूल व्यपेत अस्थानयमक

हठपीत महाराष्ट्रीदशनच्छदपाटला।
पाटलाकलिकानेकैरेकैका लिलिहेऽलिभिः॥ स० क० २।१३६॥

यहाँ द्वितीयपाद के अन्त और तृतीयपाद के आरम्भ में 'पाटला' पद की आवृत्ति होने से अव्यपेत अन्तादियमक है जब कि पूर्ववत् यतिविच्छेद करके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध को पृथक्-पृथक् पाठ मानने से अव्यपेतत्व नष्ट हो जाता है और यह पाद के आदि और अन्त में यमक न होकर एक के आदि में और अन्य के अन्त में स्थूल रूप से यमकित होने के कारण उक्त भेदवाला यमक अलङ्कार है।

(१०)—पादसन्धिगत सूक्ष्म व्यपेत अस्थानयमक

धराधराकारधरा धराभुजां, भुजा महीं पातु महीनविक्रमाः।
क्रमात् सहन्ते सहसा हतारयो, रयोद्धुरा यानधुरावलम्बिनः॥स० क० २१।३७॥

यहाँ प्रथम-द्वितीय और तृतीय-चतुर्थ चरणों के अन्त में आवृत्त 'भुजां भुजां' और रयो-रयो पदों में अव्यपेत यमक है जब कि पाद-विच्छेद कर देने पर यही आवृत्ति सूक्ष्मरूप से व्यपेतयमक की जनक हो जाती है। अतः यहाँ उक्त भेदवाला यमक अलङ्कार है।

(११)—श्लोकगत स्थूल अव्यपेत अस्थानयमक

नगजा न गजा दयित दयिता, विगतं विगतं ललितं ललितम्।
प्रमदाप्रमदामहता महतामरणं मरणं समयात् समयात्॥स० क० २।१२६॥

यहाँ 'नगजा नगजा' आदि पदों की आठ आवृत्तियाँ होने से सम्पूर्ण श्लोक व्याप्त है, जिससे नियतस्थानता नहीं रह पाई है और ये आवृत्तियाँ स्थूलरूप से होकर व्यवधान-रहित हुई हैं, अतः उक्त भेदवाला यमक अलङ्कार है।

(१२)—श्लोकगत सूक्ष्म-अव्यपेत अस्थानयमक

विविधधववनानानागगर्दर्दनाना,
विविततगगनामानाममज्जज्जनाना॥
रुरुशशललनाना नावबन्धुन्धुनाना,
मम हि हितताना नाननस्वस्वनाना। स० क० २।१२८॥

यहाँ अत्यन्त सूक्ष्म[1] अट्ठाईस आवृत्तियों से पूरा श्लोक व्याप्त है, जिससे नियत-स्थानता नहीं रह पाई है और ये आवृत्तियाँ अव्यपेत भी हैं, अतः यहाँ उक्त भेदवाला यमक अलङ्कार है।

(१३)—श्लोकगत स्थूल-अव्यपेत अस्थानयमक

जयन्ति ते सदा देहं, नमस्यन्ति जयन्ति ते।
भवान्यतो नमस्यन्ति, सदा देहं भवान्यतः ॥ स० क० २।१३४ ॥

यहाँ 'जयन्ति ते' पद प्रथम-द्वितीय चरण के आद्यन्त में, 'सदा देहं' पद प्रथम चतुर्थ के अन्तादि में 'नमस्यन्ति' पद द्वितीय-तृतीय और 'भवान्यतः' पद तृतीय-चतुर्थ चरणों के आद्यन्त में स्थूलरूप से आवृत्त होने के कारण पूरे श्लोक में व्याप्त है तथा कोई भी भाग अनावृत्त न होते हुए भी व्यपेतरूप में आवृत्त है। अतः यहाँ उक्त भेदवाला यमक अलङ्कार है।

(१४)—श्लोकगत सूक्ष्म-व्यपेत अस्थानयमक

यामानीतानीतायामा, लोकाधीराधीरालोका।
सेनासन्नासन्ना सेनासारं हत्वाह त्वा सारम् ॥ स० क० २।१३५ ॥

यहाँ यद्यपि 'यामा यामा' इत्यादि पदों के बीच में व्यवधान होने से व्यपेत आद्यन्त यमक है तथा 'नीतानीता' आदि पदों में व्यवधान न होने से अव्यपेत मध्य-यमक है, तथापि मण्डूक-प्लुति से गत-प्रत्यागत, और यतिकृतव्यवाय होने से यह उल्लेखनीय नहीं है। किन्तु दो-दो अक्षरों की सूक्ष्म आवृत्ति से पूरा ही श्लोक व्याप्त के समान दिखाई देता है। अतः यहाँ उक्त भेदवाला यमक अलङ्कार है।[2]

१—टीकाकार रामसिंह ने ऐसी आवृत्ति को सूक्ष्मतर कहा है तथा स्पष्ट किया है कि वर्णद्वयपर्यन्तमावृत्तिः सूक्ष्मा, सैवैकवर्णगोचरा सूक्ष्मतरा। वहीं, पृष्ठ २११ टीका।

२—टीकाकार रामसिंह ने इस पद्य के व्याख्यान में विशेष स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'यामा, लोका लोका' इत्यादि में आद्यन्त और 'नीता-नीता' इत्यादि में 'पादचतुष्टय-मध्य व्यपेत यमक' है। इस प्रकार आद्यन्त और मध्ययमक होने से यहाँ स्थानयमक ही है और संकर हो तब भी पृथक् यमकता नहीं होती है। किन्तु यामा पद के पश्चाद् द्वितीय यामा पद के पूर्व चार अक्षर हैं जिन्हें कि मण्डूकप्लुति से छोड़ देना पड़ता है और यामानीता इस स्थूल चतुष्क के प्रत्यागत होने से नीरा यामा की प्राप्ति होती है यह अत्यन्त स्पष्ट है इससे यमकच्छाया नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार मध्यादिक जो अव्यपेत यमक है वहाँ भी बन्धच्छाया के लिये यति की जाती है अतः ये विशेष उल्लेखनीय नहीं है। जबकि पूरा श्लोक दो-दो अक्षरों की आवृत्ति से व्याप्त है—यह सर्वथा उल्लेख-नीय है। सरस्वती कण्ठाभरण पृ० २१५ टीका।

(१५)—स्वान्यभेदगतस्थूल-सूक्ष्म अव्यपेत अस्थानयमक

सालं वहन्ती सुरतापनीयं, सालं तडिद्भासुरतापनीयम् ।
रक्षोभरक्षोभरसन्निकूटा, लङ्का कलङ्का कलिकाद्रिकूटा ॥

—स० क० २।१३६ ॥

यहाँ 'सालं सालं' इस व्यपेत पादादियमकरूप स्वभेद में 'सुरतापनीयं सुरतापनीयं' की स्थूल-व्यपेत-पादान्तावृत्ति हुई है जब कि 'रक्षोभरक्षोभ' और 'लङ्काकलङ्का' इस अव्यपेत पादादियमकरूप अन्य भेद में 'कूटा कूटा' की सूक्ष्म व्यपेत के रूप में आवृत्ति हुई है और स्थान की नियतता भी नहीं रह पाई है। अतः यहाँ उक्त भेदवाला यमक अलङ्कार है।

(१६)—सूक्ष्म बह्वावृत्तिरूप स्थूलसूक्ष्म-व्यपेत अस्थानयमक

मधुरया मधुबोधितमाधवी, मधुसमृद्धि-समेधितमेधया ।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥

—स० क० २१३९ ॥

यहाँ मधु आदि पदों की सूक्ष्म विवेचना करने से सूक्ष्म अल्पवर्णों की व्यपेत आवृत्ति हुई है और वही आवृत्ति अनेकबार होने से कहीं स्थूल और कहीं सूक्ष्मरूप से हुई है, जब कि स्थानगत नियतता नहीं रह पाई है। अतः यहाँ उक्त भेदवाला यमक अलङ्कार माना गया है।

१०—अक्षर-यमक

वामन ने अक्षर-यमक के दो भेद किये हैं—१–एकाक्षर और २–अनेकाक्षर तथा इनका लक्षण स्वतन्त्ररूप से न देकर यमक के 'पदमनेकार्थमक्षरं वा वृत्तं स्थाननियमे यमकम्' लक्षण में ही अक्षरावृत्ति का भी संकेत कर दिया है। तदनुसार उदाहरण निम्न-लिखित दिये हैं—

[क]—एकाक्षर-यमक

नानाकारेण कान्ताभूराराधितमनोभुवा ।
विविक्तेन विलासेन, ततक्ष हृदयं नृणाम् ॥

यहाँ प्रतिचरण के आरम्भ में एक अक्षर की आवृत्ति होने से उक्त अलङ्कार माना गया है।

इस पद्धति से यदि स्थान भेद होगा तो उसके आदिमध्यान्त भेद भी हो सकेंगे किन्तु वामन ने इसका संकेत नहीं दिया है।

[ख]—अनेकाक्षर-यमक

इस यमक भेद का उदाहरण 'विविधधववनाना' इत्यादि पद्य दिया है, जिसे हमने भोज के अस्थान-यमक भेदों में 'श्लोकगत-सूक्ष्म-अव्यपेत' नामक भेद में स्थान दिया है।

११ —अद्भुत-यमक

वामन ने 'अद्भुत-यमक' का लक्षण इस प्रकार दिया है—

विभक्तीनां विभक्तत्वं, संख्यायाः कारकस्य च।
आवृत्तिः सुप्तिङन्तानां, मिथश्च यमकाद्भुतम्॥

—काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति ४।१।१६

इसके अनुसार 'जहाँ सुबन्त अथवा तिङन्त पदों की अलग-अलग अथवा मिलकर भी ऐसी आवृत्ति हो जिसमें विभक्तियों के संख्या,-वचन और कारकों का भेद हो, उसे 'यमकाद्भुत' अथवा 'अद्भुत-यमक' अलङ्कार कहते हैं।

काव्यालङ्कार के हिन्दी टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर ने उपर्युक्त भेद का लक्षण-समन्वय करते हुए निम्न लिखित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—[1]

[क]—विभक्तिभेदगत-अद्भुत-यमक

जहाँ समान रूप से आवृत्तपदों में विभक्तियों की विभिन्नता हो, वहाँ उक्त प्रकार का 'अद्भुत-यमक' होता है। जैसे—

विश्वप्रमात्रा भवता जगन्ति, व्याप्तानि मात्रापि न मुञ्चति त्वाम्।

जहाँ 'विश्वप्रमात्रा' और 'मात्रापि' इन दोनों पदों के प्रथमपद में तृतीया और द्वितीयपद में प्रथमा विभक्ति के रहते हुए भी समान आवृत्ति हुई है।

[ख]—वचन-भेदगत-अद्भुत-यमक

जहाँ समानरूप से आवृत्त पदों में वचनों की विभिन्नता हो, वहाँ उक्त प्रकार का 'अद्भुत-यमक' होता है। जैसे—

एताः सन्नाभयो बाला, यासां सन्नाभयः प्रियः।

यहाँ 'सन्नाभयः' इस पद की आवृत्ति है परन्तु पहली जगह 'एताः सन्नाभयो बालाः' में वह बालाः का विशेषण होकर बहुवचन में प्रयुक्त है और दूसरी जगह 'सन्नायः प्रियः

१—वही पृष्ठ १७६–१७७

में प्रियः का विशेषण होकर एक वचन में प्रयुक्त हुआ है किन्तु दोनों पदों में प्रथमा विभक्ति ही प्रयुक्त है, अतः यह 'बचनभेदगत-आवृत्ति' का उदाहरण है।

[ग]— कारक-भेदगत-अद्भुत-यमक

जहाँ समान रूप से आवृत्त पदों में विभक्ति के अर्थ की विभिन्नता हो, वहाँ उक्त प्रकार का अद्भुत यमक होता है। जैसे—

यतस्ततः प्राप्तगुणः प्रभावे, यतस्ततश्चेतसि भासते यम्।

यहाँ यतस्ततः पद की आवृत्ति है। ये पद सार्वविभक्तिकस्तसि के तसिल् प्रत्यय से बने हैं। इनमें प्रथम स्थान में पञ्चम्यर्थ में और द्वितीय स्थान में सप्तम्यर्थ में तसिल् प्रत्यय हुआ है इस लिए यह कारक-भेद का उदाहरण है। साक्षात् विभक्ति का प्रयोग न होकर तसिल् प्रत्यय का प्रयोग होने से यह विभक्ति भेद का उदाहरण नहीं है।

इसी प्रकार 'केवल तिङन्त के पुरुष एवं वचन भेद' के उदाहरण भी हो सकते हैं।

[घ]— सुबन्त-तिङन्त-मिश्र-अद्भुत-यमक

जहाँ समानरूप से आवृत्त पदों में सुबन्त और तिङन्त की मिश्रित आवृत्ति हो, वहाँ उक्त प्रकार का अद्भुत यमक होता है। यथा—

सरति सरति कान्तस्ते ललामो ललामः।

यहाँ 'सरति' और 'ललामः' पदों की आवृत्ति है। इनमें प्रथम सरति पद शतृ प्रत्यय से निष्पन्न सरत् शब्द की सप्तमी के एक वचन का रूप है और द्वितीय सरति पद सृ धातु के तिङन्त लट्लकार के प्रथम पुरुष के एक वचन का रूप है। इसी प्रकार प्रथम ललामः पद प्रथमा का एक वचन और द्वितीय ललामः पद लल धातु के लट्लकार का बहुवचनान्त रूप है। अतः यह सुबन्त और तिङन्त पदों के मिश्रण का उदाहरण है।

इन उदाहरणों में यदि केवल विभक्ति विपरिणाम मात्र माना जाय तो यमकत्व की हानि माननी होगी। परन्तु केवल विभक्ति विपरिणाम न मान कर प्रकृति का भी भेद मानते हैं तो 'अद्भुत यमक' अलङ्कार होता है इस प्रकार यमकत्वहानि और अद्भुत-यमक भेद का समझा जा सकता है।

उत्तरवर्ती अन्य किसी आचार्य ने इस प्रकार के भेदों की चर्चा नहीं की है।

१२— [क] पादाभ्यास (अव्यपेत)

इसी प्रभेद को भरत ने यमक का नौवां भेद चतुर्व्यवसित यमक माना है, जिसका लक्षण यह बतलाया है—'जहाँ पद्य के सभी चरण समान हों और अक्षर भी नियत हों,

वहाँ चतुर्व्यवसित यमक समझना चाहिए'[1] उदाहरण इस प्रकार हैं--

सावारणानामसमेव कालः, सा वारणानाम समेव कालः ।

सा वारणानाम समेव कालः, सा वारणानाम समेव कालः ॥

नाव्यशास्त्र १६।८३ ॥

इसमें प्रतिपाद के अक्षर नियत हैं तथा चारों चरणों में भी समान आवृत्ति हुई हैं। अतः यहां चतुर्व्यवसित यमक अलङ्कार है। भामह ने पादाभ्यास में चार चरणों की पृथक् चर्चा की है तथा समान आवर्तन से निर्मित होने वाले समस्तपाद यमक के सम्बन्ध में कहा है कि यह दुष्कर है और वैसा सुन्दर भी नहीं है।[2]

दण्डी ने पादाभ्यास के भेदों का निरूपण करते हुए कहा है कि-यह पादाभ्यास भी अनेकात्मा है, जो उदाहरण द्वारा व्यक्त होगा।[3] इस कथन के अनुसार अव्यपेत-पादाभ्यास के नीचे लिखे अनुसार छः भेद होते है-

१-- अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादाभ्यास-यमक २-- अव्यपेत द्वितीय-तृतीय-पादाभ्यासयमक

३-- अव्यपेत तृतीय-चतुर्थ-पादाभ्यास यमक

४-- अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादाभ्यास-यमक

५-- अव्यपेत द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादाभ्यास यमक

६-- अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादाभ्यास-यमक

इस दृष्टि से भरत का उदाहरण'अव्यपेत-समस्तपादयमक'कहलायेगा। इन प्रभेदों में से कतिपय अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं--

१-- नमन्दया वर्जितमानसात्मया, न मन्दयावर्जित-मानसात्मया ।

उरस्युपास्तीर्णपयोधरद्वयं, मया समालिङ्गत्य जीवितेश्वरः ॥ काव्यादर्श ३।५७।

यहाँ प्रथम और द्वितीय चरण की आवृत्ति हुई है और बीच में कोई व्यवधान नहीं है अतः यहाँ 'अव्यपेत प्रथम-द्वितीय-पादाभ्यास-यमक' है। इसे 'पादद्वयाभ्यास यमक' भी कहते हैं।

२--प्रभावतो नाम न वासवस्य, प्रभावतो नाम न वा सवस्य ।

प्रभावतो नाम नवासवस्य, विच्छित्तिरासीत्त्वयि विष्टपस्य ॥काव्यादर्श ३।६३॥

१-- सर्वे पादाः समा यत्र, भवन्ति नियताक्षरा; । चतुर्व्यवसितं नाम, तद्विज्ञेयं बुधैर्यथा ॥
—नाट्यशास्त्र-भरत १६-८२

२-- कृत्स्नं चतुर्षु पादेषु, दुष्कृतं साधु तादृशम् ॥ काव्यालङ्कार-भामह २-१६ ॥

३-- पादाभ्यासोऽप्यनेकात्मा, व्यज्यते स निदर्शनैः ॥ काव्यादर्श,-दण्डी ३-५३ ॥

यहाँ प्रथम, द्वितीय और तृतीय चरणों की अव्यपेत आवृत्ति हुई है। अतः यह पादत्रयाभ्यास-यमक कहलायेगा। वामन ने इस भेद की चर्चा नहीं की है। रुद्रट ने पाद-यमक के भेद करते हुए उनके मुख, सन्दंश, आदि नाम दिये हैं। किन्तु त्रिपादयमक को वे नहीं मानते हैं तथा अव्यपेत-व्यपेत आदि भेद भी नहीं किये हैं। इस दृष्टि से इनके नाम क्रमशः १-मुख,२-गर्भ, ३-पुच्छ, ४-पंक्ति आदि होंगे। अग्निपुराण में भरत के चतुर्व्यवसित को यथावद् ग्रहण किया है। भोज ने भी दण्डी के अनुसार ही पादयमक के भेद स्वीकार किये हैं किन्तु उनके विभाजन में पादत्रयाभ्यास को नातिसुन्दर कह कर छोड़ दिया गया है और पादचतुष्टयाभ्यास को 'महायमक' कहा गया है।

१२— [ख] पादाभ्यास (व्यपेत)

भरत ने इस भेद को यमक का चौथा भेद 'विक्रान्त-यमक' बतला कर उसका लक्षण इस प्रकार दिया है–'जहां पद्य के एक-एक चरण को लेकर दो चरणों में समानता लाई जाती है, वहां विक्रान्तयमक अलङ्कार समझना चाहिए?[1] उदाहरण इस प्रकार है–

स पूर्वं वानरो भूत्वा, द्विशृङ्ग इव पर्वतः
अभवद् दन्तवैकल्याद् द्विशृङ्ग इव पर्वतः॥ नाट्यशास्त्र १६।७३॥

यहाँ द्वितीय और चतुर्थ चरण में समान आवृत्ति हुई है। विक्रान्त नाम करण का तात्पर्य यह हो सकता है कि-एक विशेषरूप से चरणों का क्रमण-स्थापन किया जाय, यहाँ वैसा विशेष-स्थापन-क्रम लक्षित भी होता है। भामह ने इस भेद को पादाभ्यास कहा है जो उनके उदाहरण-न ते धीर्धीर भोगेषु[2] इत्यादि-पद्य से स्पष्ट है। दण्डी के अनुसार इस भेद के तीन उपभेद होते हैं। यथा–

१— व्यपेत प्रथम-तृतीय-पादाभ्यास-यमक २— व्यपेत प्रथम-चतुर्थ-पादाभ्यास-यमक
तथा ३— व्यपेत द्वितीय-चतुर्थ-पादाभ्यास-यमक

इनमें भरत का उदाहरण अन्तिम द्वितीय-चतुर्थ पादाभ्यास कहलायेगा। इनके अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं––

१— सभा सुराणामबला विभूषिता, गुणैस्तवारोहि मृणालनिर्मलैः।
स भासुराणामबला विभूषिता, विहारयन्निर्विश सम्पदः पुराम्॥
काव्यादर्श ३।५८॥

१— एकैकं पादमुत्क्रम्य, द्वौ पादौ सदृशौ यदि। विक्रान्तं यमकं नाम तद्विज्ञेयमिदं यथा॥
नाट्यशास्त्र-भरत १६-७२

२— काव्यालङ्कार-भामह २।१३

यहाँ प्रथम और तृतीय पाद की आवृत्ति हुई है तथा द्वितीयपाद मध्य में व्यवधान-रूप में है, अतः यहाँ पादद्वयाभ्यास में 'व्यपेत प्रथम-तृतीय-पादाभ्यास यमक' अलङ्कार है।

२—कलं कमुक्तं तनुमध्यनामिका, स्तनद्वयी च त्वदते न हन्त्यतः।
न याति भूतं गणने भवन्मुखे, कलङ्कमुक्तं तनुमद्धचनाभिका ॥
काव्यादर्श ३।५९॥

यहाँ प्रथम और चतुर्थपाद की आवृत्ति हुई है तथा द्वितीय और तृतीय पाद का बीच में व्यवधान है, अतः यहाँ पादद्वयाभ्यास में 'व्यपेत प्रथम-चतुर्थपादाभ्यास-यमक' अलङ्कार है। वामन ने ऐसा भेद नहीं किया है। रुद्रट के अनुसार ये भेद क्रमशः १—सन्दंश, २—आवृत्ति और ३—सन्दष्टयमक हैं। अग्निपुराण में 'विक्रान्त' यथावद् गृहीत हैं। भोज ने भी तीनों भेद दिये हैं।

१२ —[ग] पादाभ्यास (अव्यपेत-व्यपेत)

दण्डी ने पादाभ्यास में कहीं अव्यपेत और कहीं व्यपेत आवृत्ति होने पर नीचे लिखे अनुसार दो उपभेद किये हैं—

१—अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादाभ्यास-यमक।
२—अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-पादाभ्यास-यमक।

इनमें प्रथम भेद का उदाहरण इस प्रकार है—

१—परम्पराया बलवा रणानां, परं पराया बलवारणानाम्
धूलीः स्थलीर्व्योम्नि विधाय रुन्धन्, परं पराया बलवारणानाम् ॥
—काव्यादर्श ३।६४॥

यहाँ प्रथम, द्वितीय और चतुर्थपाद की समान आवृत्ति हुई है और आवृत्ति के बीच में एक स्थान पर अव्यवधान और अन्यत्र व्यवधान होने से यह 'अव्यपेत-व्यपेत प्रथम—द्वितीय-चतुर्थ-पादाभ्यास-यमक' का उदाहरण है।[1]

वामन, रुद्रट, अग्निपुराण और भोज ने ऐसे भेद नहीं किये हैं।

१३— अर्धाभ्यास

भरत ने इस भेद को यमक का तीसरा भेद 'समुद्ग-यमक कहकर प्रस्तुत किया

१—इसका द्वितीय उदाहरण 'काव्यादर्श, पुस्तक से खण्डित हो गया है ऐसी आशङ्का विद्वान् टीकाकार श्रीरामचन्द्र मिश्र ने की है। (पृ० १४७) किन्तु 'काव्यलक्षण' रत्नश्रीज्ञान कृत टीका के 'मिथिला विद्यापीठ' द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ में उपर्युक्त पद्य के द्वितीय चरण को तृतीय चरण के स्थान पर तथा तृतीय चरण को द्वितीय चरण के स्थान पर लिखे पाठ को भोटपाठक्रम के आधार पर वादिजङ्घाल-समर्थित पाठ माना है, जो द्वितीय भेद का उदाहरण बन जाता है।

है और लक्षण में स्पष्ट किया है कि 'जहाँ एक अर्धवृत्त से ही पूरे वृत्त-पद्य की समाप्ति हो जाती है वहाँ 'समुद्ग-यमक' अलङ्कार समझना चाहिये।'[1] उदाहरण-पद्य इस प्रकार है--

केतकीमुकुलपाण्डुरदन्तः, शोभते प्रवरकाननहस्ती।
केतकीमुकुलपाण्डुरदन्तः, शोभते प्रवर काननहस्ती ॥नाट्यशास्त्र १६।७१ ॥

यहाँ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के चरणों की समान आवृत्ति होने से 'समुद्ग-यमक' अलङ्कार माना गया है 'समुद्ग' शब्द का अर्थ है—'सम्पुट या पिटारी।' तदनुसार जैसे पिटारी के दो विभाग होते हैं और वे एक-दूसरे के अनुरूप होने के कारण एकाकार बन जाते है, वैसे ही यहाँ भी पद्य का पूर्वार्ध और उत्तरार्ध समान होने के कारण एकाकार ही है, अतः यह नाम उपर्युक्त है। भामह यमक की संख्या पाँच से अधिक मानने को तैयार नहीं थे, अतः इस भेद का विवेचन नहीं किया है किन्तु वे इस भेद से अपरिचित नहीं थे, यह उनके--'सन्दष्टक, समुद्ग आदि (यमक भेदों) का इन्हीं (पूर्वोक्त पाँच भेदों) में अन्तर्भाव हो जाता है--इस कथन से स्पष्ट है।[2] तथा उन्होंने इस विस्तार को स्थान न देने का कारण यह दिया है कि 'ये भेद आदि में रहने के कारण अथवा मध्यान्त में रहने के कारण स्वप्रोक्त पाँच भेदों में ही अन्तर्हित हो जाते हैं।[3] इस सूचन के अनुसार यह भेद उनके 'पादाभ्यास' में अन्तर्हित मान सकते हैं क्योंकि वहाँ उनके उदाहरण में, जैसे दो चरणों की आवृत्ति हुई हैं, वैसे ही दो चरणों की आवृत्ति का भी अनुमान कर सकते हैं।

दण्डी ने समुद्ग-यमक को 'अर्धाभ्यास' की संज्ञा दी है, जो भरत से नवीन नहीं है, किन्तु वे अर्धाभ्यास को पादद्वयावृत्ति मानकर इसके निम्नलिखित तीन भेद मानते हैं—[4]

१--व्यपेत प्रथम-द्वितीय एवं तृतीय-चतुर्थ पादों में समानताकृत अर्धाभ्यास।
२--व्यपेत प्रथम-तृतीय तथा द्वितीय-चतुर्थ पादों में समानताकृत अर्धाभ्यास।
३--अव्यपेत-व्यपेत प्रथम-चतुर्थ और द्वितीय-तृतीय पादों में समानताकृत अर्धाभ्यास।

भरत का उदाहरण इन भेदों में प्रथम भेद का उदाहरण है। शेष दो के उदाहरण इस प्रकार हैं—

द्वितीय भेद--नरा जिता माननयासमेत्य, न राजिता माननयासमेत्य।
विनाशिता वैभवतापनेन, विनाशिता वैभवतापनेन ॥ काव्यादर्श ३।५५ ॥

१--अर्धेनैकेन यदवृत्तं, सर्वमेव समाप्तये। समुद्गयमकं नाम, तज्ज्ञेयं पण्डितैर्यथा ॥
१६-७० नाट्यशास्त्र, भरत

२--सन्दष्टक-समुद्गादेरत्रैवान्तर्गतिर्मता। काव्यालङ्कार-भामह २।१०

३--आदौ मध्यान्तयोर्वा स्यादिति पञ्चैव तद्यथा। वहीं २।१०।

४--अर्धाभ्यासः समुद्गः स्यादस्य भेदास्त्रयो मताः। काव्यादर्श-दण्डी ३।५३।

इस उदाहरण-पद्य में प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ चरणों की समान आवृत्ति हुई है, तथा आवृत्ति में व्यवधान नहीं है; अतः अव्यपेत अर्धाभ्यास का यह उदाहरण है।

तृतीय भेद—कलापिनां चारुतयोपयन्ति, वृन्दानिलापोढघनागमानाम्।

वृन्दानिलापोढघनागमानां, कलापिनां चारुतयोपयन्ति॥ काव्यादर्श ३।५६॥

इस उदाहरण-पद्य में प्रथम और चतुर्थ तथा द्वितीय एवं तृतीय चरणों की समान आवृत्ति हुई है। तथा द्वितीय और तृतीय चरण की आवृत्ति में व्यवधान न होने से अव्यपेत एवं प्रथम और चतुर्थ चरण के मध्य व्यवधान रहने से व्यपेत आवृत्ति है। अतः यह उक्त भेद वाले यमक का उदाहरण है।

वामन ने इस भेद की चर्चा नहीं की है। रुद्रट ने केवल प्रथमार्ध की पुनरावृत्ति को ही समुद्ग-यमक कहा है।[१] जिसमें भरत का अनुकरण हुआ है। दण्डी के अवशिष्ट दो भेदों को पादयमक मानकर उनके प्रथम भेद को युग्मक और तृतीय भेद को 'परिवृत्ति नाम से अभिहित किया है।[२] अग्निपुराण ने समुद्ग को मानते हुए भरत का तथा भोज ने दण्डी का अनुसरण किया है।[३]

१४—श्लोकाभ्यास

दण्डी ने सर्वप्रथम इस भेद की कल्पना की है तथा लक्षण में यह कहा है कि—परस्पर सम्बद्धार्थक-एक वाक्यतासम्पन्न दो समानानुपूर्वीक श्लोकों को 'श्लोकाभ्यास' कहा गया है।[४]

१—अर्द्धपुनरावृत्तं जनयति समुद्गकं नाम। काव्यालङ्कार, रुद्रट ३।१६।

२—परिवृत्तिर्नाम भवेद्यमकं गर्भावृत्तिप्रयोगेण।
मुखपुच्छयोश्च योगाद्युग्मकमिति पादजं नवमम्॥ वहीं ३।१३॥।

३—अर्धाभ्यासः समुद्गः स्यात्तस्य भेदास्त्रयोमताः।
व्यपेतश्चाव्यपेतश्च, उभयात्मा च सूरिभिः॥ सरस्वतीकण्ठाभरण॥

४—सकृद् द्विस्त्रिश्च योऽभ्यासः, पादस्यैवं प्रदर्शितः।
श्लोक यं तु युक्तार्थं, श्लोकाभ्यासः स्मृतो यथा॥ काव्यादर्श ३।६७॥

विनायकेन भवता, वृत्तोपचितबाहुना ।
स्वमित्रोद्धारिणा भीता, पृथ्वी यमतुलाश्रिता ॥
विनायकेन भवता, वृत्तोपचितबाहुना ।
स्वमित्रोद्धारिणाभीता, पृथ्वीयमतुलाश्रिता[३]॥ काव्यादर्श ३।६६ ॥

इन दोनों पद्यों के अर्थों का एक वाक्यत्व-परस्परसम्बद्धत्व हो जाता है, अतः यहाँ 'श्लोकाभ्यास-यमक अलङ्कार' है।

वामन ने ऐसे भेदों की चर्चा नहीं की है। रुद्रट ने एक श्लोक की दूसरे श्लोक में आवृत्ति होनेवाले यमक को 'महायमक' ही कहा है।[१] अग्निपुराण इस भेद के प्रति मौन है, भोज ने आद्यन्तभाग की पुनरावृत्ति को श्लोकाभ्यास माना है, जो इससे भिन्न है।[२]

१५—महायमक

इस भेद की सर्वप्रथम कल्पना भी दण्डी ने की है। उनके अनुसार इसका लक्षण यह है 'एक समान चारों पद होने पर 'महायमक' नामक अलङ्कार होता है।' इसमें पाद-मध्य में भी आवृत्ति हो सकती है, वही यमक की पराकाष्ठा मानी जाती है।[३] यथा—

समानयासमानया, समानयासमानया ।
समानयासमानया, समानयासमानया ॥ काव्यादर्श ३।७१ ॥

इस उदाहरण में चारों चरण एकाकार हैं तथा प्रत्येक चरण में भी आवृत्ति होती गई है, अतः यहाँ 'महायमक' अलङ्कार है।

इससे पूर्व 'पादचतुष्टय-यमक' का विवेचन किया गया है, उसके पादमध्य में अभ्यास नहीं होता है जब कि इस महायमक में पाद के मध्य में भी अभ्यास होता है, अतः यह उससे भिन्न माना गया है।

वामन ने ऐसा भेद नहीं किया है। रुद्रट ने समस्त श्लोकाभ्यास को ही महायमक कहा है। अग्निपुराण में इस भेद की चर्चा नहीं है। भोज ने महायमक के दो भेद किये हैं और कहा है कि—जहाँ चारों पादों में एकाकारता हो उसे महायमक कहते हैं।[४] इस दृष्टि से वहीं टीकाकार रामसिंह ने एकाकार के दो भेद दिखलाये हैं—१–आवृत्ति चतुष्क

१—श्लोकस्तु महायमकम् । काव्यालङ्कार-रुद्रट।३।१६॥
२—श्लोकाभ्यासश्च, तत्राद्यं पुनरभ्यासमर्हति । सरस्वती कण्ठाभरण २।६७॥
३—एकाकारचतुष्पादं, तन्महायमकाह्वयम् । तत्रापि दृश्यतेऽभ्यासः, सा परा यमकक्रिया ॥
काव्यादर्श-दण्डी ३।७०॥
४—एकाकारचतुष्पादं, महायमकमुच्यते ॥ पूर्वार्ध, स० क० २।६७।

और २--आवृत्त्यष्टक। इनमें प्रथम उदाहरण दण्डी के 'अव्यपेत-समस्त-पादयमक' का ही रूप है। द्वितीय भेद में वे जिन आठ आवृत्तियों का संकेत करते हैं, वह दण्डी का पूर्वोक्त महायमक ही है। इस तरह इन दोनों में कोई नवीनता नहीं है। इसी के बीच भोज ने 'व्यपेतमहायमक' का यह उदाहरण दिया है---

प्रवणमदभ्रमदचलाद्विपराजितमूढ विमलमहित तरङ्ग,
विरस सदातिमिश्रितमच्युतधाम प्रतीतशिखिचरितवनम् ।
प्रवणमदभ्रमदचलाद्विपराजितमूढविमलमहित तरङ्ग,
विरस सदातिमिश्रितमच्युतधामप्रतीतशिखिचरितवनम् ॥स० क० २।१५०॥

यहाँ सम्भवतः अधिकाक्षर वाले छन्द की आवृत्ति होने से इसको भोज ने 'महायमक' कहा है किन्तु वैसे यह अर्धाभ्यास का ही उदाहरण है।

यमक के उपर्युक्त भेदों को ही लक्ष्य में रखकर विन्यासपद्धति में नवीनता लाते हुए विभिन्न लक्ष्यग्रन्थों में कतिपय उदाहरण हमें प्राप्त होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१–द्व्यावर्त-यमक—यमकित पदों की दोबार आवृत्ति।

२–त्र्यावर्तयमक—यमकित पदों की तीन बार आवृत्ति

३–अविश्रान्त-यमक—यह शृङ्खला अथवा सिंहावलोक-यमक भी कहा जाता है

४–सम-यमक—समानाक्षर अथवा समपदों की आवृत्ति।

५–विषम-यमक—विषमाक्षर अथवा विषमपदों की आवृत्ति।

६–अर्धभ्रम-यमक—अर्धभ्रम चित्ररूप पद्य में प्रयुक्त यमक।

७–द्व्यक्षराद्यक्षरयमक—द्व्यक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षरादि कतिपयाक्षर पुनरावृत्तिवाला यमक

८–पुष्प-यमक, ९–युग्म यमक, १०–अयुग्मयमक, ११–अखण्ड-खण्ड-यमक, १२–नव-खण्ड-यमक, १३–गर्भ-यमक, १४–समानशब्दगत अनेकावृत्तिवाला यमक और १५–अष्ट-यमक।

इन प्रक्रियाओं में भी आदि, मध्य और अन्त्यस्थानों पर आवृत्ति रहने से अनेक भेद बन जाते हैं, जिनका स्वरूप केवल यमक का आश्रय लेकर बनाये गये काव्यों में उपलब्ध हो जाता है।

यही यमक अलङ्कार स्वभेदों की एकाधिक रूप में एकत्र स्थिति रहने पर तथा अन्य शब्दालङ्कारों के साथ रहने से संसृष्टि और सङ्कर अलङ्कारों में भी व्याप्त दिखाई देता है।

यमक : मूल्याङ्कन एवं उपलब्धि

वस्तु जगत् के प्रति आत्म-संवेदना को अभिमुख बनाने का कार्य आवर्त-धर्म का है। व्यक्ति-घटित जीवन-संवेदना का रूप-परिग्रह एवं एक वस्तु अथवा व्यापार के समान दूसरी वस्तु या व्यापार का विधान भावानुभूति को तीव्रता प्रदान करता है। आवर्त-धर्म के कारण

जो साम्य उद्भूत होता है वह हमारे हृदय को प्रसृत करता है, शेष सृष्टि के साथ गूढ-सम्बन्ध की धारणा को स्थिर बनाता है तथा स्वरूप-बोध के साथ-साथ विचार-लोक को नई दिशा भी प्रदान करता है। आवृत्ति से दूसरे अर्थ तथा भिन्न जीवन का सन्दर्भ व्यक्त होता है, भाषा का मार्दव मुखरित हो उठता है और नाद-सङ्गीत के कारण चमत्कार की भी सृष्टि होती है। यह कार्य 'यमक' से उचित मात्रा में सम्पन्न होता है।

'यमक' को विद्वानों ने 'ध्वन्यर्थमूलक' अलङ्कार माना है। ध्वनि की सहायता से किया गया शब्द-गठन अर्थ में भी एक प्रकार का लय उपस्थापित करता है। कविता में अर्थप्रसार ध्वनि-गठन का ही परिणाम है यही कारण है कि कुछ शब्दों के अर्थों को पाने के लिये ध्वनि की सहायता नितान्त आवश्यक होती है, जैसे—भूँकना, भनभनाना, गड़गड़ाना आदि। यमक में शब्द के नाद-पक्ष के साथ ही अर्थगत रूपों को भी महत्त्व मिला है। अतः इसे 'ध्वन्यर्थमूलक' मानना युक्ति-संगत प्रतीत होता हैं। कवि अपने भावों के अनुकूल शब्द-योजना करता है और आनन्दमय क्षणों में शब्दों में समता लाता हुआ अपने काव्य को सदा से सुखद बनाता आया है।

अनुप्रास वर्णावृत्ति का अलङ्कार है तो यह उससे एक चरण आगे बढ़कर वर्णावृत्ति के अतिरिक्त शब्दावृत्ति अथवा पदावृत्ति को अपने में आवर्जित करता है। यमक की विभिन्नता में गणित की प्रक्रिया का भी उपयोग हुआ है, जिसके द्वारा वर्ण अथवा पद के स्थापन को पर्याप्त विकसित किया गया है। स्वर-व्यञ्जन के समुदाय की आवृत्ति और उसका क्रम से पुनः श्रवण यमकालङ्कार का विषय है। इस प्रकार पुनरुच्चार और नाद-बन्ध के द्वारा भावनाविष्कार अमृत–कल्लोल की तरह मानस को आनन्दित करता है और इन्हीं आनन्द की लहरों को विशिष्ट आवर्तों द्वारा पुरस्कृत करना यमक का कार्य है।

अलङ्कार-शास्त्रों में यमक सर्वप्राचीन शब्दालङ्कार है। इसका जन्म भरत से पूर्व ही हो चुका होगा, यही कारण हैं कि भरत ने अपने प्रथम विवेचन से ही इसके दस भेद प्रस्तुत किये। इसके लक्षण-विकास का पर्यालोचन करने से ज्ञात होता है कि भरत से भोज तक जो विवेचन हुआ है उसी का उत्तरकाल के आचार्यों ने अनुकरण और अनुसरण किया है। भरत ने यमक और अनुप्रास को एक ही रूप में प्रस्तुत किया है, जिससे उनके द्वारा प्रदत्त दस भेदों में क्रमिकता अथवा वैज्ञानिकता का सर्वथा अभाव रहा है और भरत का यमक-लक्षण भी इस दृष्टि से किसी विशेष तथ्य को समक्ष नहीं रख पाया। भामह ने अभिधेय की भिन्नता को लक्षण में स्थान देकर कुछ लक्षण-परिष्कृति अवश्य की, किन्तु भरत के भेदों को स्वप्रदर्शित पाँच भेदों में ही अन्तर्भूत मानने का आग्रह किया। इस से यमक के विक.स में कुछ बाधा उपस्थित हुई। दण्डी ने यमक के वैज्ञानिक-वर्गीकरण एवं भेद-विस्तार पर पूरा बल दिया, जिससे भरतोक्त भेद दस की संख्या से आगे बढ़ कर तीन सौ पन्द्रह पर पहुँच गये। इसके साथ ही दण्डी ने अनुलोम-प्रतिलोम पाठ की प्रक्रिया को भी यमक में ही स्थान दिया, जो कि उतरकाल में चित्रालङ्कार के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र शब्दालङ्कार

का भेद ही मान लिया गया। उद्भट ने यमक का नामतः स्मरण भी नहीं किया है। वामन ने दण्डी के विस्तार को संक्षेप में पुरस्कृत करते हुए अपनी नवीन दृष्टि के आधार पर अक्षर-यमक और अद्भुत यमक की योजना की है। इनमें अद्भुत-यमक के विभक्ति, वचन, कारक और सुप्-तिङ्मूलक उपभेदों की प्ररोचना पूर्वापेक्षा नवीन है और सम्भवतः इसी के आश्रय से रुद्रट ने श्लेष के विस्तार में इस प्रक्रिया का सहयोग लिया है। आचार्य रुद्रट ने दण्डी के भेदों को अपने ढङ्ग से विभाजित किया और यमक को प्रायः छन्द का विषय बतलाया। भेदों के विस्तार में कुछ विशेष सूझ से काम लेते हुए एकदेशीय आवृत्ति और अवयवावृत्ति पर बल दिया एवं साथ ही ग्यारह अभिधानों द्वारा विभक्त भेदों को ही विविध प्रणाली से विस्तृत दिखाया। अग्निपुराण द्वारा इस दिशा में कोई विशेष योग नहीं मिला, किन्तु भोज की यमक सम्बन्धी उद्भूतियों में पूर्वापेक्षा यह नवीनता है कि यहाँ जो आवृत्तियाँ होती हैं उनमें अधिकता और एकरूपता के आधार पर अभिनवता एवं आश्चर्यकारिता लाई जाती है। इसके साथ ही भोज ने निर्भीकता से स्थान-स्थान पर 'नास्य चतुरः प्रयोगः', अयमनुल्लेखी, एकपादयमकमिह शुद्धं न भवति'—इत्यादि वाक्यों द्वारा यमक के औचित्य पर भा ध्यान दिया है। इनके इस प्रकार के विभाजन और प्रक्रिया विशेष में वृत्तौचिती की प्रधानता है।

इस प्रकार भरत से भोज के काल तक जो यमक का विस्तार हुआ, वही वर्तमान काल तक अनेकरूपों में प्रतिफलित होता रहा है। रुद्रट ने इसका विषय ही छन्द माना था, अतः यमक के भेद-प्रभेदों की प्रक्रिया ने छन्दों में पूर्णतः प्रसार पाया है। एक पद्य के चार चरणों में प्रत्येक चरण के जितने विभाग किये जा सकते थे किये गये और समान-रूपता को महत्त्व देते हुए आवृत्तियाँ की गईं। इस प्रकार की सूक्ष्मावर्तन-प्रणाली ने ही चित्रालङ्कार को भी जन्म दिया और यही यमक का प्रयोग कवि-कौशल का प्रतीक रहते हुए भी सर्वग्राही अवश्य बन गया।

ऐतिहासिक-पर्यालोचन

अनुप्रास के समान ही यमक भी वैदिक-साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाता है, जिसमें कहीं अक्षर, कहीं पद, कहीं पाद और उनके अंशों की आवृत्ति सार्थक या निरर्थक-रूप में हुई प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ कतिपय मन्त्र इस प्रकार हैं—

१—ददद्दचा सनं यते ददन्मेधामृतायते। ऋग्वेद–५।२७।४

२—दिवाभिपित्वे वसा गमिष्टा प्रत्यवर्ति दाशुषे शम्भविष्ठाः। ऋ० ।५।७६।२

३—उतत्वपश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः। ऋ०

४—प्रतव्यसी नव्यसीं धीतिमग्नये वाचो मतिं सहसः सूनवे भरे। ऋ० १।१४२।१

५—यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं सुमेधाम्। ऋ० १०।७१।५

६—कङ्कतो न कङ्कतो यो०-इत्यादि ऋ० १।१६१।१।
७—शरासः कुशरासः-इत्यादि ऋ० १।१६१।३ तथा ५।७६।२।
८—अदृष्टा विश्वदृष्टा-इत्यादि ऋ० १।१६१।५-६ तथा ६।४७।१।।
९—क्लीबं क्लीबं त्वाकरं वध्र वध्रि त्वाकरमरसार संत्वाकरम्। अथर्ववेद ६।१६८।३।
१०—वृश्चिकस्यारसं विषमरसं वृश्चिक ते विषम्। इत्यादि अनेक मन्त्रों में यमक की छटा उपलब्ध होती है।

लौकिक साहित्य में वाल्मीकि-रामायण, महाभारत तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में परिणत होता हुआ यही अलङ्कार लौकिक काव्यों में पूर्णरूप से विकसित हुआ है। कालिदास ने रघुवंश के नवम सर्ग में तथा उनके समकालिक घटकर्पर ने अपने खण्डकाव्य में यमक को प्रस्तुत किया। भट्टिकाव्य के १० वे सर्ग में यमक के अनेक भेदों का प्रयोग तथा भारवि, माघ आदि के काव्यों में किसी एक सर्ग में पूर्ण रूप से निर्वाह इसकी महत्ता का द्योतक है। उत्तर काल में यमक को लक्ष्य में रख कर अनेक ग्रन्थों की रचना की गई है, जिनमें कतिपय ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

१—नलोदयकाव्य—वासुदेव
२—रामयमकार्णव—वेंकटेश
३—यमकभारत—आनन्दतीर्थ
४—यमकभागवत—पुरुषोत्तममिश्र
५—पारिजातहरण—नारायण पण्डित
६—नीलाद्रिशतक—पुरुषोत्तममिश्र
७—कीचकवध—नीतिवर्मा
८—रामचरित्र—सन्ध्याकरनन्दी
९—यमकरत्नाकर—श्रीवत्सांक मिश्र
१०—शौरिकथोदय—वासुदेव
११—युधिष्ठिरविजय—वासुदेव
१२—रामचन्द्रोदय—गोपालराव
१३—वृन्दावनकाव्य—मानांक
१४—मेघाभ्युदय—मानांक
१५—ऐन्द्रस्तुति—यशोविजयजी
१६—शोभनस्तुति—शोभनमुनि
१७—मधुवर्णन—केलिकवि
१८—विरहिणीप्रलापम्—केलिकवि
१९—राधा-विनोदकाव्य—माधवाचार्य
२०—यमक-भारत—माधवाचार्य
२१—कृष्णलीला—मदनकवि

तथा जगद्धर की 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' एवं अन्यान्य अनेक स्तोत्रकाव्यों में यमक से परिपूर्ण रचनाएँ प्राप्त होती हैं। जिनके आधार पर यमक की व्यापकता पूर्णरूपेण परिलक्षित होती है।

———

तृतीय आलोक

[प्रथम अधिकरण]

पुनरुक्तवदाभास और उसका लक्षण-विकास

जो पुनः कथन की तरह आभास हो, किन्तु वस्तुतः वह पुनरुक्त न हो, उसे 'पुनरुक्तवदाभास' कहते हैं। इस दृष्टि से इस शब्द की व्युत्पत्ति पुनरुक्तस्येव-पुनरुक्तवद् आभासो ज्ञानम् इति पुनरुक्तवदाभासः-की जाती है। इस अलङ्कार के विषय में भरत, भामह और दण्डी ने कोई विचार नहीं दिया है। अलङ्कारों की स्थापना में 'पुनरुक्तवदाभास' का सर्वप्रथम उन्मेष उद्भट ने ही किया है तथा अपने शब्दालङ्कार-विवेचन में भी इस अलङ्कार को पहला स्थान दिया है।[1] उद्भट के अनुसार 'भिन्न होने पर भी एकरूपात्मक प्रतीति कराने वाले पदों के विन्यास में 'पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार होता है।[2] लक्षणसूत्र में इस अलङ्कार का नाम 'पुनरुक्ताभास' दिया है, किन्तु उद्भट के ग्रन्थ की टीका करने वाले प्रतीहारेन्दुराज ने लघुवृत्ति में इस सूत्र को स्पष्ट करते हुए कहा है कि-यद्यपि पुनरुक्तवदाभास इस नाम में वत् प्रत्यय का प्रयोग उद्देश्य को ध्यान में रख कर ही हुआ है किन्तु मूल में जो पुनरुक्तवदाभास कहा हैं, वहाँ इसका अर्थ गम्यमान होने से (सूत्र में पुनरुक्तवदाभास न कह कर) पुनरुक्ताभास ऐसा ही कह दिया है। इस प्रकार उद्देश्य में वत् प्रत्यय का न कहना अभिधा के वैचित्र्य को दिखाने के लिये है। क्यों कि कोई अभिधा गम्यमानार्थ के अन्वय से प्रवृत्त होती है और कोई अभिधीयमानार्थ के अन्वय से। इस दृष्टि से उद्देश्य में वत् प्रत्यय का प्रयोग अभिधीयमान-सादृश्यान्वय से हुआ है उद्भट ने जो पुनरुक्ताभास ऐसा कथन किया है उसमें अर्थसामर्थ्याविसेयसादृश्यान्वय से अभिधा का प्रयोग है, अतः अर्थसार्थ्याविसेय के कारण ही वत् प्रत्यय के अर्थ से युक्त पुनरुक्ताभासात्मक काव्य को अलङ्कार्य कहा गया है।[3] पुनरुक्त के समान आभासित होने वाले पद में यह अलङ्कार होता है। यहाँ अलङ्कार्य जो काव्य है, उसके धर्म के रूप में पुनरुक्त के समान आभासमान पदों की ही अलङ्कारता कही है, स्वतन्त्ररूप से पुनरुक्तपदों की नहीं। इस प्रकार काव्यपरतन्त्र निर्देश करने में भी हेतु

१—पुनरुक्तवदाभासं, छेकानुप्रास एव च। अनुप्रासस्त्रिधा लाटानुप्रासो रूपकं चतुः ॥ १ ॥
—काव्यालङ्कार-सार संग्रह, उद्भट

२—पुनरुक्ताभासमभिन्नवस्त्विवोद्भासि भिन्नरूपपदम् ॥ वहीं, लघुवृत्ति

३—यद्यपि पुनरुक्तवदाभासमित्युद्देशे वतिः प्रयुक्तस्तथापि तस्येह गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः।
—इत्यादि—वहीं, लघुवृत्ति पृ० २

दिखलाते हुए स्पष्ट किया है कि- अलङ्कार का अलङ्कार्यपरतन्त्र निरूपण करने से उसके स्वरूप का निरूपण अच्छी तरह हो जाता है, क्योंकि समुद्गक में स्थित हार, केयूर, पारिहार्य आदि अलङ्कारों की तरह अलङ्कार भी स्वयं में कोई अलङ्कार नहीं होता. वह तो अलङ्कार्य के आधार पर ही अलङ्कारता को प्राप्त करता है, अतः यहाँ काव्य-परतन्त्रता से कहना भी उचित ही है।

उद्भट ने इस अलङ्कार की स्थापना के कारण यमक को कोई महत्त्व नहीं दिया है। वैसे इस अलङ्कार का यमक से पार्थक्य तो सिद्ध ही है। यमक में तो भिन्नार्थक दो शब्दों में एकाकारता आवश्यक रहती है जब कि यहाँ आकारगत भिन्नता रहते हुए भी अर्थों की पुनरुक्ति का आभास मात्र अपेक्षित है। वामन, रुद्रट और अग्निपुराणकार ने इस अलङ्कार की कोई चर्चा नहीं की है। भोज ने भी प्रायः लाटानुप्रास के विवेचन में कहीं द्विरुक्ति और पुनरुक्ति के विश्लेषण से ही पुनरुक्तवदाभास को अन्तर्हित मान लिया है। मम्मट ने पुनरुक्तवदाभास को शब्दालङ्कारों में छठा स्थान देते हुए इसका लक्षण इस प्रकार दिया है–जहाँ विभिन्न आकारवाले अर्थात् भिन्न-भिन्न वर्णक्रमवाले शब्दों में एक एकार्थकता का आभास हो, वहाँ पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार होता है।[1] इस दृष्टि से परस्पर भिन्न-भिन्न रूपवाले, सार्थक किंवा निरर्थक शब्दों की आपाततः जो एकार्थकता की प्रतीति है, वही पुनरुक्तावदाभास अलङ्कार है। मम्मट के अनुसार यह अलङ्कार शब्दगत रहने पर 'शब्दालङ्कार' और शब्दार्थोभयनिष्ठ होने पर शब्दार्थोभयगत-'उभयालङ्कार' है जो उनके अन्वय-व्यतरेक पर आधारित है। रुय्यक ने पुनरुक्तवदाभास को विशुद्ध अर्थालङ्कार ही माना है, क्योंकि वे आश्रयाश्रयिभाव के आधार पर शब्दार्थालङ्कार का निर्णय करते हैं। उनका कथन है कि 'आमुखावभासन को पुनरुक्तवदाभास कहते हैं।[2] आमुखावभासन से उनका तात्पर्य है—'प्रथम दर्शन में जैसा दिखाई दे वैसा' अन्त में दिखाई न दे।[3] इसे शब्दालङ्कार न मानने का कारण यह है कि— इस अलङ्कार में शब्द की आकार-भिन्न होने के कारण आवृत्ति नहीं होती है अपितु मात्र अर्थ की आवृत्ति का आभास होता है, जो बाद में अन्यार्थ के द्वारा स्थिर नहीं रहता। ऐसी स्थिति में शब्द के अलङ्कारत्व का कोई स्पर्श न रहने के कारण इसे उभयालङ्कार मानना भी उचित नहीं है।

टीकाकार जयरथ ने रुय्यक की इस धारणा को अधिक पुष्ट करते हुए उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया है कि यह अर्थाश्रित होने के कारण अर्थालङ्कार ही है। इस सम्बन्ध में जयरथ का कहना है कि—"अलङ्कारता पर्यवसित वाक्यार्थ में होती है, सन्दिग्ध में नहीं।

१—पुनरुक्तवदाभासो, विभिन्नाकारशब्दगः। एकार्थतैव शब्दस्य, तथा शब्दार्थयोरयम्॥
—काव्यप्रकाश ९।८६

२—आमुखावभासनं पुनरुक्तवदाभासम्। अलङ्कारसर्वस्व पृ. २०

३—यथावभातस्यार्थस्य पर्यवसाने तथात्वेनैवाविश्रान्तिरित्यर्थः। वहीं, टीका। पृ २०

इस आधार पक भले ही प्रारम्भ में शब्द-पौनरुक्त्य प्रतीत होता हो, किन्तु पर्यवसान में प्रतीति न होने से वह अर्थालङ्कार है। यदि यह कहा जाय कि 'अर्थ की यह पुनरुक्ति शब्द पर अवलम्बित है तो यह उचित नहीं, क्यों कि इस प्रकार तो सभी अर्थों का चमत्कार शब्दों के उपादान पर निर्भर हैं, किन्तु इससे सभी अर्थालङ्कार शब्दालङ्कार तो नहीं माने जा सकते। अर्थालङ्कारों में जो साधर्म्य, सादृश्य आदि प्रतीत होते हैं, वे सब अन्ततः शब्दधर्म वाले हैं फिर इस तरह तो उपमादि सभी अर्थालङ्कारों को शब्दालङ्कार मानना चाहिये। अर्थपुनरुक्ति का आभास ही पुनरुक्ति का जीवातु है, इसमें सौन्दर्य अर्थतत्त्व पर आश्रित है। विरोधालङ्कार में भी इस प्रकार भले ही पदार्थान्वयवेला में विरोध हो, किन्तु विश्रान्ति उसकी समाधान में होती है, अतः वह विरोध न होकर विरोधाभास है। इस प्रकार अलङ्कारता का सौन्दर्य पर्यवसित-वाक्यार्थ-विच्छित्ति है। हाँ, यह अवश्य है कि उसमें आमुख का सौन्दर्य गर्भित रहता है।' इस प्रकार अपने विचारों को सिद्ध किया है।[1]

रुय्यक के अन्य टीकाकार श्रीविद्याचक्रवर्ती अलङ्कार-सर्वस्व की "सञ्जीवनी" टीका में तो इस प्रसङ्ग पर मौन रहे हैं, किन्तु काव्य-प्रकाश की सम्प्रदायप्रकाशिनी 'टीका में --पुनरुक्तवदाभास, परम्परितरूपक, अर्थान्तरन्यास और अपह्नुति को उभयालङ्कार मानते हैं।[2] शोभाकर मित्र पुनः पुनरुक्तवदाभास को शब्दालङ्कार सिद्ध करते हैं। लक्षण में उनका कथन है कि--आमुख में एकार्थ पद की पुनरुक्ति को पुनरुक्तवदाभास कहते हैं। 'शोभाकरमित्र ने रुय्यक के अर्थालङ्कार मानने के विचारों का खण्डन करते हुए कहा है कि--आमुखतुल्यार्थता शब्द का धर्म है और वह शब्दाश्रित है, अतः यह शब्दालङ्कार ही है। पौनरुक्त्य कोई अर्थ का धर्म नहीं हैं, जिससे इसे अर्थालङ्कार कहा जाय। क्यों कि अर्थ तो अविद्यमान रहता है फिर पौनरुक्त्य किसका धर्म होगा? यह भी नहीं कहा जा सकता कि अर्थ की पारमार्थिकता तो अनुपयोगी है, क्यों कि काव्य में प्रतीति मात्र ही सार होती है, इस लिये प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले अर्थ का ही यहाँ पौनरुक्त्य है। तदनुसार इसे अर्थालङ्कार मानना चाहिये। तब यह प्रश्न होता है कि--जो प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला अर्थ उसकी सत्ता है अथवा असत्ता? यदि सत्ता मानते हैं तो तत्त्वतः पौनरुक्त्य तो दिखाई नहीं देता और यदि असत्ता मानते हैं तो किस का कौन धर्म होगा? ऐसा मानने पर तो खरगोश के सींगों में भी तीखेपन आदि का अभिधर्मभाव मानना पड़ेगा। फिर अवभासमानता जो है वह भी शब्द या अर्थ का धर्म नहीं है किन्तु वह तो प्रमाता

१—जयरथ ने उदाहरणादि देते हुए इस विषय को बहुत विस्तार से दिया है, जिसका यहाँ सार सङ्कलन मात्र किया है। विशेष के लिये देखिये, वहीं पृ० २० से २४

२—पुनरुक्तवदाभास उभयपौनरुक्त्यं श्लिष्टशब्दं परम्परितरूपकं श्लेषं ताद्रूप्यारोपं चानुविधत्त इत्युभयालङ्कारः। काव्यप्रकाशटीका, सम्प्रदायप्रकाशिनी पृ० ४२७-२८

का धर्म है और उसकी वैसी उपलब्धि भी होती है। ज्ञान की उत्पत्ति होने पर अर्थ की कोई विशेषता भी नहीं रहती। प्रमाता को प्रारम्भ में ज्ञान न होने पर वैसा आभास होता है, किन्तु जब ज्ञान हो जाता है, तो उसकी जिज्ञासा शान्त हो जाती है और प्रमाता के आश्रित धर्म को तो अलङ्कार कहा ही नहीं जाता है। तथा यह भी नहीं कहना चाहिये कि ज्ञान हो जाने पर उसी प्रकार की पुनरुक्ति को अलङ्कार कहा जाएगा। क्यों कि अलंकृति जो है वह ज्ञान होने पर ही अलंकृति कही जाएगी। अन्यथा कवि ने सालङ्कार रचना की होगी तो भी वह तत्सम्बन्धी ज्ञान के बिना निरलङ्कार ही कही जाएगी और कृत्रिम अर्थ के पौनरुक्त्यादि धर्म को उपकारक कहना भी युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि जिसकी स्थिति ही नहीं है उसकी उपकारकता क्या होगी ? तथा यह कहना भी युक्ति-संगत नहीं होगा कि 'अवभासमान पौनरुक्त्य अलङ्कार कृत्रिम अर्थ के द्वारा अकृत्रिम 'अरिवधदेहशरीर' इत्यादि में रिपुमृत्युपदचेष्टा आदि का कुछ अतिशय प्रतीत होता है उससे पौनरुक्त्य धर्म को उपकारक कहा जा सकता है तो यह भी ठीक नहीं है। क्यों कि 'चमत्कारकारिता तो शब्द के रूप की संयोजना ही है, अर्थ की नहीं तथा यहाँ कृत्रिम अर्थ का पौनरुक्त्य मात्र है उसका अवभासन नहीं। क्यों कि पुनरुक्तता होने पर ही उसकी कल्पना होगी। अकृत्रिम का तो अवभासन भी नहीं होता है, ऐसी स्थिति में पौनरुक्त्यावभास किसका धर्म होगा ?" आदि अपने इस कथन का सार संग्रह निम्नलिखित पद्यों में प्रस्तुत किया है--

अनन्वितवात् कायादेर्वाच्यत्वं न प्रकल्पते।
मुख्यार्थबाधसम्बन्धफलाभावान्न लक्ष्यता॥
असम्बन्धाभिधायित्वप्रसङ्गाद् व्यङ्ग्यताऽपि न।
अकृत्रिमस्य चार्थस्य न धर्मः पुनरुक्तता॥
पुनरुक्तोऽपि वा तत्त्वे, स एव स्यादलंकृतिः।
पौनरुक्त्यमलङ्कारस्तेनार्थस्य न कस्यचित्॥

तथा उपसंहार में कहा है कि-इसीलिए सर्वत्र काव्य का वास्तविक अथवा कविप्रतिपादना से सम्भवी जो कोई प्रतीतिरूप धर्मविशेष है वही शब्दगत अथवा अर्थगत अलङ्कार का निर्णायक मानना चाहिए। अतः यदि 'अरिवधदेहशरीरः' इत्यादि पद्य में अर्थालङ्कार माना जाएगा तो पूर्वोक्त नीति से अथवा विरोधादि अलङ्कारों के समान कवि प्रतिपादन से कोई अर्थगत धर्म सम्भव नहीं हागा, इस लिए 'अरिवधदेहशरीर' इत्यादि में कामादि-वाचक देहशरीर आदि साधारण शब्द का विशिष्ट रूप से एकार्थक दिखाई देना उसका धर्म है और वहाँ यहाँ अलङ्कार माना गया है। अतः यह शब्दाङ्कार है।[1]

इस चर्चा से यह सिद्ध होता है कि रुय्यक और शोभाकर के अलंकारगत स्वरूप-

---

१-- अलङ्कार-रत्नाकर-शोभाकरमित्र-पृष्ठ २

चिन्तन में मतभेद था और यही कारण था कि वे एक दूसरे के विचारों में साम्य नहीं ला सके। हेमचन्द्र ने पुनरुक्तदवाभास को शब्दालङ्कार में स्थान दिया है, किन्तु वे अपनी स्वोपज्ञ-वृत्ति में लिखते हैं कि 'यद्यपि पुनरुक्तवदाभास तथा अर्थान्तर-न्यास आदि कुछ अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर उभयालङ्कार दिखाई देते हैं तथापि वहाँ या तो शब्द की ही उत्कटता रहती है अथवा अर्थ की ही उत्कटता रहती है, इसलिए उभयालङ्कार की अपेक्षा न रखते हुए शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का पृथक्-पृथक् निरूपण ही किया गया है।[1] इसके पश्चात् पुनरुक्तवदाभास को शब्दालङ्कार के रूप में प्रस्तुत करते हुये भी शब्दालङ्कार क्रम में प्रस्तुत करने वाले वाग्भटद्वय, विश्वनाथ, नरेन्द्रप्रभ, भावदेव, कर्णपूर, श्रीकृष्णब्रह्मपरतन्त्रकाल, कृष्ण कवि आदि हैं। जयदेव ने पुनरुक्त-प्रतीकाश नाम देकर इस अलङ्कार का विवेचन किया है। लक्षण में पुनरुक्त अर्थ के समान दिखाई देने से "पुनरुक्त-प्रतीकाश" नाम देकर इस अलङ्कार का विवेचन किया है। लक्षण में पुनरुक्त अर्थ के समान दिखाई देने से पुनरुक्त-प्रतीकाश नामक अलङ्कार होता है[2] ऐसा कहा गया है। और वहीं वृत्ति में स्पष्ट किया गया है कि-भिन्नार्थ रहने पर भी एकार्थ पद के समान आभास होना चाहिये। यह अलङ्कार वाक्यनिष्ठ होने के कारण शब्दालंकार माना गया गया है। यद्यपि यहाँ अर्थबोध अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर होने से अर्थालङ्कार कहना ही उचित था, तो भी आपाततः इसे शब्दालङ्कार कहा गया है। वस्तुतः यह शब्दश्लेष है।

इसी प्रकार कुछ आचार्यों ने अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार मानने का भी संकेत किया है किन्तु लक्षण में कहीं नवीनता नहीं आ पाई है।[3]

१— यद्यपि पुनरुक्तवदाभासार्थान्तरन्यासादयः केचिदुभयान्वयव्यतिरेकानुविधायिनोऽपि दृश्यन्ते तथापि तत्र शब्दस्यार्थस्य वा वैचित्र्यमुत्कटमित्युभयालङ्कारत्वमनपेक्ष्यैव शब्दालङ्कारत्वेनार्थालङ्कारत्वेन चोक्ताः। काव्यानुशासन-हेमचन्द्र पृ ३५१

२— पुनरुक्तप्रतीकाशं, पुनरुक्तार्थ-सन्निभम्। अंशुकान्तं शशी कुर्वन्नम्बरान्तमुपेत्यसौ।५।७। भिन्नार्थवत्वे सति एकार्थपदवदाभासमानत्वम्। अयं चालङ्कारो वाक्यनिष्ठत्वाद-शब्दः। यद्यप्यन्यार्थबोधान्वयव्यतिरेकाऽनुविधायित्वादर्थालङ्कारत्वमुचितं तथाप्या-पाततः शब्दालङ्कारत्वमुक्तमिति ध्येयम् अयं शब्दश्लेष एवेत्युचितम्। चन्द्रालोक——जयदेव

३—— कुछ अन्य लक्षण इस प्रकार हैं——

(क) आपाततो यदर्थस्य, पौनरुक्त्येन भासनम्।
पुनरुक्तवद.भासः, स भिन्नाकारशब्दगः॥ साहित्यदर्पण- १०। २॥

(ख) शब्दानामामुखे यस्मिन्नेकार्थत्वावभासनम्।
पुनरुक्तवदाभासं, शब्द-शब्दार्थगामि तत्॥ अलङ्कार-महोदधि-नरेन्द्रप्रभ ७। २४

(ग) पुनरुक्तवदाभाति, यत्रार्थो न तु वस्तुतः।
पुनरुक्तवदाभासस्स, नामाख्यातगोचरः॥ शब्दालङ्कारसर, अलङ्कारमणिहार

पुनरुक्तवदाभास के भेद और उनकी सोदाहरण-मीमांसा

पूर्वोक्त पुनरुक्तवदाभास के लक्षणों से ज्ञात होता है कि इस अलङ्कार में यमक के समान दो शब्दसमानरूप से आवृत्ति न होकर समान अर्थ का आभास देनेवाले दो या दो से अधिक शब्द रहते हैं, जिन्हें बाद में अन्वय करते समय अथवा अर्थप्राप्ति के समय भङ्ग कर लिया जाता है। कहीं-कहीं ऐसे शब्द अभंग रह कर भी आभास में समानार्थ एवं वस्तुतः भिन्नार्थ के बाधक होते हैं। इस प्रक्रिया के आधार पर ही इस अलङ्कार के भेद हो सकते थे, किन्तु उद्भटने कोई भेद न करते हुए यह उदाहरण प्रस्तुत किया हैं--

तदा प्रभृति निःसङ्गी, नागकुञ्जरकृत्तिमुत्।
शितिकण्ठः कालगलत्सतीशोकानलव्यथः॥ काव्यालङ्कारसार-उद्भट

यहाँ नाग-कुञ्जर और शितिकण्ठ-कालगल शब्द पुनरुक्त जैसे प्रतीत होते हैं किन्तु वे इनमें पदार्थान्वय के विचार से नाग शब्द हस्तिवाची और कुञ्जर शब्द उसकी प्रशंसा का वाचक है। इसी प्रकार शितिकण्ठ शिववाची और कालगल शब्द कालगलत् पद के तकारान्त होने से भिन्नार्थ का सूचन करता है। अतः यहाँ पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार है।

मम्मट ने इसके शब्दगत और शब्दार्थगत दो भेद किये हैं तथा शब्दगत के सभङ्ग और अभङ्ग ऐसे पुनः दो भेद किये हैं, जिनके उदाहरण इस प्रकार हैं--[1]

१ —सभंगशब्दगतपुनरुक्तवदाभास

अरिवधदेहशरीरः, सहसा रथिसूततेरगपादातः।
भाति सदानत्यागः, स्थिरतामवनितलतिलकः॥ काव्यप्रकाश ६।३८६॥

यहाँ देह-शरीर, सारथि-सूत, और दानत्याग आदि शब्द ऐसे हैं जिनमें अर्थैक्य की प्रतीति होती है और जो वस्तुतः सभङ्ग हैं अर्थात् अरिवधदा-इहशरीईरः, सहसा-रथि-सू-उत और सदानत्या-अगः इस प्रकार के भङ्गों से युक्त हैं, अतः यहाँ उक्त भेदवाला अलङ्कार है।

२ —अभंग-शब्दगत-पुनरुक्तवदाभास

चकासत्यङ्गनारामाः कौतुकानन्द-हेतवः।
तस्य राज्ञः सुमनसो, विबुधाः पार्श्ववर्तिनः॥ वहीं ६।३६०॥

यहाँ अङ्गना-रामाः, कौतुक-आनन्द और सुमनसः--विबुधाः पदों में अर्थैक्य की प्रतीति होती है किन्तु अङ्गना-आरामाः, कौतुक-क्रीडा--आनन्दहेतु, और सुमनसः-सहृदय, विबुधाः

१--शब्दैकनिष्ठः शब्दार्थपरश्चेत्यसौ द्विधा।
सभङ्गाभङ्गभेदेन, द्विधा शब्दैकसंश्रयः॥ काव्यप्रकाश ६।७॥

बुद्धिमान् आदि अर्थों के कारण भङ्ग न होते हुए भी भिन्नार्थ सूचन होता है। अतः यहाँ उक्त भेदवाला अलङ्कार है।

३—शब्दार्थोभयगत-पुरुक्तवदाभास

मम्मट के अनुसार 'जहाँ शब्द और अर्थ दोनों में पुनरुक्त के समान आभास हो, वहाँ शब्दार्थोभयगत-पुनरुक्तवदाभास माना गया है।'[1] यथा—

तनुवपुरजघन्योऽसौ, करिकुञ्जररुधिररक्तखरनखरः।
तेजोधाम महः पृथु-मनसामिन्द्रो हरिर्विष्णुः॥ वहीं ३।३९१

यहाँ तनु-वपु, करि-कुञ्जर आदि शब्द अर्थैक्य के कारण पुनरुक्तवत् प्रतीत होते हैं, जब कि अर्थभेद से द्वितीयार्थ का भी सूचन करते हैं। तथा इनमें 'तनु, कुञ्जर, रक्त, धाम, हरि और विष्णु शब्द तो ऐसे हैं जिनमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता अर्थात् परिवृत्त्य-सह हैं किन्तु-वपु करि, रुधिर और इन्द्र' शब्द ऐसे हैं जिनमें परिवर्तन कर देने पर भी अलङ्कार की क्षति नहीं होती है, अर्थात् ये परिवृत्तिसह हैं। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए यहाँ 'शब्दार्थोभयगत-पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार है। रुय्यक ने 'प्रभेदास्तु विस्तरभयान्नोच्यन्ते' कह कर केवल दो उदाहरण दिये हैं। जिनमें प्रथम सुबन्तापेक्षी और द्वितीय तिङन्तापेक्षी है। तथा जयरथ ने टीका में स्पष्ट किया है कि इसके वाक्यार्थाश्रय और पदार्थाश्रय ऐसे दो भेद होते हैं और वे प्रत्येक 'समस्तपद और असमस्त पद' के रूप में दो–दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार जयतिलक ने चार भेद प्रस्तुत किये हैं। सुबन्तापेक्षी को नामगत और तिङन्तापेक्षी को आख्यातगत नामों द्वारा उत्तर काल के अनेक आचार्यों ने इसके भेद अभिहित किये हैं। जिनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

४—सुबन्तापेक्षी पुनरुक्तवदाभास-

दारुणः काष्ठतो जातो, भस्मभूतिकरः परः।
रक्तशोणार्चिरुच्चण्डः, पातु वः पावकः शिखी॥

यहाँ 'दारुणः काष्ठतः, भस्म-भूति, रक्त-शोण और पावकः-शिखी' आदि पद पुनरुक्तवत् प्रतीत होते हैं किन्तु अर्थ–विचार से भिन्न-भिन्न अर्थों के सूचक हैं। तथा ये केवल सुबन्त के पद हैं, अतः यहाँ उक्त प्रकार के ही भेदवाला अलङ्कार है।

५—तिङन्तापेक्षी पुनरुक्तवदाभास

भुजङ्ग-कुण्डली व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः।
जगन्त्यपि सदापायादव्याच्चेतोहरः शिवः॥

१—तथा शब्दार्थयोरयम्॥ काव्यप्रकाश ९।८॥

यहाँ भुजङ्ग-कुण्डली आदि पुनरुक्तवत् प्रतीयमान शब्दों के अतिरिक्त 'पायाद् अव्यात्' पदों में क्रियागत पुनरुक्तता का आभास होता है, जब कि 'सदा-अपायाद् अव्यात्' ऐसा बिभाजन करने से भिन्नार्थ की उपलब्धि होती है, अतः यहाँ उक्त भेदवाला अलङ्कार है।

इन भेदों के अतिरिक्त अन्य भेद नहीं प्राप्त होते हैं किन्तु पुनरुक्तवदाभास की आभास पद्धति को महत्त्व देते हुए श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी ने चित्रालङ्कार के रूप के तीन भेद और दिये हैं, जिन्हें हम नाम-साम्य के आधार पर यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।[1]

अपशब्दवदाभास

जहाँ शब्दशुद्धि के भाव से विचार करने पर पद्य में आभासमान अपशब्दों की बुद्धि हो किन्तु आपाततः वे अपशब्द जैसे ही प्रतीत हों, वहाँ 'अपशब्दवदाभास' अलङ्कार होता हैं।[2] यथाः—

हरिणो यस्य यशोभिर्व्याप्तो लोकः पयोधीयति तम्।
शरणं व्रजेयमीशं स्वयम्भुवं रमाधिभुवम्॥ अलङ्कारमणिहार २३१४॥

यहाँ क्रमशः 'हरिणः पद में षष्ठी, पयोधीयति में परस्मैपद, व्रजेयम् पद में आत्मनेपद और शम्भुवं पद में द्वितीया का रूप मानने से अपशब्द जैसा आभास होता है, किन्तु वस्तुतः ये अपशब्द नहीं हैं, अतः उक्त अलङ्कार है।

अव्ययवदाभास

यहाँ सुबन्त और तिङन्त पदों की योजना इस पद्धति से की जाए कि जिससे पद्यस्थ पद अव्यय के समान आभासमान हों, वहाँ 'अव्ययवदाभास' अलङ्कार होता हैं।[3] यथा—

सद्वारेनोहन्ता बहुधाभूयस्स्वधामवन्नामा।
दोषातीतस्सुदिवा, समयासमयावनोद्यतः प्रापि॥ वहीं २३१५॥

यहाँ क्रमशः 'सत्, वा, रे, नो, हन्त, आ, बहुधा, भूयः, स्वधा, आम, वत्, न अमा,

---

१—अलङ्कारमणिहार में भी इन्हें पुनरुक्तवदाभास के बाद ही स्थान दिया है।

२—निवर्तते साधुभावज्ञानाद्यत्रापशब्दधीः। अपशब्दवदाभासः, सोऽलङ्कारो निगद्यते॥
अ०मणिहार पृ० २३०।

३—पदानां सुप्तिङन्तानामव्यार्थानां निगुम्फने। यथाऽव्ययवदाभासश्चित्रं तन्नाम तद्विदुः॥
अल० मणिहार पृ० २३२भाग-४

दोषा, अति, इतः, सु, दिवा, समयासमया, अव न उत् यतः प्र, और अपि' ऐसे अनेक अव्ययान्त पदों का आभास होता है, जब कि वस्तुतः ये अव्यय न होकर सुबन्तादि पद ही हैं, अतः उक्त अलङ्कार है। यहीं समया-समया पद में द्विरुक्त अव्ययाभास भी है जो विशेष चमत्कार पूर्ण हैं।

तिङन्तवदाभास

जहाँ अन्यार्थसूचकपदों के प्रयोग से पद्यस्थ पद तिङन्तपदों के समान आभासित हों, किन्तु वे वस्तुतः वैसे न हों ; वहाँ 'तिङन्तवदाभास' अलङ्कार होता है।[१]

भवतापहर जयावह पापानि भवे दवेस्य परिलुठतः।
प्रमोदधे प्रभविता भवता वातीतरो न चेतस्तः॥ वहीं २३१।

पुनरुक्तवदाभास : मूल्याङ्कन और उपलब्धि

रसना, मन एवं मस्तिष्क को एक विशिष्ट सरलता, स्पष्टता तथा प्रसन्नता पुनरुक्ति के द्वारा प्राप्त होती है। वही पुनरुक्ति जब वास्तविक न होकर आभासमात्र होती है तो वह कौतुक-वृद्धि का कारण बन जाती है। कौतुक अथवा कुतूहल के द्वारा मानव का मन आनन्द को प्राप्त करता है। क्योंकि उसे प्रत्येक पदार्थ के साथ कौतुक करना तथा उसके माध्यम से किसी चित्ताकर्षक कुतूहल को उत्पन्न करना अच्छा लगता है। यद्यपि काव्य में पुनरुक्ति को दोष माना गया है, किन्तु वह जब स्वाभाविक गुणों से संसक्त होकर शब्दसौन्दर्य के साथ-साथ अर्थसौन्दर्य को भी उद्भावित करती है तो अलङ्कार की कोटि में आ जाती है। यह कार्य 'पुनरुक्तवदाभास' के द्वारा उचित मात्रा में सम्पन्न होता है।

पुनरुक्तवदाभास को शब्दार्थ-धर्म का प्रतिनिधि अलङ्कार माना है। इसके अन्तराल में शब्द के नादात्मक धर्म की प्रधानता है, जो यमक के आवर्त-धर्म का निर्वाह करती है तथा बाह्यसाम्य के द्वारा क्षणिक चमत्कृति के पश्चात् अर्थगत विभिन्नता के द्वारा गोपनमूलक अर्थधर्म की भी प्रधानता हो जाती है जो श्लेष के धर्म का निर्वाह करती है। इस दृष्टि से यह ध्वन्यर्थमूलक भी माना जा सकता है। इसमें जो आभासधर्म है वह सम्भ्रमकारी होकर भिन्नार्थ प्रतीति से विनोद का भी कारण बनता है, अतः यमक की अपेक्षा अधिक चमत्कार-जनक है। इसके उदाहरणों में प्रायः देखा गया है कि केवल एक शब्द के पुनरुक्त का ही आभास यहाँ नहीं होता, अपितु एकाधिक शब्दों की पुनरुक्ति का आभास रहता है, जो मालावत् प्रतीत होता है।

पुनरुक्तवदाभास की योजना में कहीं शब्दों में समानकारता रहे या न रहे किन्तु समानार्थकता का आभास अवश्य होना चाहिये, फिर वह पूर्णरूप में हो अथवा भङ्ग द्वारा। इस दृष्टि से पदान्वय-विचित्रता ही इसका मुख्याधार माना जायगा।

१—यत्राभासस्तिङन्तानां, स्यादर्थान्तरगैः पदैः। तत्तिङन्तवदाभासश्चित्रं चित्रज्ञसम्मतम्॥
वहीं पृ० २३३, भाग-४

ऐतिहासिक-पर्यालोचन

वैदिक साहित्य में इसका उदाहरण निम्नलिखित मन्त्र में उपलब्ध होता है––यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव । तन्न इन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु ॥यजु०॥

लौकिक साहित्य में भी यत्र-तत्र महाकाव्यों एवं गद्यकाव्यों में प्रयोग मिलता है, किन्तु वह अन्य अलङ्कारों की समता में कादाचित्क ही है। इस अलङ्कार का ग्रन्थ निर्माण भी उपलब्ध नहीं होता है किन्तु कवि हलायुधद्वारा प्रणीत 'कविरहस्य' की टीका करते हुए 'रविधर्मन्' नामक कवि ने उस काव्य को अपशब्दाभास कहा है––आभासन्ति पदान्यत्र, प्रचुराण्यपशब्दवत् । तद्विषमं स्वभावेन, निबन्धनमपेक्षते ॥ और अन्त में अपशब्दाभासाख्ये काव्यटीकाशतानि चतुर्दश रचितानि'''कविरहस्यं नाम काव्यं समाप्तम्' लिखा है। अन्य स्वतन्त्र रचनाओं में इस अलङ्कार को प्रश्रय नहीं मिल पाया है।

———

[द्वितीय अधिकरण]

वक्रोक्ति और उसका लक्षण-विकास

काव्य का तात्पर्य शिक्षा–प्रदान न होकर चमत्कार उत्पन्न कर श्रोताओं अथवा पाठकों के हृदय में आनन्द का उन्मीलन करना माना गया है। इसीलिये कवि वक्रोक्ति आदि का आश्रय लेकर लोक की सामान्य उक्ति से विलक्षण कथन करते हैं। वक्रोक्ति का अर्थ है 'वक्र–टेढ़ी, उक्ति–कथन।' भरत ने इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। भामह ने वक्रोक्ति का संकेत करते हुए इसे अलङ्कारों का मूलतत्त्व माना है किन्तु वहाँ उनका अभिप्राय वक्र-उक्ति मात्र से है।[1] दण्डी ने श्लेष की महत्ता बतलाते हुए कहा है कि––'श्लेष प्रायः सभी वक्रोक्तियों–उक्ति वैचित्र्यकृत अलङ्कारों में शोभाधायक रहा करता है, इस तरह सारा वाङ्मय दो विभागों में बाँटा जा सकता है १–स्वभावोक्ति और २–वक्रोक्ति।'[2] इस कथन में भी वक्रोक्ति का अलङ्कारत्व-प्रतिपादन न होकर केवल उसकी उक्तिगत विशिष्टता को ही महत्त्व मिला है। उद्भट ने इसकी उपेक्षा की है। वामन ने वक्रोक्ति को अर्थालङ्कार

१—(क) सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः, कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥ काव्यादर्श२।८५॥

(ख) वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते ॥ काव्यालङ्कार, भामह—५।६६॥

२—श्लेषः सर्वासु पुष्णाति, प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्यम् ॥ काव्यादर्श-दण्डी १।३६३

के रूप में ग्रहण करते हुए—'सादृश्य के ऊपर आश्रित लक्षणा को वक्रोक्ति कहा है।'[1] वहीं वृत्ति में वामन ने यह भी स्पष्ट किया है कि—'लक्षणा होने में कई कारण होते हैं उनमें केवल सादृश्य के ऊपर आश्रित होने वाली लक्षणा तो वक्रोक्ति की संज्ञा को प्राप्त करती है, परन्तु सादृश्य से इतर सम्बन्ध—जैसे सामीप्यादि के ऊपर अवलम्बित लक्षणा वक्रोक्ति नहीं कहलाती।'[2] वामन की यह वक्रोक्ति विषयक कल्पना प्राचीन परम्परा से नितान्त भिन्न है। रुद्रट ही सर्व प्रथम आचार्य हैं, जो वक्रोक्ति को अलङ्कार में ही स्थान नहीं देते अपितु इसे शब्दालङ्कार ही मानते हैं और वह भी शब्दालङ्कारों में प्रथम स्थान को प्राप्त है। उनके अनुसार-'जहाँ' वक्ता के द्वारा कहे गये वचन का उत्तर देने वाला अन्यथा अर्थ-ग्रहण करके उत्तर देता है, वहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार होता है[3]। अग्निपुराणकार ने वक्रोक्ति का कोई पृथक् निर्देश न करते हुए वाकोवाक्य को शब्दालङ्कार माना है, जो वक्रोक्ति की समानता में माना जा सकता है। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य के व्यापक-तत्त्व के रूप में प्रस्तुत करते हुए भामह के साथ ऐकमत्य ही स्थापित नहीं किया अपितु वक्रोक्ति को ही काव्य का प्राण माना है। उनका कथन है कि वक्रोक्ति अलङ्कार और अलङ्कार-मात्र का प्राण ही नहीं है, अपितु यह तो काव्य की आत्मा है। कवि कर्म में कुशल-सौन्दर्य का नाम वक्रोक्ति है।[4] कुन्तक की वक्रोक्ति का अर्थ 'विचित्र-अभिधा' है, जिससे स्पष्ट है कि वक्रत्व या वक्रभाव 'वैचित्र्य-भाव' का सूचक है। वक्रोक्ति की व्याख्या कुन्तक ने अनेक स्थानों पर की है—जिनसे 'शास्त्र या व्यवहार में प्रसिद्ध शब्दार्थ की रचना से विलक्षण वस्तु वक्रोक्ति है' ऐसा सार निकलता है[5] तथा समस्त अलङ्कारवर्ग को वाक्य-वक्रता में अन्तर्भूत माना है।[6] आनन्दवर्द्धन ने अतिशयोक्ति अर्थात् वक्रोक्ति को काव्यसौन्दर्य का अभिव्यञ्जन माना है। अभिनवगुप्त के अनुसार शब्द और अर्थ की वक्रता से अभिप्राय है—'लोकोत्तररूप से अवस्थित होना'[7]। महिमभट्ट ने भी इसी तात्पर्य को व्यक्त करते हुए कहा है कि वैचित्र्य की सिद्धि के लिये जहाँ

१—सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः ॥ काव्यालङ्कार-सूत्र-वामन ४।३।८॥

२—बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्। तत्र सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिरिति। तथा असादृश्यात्तु लक्षणा न वक्रोक्तिः। वहीं ४।३।८ की वृत्ति

३—वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं···॥२।१३ वक्त्रा तदन्योक्तं॰ इत्यादि ॥ काव्यालङ्कार, —रुद्रट २।१४॥

४—वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥ वक्रोक्तिजीवित ।१।१०।

५—शास्त्रादिप्रसिद्ध॰ इत्यादि (पृ॰ २४), प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकि (पृ॰ २६) तथा अतिक्रान्त॰ वहीं पृ॰ १६५।

६—यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥वहीं १।२०।

७—शब्दस्य हि वक्रताऽभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमित्थमेवासावलङ्कारान्तरभावः। ध्वन्यालोकलोचन पृ॰ २०८

प्रसिद्ध मार्ग का परित्याग करके वही अर्थ दूसरे ही प्रकार से प्रतिपादित किया जाता हो, वही 'वक्रोक्ति है।'[१] भोज ने पृथक् विवेचन न करते हुए शब्दालङ्कार के वाकोवाक्य-नामक भेद में वक्रोक्ति को स्थान दिया है[२] और दण्डी के अनुसार ही समस्त वाङ्मय को वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्तिरूप तीन भेदों में बाँट दिया है[३]। मम्मट ने वक्रोक्ति को शब्दालङ्कारों में, प्रथम स्थान दिया है और लक्षण में कहा है कि—'किसी के एक अभिप्रायवाले वाक्य की किसी के द्वारा दूसरे अभिप्राय में योजना, चाहे वह श्लेष प्रयुक्त शब्द के अन्यार्थ के आधार पर योजित हो अथवा काकु—ध्वनि विकार के द्वारा योजित हो,—वह 'वक्रोक्ति' नामक अलङ्कार है।'[४] इस प्रकार मम्मट ने रुद्रट का समर्थन करते हुए दीर्घकाल तक भ्रान्त विचारों को पुनः स्पष्ट कर उक्तिवक्रता को शब्द की चारुता माना है। और यह उनके अन्वय-व्यतिरेक सिद्धान्त से भी उचित प्रतीत होता है। रुय्यक पुनः आश्रयाश्रयिभाव के आधार पर वक्रोक्ति को अर्थालङ्कार मानते हैं किन्तु उनका लक्षण रुद्रट अथवा मम्मट के लक्षण से भिन्न नहीं है।[५] तथा रुय्यक ने गूढार्थ-प्रतीति-परक सूक्ष्म, व्याजोक्ति और स्वभावोक्ति के बीच में वक्रोक्ति को स्थान दिया है। इसके पश्चात् उत्तर काल में वक्रोक्ति के लक्षण में कोई नवीनता नहीं आई है। हेमचन्द्र आदि कतिपय आचार्यों ने इसे शब्दालङ्कार माना है तो विद्याधर, विद्यानाथ आदि ने अर्थालङ्कार के रूप में इसका विवेचन किया है।[६]

वक्रोक्ति के भेद और उनकी सोदाहरण-मीमांसा।

वक्रोक्ति के पूर्वोक्त लक्षण-विकास से यह ज्ञात होता है कि यह श्लेष और काकु-कण्ठ की ध्वनि पर आधारित वक्रकथन की प्रक्रिया से सम्बद्ध अलङ्कार है। रुद्रट ने इसके

१—प्रसिद्धं मार्गमुत्सृज्य, यत्र वैचित्र्यसिद्धये। इत्यादि, व्यक्तिविवेक।

२—द्रष्टव्य, सरस्वतीकण्ठाभरण।२।१३२

३—वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च, स्वभावोक्तिश्चेति वाङ्मयम् —सरस्वतीकण्ठाभरण ॥५।८॥

४—यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते। काव्यप्रकाश ॥६।१॥

५—अन्योक्तस्य वाक्यस्य काकुश्लेषाभ्यामन्यथा योजनं वक्रोक्तिः।

अलङ्कारसर्वस्व० पृ० २१६

६—उदाहरणार्थ कतिपय लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) उक्तस्यान्येनान्यथा श्लेषादुक्तिर्वक्रोक्तिः ॥ काव्यानुशासन-हेमचन्द्र५।७॥

(ख) परोक्तस्य श्लेषेण काक्वा वाऽन्यथोक्तिर्वक्रोक्तिः ॥काव्यानुशासनवाग्भट (द्वितीय)

(ग) अन्यस्यान्याथर्कं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि। अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्ति-स्ततो द्विधा। साहित्यदर्पण-विश्वनाथ ॥१०।६॥

(घ) वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यां, श्लेषे-'केनेदृशी तव।
निर्मिता दारुणा बुद्धिर्न सा दारुमयी क्वचित् ॥ अलङ्कारसार-भावदेव

१—श्लेष वक्रोक्ति और २—काकु-वक्रोक्ति नामक दो भेद किये हैं। जिनके उदाहरण इस प्रकार हैं:—

१—श्लेष-वक्रोक्ति

जहाँ प्रयुक्त शब्द का पदभङ्ग करके श्लेष द्वारा अन्यार्थ ग्रहण किया जाय, वहाँ श्लेष-वक्रोक्ति होती है।[1] यथा—

किं गौरि मां प्रति रुषा ननु गौरहं किम्, कुप्यामि कां प्रति मयीत्यनुमानतोऽहम्।
जानाम्यतस्त्वमनुमानत एव सत्य—मित्थं गिरो गिरिभुवः कुटिला जयन्ति ॥
काव्यालङ्कार–रुद्रट।२।१५।

यहाँ शिव के द्वारा सम्बोधन में प्रयुक्त गौरि पद का अर्थ गौ=धेनु के रूप में ग्रहण हुआ है। और इसी प्रकार अन्य पदों के भी अर्थों को परिवर्तित मानकर उत्तर दिया गया है। अतः उक्त अलङ्कार है।

मम्मट ने इस वक्रोक्ति-भेद के सभङ्ग और अभङ्ग भेदों के आधार पर दो भेद किये हैं। यथा—(क) **सभङ्ग-श्लेष वक्रोक्तिः**–

नारीणामनुकूलमाचरसि चेज्जानासि कश्चेतनो,
वामानां प्रियमादधाति हितकृन्नैवाबलानां भवान्।
युक्तं किं हितकर्तनं ननु बलाभावप्रसिद्धात्मनः,
सामर्थ्यं भवतः पुरन्द रमतच्छेदं विधातुं कुतः? ॥काव्यप्रकाश ६।३५२॥

यहाँ 'नारीणां, वामानां' हितकृत् और अबला' शब्दों का भङ्ग करके न अरीणां, वामानां-शत्रूणां, हितकृत्–हितच्छेदक तथा अबला–बलाभाव अर्थों द्वारा व्याख्यान हुआ है। अतः यहाँ समङ्ग श्लेष-वक्रोक्ति अलङ्कार है।

(ख) अभङ्ग-श्लेष वक्रोक्ति :—

अहो कनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न, तु दारुमयी कवचित् ॥ वहीं ६।३५३ ॥

यहाँ दारुणा पद का भङ्ग किये विना ही प्रथमार्थ क्रूर को ग्रहण न करते हुए दारुकष्ठ वाचक शब्द की तृतीया का अर्थ ग्रहण किया गया है। अतः यहाँ 'अभङ्ग-श्लेष-वक्रोक्ति' अलङ्कार है।

(ग) च्य्यक प्र 'समङ्ग भङ्गरूप उभयविध श्लेष-वक्रोक्ति' का भी उदाहरण दिया है। जो पृथक् पृथक् पद्यों में हैं। वैसा एकत्र प्रयोग होने पर उक्त प्रकार का तीसरा भेद बन जाएगा।

१—वचनं यत्पदभङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः। काव्यालङ्कार-रुद्रट ॥२।१४॥

वक्रोक्ति के इन भेदों के अतिरिक्त कोई नवीन भेद नहीं किये गये हैं तथा श्लेष के जिस प्रकार प्रकृति-प्रत्ययादि विभिन्न भेद माने गये हैं वैसे भेद भी इसके किये जा सकते हैं अथवा नहीं, इस पर भी कोई विचार नहीं हुआ है।

२ —काकुवक्रोक्ति

जहाँ स्वर-विशेष के प्रयोग से स्पष्टता हेतु किये गये उच्चारण द्वारा अर्थान्तर की प्रतीति हो, वहाँ 'काकु'-वक्रोक्ति, अलङ्कार होता है।[२] यथा—

शल्यमयि स्खलदन्तः सोढं शक्येत हालहलदिग्धम्।
धीरेन पुनरकारणकुपितखलालीकदुर्वचनम्॥
—काव्यालङ्कार-रुद्रट २।१७॥

यहाँ पूर्व-पक्ष में दुष्ट मनुष्य के दुर्वचनों की दुःसहता और द्वितीय पक्ष में सुसहता व्यक्त की गई है। जो कण्ठध्वनि मात्र से समुद्भूत है, अतः यहाँ काकु-वक्रोक्ति अलङ्कार है।

भोजकृत वक्रोक्ति-वाकोवाक्य के भेदों का वर्णन हम 'शब्दालङ्कारों के अन्य भेद' शीर्षक से दिये गये विवेचन में करेंगे।

वक्रोक्ति : मूल्याङ्कन एवं उपलब्धि

सामान्य को असामान्य बतलाकर कहना ही अलङ्कार हैं। नितान्त प्राकृत-वर्णन रमणीय नहीं होता, इसीलिए वह आकर्षक भी नहीं होता। भामह ने इसी आशय पर अलङ्कारों की अनिवार्यता प्रमाणित की है। वाणी में चारुता लाने के लिये 'वक्राभिधेय-शब्दोक्ति' आवश्यक है। काव्य की अन्तःप्रकृति वक्रोक्ति से किस प्रकार गुम्फित हैं, यह वक्रोक्ति के सर्वव्यापी प्रवेश से स्पष्ट है। काव्य की भाषा का सौन्दर्य तत्त्व सामान्य जन-भाषा से पृथक् करने का कार्य वक्रोक्ति से ही सम्भव है। किन्तु इस वक्रोक्ति का अर्थ शब्दालङ्कार की अपेक्षा व्यापक था। अभिनव गुप्त ने ऐसी ही वक्रोक्ति के बारे में कहा था कि—'शब्द जितना कहता है उससे अधिक जब कहने लगे, और अर्थ जितना है, उससे अधिक दूर की बात जब व्यक्त करने लगे, तभी शब्द और अर्थ की वक्रता होती है। और कुन्तक ने अलौकिक प्रकार की कथन शैली को ही वक्रोक्ति कहा

१—काकु की परिभाषा इस प्रकार की गई है—
वाक्याभिधेयमानेऽर्थे येनान्यः प्रतिपद्यते। भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः, स काकुरिति कथ्यते॥
अलङ्कार-सर्वस्व, टीका पृ० २२०

२—विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषतो भवति।
अर्थान्तरप्रतीतिर्यत्रासौ, काकुवक्रोक्तिः॥ काव्यालङ्कार, रुद्रट २।१६॥

किन्तु रचनानैपुण्य और चारुता से परिपुष्ट वक्रोक्तिरूप शब्दालङ्कार में श्लिष्टार्थ और काकु-कण्ठध्वनि से चमत्कृति को अधिक महत्त्व मिला है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को अलङ्कार-सामान्य से पृथक् निकाल कर उसकी सर्वव्यापकता को प्रकट किया था, इसीलिये इसको शब्दालङ्कार के रूप में मुख्यता देनेवाले दो आचार्य रुद्रट और मम्मट ही इसका विवेचन कर सके। अन्य आचार्य दोलाचलवृत्ति के कारण विशेष विवेचन करने में मौन ही रहे। फलतः वक्रोक्ति का शब्दालङ्कार के रूप में सबसे कम प्रचार हुआ है और जो विस्तार है वह भी श्लेष के कारण सभङ्ग, अभङ्ग और उभयरूप में।

ऐतिहासिक पर्यालोचना में भी इसका कोई स्वतन्त्र विकास उपलब्ध नहीं होता और न इसके आधार पर किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना हुई है। वैसे वेद-वाङ्मय में ऐसी वक्रोक्तियों को परखने के लिये निरुक्त एवं भाष्यों द्वारा बतये गये प्रासङ्गिक अर्थ एवं प्रतीयमानार्थों का आश्रय लेने से कुछ उदाहरण अवश्य ही उपलब्ध हो जाते हैं। यही स्थिति लौकिक साहित्य में यत्र तत्र प्रयुक्त पद्य-मुक्तकों से आँकी जा सकती है। रत्नाकर की 'वक्रोक्ति--पञ्चाशिका' इस दिशा में निश्चित ही उदाहरण स्वरूप है।

[तृतीय अधिकरण]

श्लेष और उसका लक्षण-विकास

शब्दालङ्कारों की परम्परा में 'श्लेष' को पाँचवा स्थान दिया गया है। यद्यपि भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार इस अलङ्कार-भेद को कभी आगे और कभी पीछे स्थान दिया है और कुछ ने तो शब्दालङ्कार के क्षेत्र से बाहर मानते हुए केवल अर्थालङ्कार में ही विवेचन किया है, जब कि कतिपय आचार्यों ने इसे शब्द और अर्थ दोनों प्रकार का अलङ्कार भी बताया है। श्लेष शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—'श्लिष्यन्तीति श्लेषः'—अर्थात् शब्द जहाँ एक-दूसरे से अभिन्न हो जाते हैं, वह श्लेष कहलाता है। अतः एकप्रयत्नोच्चार्य शब्दों में अनेकार्थ-बांध को श्लेष कहा जाता है। आचार्य भरत ने श्लेष को अलङ्कार न मानकर गुणों में स्थान दिया है तथा लक्षण में कहा है कि—'इच्छित अर्थसमूह से परस्पर सम्बद्ध पदों की श्लिष्टता—परस्पर जुड़ा होने—को ही यहाँ श्लेष कहा जाता है तथा वहीं और भी इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि—'जहाँ स्वभाव से ही स्फुटता और विचार गहनता है तथा—स्वतः ही शब्दों में सुप्रतिबद्धता हो, वहाँ श्लेष

होता है।[1] इस प्रकार गुण रूप से ही गृहीत इस श्लेष में इच्छित-अर्थ की श्लिष्टता पर पूर्ण बल दिया है। कवि की वांछित अर्थ में मनोगत-भावना के अनुरूप शब्द-प्रयोग की प्रवृत्ति प्रायः प्रतीत होती है, अतः इस लक्षण में श्लेष के प्रमुख तत्त्व—'शब्द एक हो और वह भिन्न-भिन्न अर्थ देने अथवा दो या दो से अधिक पक्षों में सार्थक रहे, जो कि कवि की अभीप्सा पर ही निर्भर है—का निर्देश भरत ने ही कर दिया था। भामह ने अपने लक्षण निर्देश में 'उपमेय-सम्बन्धी गुण, क्रिया और नाम के, उपमान-सम्बन्धी गुण, क्रिया और नाम के साथ अभेद-प्रतिपादन को ही 'श्लिष्ट-श्लेष' कहा है किन्तु उनके इस लक्षण से रूपक और श्लेष का पार्थक्य स्पष्ट नहीं होता था, अतः वहीं अन्य पद्य द्वारा कहा गया कि 'रूपक और श्लेष में यह भेद है कि रूपक में उपमेय और उपमान के धर्म भिन्न-भिन्न शब्दों से कहे जाते हैं किन्तु श्लेष में एक ही शब्द में अनेकार्थता रहती है।" इस प्रकार श्लेष का स्वरूप-निर्णय करते हुए भामह ने यह भी स्पष्ट किया कि—शब्द और अर्थ में श्लेष रहने से ही श्लिष्ट का रूपक से भेद होता है।[2] इस प्रकार भरतोक्त श्लेष-गुण को अलङ्कार में स्थान देने तथा शब्द-अर्थरूप दो भेदों का यत्किञ्चित् निर्देश प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम श्रेय भामह को ही है। भामह के पश्चात् गुण-वादी और अलङ्कारवादी दोनों प्रकार के आचार्यों ने दोनों ही प्रकारों में श्लेष को स्थान देना प्रारम्भ कर दिया। दण्डी ने भी गुण और अर्थालङ्कार के अन्तर्गत श्लेष को माना हैं। अर्थालङ्कार के प्रसङ्ग में दण्डी ने श्लेष का लक्षण देते हुए भामह की उपमानोपमेय-सम्बन्धी चर्चा को छोड़ दिया और अनेकार्थक अभिधावृत्ति द्वारा एक साथ एकाधिक अर्थ को कहने वाले एवं एकरूपान्वित-अर्थभेद होने पर भी अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य होने से एकरूप वचन को 'श्लिष्ट-श्लेषालङ्कार' कहा है।[3] यहाँ श्लेष का शब्द और अर्थ में एकतावभासक सम्बन्ध-विशेष है, वह शब्दों में एकप्रयत्नोच्चार्यस्वरूप और अर्थों में एकप्रयत्नोच्चार्य शब्द द्वारा एककालिकबोधविषयत्वरूप होता है। इस कथन से—पुरोवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीक्रियमाण 'जतुकाष्ठ-न्याय' एवं एकवृन्त-गतफलद्वयन्याय' के लिये सूत्र मिल गया था। दण्डी ने अर्थद्वयप्रतीतिजनकता को ही श्लेष में प्रमुखता दी है। यह श्लेष दण्डी की दृष्टि में भामह की अपेक्षा अधिक व्यापकता को प्राप्त हुआ, क्योंकि भामह ने सहोक्ति, उपमा और हेतु से युक्त मानकर इसके केवल तीन

१—ईप्सितेनार्थजातेन, सम्बद्धानां परस्परम्। श्लिष्टता या पदानां स, श्लेष इत्यभिधीयते॥
विचारगहनं यत्स्यात्, स्फुटं चैव स्वभावतः। स्वतः सुप्रतिबद्धं च, श्लिष्टं तत्परिकीर्तितम्॥ नाट्यशास्त्र, भरत॥ १६।९७।९८॥

२—उपमानेन यत्तत्वमुपमेयस्य साध्यते। गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च, श्लिष्टं तदभिधीयते॥
लक्षणं रूपकेऽपीदं, लक्ष्यते काममत्र तु। इष्टः प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः॥
श्लेषादेवार्थवचसोरस्य च क्रियते भिदा। काव्यालङ्कार, भामह ३।१४-१५-१७॥

३—श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः। तदभिन्नं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा॥
—काव्यादर्श-दण्डी २।३१०॥

भेद ही किये हैं ।[१] दण्डी ने उपमा, रूपक आक्षेप और व्यतिरेकादि में इसकी गोचरता को सिद्ध किया और अन्य अलङ्कारों में भी उसका योग माना । इतना ही नहीं, प्रायः सभी वक्रोक्तियों में भी श्लेष को ही शोभाकारक माना है ।[२] उद्भट ने श्लेष की शब्दालङ्कारता और अर्थालङ्कारता को व्यवस्थित समझाते हुए इसे 'शब्दार्थालङ्कार' माना है । इनके लक्षण के अनुसार—'एकप्रयत्नोच्चार्यमाण' तथा उन शब्दों की छाया धारण करने वाले शब्दों के भिन्नस्वरितादि गुणों से होने वाले बन्ध को श्लेष कहते हैं, तथा पदों के द्वारा अलङ्कारान्तरगत-प्रतिभा को उत्पन्न करते हुए अर्थ और शब्दोक्तिरूप दो प्रकार का बतलाते है ।[३] प्रतिहारेन्दुराज ने लघुवृत्ति में उद्भट के उपर्युक्त लक्षण को स्पष्ट समझाते हुए लिखा है कि—'अनेकार्थक शब्दों की अनेकार्थ-विवक्षा दो प्रकार से होती है भट्टोद्भट का सिद्धान्त है कि—'अर्थभेद से शब्दभेद होता है' इसलिये अर्थभेद से होने वाले कुछ शब्दों का तो साधारण रूप से प्रयोग किया जा सकता है और कुछ का नहीं । अतः जिनका हल्, स्वर, स्थान और प्रयात्नादि में साम्य है, उनका तो साधारण प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु जिन हल् अक्षरों के एकत्व और अनेकत्व, स्वरों के उदात्तत्त्व और अनुदात्तत्वादि स्थानों के औष्ठ्य-दन्यौष्ठत्व आदि और प्रयत्नों के लघुत्व-अलघुत्व आदि भेद होते हैं, उनका तन्त्र[४] से प्रयोग होना असम्भव है । ऐसी स्थिति में जिनका प्रयोग तन्त्र से किया जा सकता है, वे एकप्रयत्नोच्चार्य कहे जाएंगे, उनकी योजना होने पर 'अर्थश्लेष' होगा, तथा जो उन्हीं एकप्रयत्नोच्चार्य शब्दों की छाया-सादृश्य को रखते हों' उनकी योजना होने पर 'शब्दश्लेष' होगा ।[५] इस प्रकार पूर्वोक्त आचार्यों के लक्षण में स्पष्टतया शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के रूप में श्लेष को मानने का विकास उद्भट की मौलिकता का सूचन करता है । वामन ने शब्दगुण-श्लेष, अर्थगुण-श्लेष तथा अर्थालङ्कार-श्लेष के रूप

१—तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात् त्रिविधं तथा ॥ काव्यालङ्कार, भामह ३।१७ ॥

२—(क) उपमारूपकाक्षेपव्यतिरेकादिगोचराः । प्रागेव दर्शिताः श्लेषा, दर्श्यन्ते केचनापरे ॥ २।३१३ ॥

(ख) श्लेषः सर्वासु पुष्णातिः प्रायो वक्रोक्तिषुश्रियम् ॥ काव्यादर्श-दण्डी २।३६३ ॥

३—एकप्रयत्नोच्चार्याणां, तच्छायां चैव दिभ्रताम् । स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते ॥

अलङ्कारान्तरगतां, प्रतिभां जनयत्पदैः । द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत्प्रतीयनाम्
—काव्यालङ्कारसंग्रह, पृष्ठ ५४

४—यहाँ तन्त्र का तात्पर्य-एक बार उच्चारण से अनेक अर्थ के बोधरूप अनेकोपकारकारित्व है ।

५—द्रष्टव्य—काव्यालङ्कारसारसंग्रह, प्रतिहारेन्दुराज की लघुवृत्ति, चौथा वर्ग पृष्ठ ५४।५५

में त्रिविध माना है किन्तु शब्दालङ्कार नहीं[1]। इसमें भामह का अनुकरण ही प्रमुख है। रुद्रट ने उद्भट को एकप्रयत्नोच्चार्य-प्रक्रिया में व्याकरण की आवश्यकता को आवश्यक तत्त्व मानकर शब्द-श्लेष और अर्थश्लेष—जो कि अब तक स्पष्ट नहीं हो पाये थे उन्हें पृथक्-पृथक् प्रकरणों में स्थान दिया। साथ ही लक्षण में—जहाँ कहने योग्य अनेक अर्थों की सुश्लिष्ट किन्तु अक्लिष्ट और विविध पद-सन्धियों से युक्त पद-या वाक्य द्वारा कहा जाय, वहाँ 'श्लेष' अलङ्कार की स्थिति मानी है।' इसी प्रकार अर्थश्लेष की-जहाँ अनेकार्थ रूप पदों से रचित एक वाक्य अनेक अर्थों में निश्चय का बोध कराता हो - वहाँ माना है।[2] तथा श्लेष के उपयुक्त एवं सहृदय-सम्मत प्रयोग के लिये महाकवि को शब्दानुशासन-व्याकरण के गहन अध्ययन-सम्यगालोचन और लक्ष्याधिगमन के साथ ही देशभाषा का प्रौढ़ ज्ञान तथा अभिधान-कोषों के मनन की निपुणता के पश्चात् ही प्रयोग करने की सम्मति दी है।[3] अग्निपुराण में श्लेष को अलङ्कार ही नहीं माना गया है। गुण के शब्दगुण नामक भेद के सात प्रबन्धों में प्रथम स्थान देते हुए 'शब्दों के सघन गुम्फन को श्लेष कहा है।[4] महिमभट्ट ने श्लेष के शब्द और अर्थरूप दो भेदों को स्वीकार करते हुए लिखा है कि —'जहाँ दो वस्तुओं का ऐसा सादृश्य, जो न कम हो और न अधिक, वह केवल शब्द द्वारा कहा जाता हो, उसे 'शब्द-श्लेष' कहते हैं। यह लक्षण देकर इस श्लेष के प्रति-पादक कर्तृत्व एवं कर्मत्व आदि कारक भाव से 'नित्ययुक्त' शब्द दो प्रकार के बताये हैं-१—धर्मिवाचक तथा २—धर्मवाचक। इस प्रकार की अभिव्यक्ति दुतरफा हो, इसके लिये दोनों ही श्लेषों में कोई न कोई कारण देना ही होता है, नहीं तो कवि का श्रम व्यर्थ होता है।[5]

१---स धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेषः ॥ काव्यालङ्कार सूत्र—वामन— ४।३।७ ॥

२—(क) वक्तुं समर्थमर्थं सुश्लिष्ट-क्लिष्टविविधपदसन्धि ।
युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयेत स श्लेषः ॥ ४।१ ॥

तथा (ख) यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन् ।
अर्थं कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ॥ काव्यालङ्कार-रुद्रट १०।१ ॥

३—शब्दानुशासनमशेषमवेत्य सम्यगालोच्य लक्ष्यमधिगम्य च देशभाषाः ।
यत्नादधीत्य विविधानभिधानकोषान्, श्लेषं महाकविरिमं निपुणो विदध्यात् ॥
वहीं ४।३५ ॥

४—सुश्लिष्टसंनिवेशत्वं, शब्दानां श्लेष उच्यते ॥ अग्निपुराण ३४६-६ ॥

५—यत्रान्यूनातिरिक्तेन, सादृश्यं वस्तुनोर्द्वयोः । शब्दमात्रेण कथ्येत, स शब्दश्लेष इष्यते ॥
स शब्दैः कर्तृकर्मादि-प्रधानार्थविनाकृतैः । निबद्धो धर्मिधर्मार्थैर्द्विविधः परिकीर्तितः ॥
इत्थं समासतो ज्ञेयं, शब्दश्लेषस्य लक्षणम् । अपरस्तु प्रसिद्धत्वादिहास्माभिर्न लक्षितः ॥
उभयत्राप्यभिव्यक्त्यै, वाच्यं किंचिन्निबन्धनम् ।
अन्यथा व्यर्थ एव स्याच्छ्लेषबन्धोद्यमः कवेः ॥ व्यक्तिविवेक, महिमभट्ट २-८१ से ८४ ॥

भोज ने श्लेष को शब्दगुण, अर्थगुण, शब्दालङ्कार और उभयालङ्कार के रूप में स्थान दिया है इनमें भिन्न पदों की एकपद के समान प्रतीति होना अर्थात् सुश्लिष्टपदता को 'शब्दश्लेष' गुण माना है। संविधान में सुसूत्रता अर्थात् क्रम, कौटिल्य, अनुल्वणत्व और उपपत्तिरूप घटना का व्यवस्थित विन्यास 'अर्थश्लेष' गुण कहा गया है। किन्तु शब्दश्लेषालङ्कार का लक्षण इनसे भिन्न है जैसा कि उनके लक्षण से स्पष्ट है। यथा—'जहाँ एकरूप वाक्य से एक साथ ही दो अर्थों का कथन हो, उसे शब्दज्ञों ने श्लेषालङ्कार कहा है।"[1] और 'जहाँ एक पद से अनेक अर्थों का कथन हो वहाँ, उभयालङ्काररूप श्लेषालङ्कार माना है।'[2] इन लक्षणों में शब्दगत श्लेष में दो अर्थों की प्रधानता एवं उभयगत में अनेकार्थों की प्रधानता को महत्त्व दिया गया है किन्तु लक्षण में कोई नवीन सूचन नहीं है। मम्मट ने भी श्लेष को शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों में स्थान दिया है। और शब्दपरिवृत्त्यसहत्व को शब्दालङ्कार एवं शब्दपरिवृत्तिसहत्व को अर्थालंकार का विभाजकतत्त्व माना है। मम्मट के अनुसार, 'अर्थ का भेद होने से भिन्न-भिन्न अर्थों के बोधक, समानाकार, भिन्न-भिन्न शब्द एक साथ उच्चारण के कारण जब परस्पर मिल जाते हैं तो वहाँ श्लेष नामक शब्दालङ्कार होता है।[3]

श्लेषालङ्कार-परिचर्चा

श्लेष के ऐसे लक्षण के पश्चात् मम्मट ने यद्यपि श्लेष को अर्थालङ्कार के रूप में भी प्रस्तुत किया है, तथापि शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार की भिन्नता एवं उसके मानदण्ड के स्थापन में पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत किया है उसका अभिप्राय यह है कि 'यद्यपि साधारणतः एक बार प्रयुक्त शब्द एक ही अर्थ का बोध कराता है[4] इस नियम से किसी भी एक शब्द से दो अर्थों का बोध नहीं हो सकता तथा जहाँ दो अर्थों का बोध कराना आवश्यक हो वहाँ प्रत्येक अर्थ के लिये पृथक्-पृथक् शब्दों का उपयोग होना चाहिये'[5] यह नियम है। तथापि कहीं-कहीं दो भिन्न अर्थों का बोध करानेवाले शब्द समानाकार—एक जैसे वर्ण-विन्यासवाले अथवा समानानुपूर्वीक आ जाते हैं, ऐसी दशा में उन समानाकार दो पदों का वक्ता दो बार उच्चारण नहीं करता है, इसलिए वहाँ एक ही शब्द प्रयोग प्रतीत होता है, किन्तु अर्थविचार की दृष्टि से वहाँ दो भिन्न अर्थों के बोधक दोनों शब्द—— 'लाख और

१—एकरूपेण वाक्येन, द्वयोर्भणनमर्थयोः। तन्त्रेण यत्स शब्दज्ञैः, श्लेष इत्यभिधीयते ॥
सरस्वतीकण्ठाभरण २।६८ ॥

२—श्लेषोऽनेकार्थकथनं, पदनेकेन कथ्यते ॥ वहीं ८५ ॥

३—वाच्यभेदेन भिन्ना यद्युगपद्भाषणस्पृशः। श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसौ·········॥
काव्यप्रकाश ९।८४ ॥

४—सकृत्प्रयुक्तः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति। वहीं

५—प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते। वहीं

लकड़ी के परस्पर एकाकार होकर चिपके रहने के अनुसार' परस्पर एकाकार बने रहते हैं। ऐसी दशा में वहाँ दो शब्दों का श्लेष होने से 'श्लेष' नामक शब्दालङ्कार कहते है।[१] यहाँ यदि यह कहा जाय कि—'ऐसे एकाकार बने हुए शब्दों को भी उदात्त, अनुदात्त आदि स्वरों के आधार पर भिन्न-भिन्न रूप में कहना चाहिये और वैसा करने से वहाँ शब्दश्लेष नहीं हो सकेगा ?'—तो इसका उत्तर यह है कि 'काव्यमार्गेषु स्वरो न गण्यते' इस नियम से स्वरों के आधार पर काव्यमार्ग में शब्दों का विभाजन ग्राह्य नहीं है। अतः श्लेष की शब्दालङ्कारता सिद्ध है। इस शब्द-श्लेष के शब्दों का अर्थ करते समय 'जहाँ भङ्ग करके दो अर्थ उपलब्ध किये जाते हैं, वहाँ **सभङ्गश्लेष**' होता हैं, तथा बिना किसी प्रकार के विच्छेद के दोनों अर्थ जहाँ उपलब्ध हो जाते हैं, वहाँ **अभङ्गश्लेष** होता है।' इस दृष्टि से मम्मट ने श्लेष के प्रकृति-प्रत्ययादि-जनित आठ भेदों का प्रथम विवेचन किया है और उसके पश्चात् अभङ्गश्लेष को भी शब्दालङ्कार में ही स्थान देने की दृष्टि से कहा है, कि—'जिसमें प्रकृति प्रत्ययादि भेद के बिना ही स्वर-भेद के कारण भिन्न-प्रयत्नोच्चार्य अथवा उस स्वर-भेद आदि का भी अभाव होने पर अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य अनेकपदों का श्लेष हो, उस श्लेष को अभङ्गश्लेष कहते हैं।' और ऐसा नौवाँ भेद भी शब्दालङ्कार ही है।[२] इस कथन से उद्‌भट आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अभङ्गश्लेष की अर्थालङ्कारता का निराकरण करते हुए स्वमतसूचनरूप शब्दालङ्कार-समर्थन किया है।

प्रस्तुत विवेचन में पूर्वपक्ष के तीन प्रश्न उपस्थित हुए हैं—

१—अभङ्गश्लेष को अर्थालङ्कार मानना चाहिये।

२—श्लेष उपमादि अलङ्कारों का बाधक है।

३—जिस श्लेष को यहाँ शब्दालङ्कार कहा गया है वह, और जिस श्लेष को अर्थालङ्कार कहा गया है वह—दोनों अर्थालङ्कार ही हैं।

तथा इनका निराकरण इस प्रकार किया हैं:—

प्रथम प्रश्न की स्थापना:—

उद्‌भटादि आचार्यों का कथन है कि सभङ्गश्लेष किसी प्रकार शब्दालंकार भले ही हो, किन्तु 'अभङ्गश्लेष को शब्द-श्लेषालंकार कैसे मान लिया जाय ? क्यों कि जब स्वरितादि-स्वरभेद से भिन्न-भिन्न भी प्रयत्न से उच्चारित शब्दों में एकता-प्रतीतिरूप शब्दश्लेष अन्य अलंकारों के आभास के उत्पादक होने से अर्थश्लेष ही हों, तब बिना किसी स्वरादिभेदप्रयोज्य प्रयत्नादि-भेद के ही भिन्न-भिन्न अर्थ की प्रतीति कराने वाले एकशब्द-रूप अभङ्गश्लेष-जिसमें अन्य अलंकारों के आभास के उत्पादन का भी सामर्थ्य है, अर्थश्लेष नहीं तो और क्या है ?

१—इस प्रकार की उक्ति को 'जतु-काष्ठ-न्याय' कहते हैं।

२—भेदाभावात् प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत्॥ काव्यप्रकाश ९।८५॥

इसमें उद्भट की मान्यता—'एकप्रयत्नोच्चार्याणां'[1] इत्यादि लक्षण और उनके व्याख्याकार प्रतीहारेन्दुराज के द्वारा लघुवृत्ति में किये गये–'एतच्च श्लिष्टं द्विविधं' इत्यादि उन्मीलन[2] का प्रस्थापन हुआ है।

मम्मट द्वारा पूर्वपक्ष-निरास के लिये सिद्धान्त-दर्शन

जिस शब्द अथवा अर्थ की अलंकारता का विवेचन यहाँ किया जा रहा है, उसके लिये अलंकारशास्त्रों में दोष, गुण और अलंकारों की शब्दगतता एवं अर्थगतता का निर्णय 'अन्वय और व्यतिरेक 'पर ही निर्भर माना गया है। क्यों कि शब्द के 'श्रुतिकटुत्व आदि दोष अथवा ओज-गाढबन्ध आदि गुण अथवा अनुप्रास आदि अलंकार; तथा अर्थ के अपुष्टार्थत्व आदि दोष अथवा ओज-प्रौढि आदि गुण अथवा उपमा आदि अलंकारों की जो शब्दगत और अर्थगत रूप से विभाग-व्यवस्था है, उसका एकमात्र कारण हैं उस शब्द अथवा अर्थ के सद्भाव अथवा असद्भाव का उस दोष, गुण अथवा अलङ्कार के द्वारा अनुवर्तन किया जाना।' अतः 'शब्दपरिवृत्त्यसहिष्णुत्व' 'को शब्दालंकार और 'शब्दपरिवृत्तिसहिष्णुत्व' को अर्थालंकार मानने का सिद्धान्त स्थिर होता है।

प्रतीहारेन्दुराज का खण्डन

उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार प्रतीहारेन्दुराज द्वारा अर्थश्लेष के रूप में उदाहृतः—

स्वयं च पल्लवाताम्र-भास्वत्करविराजिता।

प्रभातसन्ध्येवास्वाप-फललुब्धेहित-प्रदा॥ का० सा० सं० (टीकाभाग) ४।१०॥

इस पद्य के द्वितीय चरणगत 'भास्वत्कर' पद में अभङ्ग श्लेष है तथा उत्तरार्ध के 'अस्वाप' पद में सभङ्गश्लेष है किन्तु दोनों स्थानों पर यदि इनके समान ही किसी अन्य शब्द की स्थापना की जाय तो श्लेष नहीं रहेगा। अतः इस शब्दपरिवृत्त्यसहिष्णुत्व के कारण यहाँ शब्दश्लेषालङ्कार ही होगा, अर्थश्लेषालङ्कार नहीं। अर्थश्लेष तो वहीं होगा जहाँ कि 'शब्द-परिवर्तन कर देने पर भी श्लेष की हानि नहीं होती। जैसे'—

स्तोकेनोन्नतिमायाति, स्तोकेनायात्यधोगतिम्॥ ४।११ का० सा० सं० (टीकाभाग)

इत्यादि पद्य में एक 'स्तोक' आदि के स्थान पर 'अल्प' आदि शब्द का प्रयोग कर देने पर भी

१—एकप्रयत्नोच्चार्याणां, तच्छायां चैव बिभ्रताम्। स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्ट-मिहोच्यते॥
अलङ्कारान्तरगतां प्रतिभां जनयत्पदैः। द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत् प्रतीयताम्॥
काव्यालङ्कारसारसंग्रह ४।१०।११

२—एतच्च श्लिष्टं द्विविधमप्युपमाद्यलङ्कारप्रतिभोत्पादनद्वारेणालङ्कारतां प्रतिपद्यते। वहीं, लघुवृत्ति

श्लेष बना रहता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'अभङ्गश्लेष' भी शब्दालङ्कार ही है अर्थालङ्कार नहीं। इसके आधार पर पूर्वपक्ष के प्रथम प्रश्न का समाधान हो जाता है।

द्वितीय प्रश्न की स्थापना

उद्भट ने श्लेष के लक्षण में 'अलङ्कारान्तरगतां प्रतिभां जनयत्पदैः' कहा है, उसका आशय प्रतीहारेन्दुराज एवं अन्य रुय्यकादि आलङ्कारिकों ने यह बतलाया है कि श्लेष के साथ जहाँ उपमादि अन्य अलङ्कारों की प्रतीति होती है वहाँ श्लेष अन्य अलङ्कारों का प्रतिबन्धक होता है और वह अलङ्कारान्तर के प्रतिभास मात्र का हेतु होता है। इस कथन की पुष्टि के लिये प्रतिहारेन्दुराज ने—स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिनी—इत्यादि पद्य में पल्लवाताम्र आदि पद भगवती और प्रभातसन्ध्या क्रमशः पल्लव के समान आताम्र कर-हस्त और कर-किरण रूप अर्थबोधन में तन्त्रप्रयोग की असमर्थता के कारण अर्थश्लेष तथा 'अस्वाप' इत्यादि पद उपर्युक्त दोनों ही पक्षों में क्रमशः अस्वाप-सुख और अस्वाप-निद्रा का अभावरूप अर्थों के बोधन में एक शब्द के कहने पर अन्य शब्द की सदृशता के कारण 'शब्दश्लेष' होना बतलाया है और इन दोनों प्रकार के श्लेषों के साथ उपमा अलङ्कार की प्रतीति होने से यहाँ श्लेष ही प्रधान माना है जब कि उपमा का आभास मात्र माना है।[1]

इस प्रकार श्लेष की सर्वत्र अलङ्कारों में प्रधानता रहने से उपमादि अन्य अलङ्कारों का प्रतिबन्धक है, इस मान्यता का खण्डन आचार्य मम्मट ने इस प्रकार किया है—

मम्मट द्वारा द्वितीय प्रश्न का खण्डन एवं स्वमत-प्रस्थापन

उद्भट एवं उनके अनुयायी आचार्यों की इस धारणा में मम्मट का कथन है कि 'पल्लवाताम्र' इत्यादि पद्य में जो श्लेष है, वह भगवती गौरी और प्रभातसन्ध्या में औपम्य की दृष्टि से उपमा के आभास मात्र की प्रतीति कराता है 'यह ठीक नहीं है, अपितु उचित तो यह है कि यहाँ उपमा के द्वारा ही श्लेष की प्रतीति हो रही हैं।[2] यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'शब्दसाम्य' मात्र के कारण 'पल्लवाताम्र' इत्यादि में उपमा कैसे मानी जा सकती है? क्योंकि जैसे उपमा गुणसाम्य अथवा क्रियासाम्य अथवा गुण-क्रिया-साम्य के कारण ऐसे प्रसंग जैसे कि—'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतद् कचतितराम्' इत्यादि में मानी जाया करती है, वैसे ही इसे शब्द मात्र के साम्य में भी (जैसे कि—सकलकलं पुरमेतज्जातं इत्यादि प्रसंग में स्पष्ट है) मानना सर्वथा युक्ति-संगत है। और इसीलिये आचार्य रुद्रट ने भी कहा है कि—

१—इसी प्रसंग में श्लेष द्वारा बाधित अन्य विरोधादि अलङ्कारवाले पद्य भी दिये हैं जिनका अर्थालङ्कारोपयोगी तथा विस्तारकारी मान कर विवेचन नहीं किया है।

२—न चायमुपमा प्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः, अपि तु श्लेषप्रतिभोत्पतिहेतुरुपमा ॥

—काव्यप्रकाश ९ उल्लास, श्लेष प्रकरण

"यद्यपि यह ठीक है कि उपमा और समुच्चय-गुण, क्रिया तथा इन दोनों के साधर्म्य के कारण निश्चित रूप से अर्थालङ्कार हैं किन्तु यह भी ठीक है कि उन्हें शब्द मात्र के कारण साधर्म्य में भी देखा जा सकता है[1] ।"

इसी प्रकार श्लेष के प्रसंग में कहीं-कहीं शब्द मात्र साम्य के कारण उपमा मान लेने का यह अभिप्राय निकाल लेना कि 'कमलमिव मुखं' इत्यादि में उपमा के बदले अर्थश्लेष मानना पड़ेगा, क्यों कि–निरवकाशा हि विधयः सावकाशान् विधीन् बाधन्ते—इस सिद्धान्त के अनुसार निरवकाश श्लेष (क्योंकि उपमा तो बिना श्लेष के भी अन्यत्र होती है, अतः सावकाश है, किन्तु यहाँ श्लेष उपमा के बिना नहीं हो सकता । अतः वह निरवकाश है) के द्वारा सावकाश उपमा बाधित हो जाया करेगी और इस प्रकार 'कमलमिव मुखम्' जैसे प्रसंग में ही रह जायेगी, न कि कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत् 'जैसे प्रसंग में, जहाँ 'मनोज्ञ' रूप साधारणधर्म के उपमान और उपमेय दोनों में अनुगत होने से 'मनोज्ञ' शब्द वस्तुतः दो पृथक् शब्द होते हुए भी समानोच्चारण के कारण एकरूप-श्लिष्ट है, यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ ऐसी भी कोई सम्भावना नहीं कि जहाँ पर साधारणधर्म के वाचक शब्द का प्रयोग न हुआ करे । जैसे कि:—'कमलमिव मुखम्' इत्यादि में—वहीं उपमा मानी जाय, क्यों कि तब तो यह भी मानना पड़ेगा कि 'पूर्णोपमा' नाम का कहीं कोई अलङ्कार ही नहीं । साथ ही साथ यहाँ ऐसा भी कहना कि उपमा और श्लेष के विषय के परस्पर संकीर्ण रहने के कारण उपमा के द्वारा श्लेष बाधित हो जाया करेगा, युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता, क्यों कि श्लेष का क्षेत्र उपमा आदि अलङ्कारों के क्षेत्र से सर्वत्र संकीर्ण नहीं हुआ करता । श्लेष का अपना भी क्षेत्र है जो 'देव त्वमेव पातालम्' इत्यादि पद्य में विष्णु और राजविषयक दोनों अर्थों के—एकार्थ-नियामक प्रकरणादि के अभाव में--वाच्यार्थ होने से उपमा, तुल्ययोगिता अथवा अन्य अलङ्कारों की सम्भावना नहीं है । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि श्लेष का विषय उपमा के विषय से संकीर्ण नहीं है, इस लिये यहाँ एक दृष्टि से उपमा और श्लेष का सङ्कर है ।

इसका यह भी अभिप्राय नहीं कि सर्वत्र उपमा और श्लेष का सङ्कर ही रहा करेगा । क्यों कि वस्तुतः विचार करने से वह क्षेत्र उपमा का ही क्षेत्र सिद्ध होगा जहाँ उपमा प्रधान होगी और श्लेष उसका अंग । और नहीं तो पूर्णोपमा का क्षेत्र ही कहाँ रह जायेगा ?

इस दृष्टि से 'अबिन्दुसुन्दरी नित्यं' इत्यादि पद्य में भी जो श्लेष है, उससे विरोधाभास की प्रतीति न हो कर विरोधाभास से ही श्लेष का आभास हो रहा है । क्योंकि यहाँ जो शब्द है उसके द्वारा दोनों अर्थों का अभिधान न होकर वस्तुतः अर्थ शब्दशक्ति की महिमा से आपाततः प्रतीत होता है । अतः ऐसा भी नहीं कि जैसे विरोध के आभास में विरोधालङ्कार मान लिया जाता है वैसे ही श्लेष के भी आभास में श्लेषालङ्कार मान लिया जाया करे । क्यों कि वास्तविक विरोध में तो दोष होने से विरोध के आभास में विरोधालङ्कार मानना

१—स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमा-समुच्चयौ ॥ काव्यालङ्कार-रुद्रट ४।३२ ॥

युक्तियुक्त है किन्तु श्लेष के आभास में श्लेषालङ्कार नहीं माना जाता है। निष्कर्ष यह है कि ऐसे सन्दर्भों में श्लेष के आभास के उत्पादक अन्यान्य अलङ्कार ही माने जायँगे, क्योंकि चमत्कार उन्हीं पर निर्भर है। यही बात 'सद्वंशमुक्तामणिः' इत्यादि पद्यांशों में एकदेश-विवर्ति-रूपक, श्लेष-मूलक-व्यतिरेक, श्लिष्ट-विशेषणा समासोक्ति और श्लेषमूलक विरोधाभास से स्पष्ट है।

इस प्रकार विविध तर्क-वितर्कों से द्वितीय प्रश्न का समाधान करके तीसरे प्रश्न पर मम्मट ने निम्नलिखित विचार प्रस्तुत किये हैं—

तृतीय प्रश्न की स्थापना—

उद्भट के टीकाकार श्रीप्रतीहारेन्दुराज ने 'स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्कारविराजिनी' इत्यादि के सन्दर्भ में निर्देश किया है कि 'कर' शब्द के हस्त और किरणरूप अर्थ के बोध में तन्त्र प्रयोग की असमर्थता के कारण 'अर्थश्लेष' और 'अस्वाप' शब्द के सुख और निद्रा का अभावरूप अर्थ के बोध में एक शब्द के कहने पर अन्य शब्द की सदृशता के कारण शब्द-श्लेष है।[1] और इनके द्वारा 'शब्द-श्लेष' का लक्षण पृथक् रूप से कहीं नहीं दिया गया है, अतः इस शब्द-श्लेष को भी अर्थालङ्कार माना हो, ऐसा अनुमान होता है।

अर्थापेक्षिता से अर्थालङ्कारत्वः—

श्लेष के दोनों भेदों को अर्थालङ्कार मानने के पक्ष में आश्रयाश्रयिभाव को अलङ्कार-विभाग का आधार माननेवाले आचार्य रुय्यक आदि के अनुसार यह भी युक्ति दी जा सकती है कि—'श्लेष सदा अर्थमुखापेक्षी होता है, क्योंकि दो अर्थों की प्रतीति के बिना न तो श्लेष हो सकता है और न उसमें चमत्कार ही आ सकता है, इसलिये अर्थमुखापेक्षी होने से श्लेष के दोनों भेदों की अर्थालङ्कारों में ही गणना करना उचित है।

मम्मट द्वारा तृतीय प्रश्न का ऊहापोह-पूर्वक खण्डन

आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त कथन का खण्डन करने के लिये प्रश्न किया है कि—'यह कैसी विचित्र बात है कि शब्द श्लेष को आप नाम से तो शब्दश्लेष कहते हैं और अर्थालङ्कारों में गिनते हैं?'

और यदि इसके सम्बन्ध में यह कहा जाय कि 'इसका नाम शब्दश्लेष' तो इस लिये रखा गया है कि इसमें विजातीय शब्दों की एकरूपता की प्रतीति है और अर्थालङ्कारों में इसका लक्षण इसलिये दिया गया है कि वस्तुतः यह अर्थ का अलङ्कार है 'तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'जो विचित्रता है वही अलङ्कार है' और इस प्रकार शब्द अथवा अर्थ में जहाँ भी कवि की प्रतिभा का संरम्भ कार्यकर प्रतीत हो, वहीं चमत्कार होता है और वहीं

१—द्रष्टव्यः—काव्यालङ्कारसारसंग्रह, लघुवृत्ति पृ० ५५-५६।

अलङ्कार होता है । जहाँ शब्द पर कवि का विशेष बल होता है वहाँ शब्द का ही चमत्कार होता है उस शब्द को बदल देने पर वह चमत्कार नहीं रहता है । इसलिये उस स्थल पर शब्दालङ्कार मानना उचित है । और जहाँ शब्द के परिवर्तित कर देने पर भी अलङ्कार की हानि नहीं होती वहाँ यह समझना चाहिये कि कवि का बल मुख्यतः शब्द पर नहीं अपितु अर्थ पर है, अतः वहाँ अर्थालङ्कार मानना चाहिये ।

अब यहाँ यह आग्रह कि श्लिष्ट शब्द भी अर्थ-सापेक्ष हुआ करते हैं इसीलिये हमने शब्द-श्लेष को अर्थालङ्कारों में माना है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि इस प्रकार शब्द-श्लेष को अर्थ-सापेक्ष मान कर ही अर्थालङ्कार मानेंगे तो शब्दों की अर्थसापेक्षता के कारण अनुप्रास[1] आदि भी अर्थालङ्कार मानने पड़ेंगे, जो कि किसी को भी अभीष्ट नहीं है ।

साथ ही अनुप्रासादि की शब्दालङ्कारता मानने के पक्ष में यदि यह तर्क दिया जाय कि इनमें 'वर्णध्वनि-वैचित्र्य' का महत्त्व है तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि अर्थ की अपेक्षा तो सर्वत्र दिखाई देती है तथा शब्द के गुण अथवा दोष भी तो इसीलिये गुण और दोष माने जाते हैं कि इनमें भी अर्थ की अपेक्षा विद्यमान है, तब इन्हें भी अर्थ का गुण और दोष क्यों नहीं माना जाता ? इतना ही नहीं, जो-जो अर्थ के गुण अथवा दोष अथवा अलङ्कार हुआ करते हैं उनमें क्या शब्द की अपेक्षा नहीं हुआ करती ? उन्हें शब्द का गुण अथवा दोष अथवा अलङ्कार क्यों नहीं माना जाता ?

यहाँ यह भी कहना ठीक नहीं कि एक प्रयत्न से शब्दों के उच्चरित होने के कारण ही अर्थश्लेष अर्थश्लेष हुआ करता है, क्योंकि इन सब बातों के अतिरिक्त यह भी सोचने की बात है कि यदि एक प्रयत्न से शब्द उच्चरित होने में ही अर्थश्लेष है तो 'विधौ वक्रे मूर्ध्नि' इत्यादि वर्णश्लेष भी जहाँ 'विधु' और 'विधि' आदि स्पष्टतया भिन्न-भिन्न शब्द हैं, वहाँ भी अर्थश्लेष ही क्यों नहीं कहा जाता ?

इस विस्तृत श्लेष-चर्चा में मम्मट ने अपने-से पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित श्लेषालङ्कार की अर्थालङ्कारता का तो खण्डन किया ही है साथ ही अपने समकालिक रुय्यक की 'आश्रयाश्रयिभावरूप' धारणा का भी खण्डन किया है । और प्रसंगवश अलङ्कार-विभाजन के लिये अन्वयव्यतिरेकादि नवीन तत्त्वों को भी प्रस्तुत किया है ।

परवर्ती आचार्य एवं श्लेषालङ्कार

रुय्यक के अनुसार श्लेष अर्थालङ्कार ही है तथा उसकी पुष्टि में पूर्वचर्चित 'आश्रया-

---

१—रसादि के व्यञ्जकरूप-वाच्यार्थ की अपेक्षा से ही अनुप्रासादि की अलङ्कारता होती है अर्थात् जहाँ रसानुसारी वर्ण-साम्य होता है वहीं अनुप्रास अलङ्कार होता है । रस-विरोधी वर्णों का साम्य होने पर अनुप्रास अलङ्कार नहीं होता । अतः यहाँ अर्थमुखा-पेक्षिता आ जाती है ।

आश्रयिभाव' हेतु है।[1] मम्मट की श्लेष-विचारणा में प्रस्तुत अनेक सिद्धान्तों का स्थापन रुय्यक ने भी किया है, जिन्हें मम्मट ने पूर्वपक्ष में रखकर खण्डन का आधार बनाया है, अतः यहाँ उनकी चर्चा आवश्यक नहीं है। वैसे रुय्यक ने स्वमतस्थापन में-एकवृन्तगतफलद्वय-न्याय[2] और लोकवदाश्रयाश्रयिभाव के माध्यम से श्लेष की अर्थालङ्कारता सिद्ध करते हुए इसे 'सर्वालङ्कारापवाद' कहा है।[3]

आचार्य हेमचन्द्र ने श्लेष को शब्दालङ्कार माना है तथा 'न चायमर्थालङ्कार इति वाच्यम्' कह कर काव्य-प्रकाश में चर्चित विषय को ही संक्षेप में उपस्थित किया है, किन्तु कोई नवीन धारणा नहीं दी है। शोभाकर मित्र ने भी श्लेष को शब्दालङ्कार माना है और रुय्यक द्वारा प्रतिपादित श्लेष की सर्वालङ्कारापवादत्ता का खण्डन उद्भट के 'अन्य अलङ्कारों की भाँति श्लेष-स्थल में भी बाध्यबाधकभाव स्पष्ट रहता है' इस कथन को ही अपनी आलोचना का आधार बना कर-किया है।[4] वाग्भट प्रथम और जयदेव ने श्लेष को शब्दालङ्कार में स्थान नहीं दिया है। अरिसिंह और अमरचन्द्रयति निर्मित काव्यकल्पलता-वृत्ति के 'श्लेषसिद्धि-प्रतान' में श्लेष का स्वतन्त्र लक्षण तो नहीं दिया गया है किन्तु श्लेष-साधन के अनेक उपाय बतलाये हैं तथा वैसे शब्दों का संग्रह भी दिया है कि जिनके द्वारा श्लेषरचना सरलता से हो सकती है।[5] विद्याधर ने भी शब्दालङ्कार में श्लेष को स्थान नहीं दिया है। विश्वनाथ ने श्लेष को शब्दालङ्कार माना है और मम्मट के अनुसार ही अपनी विवेचना को भी प्रस्तुत किया है जो पूर्ववत् ही है। इसके पश्चात् विद्यानाथ को छोड़कर भानुकर, वाग्भट द्वितीय, नरेन्द्रप्रभ, भावदेव, पुञ्जराज, कर्णपूर, केशवमित्र, विश्वेश्वर आदि ने श्लेष को शब्दालङ्कार माना है किन्तु लक्षण में कोई नवीनता नहीं आ पाई है।

१—विशेष्यस्यापि साम्ये द्वयोर्वोपादाने श्लेषः—रुय्यक-(क) तथा योऽलङ्कारो यदाश्रितः स तदलङ्कारः। अलङ्कार-सर्वस्व, पृ० १२१।

२—टीकाकार जयरथ ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'लोके हि यथा कर्णाश्रितः कुण्डलादिः कर्णालङ्कार उच्यते न पुनः सुवर्णकारणहेतुकत्वात्तदलङ्कारः।
द्रष्टव्य-वहीं, टीका पृ० १२४।

३—तेनालङ्कारान्तरविविक्तो नास्य विषयोऽस्तीति सर्वालङ्कारापवादोऽयमिति स्थितम्॥
वहीं पृ० १३२।

४—अलङ्कारान्तरविविक्तविषयत्वाभावान्निरवकाशत्वेन ····· ···
······तस्मादेवमादष्वलङ्कारान्तरविविक्तविषयत्वान्न निरवकाशः श्लेषः।
अलङ्कार रत्नाकर—शोभाकर मित्र, पृ० ७५-७६

५—इसकी चर्चा हमने 'श्लेष भेद और उनकी सोदाहरण-मीमांसा' के आरम्भ में अक्षर-त्रोटन-प्रकारों में की है तथा कुछ विचार च्युत-चित्र में भी दिया है।

श्लेष के भेद और उनकी मीमांसा

पूर्वोक्त श्लेष के लक्षण और तत्सम्बन्धी विवेचन से यह स्पष्ट है कि शब्दालङ्कार का यह भेद आलङ्कारिक आचार्यों का एक मननपूर्ण अलङ्कार रहा है। गुण, अर्थालङ्कार, शब्दालङ्कार और उभयालङ्कार की कोटि में पहुँचते हुए 'श्लेष' ने अपनी गुणगत गाढबन्धता, अर्थालङ्कारगत एक ही साथ एकाधिक अर्थकथन एवं एकरूपान्वितता, शब्दालङ्कारगत विविधरूपता एवं उभयालङ्कारगत शब्दार्थरूपता को प्राप्त किया है। दण्डी ने श्लेष की विभिन्नता को पुरस्कृत करते हुए 'अभिन्नपद' और 'भिन्नपदप्राय' कहकर प्रारम्भ में दो भेद किये हैं तथा अभिन्न-क्रिया, अविरुद्धक्रिया, विरुद्धक्रिया, सनियम, नियमाक्षेपरूपोक्ति, अविरोधी और विरोधी ऐसे सात भेद और दिखलाये हैं। किन्तु इस दिशा में श्लेष को शब्दालङ्कार की प्रतिष्ठा देते हुए उसके आठ प्रकारों का विधिवत् वर्णन रुद्रट ने ही किया है जो सभी शब्दश्लेषालङ्कारवादियों द्वारा स्वीकृत हुआ है।

रुद्रट के अनुसार शब्दश्लेष की भेदकल्पना में व्याकरणशास्त्र का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हम देखते हैं कि व्याकरण के सन्धि-नियम से आरम्भ होकर सर्वविध शब्दसृष्टि में अनेक स्थानों पर प्रयोग साम्य आता है। किन्तु अर्थ उनके पृथक्-पृथक् होते हैं। ऐसी स्थिति विविधार्थ कथन की क्षमता को उत्पन्न करने का कार्य व्याकरण का ही है। इसके अतिरिक्त कवि की प्रतिभा से की गई शब्दयोजना भी श्लेष के कारण बनती है। जिसके लिये कुछ विशिष्ट नामावली का भी प्रयोग हुआ है।

श्लेष की भेद कल्पना के लिये प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावली

श्लेष में विभिन्नार्थों की सिद्धि के लिये आचार्यों ने जिन नामों का प्रयोग किया है उनका विवेचन इस प्रकार है—

(क) भिन्नपद-प्राय अथवा सभङ्गः—जहाँ किसी एक पद के दो अर्थ लाने के लिये मूलपद के भङ्ग किये जाँय। जैसे 'दोषाकर' इस पद में प्रथम अर्थ दोषा–आकर और द्वितीय अर्थ दोष–आकर इस प्रकार के भङ्ग से सिद्ध हुआ है।

(ख) अभिन्नपद अथवा अभङ्गः—जहाँ किसी एक पद के विभिन्न अर्थों की प्राप्ति—उक्त पद का भङ्ग किये बिना ही प्रकरणादिकृत नियन्त्रण के अभाव और श्लिष्टपद के एक प्रकृति प्रत्ययादि साध्य होने से—हो जाती है। जैसे किसी राजा के वर्णन में उदयादि पदों का चन्द्रमा के अर्थ में बिना भङ्ग के लग जाना।

(ग) सभङ्गाभङ्गः—जहाँ उपर्युक्त भङ्ग और अभङ्ग दोनों प्रकार के भेदों का उपयोग किया जाय।

(घ) सोद्भेद–निरुद्भेद आदिः––इन उपर्युक्त अभिधानों के अतिरिक्त भोज ने 'प्रत्यय-श्लेष,' में सोद्भेद और निरुद्भेद तथा 'विभक्ति-श्लेष' में भिन्नजातीय एवं अभिन्नजातीय नामों का भी प्रयोग किया है। जिनका सोदाहरण विवेचन उक्त भेदों के साथ ही किया गया है।

सभंग श्लेष में अक्षरत्रोटन के प्रकार

सभङ्गश्लेष वर्ण्य और अवर्ण्य दोनों प्रकार के शब्दों से बनता है। उसकी सिद्धि के लिये काव्यकल्पलतावृत्तिकार ने कुछ उपाय बताये हैं जो इस प्रकार हैः—

(१) पूर्वाक्षरत्रोटनः—जहाँ विभिन्नार्थ की प्राप्ति के लिये प्रयुक्त–पद के पूर्वाक्षर को तोड़ दिया जाय। जैसे—'सुखरोचितः कुलालः' पद में सु–खरोचितः कुलालः और सुख-रोचितः कुलालः के रूप में आदि के सुख शब्द का भङ्ग किया गया। इसी प्रकार यह क्रमशः एक, दो, तीन पूर्वाक्षरों के त्रोटन से भी होता है।

(२) अन्त्याक्षरत्रोटनः—जहाँ विभिन्नार्थ की प्राप्ति के लिये प्रयुक्त पद के अन्तिम अक्षरों को तोड़ दिया जाय। जैसे––'मानवसत्स्थितिः' पद में मान–वसत्स्थितिः और मानव–सत्स्थितिः के रूप में मानव के अन्तिम अक्षरों का भङ्ग किया गया।

(३) वर्णाकर्षणः––जहाँ सन्धिबल से समक्ष में स्थित वर्ण का आकर्षण करके विभिन्न अर्थ की प्राप्ति की जाय। जैसे–'अहीनमलंकृतम्' पद में अहीनम्–अलंकृतम् और अहीनमलम् कृतम् के रूप में अकार वर्ण का आकर्षण हुआ है। इसी प्रकार अन्य स्वरों का भी आकर्षण समझना चाहिये।

इस प्रकार शब्दश्लेष की विभिन्नता में उपयोगी प्रकारों के निर्देश के अतिरिक्त और भी अनेक युक्तियाँ हैं जो श्लेष साधन में उपयोगी होती है। उन्हीं को लक्ष्य में रख कर आचार्यों ने भेद किये हैं जिनका विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

भेदक्रम और विवेचन दृष्टि

प्रस्तुत भेद मीमांसा में यद्यपि कुछ आचार्यों ने पूर्वापर क्रम से विवेचन किया है, किन्तु हम अपनी पूर्वाश्रित ऐतिहासिक–दृष्टि को ही प्राथमिकता देते हुए रुद्रट के अनुसार दिये गये भेद-क्रम का अनुसरण करेंगे तथा अपेक्षागत नवीनता का आदर करते हुए विश्व-नाथ तक किये गये भेदों को ही दिखलायेंगे। क्योंकि इनके पश्चात् विवेचन में कोई नवी-नता नहीं आ पाई है। इसी प्रकार प्रत्येक भेद के विवेचन में उत्तरोत्तर आचार्यों की दृष्टि का विचार करते हुए जो पूर्ववर्ती आचार्य की अपेक्षा विशेषता आई होगी, उसी का विवेचन करेंगे, अन्य का नहीं।

रुद्रटकृत शब्दश्लेष के भेद

रुद्रट ने शब्दश्लेष के विद्वानों द्वारा अभिहित निम्न आठ भेद बतलाये हैं:— १-वर्णश्लेष, २-पदश्लेष, ३-लिङ्गश्लेष, ४-भाषाश्लेष, ५-प्रकृतिश्लेष ६-प्रत्ययश्लेष, ७-विभक्तिश्लेष और ८-वचनश्लेष।

इन भेदों की सोदाहरण मीमांसा इस प्रकार है :—

१ —वर्णश्लेष

रुद्रट ने श्लेष का विभाजन करते हुए वर्णश्लेष को प्रथम भेद माना है जिसका लक्षण इस प्रकार है—'जहाँ विभक्ति, प्रत्यय और वर्णों के बल से अनेक रूप वर्णों में एकरूपता आती है वहाँ वर्ण-श्लेष अलङ्कार होता है'।[1] तथा इसका उदाहरण यह दिया है—

साधो विधावपर्तावपराहावास्थितं विषादमितः।
आयासि दानवत्त्वं तद्धर्म्यं परमकुर्वाणः॥ काव्यालंकार ४।४॥

प्रस्तुत पद्य में एक अर्थ-दरिद्र के वर्णन से और द्वितीय अर्थ बाणासुर के प्रति उक्ति से सम्बन्धित है। यहाँ साधौ इस पद में साधि और साधु शब्दों की सप्तमी के एक वचन में विभक्ति के बल से समानता है। इसी प्रकार आस्थित पद में आ-स्थित और आस्था को प्राप्त--आस्थित इन दोनों में एक स्थान पर कृदन्त का प्रत्यय तथा द्वितीय में तद्धित का प्रत्यय होने से समानता आई है। अतः यह 'प्रत्ययगत' और तद्धर्म्य शब्द में तद्-धर्म्य तथा तद्-हर्म्य ऐसा विग्रह है किन्तु सन्धि के कारण वर्णसाम्य हुआ है। अतः वर्णगत बल से यहाँ श्लेष माना जाता है और यही कारण है कि उपर्युक्त तीनों प्रकारों से आये हुए ऐकरूप्य के कारण यहाँ 'वर्णश्लेष' माना गया है। साथ ही उपर्युक्त पद्य में परमकुर्वाणः पद का परम-कुः बाणः ऐसा विभाग भी किया है किन्तु उसके साम्य में कोई वैमत्य नही रखा है। अतः उसकी पुष्टि के लिये नमिसाधु ने यमक, श्लेष और चित्र-अलङ्कारों में ग्राम्य नियमों का उल्लेख भी विशेषरूप से किया है, जो दर्शनीय है।[2]

भोज ने 'शब्द-श्लेष' के छः भेदों की गणना नहीं की है, किन्तु पद श्लेष के

१—यत्र विभक्तिप्रत्ययवर्णवशादेकरूप्यमापतति।
वर्णानां विविधानां वर्णश्लेषः स विज्ञेयः॥ काव्यालङ्कार रुद्रट ४।३॥

२—देखिये काव्यालंकार॥ पद्य का टीकाभाग ४।४।॥

विवेचन में स्पष्ट किया है कि यह 'वर्णश्लेष' भी पदश्लेष ही है और अपने इस कथन की पुष्टि में निम्न उदाहरण दिया है—

त्वमेव देव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् ।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः ॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण २।१६१ ॥

प्रस्तुत पद्य में 'पातालं' पद में पाता और अलं ऐसा पदच्छेद करने पर जो अकार श्लिष्ट दिखाई देता है वह पाश्चात्य उत्तर अक्षर में, और 'चामरमरुद्भूमिः' पद में 'च अमरमरुद्भूमिः' ऐसा पदच्छेद करने पर जो चकार श्लिष्ट प्रतीत होता है वह पूर्वाक्षर में श्लिष्ट होकर ही पद कीं रचना करता है। अतः यहाँ 'पदश्लेष' ही वर्णश्लेष कहा गया है, वस्तुतः यह पृथक् नहीं है। इसी बात को टीकाकार रामसिंहने भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'काश्मीरकों के द्वारा वर्णश्लेष पृथक्रूप से उदाहृत है किन्तु अवयव का अभेद होने पर ही समुदाय बनना सम्भव है और अवयव का भेद रहने पर समुदाय का भेद होना भी निश्चित ही है, अतः पदश्लेष की व्यवस्था में वर्णश्लेष का अन्तर्भाव उचित है। तथा 'पातालं' शब्द में 'पतिचण्डिभ्यामालञ् इस औणादिक सूत्र से आलञ प्रत्यय होता है, अतः यहाँ मध्यवर्ती वर्ण आकार ही है और पूर्वपरयोः इस वचन से भी आकार से भिन्न है। इसी प्रकार चकार का उत्तरवर्ती अकार से भी भेद है।[1]

भोज की यह धारणा नवीन होते हुए भी उत्तरकाल के आचार्यों द्वारा स्वीकृत नहीं हुई है। यही कारण है कि मम्मट ने पुनः 'वर्णश्लेष' की स्वीकृति देते हुए 'अलङ्कारः शङ्काकरनरकपालं,[2] इत्यादि पद्य के चौथे चरण में आये हुए 'विधौ' पद में विधु और विधि शब्द की सप्तमी के एकवचनान्तरूप में उच्चारणसाम्य होने से एकरूपता की जो प्रतीति है वह 'वर्णश्लेष' है ऐसा कहा है। और यही परम्परा उत्तरकाल में श्लेष को शब्दालंकार माननेवाले आचार्यों में प्रवहमान रही है।

विश्वनाथ ने श्लेष के प्रत्येक भेद को—सभङ्ग, अभङ्ग और सभङ्गाभङ्ग—इस प्रकार के तीन उपभेदों से और भी सम्बन्वित होने का सूचन किया है।[3] और अभङ्ग श्लेष को अर्थश्लेष माननेवालों का खण्डन भी प्रसङ्गवश कर दिया है। तदनुसार यह वर्णश्लेष तीन प्रकार का होता है—१-सभङ्गवर्णश्लेष, २-अभङ्गवर्णश्लेष और ३-सभङ्गाभङ्गवर्णश्लेष। इनका उदाहरण-'येन ध्वस्तमनोभवेन'[2] इत्यादि पद्य हैं जिनमें 'येन अभवेन अनः ध्वस्तम्' इस प्रकार का भङ्ग होने से सभङ्ग और 'अन्धकक्षयकरः' पद में बिना भङ्ग के ही दो अर्थों की संगति होने से अभङ्गश्लेष है। तथा इसी प्रकार इन दोनों प्रकारों की एकत्र संगति होने से 'सभङ्गाभङ्ग-श्लेष' होता है।

१—द्रष्टव्य-सरस्वतीकण्ठाभरण- ॥ मूल एवं टीकाभाग पृ० २२५-२६ ॥

२—द्रष्टव्य-काव्यप्रकाश—९।३६९

३—पुनस्त्रिधा सभङ्गो ऽभङ्गस्तदुभयात्मकः ॥ साहित्यदर्पण वहीं, उदा० पद्य १०।१२ ॥

विश्वनाथ के इस त्रिधा भेद पर टिप्पणी करते हुए म० म० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी ने 'त्रिविधोऽप्ययं श्लेषः प्रकृतानेकविषयाप्रकृतानेकविषयप्रकृताप्रकृतानेकविषयभेदैर्भिद्यते'[1] कह कर प्रत्येक के-१-प्रकृतानेकविषय, २-अप्रकृतानेकविषय और ३-प्रकृताप्रकृतानेकविषय-रूप तीन-तीन भेदों का सूचन किया है। इस प्रकार वर्णश्लेष के नौ भेद होंगे। अन्य आचार्यों ने भी सम-विषमरूप में इसी कथन का अनुसरण किया है और कोई अन्य नावीन्य नहीं दिया है।

२ —पदश्लेष

रुद्रट ने पदश्लेष का लक्षण इस प्रकार दिया है—"जिस वाक्य में पदभङ्ग होने पर अनेक प्रकार का विभक्तियोग और समासयोग होता हैं, वहाँ स्फुटरूप से 'पदश्लेष' होता है।[2] तथा उसका उदाहरण इस रूप में दिया है—

सुरतरुलालसगलन्नयनोदकलालसत्कुचारोहम्।
समराजिदन्तरुचिरस्मिते नमदसौ शरीरमदः॥
नवरोमराजितवलिवलय-मनोहरतरसारम्भाः।
धवलयति रोहितानवमद्ध्यानमदाहितस्तनि ते॥

—काव्यालङ्कार ४।५–६॥

यहाँ प्रथमार्थ में कोई चाटुकार अपनी प्रिया से कहता है तथा द्वितीयार्थ में कोई खड्गधारी किसी धनुर्धर को उद्देश्य करके अपने मित्रों से कहता है। अतः दोनों अर्थों की संगति के लिये-'सुरतरु' आदि पूरी अर्धाली का विभाजन-'सुरत-रुत-लालस-गलम्-नयनोदक-लाल-सद्-कुचारोहम्' इस प्रकार किया जाता है, जब कि द्वितीय बार-सुरतरु,-ताल,-अलस-गलन्नय,-नोद,-कला,-लसत्,-कु,-चारः-अहंम्' इस रूप में विभाजन होता है। अतः इन पद भङ्गों में अनेक प्रकार के विभक्ति-योग और समासयोग के बल से वाक्य में एकरूपता आने के कारण यहाँ 'पदश्लेष' माना गया है।

भोज ने शब्दश्लेष के छः भेदों में पदश्लेष को पाँचवा भेद माना है तथा रुद्रट के लक्षण का ही अनुकरण किया है किन्तु 'पद' शब्द की व्यवस्थित परिभाषा देने में अवश्य ही अपना कौशल दिखाया है। उन्होंने शङ्का उठाई है कि-सुबन्त और तिङन्त शब्द की ही पद संज्ञा मानी जाती है और आरम्भ में पूर्वभाग से प्रकृति-श्लेष और 'प्रत्ययश्लेष' कह

१—द्रष्टव्य—साहित्यदर्पण-पृष्ठ ४८९ (टिप्पणभाग)

२—यस्मिन् विभक्तियोग-समासयोश्च जायते विविधः।
पदभङ्गेषु विविक्तो विज्ञेयोऽसौ पदश्लेषः॥ काव्यालंकार-रुद्रट ४।५॥

ही दिया है फिर यह इनके अतिरिक्त 'पदश्लेष' कैसा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भोज ने लिखा है कि यहाँ अभिधानमाला में कहे गये प्रातिपदिक ही पद शब्द से अभिप्रेत हैं। इस तरह यह भेद रुद्रट के समान ही है, किन्तु 'पद' का क्षेत्र इसमें व्यापक बना दिया गया है।[1] मम्मट ने पद श्लेष को यथावद् ग्रहण किया है। विश्वनाथ ने पदश्लेष का उदाहरण 'पृथुकार्तस्वरपात्रं'[2] इत्यादि प्रस्तुत करते हुए इसमें होने वाले पदभङ्ग में 'प्रकृतिश्लेष' भी हो सकता है, ऐसी शङ्का उठाई है। क्योंकि यहाँ पृथुकादि पदों की विभक्ति समास का अङ्ग बन गई है। अतः ये शब्द प्रकृतिरूप ही दिखाई देते हैं। तथा इसका समाधान अर्थ-बोध के लिये पदभङ्ग करने पर विभक्ति और समास की जो विलक्षणता होती है उसी को पदश्लेष का कारण माना है, और वहीं स्पष्ट किया है कि 'यदि प्रकृतिभेद मात्र रहने पर पदश्लेष माना जाय तो जहाँ-जहाँ प्रकृतिश्लेष होगा वहाँ-सर्वत्र पदश्लेष ही होगा और ऐसा होने से प्रकृतिश्लेष का ही उच्छेद हो जायगा, जो कि अभीष्ट नहीं है। अतः 'नीतानामाकुलीभावं'[3] इत्यादि पद्य में आये हुए लुब्ध शिलीमुखादि शब्दों की श्लिष्टता रहते हुए भी वहाँ विभक्ति भेद न होने से 'प्रकृति-श्लेष ही माना गया है। यह पदश्लेष कहीं पदभङ्ग से और कहीं पदभङ्ग के अभाव से भी होता है। यथा—यस्य चेतः प्रियालोके तस्य स्मरकदर्थनम्[4] और तस्य इत्यदि पद्य में यस्य-पद की सिद्धि यत् और तद् शब्द के षष्ठ्यन्त-रूप के अतिरिक्त दिवादिगण-पठित यस् और तस् धातु के लोट्लकार में मध्यम पुरुष के एक वचन के रूप में भी होती है। अतः यहाँ सुबन्त और तिङन्त विभक्ति की विलक्षणता के कारण 'पदश्लेष' माना गया है।

यह भेद भी सभङ्ग, अभङ्ग, सभङ्गाभङ्ग और उनके प्रकृतानेक-विषय, अप्रकृतानेक-विषय तथा प्रकृताप्रकृतानेक-विषयगत भेदों के कारण नौ प्रकार का हो सकेगा।

३—लिङ्गश्लेष

रुद्रट के अनुसार लिङ्गश्लेष का लक्षण निम्नलिखित है—जहाँ दीर्घ के ह्रस्व हो जाने से या ह्रस्व के दीर्घ हो जाने तथा समास के कारण स्त्रीलिङ्ग, पुंलिङ्ग और नपुंसकलिङ्गी शब्दों की अरूपता होती है, वहाँ लिङ्गश्लेष होता है।[5] जैसे—

देवी मही कुमारी पद्मानां भावनी रसहारो।
सुखनी राज तिरोऽहितमहिमानं तस्य सद्धारी ॥ काव्यालङ्कार ४।६ ॥

१—द्रष्टव्य-सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० २२५-२६
२—द्रष्टव्य-साहित्य दर्पण पृ० ४३५
३—वहीं पृ० ४८७
४—वही, रामचरण तर्कवागीश की वृत्ति पृ० ४८७ साहित्यदर्पण
५—स्त्रीपुंनपुंसकानां शब्दानां भवति यत्र सारूप्यम्।
लघुदीर्घत्व समासैलिङ्गश्लेषः स विज्ञेयः ॥ काव्यालंकार-रुद्रट ४।८ ॥

यहां प्रथम अर्थ किसी राजा को लक्ष्य करके और द्वितीय अर्थ पृथ्वी की प्रशंसा में है। अतः इसमें प्रयुक्त देवी शब्द का पहला अर्थ राजा के पक्ष में पुंलिङ्गी होकर 'दीव्यतीति देवी क्रीडारत हुआ है जब कि द्वितीय अर्थ पृथ्वी के पक्ष में स्त्रीलिङ्गी होकर पूज्यार्थ में प्रयुक्त है अतः देवी शब्द से देविन् शब्द का दीर्घत्व और देवी का दीर्घत्व समान है। तथा रसाहारी पद में प्रथम पक्ष में रसां-पृथ्वी आहरतीति रसाहारी अथवा रसैः :मधुरादिभिः आहरतीति रसाहारी और द्वितीय पक्ष में रसान् जलादीन् आहरति गृह्णातीति इस प्रकार उपपद समास के कारण लिङ्ग परिवर्तन होने पर भी एकरूपता रहने से 'लिङ्गश्लेष' माना गया है।

भोज लिङ्गश्लेष को भी 'प्रकृतिश्लेष के अन्तर्गत मानते हैं और--

कुवलयदलद्युतासौ, दृशा च वपुषा च कं न दर्शयते।
अधरीकृतप्रवालश्रियाङ्घ्रिणास्येन च नतभ्रूः॥

सरस्वतीकण्ठाभरण २।१५३॥

इस पद्य को उदारहण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यहाँ शङ्का गयी है कि 'कुवलयदलद्युता और अधरीकृतप्रवालश्रिया' इन पदों में प्रकृति भाग पृथक् नहीं होता है ऐसी स्थिति में लिङ्ग श्लेष को प्रकृतिश्लेष कैसे माना जाय ? इसका उत्तर देते हुए टीकाकार का कथन है कि 'आविष्टलिङ्गद्वय और विशेष्यलिङ्गद्वय के सामीप्य से अनाविष्टलिंगी विशेषण अवश्य ही उभयलिङ्गी ही होता है तथा-पञ्चक प्रातिपदिकार्थ के पक्ष में विभक्तिद्योतिका रहती है और लिङ्ग भेद से विभिन्न होने पर विशेषण तथा प्रकृति परस्पर संश्लिष्ट हो जाते है।[1] इस भेद के सम्बन्ध में मम्मटादि अन्य आचार्यों ने केवल परम्परा-निर्वाह ही किया है और यह पूर्ववत् उपभेदों में भी देखा जा सकता है।

भाषाश्लेष

रुद्रट ने भाषाश्लेष का लक्षण इस प्रकार दिया है—जहाँ कवि के द्वारा जितने अर्थ विवक्षित हों, वे विभिन्न भाषा में प्रयुक्त होने पर भी स्पष्टरूप में एक समान ही उच्चरित होते हों, वहाँ भाषाश्लेष होता है।[2] यह श्लेष विविधभाषाओं के प्रयोग के कारण पाँच प्रकार का माना गया है—

१—संस्कृत-प्राकृतभाषा श्लेष, २-संस्कृत-मागधी-भाषा-श्लेष, ३-संस्कृत-पिशाच-

---

१-सरस्वती कण्ठाभरण पृ० २२२ टीका भाग

२-यस्मिन्नुच्चार्यन्ते सुव्यक्तविविक्तभिन्नभाषाभिः। वाक्यानि यावदर्थं भाषाश्लेषः स विज्ञेयः॥
—काव्यालङ्कार, रुद्रट ४।१०॥

भाषा श्लेष, ४-संस्कृत-सूरसेनी-भाषा-श्लेश तथा ५-संस्कृत-अपभ्रंशभाषा-श्लेष । इनके उदाहरण[1] क्रमशः इस प्रकार हैंः—

१—संस्कृत-प्राकृत-भाषा-श्लेष

'सरसबलं सहि सूरो संगामे माणवं धुरसहावम्'-इत्यादि पद्य का प्रथम अर्थ संस्कृतभाषा की दृष्टि से होता है जब कि द्वितीय अर्थ के लिये इसी को प्राकृत भाषा का पद्य मान कर इसकी संस्कृत में 'शरशबलं सति शूरो संग्रामे मानबन्धुरस्वभावम्' इत्यादि छाया बनाकर अर्थ किया जायगा । इस प्रकार एक ही पद्य में दो भाषाओं का प्रयोग होने से इसे 'संस्कृत-प्राकृत-भाषाश्लेष' माना गया है ।

२—संस्कृत-मागधी-भाषा-श्लेष

'कुललालिलावलोलं शलिलेशे' इत्यादि पद्य का पहला अर्थ संस्कृतभाषा की दृष्टि से होता है जब कि द्वितीय अर्थ के लिये इसी को मागधीभाषा का पद्य मानकर इसकी संस्कृत में 'कुररालिरावरोलं सलिलं तत्' इत्यादि छाया बनाकर अर्थ किया जाएगा । इस प्रकार एक ही पद्य में उक्त दो भाषाओं का प्रयोग होने से इसे 'संस्कृत-मागधी-भाषा-श्लेष' माना गया है ।

३—संस्कृत-पिशाच-भाषा-श्लेष

'कमनेकतनादानं सुरतनरजंतु च्छलं तदासीनम्' इत्यादि पद्य का पहला अर्थ संस्कृत-भाषा की दृष्टि से होता है, जब कि द्वितीय अर्थ के लिये इसी को पिशाचभाषा का पद्य मान कर इसकी संस्कृत में 'कामे कृतामोदानां सुवर्णरजतोच्छलद्दासीनाम्' इत्यादि छाया बनाकर अर्थ किया जायगा । इस प्रकार एक ही पद्य में उक्त दो भाषाओं का प्रयोग होने से इसे 'संस्कृत-पिशाचभाषा-श्लेष' माना गया है ।

४—संस्कृत-सूरसेनी-भाषा-श्लेष

'तोदी सदिगगणमदो कलहं स सदा बलं विदन्तरिदम्' इत्यादि पद्य का पहला अर्थ संस्कृत भाषा की दृष्टि से होता है, जब कि दूसरा अर्थ सूरसेनी भाषा का पद्य मानकर इसकी संस्कृत में 'ततो दृश्यते गगनमदः कलहंसशतावलम्बितान्तरिम्' इत्यादि छाया बनाकर अर्थ किया जायगा । इस प्रकार एक ही पद्य में उक्त दो भाषाओं का प्रयोग होने से इसे 'संस्कृत-सूरसेनी-भाषाश्लेष' माना गया है ।

५—संस्कृत-अपभ्रंश-भाषा-श्लेष

'धीरागच्छदुमे हतमुदुद्धरवारिसदःसु'-इत्यादि पद्य का पहला अर्थ संस्कृत भाषा की दृष्टि

१—विस्तारभय से उदाहरणों का यहाँ संकेत मात्र किया जा रहा है । पूरे उदाहरण के लिये रुद्रट के काव्यालङ्कार में चतुर्थ अध्याय के ११ वें पद्य से क्रमशः देखिये ।

से होता है, जब कि दूसरे अर्थ के लिये इसी को अपभ्रंश भाषा का पद्य मान कर इसकी संस्कृत में 'धीरा गच्छतु मेघतमो दुर्धरवार्षिकदस्यु' इत्यादि छाया बनाकर अर्थ किया जायगा। इस प्रकार एक ही पद्य में उक्त दो भाषाओं का प्रयोग होने से 'संस्कृत-अपभ्रंशभाषा-श्लेष' माना गया है।

इस भाषाश्लेष में अनेक अर्थों की प्राप्ति के लिये अनेक भाषाओं का प्रयोग होना आवश्यक है। यही कारण है कि 'भाषासम' नामक अलङ्कार से पृथक् माना गया है। क्यों कि वहाँ केवल भाषाओं की एकरूपता रहती है और अर्थ में भेद नहीं रहता। किन्तु रुद्रट ने 'भाषासम' को भी अन्य प्रकार का श्लेष मानते हुए विवेचन किया है, जो इस प्रकार है—

भाषा-श्लेष के अन्य प्रकार

रुद्रट ने उपर्युक्त भाषाश्लेष के अतिरिक्त 'बहुत भाषाओं के प्रयोग से एक ही अर्थ को बतानेवाले एक अन्य भाषाश्लेष का लक्षण इस प्रकार दिया है—जहाँ एक ही वाक्य में अनेक भाषाओं का प्रयोग किया जाता है (किन्तु अर्थ एक ही रहता है) वहाँ विद्वानों को यह दूसरे प्रकार का 'भाषाश्लेष' जानना चहिए।[1] इस दृष्टि से यह शुद्ध पाँच प्रकार का और संकीर्ण बावन ५२ प्रकार का बतलाया है, जिनका क्रमशः विवेचन इस प्रकार है—

१—समसंस्कृतप्राकृतभाषाश्लेष

'समरे भीमारम्भं विमलासु कलासु सुन्दरं सरसम्'-इत्यादि पद्य में 'समरे' आदि पद जिस रूप में संस्कृत में प्रयुक्त हैं उसी रूप में प्राकृत भाषा में भी व्यवहृत हैं और अर्थ में भी कोई विषमता नहीं आई है,। अतः यहाँ दो समानभाषाओं के शब्द-प्रयोग से एक अर्थ की उपलब्धि होने के कारण 'समसंस्कृत-प्राकृत-भाषाश्लेष' माना गया है।

२—समसंस्कृतमागधीभाषाश्लेष

शूलं शूलन्तु शं वा' इत्यादि पद्य में 'शूलं शूलन्तु' आदि पद जिस रूप में संस्कृत में प्रयुक्त है उसी रूप में मागधी भाषा में प्रयुक्त हैं और अर्थ में भी कोई विषमता नहीं आने पाई है, अतः यहाँ दो समान भाषाओं के शब्द-प्रयोग से एक अर्थ की उपलब्धि होने के कारण 'सम-संस्कृतमागधी-भाषाश्लेष' माना गया है।

३—समसंस्कृतपिशाचभाषाश्लेष

'चम्पककलिकाकोमलकान्तिकपोलाथ दीपिकानङ्गी' इत्यादि पद्य में चम्पक, कलिका

१—वाक्यं यत्रैकस्मिन्ननेकभाषानिबन्धनं क्रियते। अयमपर–विद्वद्भि[३] र्भाषाश्लेषोऽत्र विज्ञेयः॥
——काव्यालङ्कार-रुद्रट ।४।१६

आदि पद जिस रूप में संस्कृत में प्रयुक्त हैं उसी रूप में पिशाचभाषा में प्रयुक्त हैं और अर्थ में भी कोई विषमता नहीं आने पाई है, अतः यहाँ दो समान भाषाओं के शब्दप्रयोग से एक अर्थ की उपलब्धि होने के कारण 'समसंस्कृत-पिशाचभाषाश्लेष' माना गया है।

४—समसंस्कृतसूरसेनीभाषाश्लेष

'अधरदलं ते तरुणा' इत्यादि पद्य में 'अधरदलं' आदि जिस रूप में संस्कृत में प्रयुक्त हैं उसी रूप में सूरसेनी भाषा में भी प्रयुक्त हैं और अर्थ में भी विषमता नहीं आने पाई है, अतः यहाँ दो समान भाषाओं के शब्द प्रयोग से एक अर्थ की उपलब्धि होने के कारण 'समसंस्कृतसूरसेनीभाषाश्लेष' माना गया है।

५—समसंस्कृत अपभ्रंशभाषाश्लेष

'क्रीडन्ति प्रसरन्ति मधु' इत्यादि पद्य में 'क्रीडन्ति' आदि पद जिस रूप में संस्कृत में प्रयुक्त हैं उसी रूप में अपभ्रंशभाषा में भी प्रयुक्त हैं और अर्थ में भी विषमता नहीं आने पाई है, अतः यहाँ दो समान भाषाओं के शब्द-प्रयोग से एक अर्थ की उपलब्धि होने के कारण 'समसंस्कृत-अपभ्रंश-भाषाश्लेष' माना गया है।

इस प्रकार इन पांच शुद्ध भेदों में प्रयुक्त पद्धति का ही अनुसरण करते हुए अन्य प्राकृतादि भाषाओं का परस्पर मिश्रण करने से तथा दो भाषाओं के अतिरिक्त तीन चार, पाँच और छः भाषाओं के योग से निम्न भेद बनते हैं:—[१]

(क) द्विभाषायोगजनित दस भेद

१–प्राकृत भाषा का मागधिका के साथ
२–प्राकृत भाषा का पैशाची के साथ
३–प्राकृत भाषा का सूरसेनी के साथ
४–प्राकृत भाषा का अपभ्रंश के साथ
५–मागधी भाषा का पैशाची के साथ
६–मागधी भाषा का सूरसेनी के साथ
७–मागधी भाषा का अपभ्रंश के साथ
८–पैशाचीभाषा का सूरसेनी के साथ
९–पैशाची भाषा का अपभ्रंश के साथ
१०–सूरसेनी भाषा का अपभ्रंश के साथ

(ख) त्रिभाषायोगजनित बीस भेद

१–संस्कृत का प्राकृत और मागधी के साथ
२–संस्कृत का प्राकृत और पैशाची के साथ
३–संस्कृत का प्राकृत और सूरसेनी के साथ
४–संस्कृत का प्राकृत और अपभ्रंश के साथ
५–प्राकृत का मागधी और पैशाची के साथ
६–प्राकृत का मागधी और सूरसेनी के साथ
७–प्राकृत का मागधी और अपभ्रंश के साथ
८–मागधी का पैशाची और सूरसेनी के साथ
९–मागधी का पैशाची और अपभ्रंश के साथ
१०–पैशाची का सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ

१—एवं सर्वासामपि कुर्वीत कविः परस्परश्लेषम्।
अनयैव दिशा भाषास्त्र्यादी रचयेद्यथाशक्ति ॥ काव्यालङ्कार,-रुद्रट ४।२२॥

११--संस्कृत का मागधी और पैशाची के साथ १२–संस्कृत का मागधी और सूरसेनी के साथ
१३ संस्कृत का मागधी और अपभ्रंश के साथ १४–प्राकृत का पेशाची और सूरसेनी के साथ
१५--प्राकृत का पैशाची और अपभ्रंश के साथ १६–प्राकृत का सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ
१७–संस्कृत का पैशाची और सूरसेनी के साथ १८–संस्कृत का पेशाची और अपभ्रंश के साथ
१९–प्राकृत का सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ २०–संस्कृत का सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ

(ग) चतुर्भाषायोगजनित पन्द्रह भेद

१–संस्कृत का प्राकृत, मागधी और पैशाची के साथ
२–संस्कृत का प्राकृत, मागधी और सूरसेनी के साथ
३–संस्कृत का प्राकृत, मागधी और अपभ्रंश के साथ
४–प्राकृत का मागधी, पैशाची और सूरसेनी के साथ
५–प्राकृत का मागधी, पैशाची और अपभ्रंश के साथ
६–मागधी का पैशाची, सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ
७–संस्कृत का मागधी, पैशाची और सूरसेनी के साथ।
८–संस्कृत का मागधी, पैशाची और अपभ्रंश के साथ
९–संस्कृत का पैशाची, सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ
१०–प्राकृत का पैशाची, सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ
११–संस्कृत का प्राकृत, सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ
१२–संस्कृत का मागधी, सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ
१३–संस्कृत का प्राकृत, पैशाची और सूरसेनी के साथ
१४–संस्कृत का प्राकृत, पैशाची और अपभ्रंश के साथ
१५–प्राकृत का मागधी, सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ।

(घ) पञ्चभाषायोगजनित छः भेद

१–संस्कृत का प्राकृत, मागधी, पैशाची और सूरसेनी के साथ।
२–संस्कृत का प्राकृत, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश के साथ।
३–संस्कृत का मागधी, पैशाची, सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ।
४–संस्कृत का प्राकृत, पैशाची, सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ।
५–संस्कृत का प्राकृत, मागधी, सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ।
६-प्राकृत का मागधी, पैशाची, सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ।

(ङ) षड्भाषायोगजनित एक भेद

१—संस्कृत का प्राकृत, मागधी पैशाची, सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ—

इस भाषा-षट्क की समानता का उदाहरण इस प्रकार है:—

अकलङ्ककुल कलालय बहुलीलालाल विमलबाहुवल ।
खलमौलिकील कोमल मञ्जलकमलालललाम लल ॥ काव्यालङ्कार ४।२३॥

यहाँ एक ही अर्थ में उपर्युक्त छः भाषाओं के शब्दों का प्रयोग होने से 'समभाषा षट्क श्लेष' माना गया है ।

भोज ने भाषाश्लेष को शब्दश्लेष का छठा भेद दिखलाया है, किन्तु रुद्रट के उपर्युक्त विस्तार के कारण ही सम्भवतः उन्होंने इस भेद का कोई विस्तृत वर्णन नहीं किया है । तथा मम्मटादि अन्य अलङ्कारिकों ने रुद्रट के पूर्वोक्त शुद्ध भेदों को ही स्वीकार किया है । किन्तु विश्वनाथ ने भाषाओं की समानता से होने वाले ऐसे अलङ्कार को 'भाषाश्लेष' न मानकर स्वतन्त्ररूप से 'भाषासम' शब्दालङ्कार की संज्ञा दी है और उसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

शब्दैरेकविधैरेव, भाषासु विविधास्वपि ।
वाक्यं यत्र भवेत् सोऽयं, भाषासम इतीष्यते ॥ साहित्यदर्पण १०।३ ॥

अर्थात् विविधभाषाओं के एक शब्दों के द्वारा बने हुए वाक्य जहाँ हो, वहाँ भाषासम' नामक अलङ्कार होता है । तथा इसका उदाहरण 'मंजुलमणिमंजीरे' इत्यादि पद्य दिया है, जो पूर्वोक्त छः भाषाओं के समान शब्दों से निर्मित है । यहाँ लक्षण में प्रयुक्त 'वाक्य' पद को ही इस अलङ्कार का प्रमुख गुण सिद्ध करते हुए विश्वनाथ ने 'सरसं कहण कव्व' इत्यादि में 'सरसं' पद की संस्कृत और प्राकृत में समानता रहने पर भी वाक्यगतता का अभाव होने से वैचित्र्याभाव के कारण उक्त अलङ्कार न होने का सूचन किया है । इस प्रकार 'भाषासम' अलङ्कार की शब्दालङ्कारों में सृष्टि विश्वनाथ की मौलिक देन है । अन्य आचार्यों ने इस पर विचार नहीं किया है ।

यही 'भाषासम-शब्दालङ्कार' उत्तरकाल में शास्त्रनिर्दिष्ट भाषाओं के अतिरिक्त हिन्दी आदि अन्य भाषाओं में भी प्रयुक्त हुआ है और इस प्रकार इस अलङ्कार ने भी शब्दालङ्कार में अपना स्थान सुरक्षित कर लिया है ।

भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने इस दृष्टि से दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनमें हिन्दी-भाषा और जयपुरीय-हिन्दी-भाषा की समानता का निर्वाह हुआ है । यथा—

क—संस्कृत-हिन्दीभाषासम

हे शंकर आनन्दकर, सदा सु मंगल चार ।
मानसिंह भूपाल कै, अब कर जय जय कार ॥
—जयपुर-वैभव, चित्रचत्वर १९ ॥

यहाँ इस पद्य के पठन से यह हिन्दी भाषा का पद्य ज्ञात होता है तथा इसके कतिपय पदों को साथ मिलाकर पढ़ने से यही संस्कृतमय हो जाता है, अतः उक्त अलङ्कार है।

ख—संस्कृत-जयपुरीय-हिन्दीभाषासम

विघ्न हरण मंगल करण, नमो नमो महाराज।
अब वांछा पूरण करो, देवो बुद्धि दराज ॥ वहीं २२ ॥

यहाँ जयपुर (राजस्थान) में बोली जाने वाली हिन्दी के आधार पर यह पद्य बना हुआ है जो कतिपय पदों के साथ मिलाकर संस्कृतमय बन जाता है, अतः उक्त अलङ्कार है।

५—प्रकृतिश्लेष

रुद्रट ने प्रकृतिश्लेष का लक्षण इस प्रकार दिया है 'जहां (व्याकरण शास्त्र के) प्रत्ययों, आगमों और उपपदों से ही प्रकृति के नाना प्रकारों की समानरूपता सिद्ध होती है उसे 'प्रकृतिश्लेष' जानना चाहिये।[1] जैसे—

परहृदयविदसुरहितप्राणनमत्काव्यकृत्सुधारसनुत्।
सौरमनारं कलयति सदसि महत्कालचित्सारम् ॥ काव्यालङ्कार ।४।२५।

यहाँ 'परहृदयविद्' आदि पदों में जो 'विद्' शब्द है उसकी प्रकृति 'व्याधि' और 'विद्' धातुरूप भिन्न है किन्तु दोनों धातुओं से क्विप् प्रत्यय समान रूप से हुआ है और परहृदय उपपद भी समान ही है किन्तु अर्थ भेद है। इसी प्रकार 'कालचित्' पद में एक स्थान पर काले-कार्यकरणसमये-चित्-चैतन्यं ज्ञानं यस्य तत् कालचित्' और द्वितीय स्थान पर 'कालानां समूहः कालं, कालं चिनोत्यर्जयतीति कालचित्' इस प्रकार का अर्थ लाने के लिये अत् का अन्तागम आदि वही है किन्तु अर्थ में भेद हो गया है। अतः यहाँ 'प्रकृतिश्लेष' माना गया है।

मूल लक्षण में आए हुए 'अनन्य' शब्द का अर्थ टीकाकार ने इस रूप में स्पष्ट किया है 'न अस्य अन्यः अस्तीति-अनन्यः अर्थात् उसका अन्य कोई नहीं है ऐसा अनन्य और 'अन्यागमाभावादन्यः' अर्थात् अन्य आगम का अभाव होने से अनन्य। 'इस स्पष्टीकरण से कालचित् पद में एक विग्रह पर अत् का अन्तागम होने से तथा द्वितीय विग्रह में अन्तागम का अभाव रहने पर भी कोई विरोध नहीं आता।

१—सिद्धयति यत्रानन्यैः, सारूप्यं प्रत्ययागमोपपदैः। प्रकृतीनां विविधानां प्रकृतिश्लेषः स विज्ञेयः ॥ काव्यालङ्कार ४।२४ ॥

२—यत्र प्रकृतिप्रत्ययसमुदायानां भवत्यनेकेषाम्।
सारूप्यं प्रत्ययतः स ज्ञेयः प्रत्यश्लेषः ॥ काव्यालङ्कार-रुद्रट ४।२६ ॥

भोज ने इस भेद को शब्दश्लेष के भेदों में प्रथम-स्थान दिया है किन्तु अन्य कोई नवीनता नहीं दिखलाई है। उत्तरकाल के आचार्यों में यह भेद यथावत् स्वीकृत हुआ है किन्तु विश्वनाथ ने इसकी पदश्लेष से स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की है जिसका विवेचन किया जा चुका है।

६—प्रत्ययश्लेष

रुद्रट ने प्रत्ययश्लेष का लक्षण इस प्रकार दिया है-'जहाँ अनेक प्रकृति-प्रत्ययों के समुदायों का प्रत्ययों के कारण सारूप्य होता है वहाँ 'प्रत्ययश्लेष' होता है।[१] जैसे—

तापमनमाजं पावनमारं हारं पराप दासेयः।
कारं चारणमाहितमाज दरं साधनं बहुशः ॥ वहीं ४।२७ ॥

यहाँ 'तापनमाजं' आदि पदों में प्रथमार्थ 'तापयतीति तापनम, अज्यतेऽनेनेति आजयतीति वा आजम्' इत्यादि ग्रहण किया जाता है जब कि द्वितीयार्थ के लिये–तपनस्येमं तापनं और अजस्येमं आजम्' इत्यादि ग्रहण किया जाता है। अतः इन शब्दों के रूपों में प्रत्यय के वश प्रकृति और प्रत्यय के समुदायों की समानरूपता है। इसलिये यहाँ 'प्रत्ययश्लेष' माना गया है।

भोज ने 'प्रत्ययश्लेष' को शब्दश्लेष का दूसरा भेद माना है और इसके दो भेद किये हैं १-सोद्भेद और २-निरुद्भेद इनके उदाहरण इस प्रकार हैं।

क—सोद्भेद अव्ययश्लेष

तस्थौ विनापि हारेण, निसर्गादेव हारिणौ।
जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ ॥ स० क० २।१५४ ॥

यहाँ 'हारिणौ' पद में 'हारवन्तौ' अर्थ की उपलब्धि मत्वर्थीय इनि प्रत्यय से होती है तथा 'मनोहारिणौ' अर्थ की उपलब्धि आवश्यकार्थक णिनि प्रत्यय से होती है। इस प्रकार यहाँ इनि और णिनि प्रत्यय की एकरूपता रहने पर भी 'विनापि हारेण' इन पदों की उक्ति से मत्वर्थीय इनि प्रत्ययजनितार्थ की प्रतीति शीघ्र हो जाती है। अतः यह 'सोद्भेद' माना गया है। टीकाकार ने इसकी व्याख्या 'तद्वाक्यस्थ-शब्दान्तरप्रकाशितः सोद्भेदः' की है जो उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है।

ख—निरुद्भेद प्रत्ययश्लेष—

त्वदुद्धृतामयस्थानरूढव्रणकिणाकृतिः।
विभासि हरिणीभूता, शशिनो लाञ्छनाकृतिः ॥ वहीं २।१५५ ॥

१—सारूप्यं यत्र सुपां तिङां तथा सर्वथा मिथो भवति। सोऽत्र विभक्तिश्लेषः।
—काव्यालङ्कार-रुद्रट ॥ ४।२८ ॥

इसमें 'हरिणीभूता' पद में च्वि और ङीप् प्रत्यय की तुल्यरूपता है किन्तु इन दोनों प्रत्ययों का भेदक कोई वाक्यस्थ शब्दान्तर प्रकाशित नहीं है, अतः यहाँ 'निरुद्भेद-प्रत्यय-श्लेष' है। भोज का यह सूक्ष्म विवेचन अपने ढंग का अनूठा है। मम्मटादि अन्य आचार्यों ने रुद्रट का ही अनुसरण किया है।

७—विभक्तिश्लेष

रुद्रट ने विभक्तिश्लेष का लक्षण इस प्रकार दिया है—'जहाँ सुबन्त और तिङन्त की परस्पर सब प्रकार से समानरूपता होती है, वहाँ विभक्तिश्लेष जानना चाहिये।[१] जैसे—

आयामो दानवतां सरति बले जीवतां न नाकिरताम्।
नयदानवांल्ललामः किमभूरसि दारुणः सहसा ॥ ४।२६ ॥

यहाँ 'आयामः, दानवतां' आदि पद सुबन्त और तिङन्त के रूप में भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी स्वरूप में समान हैं। अतः यहां 'विभक्तिश्लेष' माना गया है।

भोज ने इस भेद को शब्द-श्लेष का तीसरा भेद मानते हुए १-भिन्नजातीय और -अभिन्न जातीय विभक्तियों का श्लेष कहकर दो प्रकार का माना है।

क—भिन्नजातीय सुपतिङ् विभक्तिश्लेष

विषं निजगले येन, बभ्रे च भुजगप्रभुः।
देहे येनाङ्गजो दध्रे, जाया च स जयत्यजः ॥ स० क० २।१५६ ॥

यहाँ 'येन विषं निजगले' और 'भुजगप्रभुश्च निजगले बभ्रे' इत्यादि पदों में प्रथम निजगले पद लिङ् लकार के प्रथम पुरुष का एकवचन हैं और द्वितीय निजगले पद में गल-शब्द की सप्तमी का एकवचन है किन्तु दोनों के एकरूप होकर विभिन्नार्थक होने से यहां तिङन्त और सुबन्तरूप भिन्न-जातीय 'विभक्तिश्लेष' माना गया है।

ख—अभिन्नजातीयसुब्विभक्तिश्लेष

इस भेद में सुबन्तविभक्ति का सुबन्त विभक्ति के साथ श्लेष होने पर एक भेद और तिङन्त का तिङन्त के साथ श्लेष होने पर दूसरा भेद होता है। इनमें पहले भेद का उदाहरण इस प्रकार है—

त्वमेव धातुः पूर्वोऽसि, त्वमेव प्रत्ययःपरः।
अनाख्यातं न ते किञ्चिचन्नाथ केनोपमीयसे ॥ वहीं २।१५७ ॥

२—सरस्वती कण्ठाभरण २।१५६ ॥
४—वहीं पृष्ठ २२४ टीकाभाग।

यहाँ धातुः पद में प्रथमान्त और षष्ठ्यन्त का एकरूप है किन्तु अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, अतः यहां 'अभिन्न-जातीय-सुब्विभक्ति-श्लेष' है।

३—अभिन्न-जातीय-तिङ् विभक्ति-श्लेष

माद्यन्तु नाम कवयस्तथापि विदितश्रमाः।
वेद विद्या पतिर्वाचामहं वाचोरिवान्तरम्॥ वहीं, टीकाभाग

यहाँ 'वेद' क्रिया में प्रथम और उत्तम पुरुष के एकवचनों का श्लेष होने से 'तिङ्-विभक्ति-श्लेष' है।

मम्मटादि ने ऐसे भेदों का विचार न करते हुए केवल रुद्रट की परम्परा का निर्वाह किया है।

८—वचन-श्लेष

रुद्रट ने वचन-श्लेष का लक्षण इस प्रकार दिया है—'जहाँ सुबन्त और तिङन्त शब्दों के वचनों में परस्पर समानरूपता हो, वहाँ 'वचन-श्लेष' समझना चाहिये।[1] जैसे—

आर्योऽसि तरोमाल्यः सत्योऽनतकुक्षयः स्तवावाच्यः।
सन्नाभयो युवतयः सन्मुख्यः सुनयना वन्द्यः॥ काव्यालङ्कार ४।३०॥

यहां 'आर्योऽसि तरोमाल्यः' आदि पदों का पहला अर्थ एकवचन से सम्बन्ध रखता है जब कि द्वितीय अर्थ में 'अरिसक्ताः आर्य, असितरोमाली यासां ताः असितरोमाल्यः' आदि रूप में बहुवचन से सम्बन्ध रखता है। अतः यहाँ एकवचनान्त और बहुवचनान्त शब्दों की समानरूपता होने से 'वचनश्लेष' माना गया है।

भोज ने वचन श्लेष को शब्द-श्लेश का चौथा प्रकार मानते हुए इसके १-सोद्भेद और २-निरुद्भेद नामक दो भेद माने हैं। जिनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

क—सोद्भेदवचन श्लेष

प्राज्यप्रभावः प्रभवो, धर्मस्यास्तरजस्तमाः।
मुक्तात्मा नः शिवं नेमिरन्येऽति ददतां जिनाः॥ स० क० २।१५८॥

यहाँ नेमिः और अन्येऽपि पदों में एक वचन और बहुवचन के द्वारा, ददताम् पद में तिङन्त का और 'प्राज्यप्रभावः प्रभवः' पदों में सुबन्त एकवचन और बहुवचन का श्लेष परस्पर श्लिष्टपदों की विभक्ति से स्पष्ट हो जाता है, अतः 'सोद्भेदवचनश्लेष' माना गया है।

१—वचनश्लेषस्तु वचनानाम्। काव्यालंकार रुद्रट ४।२८

ख—निरुद्भेद-वचन-श्लेष

तनुत्वरमणी यस्य, मध्यस्य च भुजस्य च।
अभवन्नितरां तस्या, वलयः कान्तिवृद्धये ॥ वहीं २।१५६॥

यहाँ 'अभवन्' और 'वलयः' पदों में तिङन्त और सुबन्त के एक वचन तथा बहुवचन के श्लेष का पद्य के अन्तर्गत अन्य पदों के द्वारा उद्भेद न होने से निरुद्भेद-वचन श्लेष माना गया है।

भोज के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने ऐसे भेदों को कोई प्रश्रय नहीं देते हुए रुद्रट की परम्परा का ही निर्वाह किया।

अभंगश्लेष

मम्मट ने अभङ्ग श्लेष को पृथक् से नवम भेद मानने का सूचन किया है, किन्तु अन्य विश्वनाथ प्रभृति आचार्य पूर्वोक्त आठों भेदों में सभङ्ग, अभङ्ग और सभङ्गाभङ्ग भेद मानते हैं। अतः इसे स्वतन्त्र भेद न मानकर उन भेदों में ही माना उचित प्रतीत होता है।

श्लेष : मूल्याङ्कन एवं उपलब्धि

साहित्य शब्द और अर्थ के द्वारा मन को प्रभावित करता है और यह प्रभाव रसास्वादजन्य माना गया है। रसास्वाद के लिये शब्द का बाह्य सौन्दर्य अपेक्षित है जब कि बाह्य सौन्दर्य की सृष्टि अक्षर-योजनारूप मोहिनी पर ही निर्भर है। अक्षर-योजना साम्य के द्वारा मुखरित होती है और वह साम्य 'रूपसाम्य' अथवा 'धर्म-साम्य' के रूप में दो प्रकार का है। इसमें शब्द का रूप-साम्य जब अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप को छोड़कर एकाकार बन जाता है तो वह विस्मय की सीमा में आ जाता है। वही विस्मयता अन्य समानार्थक पद की स्थापना में विलुप्त हो जाती है, अतः शब्द के ध्वनिगत सौन्दर्य को अक्षुण्ण रखते हुए अर्थ की गम्भीरता को भी अपने में आवर्जित करना अद्भुत-रस का अनुभव कराता है। यह कार्य 'श्लेष' के द्वारा सहज सम्भव हो जाता है।

'श्लेष' को विद्वानों ने 'ध्वन्यर्थ-मूलक' के साथ-साथ 'गोपन-मूलक' अलङ्कार माना है। भाव-सङ्गोपन से जिज्ञासा बढ़ती है और कौतूहल की अभिवृद्धि होती है। कथन में भाव संकोच और मनन में भाव विस्तार इस अलङ्कार की भूमिका में निहित हैं। अर्थबोध के पश्चात् होनेवाली आनन्दानुभूति से वर्ण-रहस्य का संज्ञान हृदय को चमत्कृत करने में पूर्ण सहायक होता है। इस दृष्टि से इस अलङ्कार को 'वैचित्र्य-मूलक' भी माना जा सकता है। एक शब्द में एकाधिक अर्थों की प्रतीति लक्षणा, व्यञ्जना और ध्वनि के माध्यम से भी उपलब्ध हो जाती है, फिर इस अलङ्कार को स्वतन्त्र मानने में क्या हेतु है? इस प्रश्न का उत्तर 'शब्द-शक्ति के आधार पर शुद्ध श्लेष की सत्ता प्रदर्शन के लिये है'। क्यों कि

लक्षणादि के सहारे श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग तो प्राय: सभी अलङ्कारों में होता है, किन्तु शुद्ध श्लेष केवल अभिधा के आधार पर ही अनेक अर्थों का बोध कराने में समर्थ होता है। अत: इसकी पृथक् सत्ता विचार-सम्मत है।

यह श्लेष 'जतुकाष्ठन्याय' और 'एकवृन्तगत फलद्वन्ययाय' पर आश्रित होने के कारण 'न्यायमूलक' भी माना जा सकता है। साहित्य और व्याकरण की सन्धि-स्थली पर श्लेष का विलास अपनी अनेकरूपता को उर्वरित करता है। प्रौढ-पाण्डित्य का प्रसाद और गागर में सागर भर देने की किंवदन्ती को कृतार्थ करने में यह अलङ्कार अग्रसर रहता है। यमक से इसका वैशिष्ट्य इसलिये है कि इसमें किये गये शब्दों का व्यवहार एक ही बार होता है तथा उस एक बार प्रयुक्त शब्द में भी अनेकार्थकता निहित हो। यह दूसरे अलङ्कारों का अंगी भी हो सकता है और स्वतन्त्र भी रह सकता है यह गुण अर्थश्लेष में नहीं रहता।

श्लेष के लक्षण-विकास का पर्यालोचन करने से ज्ञात होता है कि इसका आरम्भ सर्व-प्रथम गुण के रूप में हुआ था। तदनन्तर यह अर्थालङ्कार में आया और उद्भट ने इसको शब्दालङ्कार बताया, जब कि रुद्रट ने इसकी शब्दालङ्कारता को स्वतन्त्ररूप से पुष्ट करते हुए आठ भेदों में विकसित किया। रुद्रट की धारणा में वर्ण पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचनरूपों में विभक्त यह शब्द श्लेष व्याकरण की प्रक्रियाओं पर निर्भर है। हम देखते हैं कि शब्दों के रूपों में और क्रिया के रूपों में अनेक प्रयोग ऐसे होते हैं जिनमें विभक्ति तथा वचनगत और काल तथा पुरुषगत भेदों के रहते हुए भी शब्दाकृति में किसी प्रकार का भेद नहीं रहता है। उदाहरणार्थ—प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन, तृतीया, चतुर्थी और पंचमी के द्विवचन और चतुर्थी तथा पंचमी के बहुवचन में प्राय: समानता रहती है, जब कि हलन्त, शब्दों को द्वितीया का बहुवचन और षष्ठी का एकवचन समान होता है। इसी प्रकार परोक्षकाल के प्रथमपुरुष का एकवचन और उत्तमपुरुष का एकवचन समान होता है, जब कि कभी वर्तमान काल के प्रथम पुरुष के तीनों वचनों में—गाते, गाते, गाते—एक समानरूप बन जाते हैं। कभी-कभी सुबन्त और तिङन्त के प्रयोगों में भी साम्य रहता है जैसे भवत् शब्द की सप्तमी का एकवचन भवति, स्त्रीलिंग भवती शब्द के सम्बोधन का एकवचन भवति तथा वर्तमान काल के प्रथमपुरुष का एकवचन 'भवति'—समान होता है। इस दृष्टि से 'श्लेष का मूल व्याकरण में निहित है' ऐसी रुद्रट की धारणा अवश्य ही सराहनीय है। श्लेष के भेद विस्तार में रुद्रट ने एक और महत्त्वपूर्ण योग दिया है वह है—भाषाश्लेष। भाषा की समानताओं के कारण होनेवाले भाषाश्लेष के दो प्रमुख प्रकारों का निर्देश करते हुए प्रथम के पाँच भेद और द्वितीय के प्राय: बावन भेद दिखलाये हैं। भट्टिकाव्य में वर्णित एवं विश्वनाथ द्वारा लक्षित 'भाषासम' को रुद्रट ने भाषा-श्लेष ही माना है। भोज ने उपर्युक्त भेदों के सम्बन्ध में संक्षिप्त ऊहापोह करते हुए इनके सोद्भेद और निरुद्भेद पद्धति से दो प्रकार बतलाये हैं। मम्मट ने श्लेष को शब्दालङ्कार सिद्ध करने में अनेक तर्क देते हुए पूर्ववर्ती उद्भटादि एवं समकालीन रुय्यक आदि की पूर्ण आलोचना की है जिसका अनुसरण शोभाकर, हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि ने भी किया है। यह श्लेष

सभङ्ग, अभङ्ग और सभङ्गाभङ्गरूप से अवश्य ही अनेकरूपता को प्राप्त हुआ है किन्तु रुद्रट-दर्शित भेद-प्रणाली से आगे नहीं बढ़ पाया। वैसे श्लेषालङ्कार दण्डी के अनुसार समस्त वक्रोक्तियों का शोभाधायक है इस दृष्टि से गद्य एवं पद्य-साहित्य में इसका पर्याप्त विकास हुआ है।

ऐतिहासिक पर्यालोचन

श्लेषपूर्ण रचनाओं का प्रचलन भी अन्यान्य शब्दालङ्कारों के समान वैदिक काल से ही हो गया था। भावों की प्रचुरता को संक्षेप में कहने की कला श्लेष से सुलभ हो जाती है। वेदभाष्यों के अनुशीलन द्वारा यह ज्ञात होता है कि वेद में अनेक मन्त्र ऐसे हैं जिनके एक से अधिक अर्थ निकलते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में क्रमशः १, ३, १, २५। २, ३, ३, ७ और ४, ५, २, १, संख्यक मन्त्रों में हित शब्द आहित तथा हितकर, वर्ष शब्द वृष्टि और संवत्सर एवं महिषी शब्द राज-महिषी और भैंस के अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। लौकिक साहित्य में श्लेष का प्रचुर प्रयोग हुआ है जिसे कवि स्वयं परिलक्षित नहीं करता है किन्तु उनके टीकाकारों ने उन्हें स्पष्ट किया है। कालिदास के रघुवंशीय प्रथम पद्य-'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' इत्यादि के अन्तिम चरण-'पार्वती परमेश्वरौ' में 'पार्वती-परमेश्वरौ तथा पार्वतीप-रमेश्वरौ' ऐसा भङ्ग करके श्लेष सिद्ध किया है। भारवि के किरातार्जुनीय में 'कथा प्रसङ्गेन जनैरुदारधीः (१-२४) का भी प्रासंगिक अर्थ के अतिरिक्त विषवैद्य सम्मत अर्थ किया गया है। भट्टिकवि ने भी श्लेष का प्रयोग किया है तथा उत्तर काल के कवियों में शिशुपालवध के सोलहवें सर्ग में द्वितीय पद्य से पन्द्रहवें पद्य तक द्व्यर्थी पद्यों का समावेश तथा नैषधीयचरित के त्रयोदशसर्ग में पञ्चनली आदि की संयोजना श्लेष की दृष्टि से ही हुई है। तदनन्तर तो यह अलङ्कार इतना अधिक आत्मसात् हुआ कि अनेकविध स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन किया गया और यह पद्धति आज भी प्रचलित है।

श्लेषालङ्कार की इस व्यापकता में कोषकारों का भी बहुत अधिक योगदान है क्योंकि कोषकार एक शब्द के अनेक अर्थों का सूचन करके कवि की वाणी को व्यापक बनाने में सहयोग देता है, साथ ही एकाक्षरकोष, नानार्थकोष आदि के द्वारा टीकाकारों के विवेचन के लिये द्वार उन्मुक्त कर देता है। संस्कृत-साहित्य इस दृष्टि से विश्व साहित्य में अपनी अपूर्व महत्ता लिये हुए विराजमान है कि इसमें कवि और टीकाकार के समन्वित प्रयास की परिणति एक-दो अर्थों से आगे बढ़ कर लाख-लाख अर्थों तक को अपने में समेटे हुए है। यहाँ ऐसे भी ग्रन्थ है जो श्लेष के माध्यम से आरम्भ से अन्त तक विविध कथानकों का निर्वाह करते हुए प्रस्तुत हुए हैं। उनमें से कतिपय ग्रन्थों के नाम इस प्रकार है—

१—श्लेष-चिन्तामणि-चिदम्बर कवि २—श्लेषचम्पूरामायण-वेंकटाचार्य

३—श्लेषोल्लास-४—श्लेषमाला ५—श्लेष चूडामणि आदि।

द्विसन्धान—(एक साथ दो कथाओं का समन्वय) पद्धतिवाले काव्य—

१—रसिकरञ्जन-रामचन्द्र कवि (शृंगार और वैराग्य परक अर्थ)
२—राघवनैषधीय-हरदत्तसूरि (राम और नल का चरित्र)
३—राघवयादवीय-सोमेश्वर (राम और कृष्ण का चरित्र)
४—रावणार्जुनीय-भट्ट भीम (रावण, और कार्तवीर्यार्जुन का चरित्र)
५—कुमारपाल चरित-हेमचन्द्र (प्राकृत द्व्याश्रय काव्य)
६—नाभेय-नेमिकाव्य-हेमचन्द्र (ऋषभ और नेमिनाथ का चरित्र)
७—द्व्याश्रय महाकाव्य-जिनप्रभ (श्रेणिक चरित्र)
८—पार्वतीरुक्मिणीय-विद्यामाधव, (पार्वती और रुक्मिणी का चरित्र)
तथा ९—राघव-पाण्डवीय-कविराज, १०—रामकृष्णायन, ११—रामचरित-सन्ध्याकरनन्दी, १२-नलरामचरित्र, १३-हरिहराष्टक, १४-हरगौरीस्तोत्र, १५-अद्भुत-सीतारामस्तव आदि ।

त्रिसन्धान-(एक साथ तीन कथाओं का समन्वय) पद्धतिवाले काव्यः—

१—राघव-पाण्डव-यादवीय--चिदम्बर कवि तथा २—रत्नखेटविजयकाव्यराजचूडामणि दीक्षित।

चतुः सन्धानकाव्यः—१-यमकस्तुति-धर्मघोषसूरि

पञ्चसन्धान काव्य—१-पञ्चकल्याणचम्पू २-पञ्चसन्धान काव्यशान्तिराज ।

सप्तसन्धान काव्यः—१-सप्तसन्धानकाव्य-हेमचन्द्र (अप्राप्य) २-सप्तसन्धान-काव्य-मेघविजय
३-अभिनवकादम्बरी-ढुण्ढिराजशास्त्री (कतिपय पद्य)

अन्य अनेकार्थी साहित्य—१-चतुर्विंशतिसन्धानकाव्य-जगन्नाथ (एक पद्य के चौबीस अर्थ)
२-पंचसप्ततिसन्धानकाव्य-अज्ञात कवि-(पार्श्वनाथस्तुति १५ पद्यमय)
३-शतार्थी काव्य-सोमप्रभ-
४-'राजानौ ददते सौख्यम्' पद के एक लाख अथवा आठ लाख अर्थ-समयसुन्दरगणि

इनके अतिरिक्त महिम्नः स्तोत्र की छः पक्षीय टीकाएँ, सौन्दर्यलहरी की अनेकार्थी टीकाएँ, दुर्गासप्तशती की गुप्तवती टीका, चौरपंचाशिका की शृङ्गार एवं देवीस्तुतिपरक टीका, जैन धर्म के पञ्च-नमस्कारमन्त्र के अन्तर्गत-'नमो अरिहंताणं' पद तथा 'नमो लोए सव्वसाहूणं' पद की शताधिकार्थ व्यञ्जिनी टीकाएँ भी श्लेषालङ्कार की व्यापकता के लिये दर्शनीय हैं ।

———

चतुर्थ आलोक

[प्रथम अधिकरण]

चित्र और उसका लक्षण-विकास

शब्दालङ्कार के अन्यतम भेदों में गृहीत चित्रालङ्कार में चित्र शब्द का तात्पर्य-अद्भुत, आश्चर्य अथवा विचित्र के साथ ही आलेख्यगत-वर्णविन्यास द्वारा चित्र की समानता स्वीकृत किया है तथा चित्र शब्द की व्युत्पत्ति 'चित्तं राति' इस प्रकार करते हुए 'चित्त को आकृष्ट करनेवाली वस्तु को 'चित्र' कहा है। भरत ने यमक के प्रभेदों में ही चित्रात्मकता दिखलाई है किन्तु इसका पृथक् निर्देश नहीं किया है। भामह भी भरत के अनुसार ही इस अलङ्कार-भेद के सम्बन्ध में मौन रहे हैं, किन्तु वे अच्युत शर्मा द्वारा प्रयुक्त प्रहेलिका आदि के बारे में परिचित अवश्य हैं। दण्डी ने दुष्कर-गोमूत्रिकादि चित्रमार्ग-चित्रालङ्कारों[1] का वर्णन अवश्य किया है किन्तु चित्रालङ्कार का कोई स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया। उद्भट ने इस दिशा में उदासीनवृत्ति ही अपनाई है। वामन भी यमक के वर्णन तक ही सीमित रहे। अतः चित्र को शब्दालङ्कारों में स्थान देकर उसका व्यवस्थित स्वरूप प्रस्तुत करने वाले प्रथम आचार्य रुद्रट ही हैं। इनके पाँच शब्दालङ्कारों में अन्तिम चित्रालङ्कार है[2] तथा उसका लक्षण इस प्रकार दिया है—'जहाँ काव्य में विविध भङ्गी-विशेष के आधार पर क्रम और अक्षरों की विन्यास-विचित्रता के द्वारा साङ्क अथवा आश्चर्यकारी वस्तुओं के रूपों की रचना की जाय, उसे चित्र-चित्रालङ्कार कहते हैं[3]। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'काव्य में वस्तु के रूप कैसे बनाये जा सकते हैं? इसका उत्तर लक्षण में प्रयुक्त 'भङ्गचन्तर' की व्याख्या करते हुए नमिसाधुने दिया है, तदनुसार चक्रादिविच्छित्ति से गर्भित जो प्रसिद्ध रचना-परिपाटी है उसमें अक्षरों को निमित्त बनाकर विन्यास विशेष से तथा नाम-धामाङ्कन

१—शब्दार्थलिङ्क्रियाश्चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः ॥ काव्यादर्श ३।१८६ ॥

२—वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम् । शब्दस्यालङ्काराः ।
काव्यालङ्कार, रुद्रट ॥२।१३ ॥

३—भङ्ग्यन्तरकृत-तत्क्रमवर्णनिर्मितानि वस्तुरूपाणि ।
साङ्कानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम् ॥ वहीं ५।१ ॥

अथवा अन्य विचित्र-सर्वतोभद्र, अनुलोम-प्रतिलोम-आदि प्रकारों से वस्तु के विस्मयोत्पादक रूप होते हैं[1]। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने चित्र की परिभाषा-व्यङ्ग द्वारा प्राप्त प्रधान और गौणभावों के अतिरिक्त रसभावादि-तात्पर्य से रहित, व्यङ्ग्यार्थ विशेष के प्रकाशन की शक्ति से शून्य केवल वाच्य-वाचक-वैचित्र्य मात्र के आश्रय से निबद्ध,आलेख्यरूप जो दिखाई देता है, उसे चित्र कहते हैं तथा उसके शब्द-चित्र और अर्थचित्र ऐसे दो भेद होते हैं'—इत्यादि की है तथा रसभावादि-विवक्षा के अभाव में अलंकार मात्र का निबन्धन ही चित्र का विषय माना है।[2] अभिनवगुप्त ने भी इसकी टीका करते हुए इन्हीं विचारों को प्रमुखता दी है। राजशेखर ने चित्र की उत्पत्ति चित्राङ्गद से बतलाई है।[3] अग्निपुराण में शब्दालंकार के नौ भेदों में चित्र और दुष्कर को अन्तिम दो भेदों में प्रदर्शित किया है तथा इनके लक्षण में कहा है कि—'गोष्ठी में पठनमात्र से कुतूहल उत्पन्न करनेवाला कवि का 'वाग्बन्ध–वर्ण–गुम्फन' चित्र कहलाता है।[4] तथा दुःखपूर्वक किये गये प्रयास से निर्मित कवि-सामर्थ्य का सूचन करने वाली रचना को दुष्कर कहते हैं, यद्यपि ऐसी रचना नीरस होती है फिर भी विदग्धजनों के लिये उत्सव–जनक कहलाती है।[5] भोजने चित्र के लक्षण को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि वर्ण, स्थान, स्वर, आकार, गति और बन्ध के प्रति जो नियमन है, उसे चित्र कहते हैं।[6] और वहीं टीका में रामसिंहने कहा है कि चित्र को भित्तिचित्र के समान काश्मीरवासी जीवित-स्थानीय ध्वनि से रहित कहते हैं, क्योंकि ध्वनि की प्रधानता को सर्वत्र स्वीकार नहीं किया गया और यह सम्भव भी नहीं है कि सर्वत्र ध्वनि

१—द्रष्टव्य-काव्यालङ्कार ५ वें अध्याय के प्रथम पद्य की व्याख्या।

२—प्रधानगुणभावाभ्यां, व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत्तचित्रमभिधीयते॥
चित्रं शब्दार्थभेदेन, द्विविधं च व्यवस्थितम्।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं, वाच्यचित्रमतः परम्॥
रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति। अलङ्कारनिबन्धो यः, स चित्रविषयो मतः॥
—ध्वन्यालोक

३—चित्रं चित्राङ्गदः। काव्यमीमांसा, प्रथमाध्याय।

४—वाकोवाक्यमनुप्रासश्चित्रं दुष्करमेव च। ज्ञेया नवालङ्कृतयः शब्दानामित्यसङ्करात्॥
अग्निपुराण ३४२-२०॥
गोष्ठ्यां कुतूहलाध्यायी, वाग्बन्धश्चित्रमुच्यते॥ वहीं ३४३-२२॥

५—दुःखेन कृतमत्यर्थं, कविसमर्थ्यसूचकम्। दुष्करं नीरसत्वेऽपि विदग्धानां महोत्सवः॥
वहीं ३४३-३२॥

६—वर्णस्थानस्वराकारगतिवन्धान् प्रतीह यः। नियमस्तद बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते॥
सरस्वतीकण्ठाभरण २।१०९॥

रहे हों। इसी प्रकार आकृति-विशेष से दो मुक्त हैं उसे चित्र कहते है यह भी ठीक नहीं हैं। क्यों कि यह लक्षण व्यापक नहीं है। इस लिये वर्णादि-नियमन के द्वारा प्रवृत्ति आश्चर्यकारिता का अर्थ ही चित्रलङ्कार में स्थित चित्र शब्द से अभिप्रेत है। इसके अतिरिक्त भोज ने वर्णादि का क्रमशः अर्थ भी निश्चित किया है। यथा—वर्ण-व्यञ्जन, स्थान-कण्ठादि, स्वर-अकारादि, आकार-पद्मादि आकृतियों का विकास, गति-पठन का प्रकार-विशेष और बन्ध-विविडित चक्रादि। मम्मट ने जहाँ अक्षरों की रचना खड्गादि आकृति की हेतुरूप होती है, उसे चित्र कहा है।[1] रुय्यक ने मम्मट के कथन को ही दुहराया है, किन्तु उसे पृथक् रूप से कहने का कारण यह बतलाया है कि 'पौनरुक्त्यमूलक-शब्दालंकारों में और इन चित्रलङ्कारों में भेद है, क्योंकि स्थान-विशेष में लिखे हुए वर्णों की जो पाठ-पुनरुक्ति होती है, उसे सिद्धान्ततः पुनरुक्ति नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से चित्रालङ्कार को शब्दालंकार कहना भी न्यायसंङ्गत नहीं है, किन्तु लिपि के अक्षर को श्रोत्र समवायी शब्द की भाँति सामान्यजन शब्द ही समझते हैं तथा साधारणतया लिपिवर्णों को देखकर यही प्रतीति भी होती है, अतः शब्द की लिपि-वर्ण के साथ एकात्म प्रतीति को लेकर औपचारिक रूप में चित्रालंकार को भी शब्दालंकार ही माना गया है।[2] हेमचन्द्र तथा वाग्भट (प्रथम) ने चित्र का लक्षण न देते हुए चित्रालंकारों के नाम देकर ही उन्हें चित्रलक्षण में प्रस्तुत किया है।[3] शोभाकर मित्र ने' पद्मादि की लिपि के समान चित्रों को चित्रालंकार कहा है तथा वृत्ति में स्पष्ट किया है कि 'नियमितस्थान निवेश की दृष्टि से किये गये लिप्यक्षरों के निमित्तभूत प्रतिलोम-अनुलोम-अपशब्दाभासादि जब आश्चर्य उत्पन्न करते हैं तो उसे चित्र कहते हैं।[4] तथा इसमें गूढ-प्रहेलिकादि को पृथक् माना है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में प्रहेलिकाओं के अनेक भेद दिये हैं इस से उसकी-चित्रालंकार के प्रति रुचि अवश्य थी, ऐसा ज्ञात होता है। नरेन्द्रप्रभ, अमरचन्द्रयति, जयदेव, विद्याधर और विश्वनाथ ने चित्र के लक्षण में प्राचीनों का ही अनुसरण किया है।

१—तच्चित्रं यत्र वर्णानां, खड्गाद्याकृतिहेतुता ॥ काव्यप्रकाश ९-१२१ ॥

२—वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम् ॥ अलङ्कारसर्वस्व पृ० ३०
पौनरुक्त्यप्रस्तावे स्थानविशेषश्लिष्ट-पौनरुक्त्यात्मकं चित्रवचनम्।
यद्यपि लिप्यक्षराणां खड्गादिसंनिवेशविशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाश-
समवेतवर्णात्मशब्दाभेदेन तेषां लोके प्रतीतेर्वाचकः शब्दालङ्कारोऽयम्—(वहीं)

३—स्वरव्यञ्जन-स्थानगत्याकारनियमच्युतगूढादिचित्रम् ॥ काव्यानुशासन ५-४ ॥

४—पद्मादिलिपिवर्णवच्चित्रम् ॥ ६ ॥ तथा—नियतस्थाननिर्देशित्वेन
यत्र लिप्यक्षराणि निमित्तीभवन्ति प्रतिमलोनुलोमापशब्दाभासादि-
यदाश्चर्यकारितया तच्चित्रम् ॥ अलङ्काररत्नाकर

विश्वनाथ ने रुय्यक का अनुसरण किया है तथा रुय्यक प्रतिपादित आकार- समवेतवर्णों के पद्माद्याकारनिष्ठ वर्णों से औपचारिक अभेद को ही चित्रालंकार कहा है।[1] वाग्भट द्वितीय और केशवमिश्र भी इसी परम्परा के समर्थक है।[2] कर्णपूरने भगवद्विषया रति से सम्पन्न चित्रालङ्कार को इक्षु पर्वचर्वण के समान कुछ रसदायी माना है और इसके अतिरिक्त को नीरस।[3] दीक्षित ने चित्रमीमांसा के ग्रन्थारम्भ प्रकरण में व्यङ्ग्चहीन होते हुए भी जो रमणीय हो, उसे चित्र कहा है।[4] अन्यान्य अनेक आचार्यों ने भी इसी परम्परा का निर्वाह किया है और लक्षण में कोइ नवीनता नहीं दे पाये हैं।

उपर्युक्त लक्षण विकास से यह ज्ञात होता है कि कुछ आचार्यों ने चित्रालङ्कार का विभिन्न क्रम से भी वर्णित किया है। जिसमें वाग्भट द्वितीय ने चित्रालङ्कार को शब्दालङ्कारों में प्रथम स्थान दिया है। जबकि कुछ ने शब्दालङ्कारों में अन्तिम स्थान दिया है। कुछ आचार्यों ने सर्वथा हेय मानकर भी परम्परा निर्वाह के लिये लक्षणोदाहरण दिये हैं तो कुछ आचार्यों ने इसके विवेचन में पूरा मनोयोग भी दिया है।

चित्रालङ्कार-सम्बन्धी अन्य धारणाएँ

चित्रालङ्कार के विषय में आचार्यों की धारणा एक समान नहीं है। प्रारम्भ में अनास्था, मध्यकाल में दृढ आस्था और उत्तरकाल में आस्था-अनास्था इस प्रकार दोलाचल-वृत्ति रही है। उपर्युक्त लक्षण-विकास से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति के कारण ही चित्र और उसके प्रभेदों के बारे में ऐकमत्य नहीं रह पाया है तथा भिन्न भिन्न आचार्यों ने विभिन्न दिशा-निर्देश करते हुए क्रम-स्थापन और प्रभेद सूचन किये हैं। उदाहरणार्थ-प्रहेलिका को दण्डी और रुद्रट ने गोष्ठी में कौतूहल-जनक मात्र माना है। भोज ने इसको स्वतन्त्र शब्दालङ्कार बतलाया है, मम्मट, रुय्यक्, शोभाकर और श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्रपरकाल आदि ने इसका विवेचन ही नहीं किया है जब कि अग्निपुराणकार, हेमचन्द्र विश्वेश्वर आदि ने स्पष्टतः चित्रालङ्कार ही माना है। ऐसी ही कुछ स्थिति अन्य चित्रालङ्कार च्युत, गूढ और प्रश्नोत्तरों के सम्बन्ध में भी परिलक्षित होती है।

१—पद्माद्याकारहेतुत्वे, वर्णानां चित्रमुच्यते ॥ १०-१३ ॥
अपि च तथाविधलिपिसंनिवेशवशेन चमत्कारविधायिनामपि वर्णानां तथाविधश्रोत्राकाशसमवाय -विशेषवशेन चमत्कारविधायिभिर्वर्णैरभेदेनोपचाराच्छब्दालङ्कारत्वम् ॥
—साहित्यदर्पण

२—चित्रश्लेषानुप्रासवक्रोक्तियुक्तियमकपुनरुक्तवदाभासाः। आकारगतिस्वरव्यञ्जनस्थाननियमच्युतगुप्तादिभेदैरनेकधा चित्रम्। (वाग्भट द्वितीय, काव्यानुशासन)

३—चित्रं नीरसमेवाहुर्भगवद्विषयं यदि।
तदा किञ्चिच्च रसवद्यथेक्षोः पर्वचर्वणम् ॥ अलङ्कारकौस्तुभ ७-२१४ ॥

४—यदव्यङ्ग्चमपि चारु तच्चित्रम् ॥ चित्रमीमांसा

इस सम्बन्ध में तीन प्रश्न प्रायः उपस्थित होते हैं— १—चित्र अलङ्कार है अथवा नहीं ? २—शब्दालङ्कार है अथवा नहीं ? और ३—शब्दालङ्कार का चित्रालङ्कार अन्यतम भेद है या नहीं ?

प्रश्न १—चित्र अलङ्कार है अथवा नहीं ?—इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए द्वितीय आलोक में चर्चित **'वस्तुतः अलङ्कार क्या है'** इस शीर्षक में दिये गये छः निष्कर्षों के आधार पर विचार करने से इन चित्र-प्रभेदों की अलङ्कारता सिद्ध हो जाती है। यथा-१-चमत्कृतिपूर्ण-वर्णन, २-चमत्कार और अनुरञ्जन की भावना, ३-अलंकृतिकार की आत्मा का उल्लास तथा ओज का सद्भाव, ४-अभिव्यक्ति की आवश्यकतापूर्ति, ५-रस से सम्बन्ध और हृदय साक्ष्य तथा ६-मानसिक चित्रों की स्पष्टता, विचारों की पुष्टि, सादृश्य संस्थापन, रचना क्रम, विरोधादिजन्य चमत्कार, प्रभाववर्णन, भाषागत सजीवता एवं शब्द-माधुर्य। इनमें से अधिकांश बातों की स्थिति इन प्रभेदों में अवश्य रहती है। अतः इन्हें अलङ्कार मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये, अतिरिक्त इसके कि कोई सम्प्रदायगत दुराग्रह न हो।

प्रश्न-२-शब्दालङ्कार है अथवा नहीं ?—इस प्रश्न के सम्बन्ध में भी शब्दालङ्कार की पूर्वोक्त परिभाषा का आश्रय उत्तम है। तदनुसार-द्वितीय आलोक में **'अर्थालङ्कार से सम्बन्ध और निष्कर्ष'** इस शीर्षक में दिये गये विवेचन का आधार उपयोगी है। वहाँ १-ध्वनि का आश्रय, २-शब्द-चमत्कृति की प्रमुखता, ३-शब्दपरिवृत्त्यसहिष्णुत्व ४-शब्दों के ध्वनिरूप गठन से अर्थप्रसार में सहायता तथा ५-स्वर व्यञ्जन, शब्द अथवा पद का सुसज्जित विन्यास, ६-वर्ण-कौतुक एवं क्रीडा आदि गुणों की स्थिति से शब्दालङ्कार होता है ऐसा कहा गया है। इस दृष्टि से प्रहेलिकादि भेदों में उपर्युक्त गुण यथावस्थित दृष्टिगोचर होते हैं, अतः इन्हें शब्दालङ्कार मानने में अनौचित्य नहीं लगता।

प्रश्न-३- शब्दालङ्कार का चित्रालङ्कार अन्यतम भेद है या नहीं ?—चित्रालङ्कार की विशुद्ध परिभाषा है-१-चित्ताकर्षण, २-विन्यास-वैचित्र्य, ६-विस्मयकारित्व, ४-वाच्य-वाचक वैचित्र्य, ५-कुतूहलोत्पादक वाग्बन्ध तथा ६-वर्णादिनियमन के द्वारा प्रवृत्त विच्छित्ति वैशिष्ट्य। विविध लक्षणों के आधार पर संगृहीत इन लक्षणों के साथ तुलना करने से प्रहेलिकादि-चित्रकाव्यों को चित्रालङ्कार मानना भी बुद्धिगम्य है।

हाँ, यह कहा जासकता है कि इनमें निहित चमत्कार के कारण अर्थ-प्रतीति में क्लिष्टता आती हैं, अप्रयुक्त शब्दों और क्रियाओं का बलात् प्रयोग किया जाता है, रसचर्वणा में धारावाहिता का अभाव आजाता है तथा पाण्डित्य की सतत अपेक्षा रहती है, किन्तु ये कोई ऐसे दोष तो नहीं हैं जिनसे इसका सर्वथा बहिष्कार ही किया जाए तथा जिन रचनाओं को रसपूर्ण और सहृदय-ग्राह्य कहा जाता है उनमें भी इनमें से एक-दो दोष तो किसी न किसी

रूप में आ ही जाते हैं। जैसे पण्डितराज जगन्नाथ ने 'शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनाद्' इत्यादि पद्य में दिखाया है।[1]

क्रम-सूचन—इसके अतिरिक्त कतिपय आचार्यों ने इन चित्रालङ्कारों को कहीं 'जाति' के रूप में, कहीं प्रश्नोत्तर के रूप में तथा कहीं च्युत एवं गूढादि के रूप में परस्पर मिश्रित भी कर लिया है। ऐसी स्थिति में हम उन सभी प्रभेदों को चित्र में ही स्थान देना उचित मानते हैं, अतः विवेचन का क्रम पूर्ववत् ऐतिहासिक ही रखा है।

चित्रालङ्कार के नाम—रुद्रट ने यह स्पष्ट कहा है कि 'जिस वस्तु विशेष का जो नाम हो वही उस अलङ्कार का नाम होगा तथा जो उसकी आकृति होगी, वही उसका लक्षण समझना चाहिये।' तथा भविष्य में ऐसी रचना करने वालों को भी इसी पद्धति से लक्ष्य निर्धारित करके अपनी रचना करने का संकेत भी वहीं रुद्रट ने दिया है[2] अन्य आचार्यों क भी यही मन्तव्य है।

चित्रालङ्कार के भेद—रुद्रट ने इस अलङ्कार के भेदों के सम्बन्ध में कहा है कि –अनुलोम-प्रतिलोम, अर्धभ्रम मुरज, सर्वतोभद्र आदि तथा अन्य भेदों के कारण मैं चित्रालङ्कारों की गणना करने में असमर्थ हूँ। इस लिये हे कविजनो! मेरे द्वारा यहाँ केवल दिशा निर्देश ही किया जारहा है।[3] इसी आशय को उत्तरकाल के आचार्यों ने भी अन्यान्य शब्दों में दुहराया है, अतः इयत्ता-निर्धारण सम्भव नहीं है।

[द्वितीय अधिकरण]

चित्रालङ्कार के भेद और उनकी सोदाहरण-मीमांसा

पूर्वोक्त चित्रालङ्कार के लक्षण-विकास से यह ज्ञात होता है कि वर्ण-विन्यास की विविध प्रक्रियाओं को किसी विशेष नियम के आधार पर प्रयुक्त करना ही चित्रालङ्कार का विषय है। यह वर्ण-संयोजना दण्डी अनुसार 'दुष्कर' और 'सुकर' ऐसे दो प्रकार की होती हैं। यमक के भेदों में प्रदर्शित पठन-पद्धतियाँ एवं स्थान-नियमन इस अलङ्कार के बीज कहे जा सकते हैं। हम देख चुके हैं कि यमक के भेदों में प्रतिलोमावृत्ति तो अवश्य ही चित्रा-

---

१—रसगङ्गाधर, प्रथम आनन। पृ० ६०

२—यन्नाम नाम यत् स्यात्त् तदाकृतिर्लक्षणं मतं तस्य। तल्लक्ष्यमेव दृष्ट्वाऽवधार्यमखिलं तदन्यदपि॥ काव्यालङ्कार ५।५॥

३—तच्चक्रखड्गमुसलैः–से दिङ्मात्रमुदाहृतं कवयः॥ वहीं ५।४॥

लङ्कार का भेद है। इसी प्रकार भंग्यन्तर से आवृत्त होने-वाले वर्णों के विन्यास द्वारा प्रसिद्ध वस्तुओं की शिल्प-कल्पना भी अनेक रूपों में हुई है, जिसका-साध्य संकलन इस प्रकार है—

दुष्कर-चित्र—भरत ने जिस प्रकार यमक को छोड़ कर शब्दालङ्कार के अन्य भेद नहीं दिये हैं, वैसे ही वहाँ चित्रालङ्कार के भेद का भी कोई निर्देश नहीं है। भामह भी इस दिशा में मौन हैं। अतः दण्डी ही पहले आचार्य हैं जिन्होंने 'दुष्कर' नाम से गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, तथा 'सुकर' नाम से स्वरस्थान-वर्ण नियमकृत वैचित्र्यमूलक कष्टसम्पाद्य शब्दालङ्कार के (पाँच,छः स्वर-स्थानवर्णनियमवाले सुखसम्पाद्य भेदों को छोड़कर) चतुःप्रभृति भेदों का निरूपण किया है अग्निपुराण में शब्दालङ्कार के नौ भेदों में अन्तिम 'दुष्कर' नामक भेद के तीन उपभेदों में 'नियम दुष्कर' के तीन प्रकारों के १-स्थान-नियम, २-स्वर-नियम, और ३-व्यञ्जन-नियम का स्मरण किया है, किन्तु उदाहरण नहीं दिये हैं।[1]

प्रस्तुत प्रबन्ध में आकाररूप में प्रस्तुत किये जानेवाले चित्रालङ्कारों का विशेष अध्ययन अग्रिम आलोकों में स्वतन्त्ररूप में उपस्थित कर रहे हैं। अतः यहाँ चित्रालङ्कार के भेदों में क्रमशः आये हुए आकृति चित्रों का विवेचन न करते हुए अवशिष्ट भेदोपभेदों की चर्चा को ही प्रमुखता दी जा रही है।[2]

१—स्वर-चित्र : लक्षण और उदाहरण-मीमांसा

जहाँ स्वरों की महत्ता को लक्ष्य में रख कर पूरे पद्यों की रचना की जाती है वहाँ 'स्वर-चित्र' अलङ्कार होता है। इसके निम्न भेद उपलब्ध होते हैं:—

चतुःस्वरनियमचित्र—चतुः स्वर नियम चित्र में सोलह स्वरों में से किन्हीं चार स्वरों से युक्त शब्दों का चयन करके पद्य रचना की जाती है। जैसेः—

आम्नायानामाहान्त्या वाग्गीतीरीतीः प्रीतीर्भीतीः।
भोगो रोगो मोदो मोहो, ध्येये वेच्छेद्देशे क्षेमे ॥ काव्यादर्श ३।८४॥

यहाँ क्रमशः आ, ई, ओ तथा ए इन चार स्वरों के नियम द्वारा ही पद्य की रचना की गयी है, अतः यहाँ दुष्कर-चित्र का उक्त भेद माना गया है।

१—दुःखेन कृतमत्यर्थं, कविसामर्थ्यसूचकम्। दुष्करं नीरसत्वेऽपि, विदग्धानां महोत्सवः ॥ नियमाच्च विदर्भाच्च, बन्धाच्च भवति त्रिधा। कवेः प्रतिज्ञा निर्माणरम्यस्य निमम: स्मृतः। ॥ ४३।३२-३३
स्थानेनापि स्वरेणापि, व्यञ्जनेनापि स त्रिधा। अग्निपुराणः—

२—'अनुप्रास के भेद और उनकी सोदाहरण-मीमांसा' में अपनाये गये क्रम को ही यहाँ भी स्वीकृत किया गया है। तदनुसार दण्डी के 'स्वरादि-नियम-चित्र' से आरम्भ करके ऐतिहासिक क्रम में आये हुए नवीन भेदों का संकलन एवं विवेचन किया जाएगा।

२—त्रिस्वर-नियमचित्र—जहाँ तीन स्वरों को लक्ष्य में रख कर पूरे पद्य की रचना की जाय, वहाँ 'त्रिस्वर-नियम' कहा जाता है। जैसे :—

क्षितिविजितिस्थितिविहिति व्रतरतयः परगतयः ।
उरुरुरुधुर्गुरु दुधुवुर्युधि कुरवः स्वमरिकुलम् ॥ वहीं ३।८५॥

यहां इ, अ, तथा उ इन तीन स्वरों का नियम-निर्वाह हुआ है ।

द्विस्वर-नियमचित्र—जहां केवल दो स्वरों को लक्ष्य में रख कर पूरे पद्य की रचना की जाए, वहाँ 'द्विस्वर-नियम' कहा जाता है । जैसे:—

श्रीदीप्ती ह्रीकीर्ती धीनीती गीः प्रीती ।
एधेते द्वे द्वे ते ये नेमे देवेशे ॥ वहीं ६।८६॥

इसमें ई तथा ए इन दोनों स्वरों का नियम-निर्वाह हुआ है ।

४—**एकस्वर-नियम-चित्र**—जहाँ केवल एक ही स्वर को लक्ष्य में रखकर पूरे पद्य की रचना की जाय, वहां 'एक-स्वर-नियम' कहा जाता हैं । जैसे—

सामायामा माया मासा, मारानायायाना रामा ।
यानावारारावानाया, मायारामा मारायामा ॥ वहीं ३ । ८७ ॥

यहां "अ" स्वर का पूर्णतः निर्वाह किया गया है ।

इन स्वर-नियमगत दुष्कर-चित्रों के बारे में उद्भट, वामन और रुद्रट ने कोई चर्चा नहीं की हैं । भोज ने छः प्रकार के चित्रालङ्कारों में स्वर-चित्र को तृतीय स्थान देते हुए कतिपय नवीन भेदों की सृष्टि की है, जिनका विवेचन इस प्रकार है—

१—**ह्रस्वैकस्वर-नियम-चित्र**—जहाँ केवल एक ह्रस्व-स्वर का निर्वाह करते हुए पूरे पद्य की रचना की जाय वहाँ ह्रस्वैकस्वर नियम-चित्र माना जाता है । जैसे—

उरुगुं द्युगुरुं युत्सु चुक्रुशुस्तुष्टुवुः पुरु ।
लुलुभुः पुपुषुर्मुत्सुमुमुहुर्मुमुहुर्मुहुः ॥ सरस्वतीकण्ठाभरण २ । २७६ ॥

यहाँ केवल ह्रस्व उकार स्वर वाले व्यंजनों से पूरे पद्य की रचना की गई है ।

२—**दीर्घैकस्वरनियम-चित्र**—जहां केवल दीर्घ स्वर का निर्वाह करते हुए पूरे पद्य की रचना की जाय वहाँ दीर्घैकस्वर-चित्र होगा । दण्डी का एकस्वर-नियमोदाहरण-'सामायाम' इत्यादि पद्य इसका उदाहरण है । भोज ने ऐकारस्वर से 'पूर्णं-वैधैरेने' इत्यादि पद्य (२ । २७७ सरस्वती कण्ठाभरण) प्रस्तुत किया है ।

३—**ह्रस्वद्विस्वर-नियम-चित्र**—जहाँ दो ह्रस्वस्वरों को लक्ष्य में रखकर पूरे पद्य की रचना की जाए, वहां ह्रस्व द्विस्वर-चित्र, माना जाता है । जैसे—

क्षितिस्थितिमितिक्षिप्तिविधिविन्निधिसिद्धिलिट् ।
मम त्र्यक्ष नमद्दक्ष, हर स्मरहरस्मर ॥ स० क० २ । २७८ ॥

यहाँ पूर्वार्द्ध में ह्रस्व ईकार स्वर तथा उत्तरार्द्ध में ह्रस्व अकार स्वर के निर्वाह से पूरे पद्य की रचना की गई है।

१—दीर्घ द्विस्वर २— ह्रस्वत्रिस्वर ३—दीर्घ-चतुः स्वर-चित्र दण्डी के समान ही हैं।

४—प्रतिव्यञ्जन-विन्यस्त-स्वर-नियमचित्र—जहां पद्य में प्रयुक्त प्रत्येक व्यञ्जन किसी न किसी स्वर से युक्त हो, वहां प्रतिव्यञ्जन विन्यस्त-स्वर-चित्र माना जाता है। जैसे—

तापेनाग्रोऽस्तु देहे नौ, हेये विल्लोभिनिन्दिना
जायाग्रे हि गुणिश्रेष्ठे, हितो क्षेपो मृतोक्षिणि ॥ स० क० २ २८२ ॥

यहाँ प्रत्येक व्यंजन में एक न एक स्वर अवश्य ही मिला हुआ है।

५—अपास्त-समस्त-स्वर-नियम चित्र—जहां अकार को छोड़कर अन्य स्वरों का व्यवहार न किया जाए, वहाँ 'अपास्त-समस्त स्वर चित्र' होता है। जैसे—

तपनग्रस्तदहन, हयवल्लभनन्दन ;
जय ग्रहगणप्रष्ठ, हतक्षप मतक्षण ॥ स० क० २ २८३ ॥

यहाँ केवल अकार स्वर का प्रयोग किया गया है। जो ह्रस्वैकस्वर का ही रूप है। इस प्रकार स्वरचित्रों की परम्परा यहीं आकर अवरुद्ध हो जाती है। उत्तरकाल के आलङ्कारिकों ने चित्र बन्ध के अन्यान्य प्रकारों की गति अवश्य दी है किन्तु नवीनता नहीं आ पायी है। इसी प्रकार लक्ष्यग्रन्थों में भीं जो उदाहरण प्राप्त होते हैं, उसमें भी ऐसे ही उदाहरणों का निर्माण हुआ है।

२—स्थान चित्र : लक्षण और उदाहरणमीमांसा

जहाँ उच्चारण के स्थानों को महत्त्व देते हुए उन-उन स्थानों के वर्णों के प्रयोग से पूरे पद्य की रचना की जाती है, वहाँ स्थान 'चित्र' अलङ्कार होता है। इसके निम्न भेद उपलब्ध होते हैं—

१—चतुःस्थाननियम-चित्र—चतुः स्थान नियम में व्याकरण शास्त्र के आधार पर कण्ठ, तालु दन्त आदि स्थानों में से किन्ही चार का नियम रखकर पद्य रचना की जाती है। जैसेः—

नयनानन्दजनके, नक्षत्रगणशालिनि।
अघने गगने दृष्टिरङ्गने दीयतां सकृत् ॥ काव्यादर्श ३। ८८ ॥

यहाँ कण्ठ, दन्त, तालु और नासिका स्थानों से उच्चार्यमाण वर्णों का ही पूर्णतः निर्वाह किया गया।

२—**स्थान-नियमचित्र**—जहाँ केवल तीन स्थानों से उच्चार्यवर्णों का नियम रखकर पद्य रचना की जाती है, वहाँ 'त्रिस्थान-नियम' कहा जाता है। जैसे—

अलिनीलालकलतं कं, न हन्ति घनस्तनि।
आननं नलिनच्छायनयनं शशिकान्ति ते ॥ वहीं ३८७ ॥

यहाँ कण्ठ दन्त और तालु स्थानों से उच्चार्यमाण वर्णों का ही पूर्णतः निर्वाह किया गया है।

३—**द्विस्थाननियमचित्र**—जहाँ केवल दो स्थानों से उच्चार्यवर्णों का नियम रखकर पद्य रचना की जाती है वहाँ द्विस्थान-नियम कहा जाता है। जैसे—

अनङ्गलङ्घनालग्ननानातङ्का सदङ्गना।
सदानघ सदानन्द, नताङ्गासङ्गसङ्गत ॥ वहीं ३। ९० ॥

यहाँ केवल कण्ठ और दन्त स्थानों से उच्चार्यमाण वर्णों का ही पूर्णतः निर्वाह हुआ है।

४—**एकस्थान-नियम-चित्र**—जहाँ केवल एक ही स्थान से उच्चार्थ वर्णों का नियम रखकर पद्य-रचना की जाती है, वहाँ 'एकस्थान-नियम' कहा जाना है। जैसे—

अगा गांगांग काकाकगाहकाघककाकहा।
अहाहांकं खगांकागकंकाग खगकाकक ॥ वहीं ३।९१॥

यहाँ केवल कण्ठ्य-वर्णों के विन्यास से ही पूरे पद्य की रचना की गई है। भोज ने 'स्थान-नियम को' 'स्थान-चित्र' की संज्ञा देते हुए कतिपय नवीन भेद प्रदर्शित किये हैं जिनमें—'चतुःस्थान-चित्र' के १-निष्कण्ठ्य, २-निस्तालव्य, ३-निर्दन्त्य, ४-निरोष्ठ्य तथा ५-निर्मूर्धन्य—ऐसे पाँच भेद किए हैं। इनमें प्रत्येक में एक-एक स्थान के वर्णों को छोड़ दिया गया है। दण्डी ने इस तरह का विभाग नहीं किया था। इसी प्रकार 'त्रिस्थान-चित्र' में १-निरोष्ठ्य-दन्त्य, और २-निरोष्ठ्य-मूर्धन्य-ऐसे दो भेद किए हैं। द्विस्थान-चित्र में केवल 'दन्त्य और कण्ठ्यवर्णों से बननेवाले दण्डी द्वारा प्रदर्शित उदाहरण को ही दिया है तथा एकस्थान-चित्र में कोई नवीनता नहीं बताई है। किन्तु केवल 'कण्ठ्यवर्णनिर्मित' पद्य के समान ही अन्य चारों स्थानों के वर्णों से इनकी रचना होने पर पाँच प्रकार बन सकते हैं।

उत्तरवर्ती आचार्यों में श्रीकृष्णब्रह्म परतन्त्रकाल ने 'अलङ्कार-मणिहार' में केवल 'अनुनासिक द्विवर्ण, और निर्नासिक्य' ऐसे दो नये स्थान-चित्र के भेद दिये हैं तथा इसी 'स्थान-चित्र' से प्रेरित होकर वहीं '**प्रयत्न-चित्र**' की रचना का आभास देकर '**अनन्तोष्मवर्ण-चित्र**' का भी एक पद्य दिया है। किन्तु यह केवल नामभेद मात्र है, विशेष नावीन्य नहीं।[1]

---

१ - द्रष्टव्य-अलङ्कार-मणिहार, शब्दालङ्कार-सर० १२२ ॥

३—वर्ण-चित्र : लक्षण और उदाहरण-मीमांसा

जहाँ (स्वर बन्धन) से मुक्त व्यञ्जनों का नियतक्रम से पूरे पद्य में प्रयोग किया जाए, वहाँ 'वर्ण-चित्र' अलङ्कार होता है। इसके निम्न भेद उपलब्ध होते हैं:—

१—चतुर्वर्ण-नियमचित्र—जहाँ (स्वरबन्धन से मुक्त) केवल चारवर्णों का ही पूरे पद्य में प्रयोग किया जाए, वहाँ 'चतुवर्ण-नियम' चित्र कहा जाता है। जैसे—

रे रे रोरुरुरुरोरु-गागोगोगांगगागगु।
किं केकाकाकुकः काको, मामम ाामाममामम॥ काव्यादर्श ३।९२।

यहाँ केवल र, ग, क, और म वर्ण का ही प्रयोग किया गया है।

२—त्रिवर्ण-नियम चित्र—जहाँ (स्वरबन्धन से मुक्त) केवल तीन वर्णों का ही पूरे पद्य में प्रयोग किया जाए, वहाँ 'त्रि वर्ण-नियम' चित्र कहा जाता है। जैसे—

देवानां नन्दनो देवो, नोदनो वेदनिन्दिनः।
दिवं दुदाव नादेन, दाने दानवनन्दिनः॥ वहीं ३।९३॥

यहाँ केवल द, व, न, इन तीनों वर्णों का ही प्रयोग किया गया है।

३—द्विवर्ण-नियम-चित्र—जहाँ (स्वरबन्धन से मुक्त) केवल दो वर्णों का पूरे पद्य में प्रयोग किया जाए, वहाँ 'द्विवर्ण-नियम' चित्र कहा जाता है। जैसे—

सूरिः सुरासुरासादिसारः सारससारसाः
ससार सरसीः सीरीससूरुः स सुरारसी॥ वहीं ३।९४॥

यहाँ केवल स और र इन दोनों वर्णों का ही प्रयोग किया गया है।

४—एकवर्ण-नियमचित्र—जहाँ (स्वरबन्धन से मुक्त) किसी एक ही वर्ण का पूरे पद्य में प्रयोग किया जाए, वहाँ 'एकवर्ण-नियम' चित्र कहा जाता है। जैसे—

नूनं नुन्नानि नानेन, नानने नाननानि नः।
नानेनाना ननु नानूनं, नेनेनानानिनो निनीः॥ वहीं ३।९५॥

यहाँ केवल नकाराक्षर का ही पूरे पद्य में प्रयोग किया गया है।

दण्डी के पश्चात् भोज ने 'वर्णचित्र' को चित्रालङ्कार के भेदों प्रथम स्थान देते हुए स्पष्ट किया है कि-'यहाँ वर्ण शब्द से व्यञ्जनों का ही ग्रहण होता है क्योंकि स्वरों का ग्रहण पृथक् रूप में किया गया है।' दण्डी के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त भोज ने निम्न भेद नवीन प्रस्तुत किये गये हैं।—

१—क्रमस्थसर्वव्यञ्जन-चित्र—इसमें वर्णमातृका में आये हुए सभी व्यञ्जनों को एक क्रम से रहते हुए पद्य रचना की जाती है। जैसे—

कः खगोघाङचिच्छौजा झाञ्ज्ञोऽटौठीडडण्ढणः।
तथोदधीन्पफर्बाभीर्मयोऽरिल्वाशिषां सहः॥ सरस्वतीकण्ठाभरण २।२६३

यहाँ वर्णसमाम्नाय के अनुसार क से ह् पर्यन्त सभी व्यञ्जनों का पठन हुआ है। 'चित्र-निर्वाह के लिये ड' व्यंजन की दो बार आवृत्ति हुई है जो सह्य है।

२—छन्दोऽक्षर-व्यञ्जन-चित्र—जहाँ छन्द के गण-विधान के लिये निश्चित 'मयर-सतजभान, ग-गुरु, ल-लघु इन अक्षरों से ही पूरे पद्य की रचना की जाय, वहाँ छन्दोऽक्षर व्यञ्जन-चित्र माना जाता है। जैसे:—

सरत्सुरारातिभयाय जाग्रतो, जलत्यलं स्तोतृजनस्य त्रायताम् ।
स्मितं स्मरारेर्गिरिजास्यनीरजे, समेतनेत्रत्रितयस्य भूतये ॥ वहीं २।२६४ ॥

यहाँ उपर्युक्त छन्दोऽक्षर व्यञ्जनों का ही पूरे पद्य में निर्वाह किया गया है।

३—षड्जादिस्वर-व्यञ्जन चित्र—जहाँ 'सङ्गीतशस्त्र में सुप्रसिद्ध 'सरेगमपधनि' इन सात वर्णों का नियम रखकर पूरे पद्य की रचना की जाए, वहाँ षड्जादि स्वरव्यञ्जन-चित्र माना जाता है। जैसे :—

सा ममारिधमनी निधानिनी, सामधाम धनिधामसाधिनी ।
मानिनी सगरिमापपापपा, सापगा समसमागमासमा ॥ वहीं २। २६५ ॥

यहां उपर्युक्त षड्जादिस्वरों में प्रयुक्त व्यञ्जनों से ही पूरे पद्य की पूर्ति की गई है। इसी को 'सप्तस्वर-नियम' चित्र भी कहते हैं।[१]

४—मुरजाक्षर-व्यञ्जन-चित्र—जहां भरत आदि आचार्यों द्वारा कथित मुरज के पाठाक्षर ल, ह, त, थ, द, ध, छ, म, र, न, ण, क, ख, ग, घ, और ङ, इन सोलह अक्षरों के द्वारा ही पूरे पद्य की रचना की जाए, वहां 'मुरजाक्षर-व्यञ्जन-चित्र' माना जाता है।

जैसे—

खरगरकालितकण्ठं, मथितगदं मकरकेतुमरणकरम् ।
तड्डिदिति रुरुमुण्डहरं, हरमन्वहं दधे घोरम् ॥ वहीं २। २६६ ॥

यहां ऊपर सूचित किये गये मुरजाक्षर व्यञ्जनों के द्वारा ही पूरे पद्य की रचना की गई है।

उत्तरकाल के आचार्यों में श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी ने अपुनरुक्त-व्यञ्जन,

---

१—द्रष्टव्य-अलङ्कार मणिहार शब्दालङ्कार सर १२२

२—पाठाक्षराणि मुरजे लहकारो तथदधाच्छमी रेफः ।
नणकखगघङा श्चैत्थं षोडश भरतादिकथितानि ॥ सरस्वतीकण्ठाभरण २। २६६
पृष्ठ २६८ उदाहरणपद्य की टीका।

अपंचवर्गीण और एकवर्गीयवर्ण नाम से तीन भेद और दिये हैं, जिनमें अपुनरुक्त व्यञ्जन अनावृत्ति-वर्ण चित्र के लक्षणोदाहरण इस प्रकार हैं:-

व्यञ्जनानां कखादीनां, यत्रावृत्तिर्न दृश्यते ।
चित्रमेतद्विजानीयात्, तदनावृत्तवर्णकिम् ॥ अलं० मणिहार

अर्थात् जहां कखादि व्यञ्जनों की एक बार कथन के पश्चात् आवृत्ति न दिखाई दे, वहाँ उक्त चित्रभेद जानना चाहिये । यथा—

अथ ऋषभाचलकूटापीडेऽतिघृणा-झरीबाढे ।
ओजः खच्छाये शठमन इहि गो वे सदा ऋद्धे ॥ वहीं उदाहरण पद्य २३६४

इस प्रकार केवल कथनवैचित्र्य के अतिरिक्त कोई नवीनता नहीं आ पाई है । ऐसी चित्रप्रणाली को दृष्टि में रखकर लक्ष्यग्रन्थों और स्तुतिकाव्यों में अनेक प्रकार के कथन द्वारा अनेक प्रयोग किये गये हैं, किन्तु उनमें नवीनता नहीं है ।

———

[तृतीय-अधिकरण]

४—गतिचित्र : लक्षण और उदाहरण मीमांसा

आचार्य दण्डी ने यमक के अन्त में प्रतिलोम-यमक के तीन भेद दिखलाकर गतिचित्र के इस भेद को यमक में अन्तर्हित किया है और 'दुष्कर के भेदों में अर्धभ्रम तथा सर्वतोभद्र को आवर्जित कर लिया है । इस प्रकार अग्रवर्ती अलङ्कारिकों द्वारा स्पष्टतः चित्रालङ्कार में प्रतिपादित अनुलोम प्रतिलोम-गति अथवा अनुलोम प्रतिलोम पाठ से निष्पन्न होने वाले अर्धभ्रम-सर्वतोभद्रादि का वास्तविक स्थान निर्धारण दण्डी नहीं कर पाये । रुद्रट ने सर्व-प्रथम चित्रालङ्कार के प्रभेदों में अनुलोम विलोम को 'चित्र' की संज्ञा दे कर उसे नमिसाधु के अनुसार विचित्र की संज्ञा दी गई हैं ।[1] अग्निपुराण में दुष्करालङ्कार के तीन उपभेदों में द्वितीय विदर्भ नामक भेद में प्रातिलोम्य और आनुलोम्य के युक्त शब्दार्थों की रचना को स्थान दिया है । भोज ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने गति अथवा पाठ के आधार पर चमत्कार

१—रुद्रट ने चित्रालङ्कार की परिभाषा में 'विचित्राणि' शब्द का प्रयोग किया है, जिसकी व्याख्या नमिसाधु ने 'विचित्राणि चान्यानि च सर्वतोभद्रानुलोम-प्रतिलोमादीनि' करते हुए गति चित्र के प्रकारों को 'विचित्र चित्र' की संज्ञा दी है काव्यालङ्कार मूल तथा टीका ।

को उत्पन्न करने वाली इस पद्धति को गति-चित्र का नाम दिया। गति शब्द से भोज का तात्पर्य है 'गतिः पठितिभङ्गविशेषः' अर्थात् पढ़ने के प्रकार विशेष को गति कहते हैं। वहीं टीकाकार रामसिंह ने कहा है कि पठन करते हुये एक वर्ण का दूसरे वर्ण में सञ्चार 'गति' है और उस गति का यहां नियमन होने से 'गति' यह नाम उचित ही है।[२] इस दृष्टि से दण्डी-प्रदर्शित प्रतिलोमयमक और उसके भेदों का विवेचन भी यहीं प्रदर्शित किया जा रहा है। दण्डी ने प्रतिलोमयमक के १-पादप्रतिलोम, २-श्लोकार्धप्रतिलोम और ३-श्लोकप्रतिलोम ऐसे तीन भेद दिखलाये हैं[३] रुद्रट इसका एक ही प्रकार बताते हैं, किन्तु भोज ने इसके कतिपय नवीन भेद भी किये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१—**गतप्रत्यागत-गतिचित्र**—जहां प्रथम चरण को उलटाकर दुहरा देने से द्वितीय चरण एवं तृतीय चरण को उलटाकर दुहरा देने से चतुर्थ चरण बनता हो, उसे 'गत प्रत्यागत कहते हैं। जैसे—

वारणागगभीरासा, साराभीगगणारवा।
कारितारिवधासेना, नासेधावरितारिका॥ स० क० २। ६६॥

यहाँ प्रथम और तृतीय पाद के आनुलोम्य से वर्णावली को ग्रहण करके उनके प्रति लोम रूप से द्वितीय और चतुर्थ पादों की रचना हुई है। इसी को दण्डी ने 'पादप्रतिलोम यमक' कहा है।

२—**तदक्षरगत गतिचित्र** जहाँ पूर्वार्द्ध का प्रतिलोमाभ्यास करके उत्तरार्ध बना लिया जाय अर्थात् सन्दर्भ की समाप्ति तक जिस वर्णमाला का ग्रहण किया जाय उसी का समाप्ति से आरम्भ तक प्रत्यागति से पठन हो, वहाँ 'तदक्षरगत-गतिचित्र' माना जाता है। जैसे—

निशितासिरतोऽभीको न्येजतेऽमरणा रुचा।
चारुणा रमते जन्ये को भीतो रसिताशिनि॥ स० क० २। ३००॥

१—विदर्भः प्रातिलोम्यानुलोम्यादेवाभिधीयते।
प्रातिलोम्यानुलोम्यं च, शब्देनार्थेन जायते॥ अग्निपुराण ४३।३४॥

२—पठितेर्वर्णाद् वर्णान्तरे सञ्चारो गतिस्तन्नियमनेन चित्रं गतिचित्रं स चात्र यथोक्त-रूप एव। सर० कण्ठा० टीकाभाग पृष्ठ २७७।

३—आवृत्तिः प्रातिलोम्येन, पादार्धश्लोकगोचरा।
यमकं प्रतिलोमत्वात्, प्रतिलोममिति स्मृतम्। काव्या० ३। ७३

यहाँ पूर्वार्ध के प्रथमाक्षर 'नि' से आरम्भ करके 'चा' पर सन्दर्भ समाप्ति की गई है। इसी को दण्डी ने 'श्लोकार्धप्रतिलोम-यमक' कहा है।

३—श्लोकान्तर-गतिचित्र–जहाँ पूरे श्लोक की अनुलोम-आवृत्ति को प्रतिलोम पढ़ने पर द्वितीय पद्य की परिणति हो, वहाँ 'श्लोकान्तर-गतिचित्र' माना जाता है। जैसे—

वाहनाजनिमानासे, साराजावनभा ततः।
मत्तसारगराजेभे भारीहावज्जनध्वनि ॥ वहीं २।३० ॥

इसी पद्य को प्रतिलोम पढ़ने से निम्न पद्य की सृष्टि होती है—

निध्वनज्जवहारीभा, भेजे रागरसात्तमः।
ततमानवजारासा, सेना मानिजनाहवा ॥ वहीं २।३०२ ॥

दण्डी ने इसी को 'श्लोक-प्रतिलोम-यमक', कहा है।

४—भाषान्तर-गत-गतिचित्र–जहाँ एक भाषा के पद्य की प्रतिलोम आवृत्ति से अन्य भाषा के पद्य की परिणति हो, वहाँ 'भाषान्तरगत-गतिचित्र' माना जाता है। जैसे—

इह रे बहला लासे बाला राहुमलीमसा।
सालका रसलीला सा, तुंगालालि कलारत ॥ वहीं २।३०४ ॥

इस संस्कृत-भाषा के पद्य को प्रतिलोम पढ़ने से निम्न प्राकृत-भाषा के पद्य की परिणति होती है—

तरला कलिला गातुं सालाली सरकालसा।
सामली महुरालावा, सेलाला हव रेहइ ॥ २।३०४ ॥

जिस प्रकार यहाँ संस्कृत से प्राकृत पद्यों की परिणति हुई है, उसी प्रकार अन्य भाषा के पद्यों से अन्य भाषा के पद्यों की परिणति भी हो सकती है।

५—तदर्थानुगत-गतिचित्र–जहाँ अनुलोम श्लोक के प्रतिलोमपाठ से बने हुए द्वितीय श्लोक का भी अनुलोम के अनुसार ही अर्थ हो, वहाँ 'तदर्थानुगत-गतिचित्र' माना जाता है। जैसे—

विदिते दिवि केऽनीके, तं यान्तं निजिताजिनि।
विगदं गवि रोद्धारो, योद्धा यो नतिमेति न ॥ वहीं, टीकाभाग प्र० २७९

इस पद्य का प्रतिलोम पाठ करने पर निम्न पद्य की परिणति होती है—

नतिमेति न योद्धायोरोद्धारो विगदं गवि।
निजिताजिनितं यातं केनीके विदिते दिवि ॥ वहीं, टीकाभाग पृ० २७९

इसमें प्रयुक्त शब्दों का विन्यास इस प्रकार के चुने हुए शब्दों से किया गया है कि जिनमें प्रत्येक में भी गतागत हो सके। इसलिये जो शब्द पूर्व पद्य में प्रयुक्त हैं वे ही सामान्य

स्थान भेद से द्वितीय पद्य में भी प्रयुक्त हैं। यही कारण है कि दोनों पद्यों का एक समान ही अर्थ होता है। गति-चित्र का पूर्वोक्त प्रतिलोम पाठ के अतिरिक्त दूसरे प्रकार चतुरङ्क-क्रीडाफलक की मुहरों की गति को लक्ष्य करके भी दिखलाया गया है तथा रथपद-पाठ का एक स्वतन्त्र प्रकार रुद्रट ने भी प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार गति-चित्र में कुछ अन्य प्रकारों का भी समावेश होता है।[1] जिनका विवेचन इस प्रकार है—

१—रथपद-गतिचित्र—जहाँ रथपद-न्याय से दो पादों की आवृत्ति और निवृत्ति से पाठ हो वहाँ 'रथ पद-गति चित्र' माना जाता है। जैसे :—

इतीक्षिता सुरैश्चक्रे, याय माम ममायया।
माहिषं पातु वो गौरी, सायतासि सितायसा॥ काव्यालङ्कार ५।१४॥

यहाँ द्वितीय और चतुर्थ चरणों के पूर्वार्द्ध के चार अक्षरों की प्रतिलोम-आवृत्ति हुई है।

इसके पठन में जैसे रथ की गति सदा सीधी होती है और वह जब मुड़ता है तो मोड़ के एक विस्तृत स्थान पर ही। सम्भवतः इसी क्रम को ध्यान में रखकर यहाँ 'रथ-पद-गतिचित्र' की कल्पना की गई है। अतः यहाँ द्वितीय और चतुर्थ चरणों के चार अक्षरों के गतागत से मार्ग-प्रशस्त बनाया गया है। अग्निपुराण में भी 'पदं रथस्य नागस्य' इत्यादि[1] कह कर रथपद-बन्ध का स्मरण किया है किन्तु इसके लक्षण और उदाहरण नहीं दिये हैं।[2]

१—तुरग-पद-पाठ-चित्र—नमिसाधु ने तुरग-पद परिज्ञान के लिये लक्षणरूप में यह पद्य दिया है—

कषभ्ङेनागभटाय तथसेवेमराघवे।
षजेथाढे पचेमेडे दोणसछलडेपडे॥ टीका नमिसाधु-काव्यालङ्कार, ५।१५

इस पद्य में आए हुए अक्षरों पर कादिवर्ण-मातृका—क्रम से अङ्क लिख कर उनके अनुसार इसके निम्नलिखित उदाहरण-पद्य को पढ़ने से भी वही पद्य निकल जाएगा। यथा—

सेना लीलीलीना नाली, लीनाना नानालीलीली।
नाली नालीले नालीना, लीलीली नानानानाली॥ काव्यालङ्कार ५।१५॥

१—अमरचन्द्रयति ने गति-चित्रों के—गतिर्गतप्रत्यागतगोमूत्रिकातुरगपद-पादगतप्रत्याग-तार्धगत—सर्वतोभद्रार्धभ्रमादीनि तच्चित्रम्' कह कर भेद-गणना की है।
काव्यकल्पलता वृत्ति पृ० ९६-।

२—अग्निपुराण ३४३।६५

३—गतिचित्रों के रेखाचित्र तथा अग्रिम चित्रालङ्कारों के चित्र परिशिष्ट में दिये गये हैं।

आधुनिक सभ्य समाज में प्रसिद्ध खेल 'शतरंज' में राजा, मन्त्री, सैनिक, ऊँट, हाथी और घोड़े आदि नामक मोहरें रहती हैं, जिनके खेलने में सभी की भिन्न-भिन्न गतियाँ होती हैं। इनमें घोड़ा ढाई घर चलता है अर्थात् दो कोष्ठक सीधा चल कर आधे घर की पाँचवीं चाल के लिये दूसरी संख्या वाले घर के नीचे या ऊपर, वामभाग अथवा दक्षिण भाग के घर में प्रवेश करना है। सारांश यह कि पूरे फलक के बत्तीस कोष्ठकों में अपनी गति के अनुसार वह घूमता रहता है और सभी कोष्ठकों में उसकी गति हो जाती है जहाँ-जहाँ उसके ढाई घर पूरे होते हैं वहाँ के अक्षरों का चयन करने पर भी वही पद्य बनता है, जो कि चार पंक्तियों में श्लोक के रूप में लिखा है। इसी पद्धति का यह उदाहरण—पद्य है।

अमरचन्द्रयति ने तुरगपद रीति से श्लोकाकार-न्यास के लिये निम्न पद्य दिया है—

श्री त्रिशन्नर्थविंशतत्रयजिनश्रीकण्ठषड्विंशती-
न्यूनाविंशतियुग्मपौषदशमावेक्षत्रयोर्विंशतिः।
सत्रिंशद्विपसत्कलाभुवनतत्षड्वर्गवर्णांशुमत्—
सेनापक्षसुलक्षणस्वरसमासार्कद्विविंशाः शराः॥

३प्रतान, ५वाँ स्तबक, काव्य०-वृ०

इस पद्य में कथित संख्याओं के आधार पर आठ-आठ कोष्ठकों की चार पंक्तियों में क्रम से लिखे गये उदारहण-पद्य के अक्षरों के पढ़ने पर भी यहा पद्य निकल जायेगा।[1]

२—**तुरङ्ग-पद-पाठ-चित्र (अन्तर्निविष्ट द्वितीयपद्य)**—भोज ने इसी पद्धति से लिखे गये पद्य को 'तुरङ्ग-पद-क्रम' से पढ़े जाने पर अन्य श्लोक की उत्पत्ति कराने वाले उदाहरण को प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है—

बाला-सुकालबाला का, कान्तिलाबकलालिता।
सस्वा सुतवती सारा, दर्पिका ब्रतगर्धित॥ स० क० २।३०६॥

इस उदाहरण से निम्न पद्य निकलता है—

बाला ललिततीव्रस्वा सुकला रागतर्पिका।
सुदन्तिका वर्धितावासा काला तललासका॥[2]

१—वहीं, इस हयपद के पठनक्रम को इन्हीं चार अक्षरों से अकारादि स्वरों के 'ह हा-हि ही हु हू' ऐसे संयोजन से समझाया है, जिसका पद्य निम्नलिखित है—

हद्रूयिपीहि पेयिदायेपिहादुयादि ही पे।
देहेपयुपुहूदयी पाये दे है दोयुपूहु॥

२—वहीं २। ३०८॥, तथा लेखन के लिये निम्न लक्षण भी दिया है—

क्रमात् पादचतुष्केऽस्य, पंक्तिशः परिलेखिले।
तुरङ्गपदयातेन, श्लोकोऽन्य उपजायते॥ २।३०७॥

३—शर-यन्त्र-यन्त्र-बन्ध (अवरोहारोहक्रमपाठगति)—भोज ने 'तुरङ्ग-पद-पाठ' की समानता में ही 'शर-यन्त्र-बन्ध' की रचना के लिये यह लक्षण दिया है—

चतुर्ष्वपि च पादेषु, पंक्तिशो लिखितेष्विह ।
आदेरादेस्तुरङ्गस्य, पादैः पादः समाप्यते ॥

इसके अनुसार आठ कोष्ठकवाली चार पंक्तियों में यह उदाहरण-पद्य लिखा जाता है—

नमस्ते जगतां गात्र ! सदानवकुलक्षय ।
समस्तेज सतां मात्र, मुदामवनलक्षय ॥ स० क २।३१८ ॥

इसका पठन तुरङ्ग-पद के समान ही ढाई घर की गति से होता है, किन्तु इसमें प्रत्येक पाद के आदि भाग से आरम्भ करके पंक्ति के अन्त तक पहुँचते हैं और पुनः आदि-भाग से इसी प्रकार पढ़ा जाता है, जिससे पहले अवरोह-क्रम से दो पद निकलते हैं और दूसरी बार आरोहक्रम से दो पद निकल आते हैं। इस तरह इसमें केवल दो घर सीधी और एक घर दक्षिण-पार्श्व में गति होती है जब कि पूर्वोदाहरण में चतुर्विध गति होती थी ।

४-चतुरङ्ग-चित्र (लघु-गुरुवर्णयोजनाजनित-विविधपद्य-गर्भ)—कृष्ण कवि ने चतुरङ्ग चित्र का सूचन किया है तथा उसकी चित्र-रचना तुरङ्ग-पद-चित्र के समान ही करके उसी पद्धति से पठन करने का संकेत दिया है । इसकी विशेषता यह है कि वर्णों की योजना में लघु-गुरु ऐसे क्रम से रखे जाते हैं जिससे तुरङ्ग-पद के अनुसार पढ़ने पर—पञ्चचामर, प्रमाणिका, समानिका, तथा उपचामर आदि पाँच श्लोक निकल जाएँगे । साथ ही इसकी गति-प्रक्रिया में-दण्ड-सीधा, पार्श्व, वर्तुल, और कोण आदि की पद्धति से और भी अनेक भेद हो सकते हैं ऐसा सूचन किया है ।[१] वहीं वीथीबोधक और गृहबोधक संख्याओं के संकलन के 'नाडीरामोऽब्धि' —इत्यादि दो पद्य भी दिये हैं ।

५—गजपद-पाठ-चित्र—पूर्ववत् आठ-आठ कोष्ठकों की चार पंक्तियों से बने चित्र के प्रत्येक कोष्ठक में इसके उदाहरण पद्य का एक-एक अक्षर लिखा जाता है तथा शतरंज के खेल में गजसंज्ञक मोहरे की गति के अनुसार सीधी गति से प्रथम-नवम, द्वितीय-दशम, तृतीय-एकादश तथा चतुर्थ-द्वादश इत्यादि क्रम से पढ़ने पर गजपद के उदाहरण का निम्न-लिखित पद्य निकल आएगा—

ये नानाधीनावा धीरा, नाधीवा राधीराराजन् ।
किं नानाशं नाकं शं ते, नाशंकन्ते शं ते तेजः ॥ काव्यालङ्कार ५।१६

१—द्रष्टव्य-मन्दारमरन्दचम्पू में चित्रबिन्दुप्रकरण ।

इसी प्रकार नामिसाधु ने 'नरपद-पाठ'[1] का भी वहीं सूचन किया है, किन्तु उदाहरण नहीं दिया है। इनके अतिरिक्त लक्ष्मीसहस्र काव्य में वेंकटाध्वरि ने गरुड़गति-चक्रबन्ध और विदग्धमुखमण्डन में धर्मदास ने काकपद-जाति के प्रश्नोत्तर का उदाहरण भी दिया है किन्तु उनमें नवीनता नहीं है।

५—प्रहेलिका : लक्षण और उदाहरण मीमांसा

भरत ने 'प्रहेलिका' की कोई चर्चा नहीं की है। भामह ने 'प्रहेलिका' का लक्षण अनेक धात्वर्थों से गम्भीर रचना,[2] बतलाया है, जो हेय-यमक के बारे में सूचन करने के व्याज से प्रदर्शित हुआ है किन्तु इस का कोई उदाहरण उन्होंने नहीं दिया है।

आचार्य दण्डी ने सर्वप्रथम चित्रचक्र वर्णन के पश्चात् प्रहेलिका का भी विस्तृत वर्णन किया है किन्तु इसे अलङ्कार के रूप में कोई महत्त्व न देते हुए केवल 'क्रीडा, गोष्ठी, विनोद, जनसमूह में गुप्त भाषण तथा दूसरों को अर्थानभिज्ञ बनाकर उपहास का पात्र बना देने में उपयोगी बतलाया है। ये प्रहेलिकाएँ अनेक प्रकार की होती हैं, किन्तु इनमें पूर्वाचार्यों द्वारा जिन सोलह प्रकार की प्रहेलिकाओं का वर्णन किया गया है, उन्हीं को निर्दुष्ट मान कर दण्डी ने भी विवेचन किया हैं। इन सोलह शुद्ध प्रहेलिकाओं के अतिरिक्त चौदह और पूर्वाचार्यों ने कही हैं किन्तु वे दोषपूर्ण हैं, ऐसा मानकर चमत्कार-जनक एवं उत्तम, दोष-

---

१—वहीं, टीका में—'आदिपदान्नरपदसंग्रहः।' पृष्ठ ५०

२—नानाधात्वर्थगम्भीरा, यमक-व्यपदेशिनी। प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे।
काव्यालङ्कार-भामह २-१९॥

३—क्रीडा-गोष्ठी-विनोदेषु, तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहने चापि, सोपयोगाः प्रहेलिकाः॥ ३।९७।[1]
एताः षोडशनिर्दिष्टाः पूर्वाचार्यैः प्रहेलिकाः।
दुष्टप्रहेलिकाश्चान्यास्तैरधीताश्चतुर्दश॥ ३।१०६॥
दोषानपरिसंख्येयान्, मन्यमाना वयं पुनः।
साध्वीरेवाभिधास्यामस्ता दुष्टा यास्त्वलक्षणाः॥ ३।१०७॥
एवमेवेतरासामप्युन्नेयः सङ्करक्रमः॥ ३।१२४॥
विशदबुद्धिरनेन सुवर्त्मना, सुकरदुष्करमार्गमवैति हि।
नहि तदन्यनयेऽपि कृतश्रमः, प्रभुरिमं ननमेतुमिदं विना। काव्यादर्श ३।१२६॥

यह अन्तिम पद्य काव्यादर्श के 'कमलमणि-ग्रन्थमाला-काशी' के प्रकाशन में है। रामचन्द्र मिश्र मैथिल द्वारा अनूदित चौखम्बा-प्रकाशन' में नहीं। दण्डी द्वारा प्रत्येक चक्र के अन्त में प्रदत्त पुष्पिकाओं के आधार पर यह पद्य उचित ही प्रतीत होता है। देखो, पृ० १५८

रहित प्रहेलिकाओं के लक्षणोदाहरण उनके द्वारा दिये गये हैं। तथा अन्त में सोलहवीं सङ्कीर्ण-प्रहेलिका का वर्णन करके ऐसी ही अन्य सङ्कीर्ण प्रहेलिकाओं के ज्ञान का संकेत भी दिया है। तथा बुद्धिवैशद्य और सुकर-दुष्कर-मार्ग के ज्ञान के लिये ऐसे विषयों का ज्ञान आवश्यक माना है।

वामन ने प्रहेलिका की चर्चा नहीं की है। रुद्रट ने भी दण्डी का अनुसरण करते हुए प्रहेलिका को अलङ्कार न मानकर केवल क्रीडामात्रोपयोगी कहा है। तथा 'स्पष्ट होने पर भी प्रश्नवाक्य में ही उत्तर के निगूढ रहने के कारण भ्रमोत्पादक को 'स्पष्टप्रच्छन्नार्था, और असाधारण विशेषण के द्वारा साक्षात् अनुक्तार्थ की उपलब्धि करानेवाली को 'अव्याहृतार्था' ऐसा कहकर प्रहेलिका के दो भेद भी बतलाये हैं।[1]

अग्निपुराण में सबसे पहले चित्रालङ्कार के सात भेदों में दूसरा स्थान प्रहेलिका को मिला है। ग्रन्थकार के अनुसार 'जहाँ द्व्यर्थक गुह्य शब्दों का प्रयोग हो, उसे प्रहेलिका कहते हैं। इसके 'शब्द द्वारा ज्ञान होने परशाब्दी' और अर्थ द्वारा ज्ञान होने पर 'आर्थी' ऐसे दो भेद किये हैं तथा छः उपभेदों का सूचन किया है।[2]

भोज ने शब्दालङ्कार की चौबीस जातियों में 'प्रहेलिका' की भी गणना की है तथा लक्षण में दण्डी के ही लक्षण-पद्य को दिया है। साथ ही इसके छः भेद माने हैं, जो दण्डी से सर्वथा नवीन हैं।[3] मम्मट ने इसकी चर्चा नहीं की है। विश्वनाथ ने रस के अनुकूल न होने के कारण 'प्रहेलिका को अलङ्कार मानने को निषेध किया है[4] किन्तु इनके पश्चात् सामान्य रूप से सभी आलङ्कारिकों ने प्रहेलिका का वर्णन कहीं अधिक और कहीं न्यून रूप में ही किया है, जिनका विवेचन इस प्रकार है—

१—मात्राबिन्दुच्युतके, प्रहेलिका-कारक-क्रियागूढे।
प्रश्नोत्तरादि-चान्यत् क्रीडामात्रोपयोगमिदम् ॥ ५।२४ ॥

(क) स्पष्टप्रच्छन्नार्था प्रहेलिकाव्याहृतार्था च ५।२५ ॥

(ख) प्रच्छन्नत्वाद् भवतस्तद्गूढे कारकक्रियान्तरयोः ॥ काव्यालङ्कार-रुद्रट ५।२१ पूर्वार्ध ॥

२—गोष्ठ्यां कुतूहलाध्यायी, वाग्बन्धश्चित्रमुच्यते। प्रश्नः प्रहेलिका गुप्तं०। द्वयोरप्यर्थ-योर्गुह्यमानशब्दा प्रहेलिका। सा द्विधाऽर्थी चे शाब्दी च, तत्रार्थी चावबोधतः। शब्दात्रबोधतः शाब्दीं, प्राहुः षोढा प्रहेलिकाम् ॥ अग्निपुराण अध्याय ३४३।२२ से २६ ॥

३—'श्लेषानुप्रास-चित्राणि, वाकोवाक्यं प्रहेलिका' इत्यादि, तथा

४—प्रहेलिका सकृत् प्रश्नः, सापि षोढा च्युताक्षरा ॥ इत्यादि स० क० पृ० २९९ ॥

५—रसस्य परिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका ॥ साहित्यदर्पण, (दशम परिच्छेद)
तथा अन्यत्र—स्वर-वर्ण-स्थान-बन्ध-गतीनां नियमस्तया।
प्रहेलिकाच्युतं गूढमेतच्चित्रं निगद्यते ॥ श्रीकृष्णविजय काव्य-रामचन्द्र

१—**समागता**—जिस प्रहेलिका के पदों में सन्धि हो जाने के कारण विवक्षित अर्थ गूढ हो जाता है, उसे 'समानता' नामक प्रहेलिका कहते हैं ।[1] जैसे—

नमयागोरसाभिज्ञं, चेतः कस्मात् प्रकुप्यसि ।
अस्थानरुदितैरेभिरलमालोहिते क्षणे ।। काव्यादर्श ३।१०८ ।।

इस उदाहरण में 'मे आगोरसाभिज्ञं' में सन्धि द्वारा गोप्यार्थ को छिपाया गया है, अतः इसे 'समागता' कहते हैं । यही पद्य भोज के अनुसार 'सम्बन्धगूढ' का उदाहरण है ।[3]

२—**वञ्चिता**—जहाँ योग से विवक्षितार्थ का बोध होता है परन्तु रूढि के द्वारा परवञ्चना की जाय, उसे 'वञ्चिता' नामक प्रहेलिका कहते हैं । जैसे—

कुब्जामासेवमानस्य, यथा ते वर्धते रतिः ।
नैवं निविशतो नारीरमरस्त्रीविडम्बिनीः ।।

इस उदाहरण में कुब्जा शब्द कुबडी स्त्री में रूढ है, कान्यकुब्जा नगरी में नहीं । अतः छिपा हुआ अर्थ निपुणमतिमात्र-वेद्य है, इसलिये इसे 'वञ्चिता' कहते हैं ।

३—**व्युत्क्रान्ता**—जो प्रहेलिका असम्बद्ध पदों से व्यवहित सम्बद्ध पद होने के कारण अर्थज्ञान में कठिनाई उत्पन्न करती है, उसे 'व्युत्क्रान्ता' नामक प्रहेलिका कहते हैं । जसे—

दण्डे चुम्बति पद्मिन्या, हंसः कर्कशकण्टके ।
मुखं वल्गुरवंकुर्वंस्तुण्डेनाङ्गानि घट्टयन् ।।

इस उदाहरण में आसक्ति नामक अन्वय-बोध का कारण अतिशय व्यवहित है, अतः इसे 'व्युत्क्रान्ता' कहते हैं ।

४—**प्रमुषिता**—जिस प्रहेलिका के पदसमुदाय कठिनाई से जानने योग्य अर्थ वाले हों, उसे 'प्रमुषिता' नामक प्रहेलिका कहते हैं । यथा—

खातयः कनि काले ते, स्फातयः स्फीतवल्गनः ।।
चन्द्रे साक्षाद् भवन्त्यत्र, वायवो मम धारिणः ।।

इस उदाहरण में कनि-कुमारी, काल-चरण, स्फाति-प्रचुरतर स्फीत आदि अप्रसिद्धार्थक पदों का न्यास करके विवक्षितार्थ को निगूढ कर दिया गया है, अतः इसे 'प्रमुषिता' कहते हैं ।

१—आहुः समागतां नाम गूढार्थां पदसन्धिना ।। ३।९८ ।।

२—यहाँ से संकीर्णा प्रहेलिका तक के लक्षण और उदाहरण काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद से गृहीत हैं । अतः मूल वहीं द्रष्टव्य है

३—द्रष्टव्य-सरस्वतीकण्ठाभरण २।३६९ उदाहरण

५—**समानरूपा**--जो प्रहेलिका गौणार्थ में उपचरित पदों से ग्रथित हो, उसे सादृश्य-मूलक होने से 'समानरूपा' नामक प्रहेलिका कहते हैं। जैसे—

अत्रोद्याने मया दृष्टा, वल्लरी पञ्चपल्लवा।
पल्लवे पल्लवे ताम्रा, यस्यां कुसुममञ्जरी॥

इस उदाहरण में नायिका उद्यान से, उसका बाहु पल्लवरूप अँगुली से युक्त होने के कारण पल्लविनी लता से, पल्लव अंगुलियों से और नखप्रभा रक्त वर्ण की पुष्पमञ्जरी से सादृश्य द्वारा उपचरित हैं, अतः इसे 'समानरूपा' कहते हैं।

६—**परुषा**--जिस प्रहेलिका में शास्त्रीय सूत्रों से सिद्ध होने पर भी उसका योगार्थ अप्रसिद्ध हो, उसे 'परुषा' नामक प्रहेलिका कहते हैं। जैसे

सुराः सुरालये स्वैरं, भ्रमन्ति दर्शनार्चिषा।
मज्जन्त इव मत्तासे, सौरे सरसि सम्प्रति॥

इस उदाहरण में शौण्डिक पक्षवाला अर्थ रुढि से नहीं निकलता है, उसे सूत्रों द्वारा अर्थात् सुरा अस्ति येषां ते सुरः शौण्डिकाः-आदि समास से अथवा शास्त्रीय पद्धति से यौगिक बनाकर ही निकाला जा सकता है, अतः प्रयोक्ता की परुषता के प्रतीत होने से इसे 'परुषा' कहते हैं।

७—**संख्याता**--जिस प्रहेलिका में वर्णगणना अथवा संख्यावचक पद प्रयोग बुद्धि को भ्रम में डाल दे, उसे 'संख्याता' कहते हैं। यथा—

नासिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता।
अस्ति काचित् पुरी यस्यामष्टवर्णाह्वया नृपः॥

इस उदाहरण में वर्ण संख्या द्वारा काञ्चीपुरी और पल्लवाः नरेश विवक्षित हैं। काञ्ची के मध्य में, 'म' और क, अञ, च, ई,-रूप चार वर्ण हैं तथा 'पल्लवा' में प, अ, ल, अ, व, आ, विसर्ग ये आठ अक्षर हैं। अतः इसे 'संख्याता' कहा जाता है।

८—**प्रकल्पिता**--जिसमें पहले प्रतीत होने वाले अर्थ से भिन्न अर्थ पर्यवसान में समझा जाये, उसे 'प्रकल्पिता' नामक प्रहेलिका कहते हैं। जैसे—

गिरा स्खलन्त्या नम्रेण, शिरसा दीनया दृशा।
तिष्ठन्तमपि सोत्कम्पं, बुद्धे मां नानुकम्पते॥

इस उदाहरण में प्रतीयमान प्रथमार्थ वृद्धकामुक की वृद्धा के प्रति उक्तिरूप द्वारा द्वितीया प्रेयसी लक्ष्मी के प्रति उक्तिरूप की कल्पना की गई है, अतः इसे 'प्रकल्पिता' कहते हैं।

९—**नामान्तरिता**--जिसमें अनेकार्थक शब्द से नाम में अनेक प्रकार के अर्थों की कल्पना की जाय, उसे 'नामान्तरिता' नामक प्रहेलिका कहते हैं। जैसे—

आदौ राजेत्यधीराक्षि! पार्थिवः कोऽपि गीयते।
सनातनश्च नैवासौ, राजा नापि सनातनः॥

इस उदाहरण में प्रियालवृक्ष के नाम राजातन शब्द को लेकर अनेक अर्थों की कल्पना की गई है, अतः इसे 'नामान्तरिता' कहते हैं।

इस नामान्तरिता के लक्षण में नाम्नि-नानार्थ कल्पना के आधार पर नाम पद को केवल संज्ञापरक ही न मानकर वस्तुपरक भी मानने पर इसके अन्य भेद भी हो सकते हैं। यथा—

तरुण्यालिङ्गितः कण्ठे, नितम्बस्थलमश्रितिः।
गुरूणां सन्निधानेऽपि, कः कूजति मुहुर्मुहुः॥

यहाँ सजल घट-रूप वस्तु को कहने के लिये नाना अर्थों की कल्पनाएँ की गई हैं। अतः यह भी 'नामान्तरिता-प्रहेलिका' होगी। इसी प्रकार अन्य भी समझनी चाहिये।

१०—**निभृता**—जहाँ प्रकृताप्रकृत साधारण-धर्म प्रतिपादक शब्द द्वारा प्रकृतार्थ का गोपन किया गया हो, उसे 'निभृतार्था' नामक प्रहेलिका कहते हैं। जैसे—

हृतद्रव्यं नरं त्यक्त्वा, धनवन्तं भजन्ति काः।
नानाभङ्गिः समाकृष्टलोका वेश्या न दुर्धरा॥

इस उदाहरण में यद्यपि विशेषण-साम्य द्वारा नदीरूप अर्थ प्रतीत होता है, परन्तु नदी की वाचक शब्द से उपस्थिति नहीं है अतः उसे 'निभृता' कहते हैं।

११—**समानशब्दा**—प्रयुक्त शब्दों में पर्यायकृत योजना-विशेष द्वारा जो प्रहेलिका बन जाती है, उसे 'समानशब्दा' कहते हैं। जैसे—

जितप्रकृष्टकेशाख्यो, यस्तवाभूमि साह्वयः।
स मामद्य प्रभूतात्कं, करोति कलभाषिणि॥

इस उदाहरण में 'प्रकृष्टकेशाख्या' और 'अभूमिसाह्वय' पद लक्षितलक्षणा द्वारा प्रवाल और अधररूप अर्थ को उपस्थापित करते है, अतः प्रकृत अर्थ के समान शब्द द्वारा उपस्थापित होने के कारण इसे 'समानशब्दा' कहते हैं।

१२—**संमूढा**—जिसमें वाचक शब्दों द्वारा अर्थ-निर्देश होने पर भी श्रोताओं को मूढ हो जाना पड़े, उसे 'संमूढा' नामक प्रहेलिका कहते हैं। जैसे—

शयनीये परावृत्य, शयितौ कामिनौ क्रुधा।
तथैव शयितौ रागात्, स्वैरं मुखमचुम्बताम्॥

इस उदाहरण में 'मुँह घुमाकर शय्या पर सोये हुए कामियुगल ने अन्योन्य मुख-चुम्बन किया' यह क्रिया अशक्य होने से श्रोतागण मूढ हो जाते हैं। अतः उसे 'संमूढा' कहते हैं।

१३—परिहारिका—जिस प्रहेलिका-भेद में यौगिक शब्दों की परम्परा एक-एक रूढ अर्थ को बताने के अभिप्राय से प्रयुक्त हो, उसे 'परिहारिका' कहते हैं। जैसे—

विजितात्मभवद्वेषिगुरुपादहतो जनः ।
हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमाभिनन्दति ॥

इस उदाहरण में वि-गरुड, जित-इन्द्र आदि यौगिक शब्दों की बहुलता है, अतः उसे 'परिहारिका' कहते हैं।

१४—एकच्छन्ना—जिसमें आश्रित तो स्पष्ट रूप से कहा गया हो, परन्तु आश्रय छन्न-गुप्त हो, उसे 'एकच्छन्ना' प्रहेलिका कहते हैं। जैसे—

न स्पृशत्यायुधं जातु, न स्त्रीणां स्तनमण्डलम् ।
अमनुष्यस्य कस्यापि, हस्तोऽयं न किलाफलः ॥

इस उदाहरण में फल-आश्रित व्यक्त है और वृक्ष आश्रय छिपा हुआ है, अतः इसे 'एकच्छन्ना' कहते हैं।

१५—उभयच्छन्ना—जिसमें आश्रित और आश्रय दोनों का गोपन किया जाता है, उसे 'उभयच्छन्ना' कहते हैं। जैसे—

केन कः सह सम्भूय, सर्वकार्येषु सन्निधिम् ।
लब्ध्वा भोजनकाले तु, यदि दृष्टो निरस्यते ॥

इस उदाहरण में आश्रय मस्तक और आश्रित केश दोनों ही छिपे हुए है, अतः इसे 'उभयच्छन्ना' कहते हैं।

१६—सङ्कीर्णा—जिसमें समागता आदि अनेक प्रहेलिकाओं के लक्षण एक साथ समाविष्ट हों, उसे 'सङ्कीर्णा' प्रहेलिका कहते हैं। जैसे—

सहया सगजा सेना, सभटेयं न चेज्जिता ।
अमातृकोयं मूढः स्यादक्षरज्ञश्च नः सुतः ॥

यहाँ 'सहया सगजा' आदि पदों का प्रकटार्थ घोड़े और हाथी से युक्त अर्थ किये गये हैं, जब कि गुप्तार्थ में हकार और यकार से युक्त, गकार और जकार से युक्त आदि अर्थ करते हुए कण्टस्थीकृत-वेद किन्तु अक्षरज्ञान से शून्य पुत्र के बारे में चिन्ता व्यक्त की गई है। अतः यहाँ हयादि शब्दों की विविधार्थ-कल्पना होने से 'नामान्तरिता' और सेना शब्द का प्रसिद्धार्थ ग्रहण न करके इकार और नकार से युक्त ऐसा अर्थ लिया गया है, अतः 'वञ्चिता' नामक प्रहेलिकाओं का सङ्कर हुआ है।

रुद्रट ने काव्यालङ्कार में प्रहेलिका के दो रूप दण्डी के भेदों से नवीन दिये हैं। जिनके लक्षणोदाहरण इस प्रकार हैं—

१—**स्पष्ट-प्रच्छान्नार्था**—जहाँ प्रश्नगत पदों में ही उत्तर का अर्थ निगूढ रहकर भ्रम को उत्पन्न करता है, वहाँ 'स्पष्टप्रच्छन्नार्था' नामक पहेली मानी जाती हे। जैसे—

कानि निकृत्तानि कथं, कदलीवनवासिना स्वयं तेन ॥
पूर्वार्ध, वहीं ५।२६ ॥

इस अर्धाली में प्रथमार्थ प्रश्न के रूप में है, जब कि द्वितीयार्थ में उन्हीं पदों के अर्थ कानि-शिरांसि, कदलीव, असिना, नव'-इत्यादि करने से उत्तर प्राप्त होता है।

२—**अव्याहृतार्था**—जहाँ साधारण विशेषण देने से ही उत्तर की प्राप्ति हो जाने के कारण साक्षात् रूप में अर्थ नहीं कहा गया हो, वहाँ 'अव्याहृतार्था' नामक पहेली मानी जाती है। जैसे—

कथमपि न दृश्यतेऽसावन्वक्षं हरति वसनानि ॥ उत्तरार्ध वहीं ५।२६ ॥

उपर्युक्त आर्या के इस उत्तरार्ध में कोई वस्त्रों का हरण कर रहा है पर प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। इसलिये वह कौन हो सकता है? इसके उत्तर में 'साधारण विशेषण के ग्रहण से 'वायु' का बोध हो जाता है। क्योंकि चोरों की ऐसी शक्ति नहीं है कि वे प्रत्यक्ष न दिखाई दें और वस्त्रों को हरण करें।

अग्निपुराण' में शाब्दी और आर्थी ऐसे दो भेद बताकर प्रहेलिका के छः भेदों का कथन किया है, किन्तु नाम एवं उदाहरणादि नहीं दिये हैं। भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में प्रहेलिका के लक्षण को तो दण्डी से यथावत् ग्रहण किया है किन्तु भेद दण्डी से सर्वथा पृथक् दिये हैं, जिनमें आरम्भ के तीन भेद तो स्पष्ट ही च्युत-चित्र हैं। अतः उनका वर्णन यहाँ न करते हुए शेष तीन भेदों के लक्षणोदाहरणों की मीमांसा कर रहे हैं।

१—**अक्षरमुष्टि-प्रहेलिका (अन्य पद्यप्रसविनी)**—जहाँ कुछ अक्षरों की मुष्टि-समूह बनाकर पद्य की रचना की जाय तथा उसमें चारों पदों को चार पक्तियों में लिखकर चार मुरजबन्धनों के क्रम से पढ़ने पर नवीन पद्य का निर्माण हो, वहाँ उक्त प्रहेलिका-भेद होता है। जैसे—

अतिः अतिः अन्म अलं, प्राद्य रद्य जद्य फद्य।
मेला मेला मेलं मेलं, फस फस फस फस ॥२ स० क० ।३६१ ॥

इस पद्य के चार चरणों को चार पंक्तियों में लिखकर मुरजबन्ध के क्रम से पढ़ने पर निम्नलिखित पद्य की सृष्टि होती है––

अद्य मे सफला प्रीतिरद्य मे सफला रतिः ।
अद्य में सफलं जन्म, अद्य मे सफलं फलम् ॥ स० क० २।३६२ ॥

इस पद्य के अक्षर पूर्वोक्त पद्य में ही निश्चित हैं। पूर्वोक्त पद्य को चार चरणों में लिखकर क्रमशः १-२-३-४ चरणों में 'अवरोह-पद्धति' से पहला, दूसरा, पहला और दूसरा अक्षर पढ़ें। फिर आरोह-पद्धति से ५-३-२-१ चरणों में भी पहला, दूसरा, पहला और दूसरा अक्षर पढ़े। इस प्रकार पढ़ने से निकले हुए आठ अक्षरों से पहला चरण बन जाता है। तथा अग्रिम चरणों की प्राप्ति के लिये भी इसी प्रकार प्रत्येक चरण के दो-दो अक्षरों का अवरोह-आरोह पद्धति के अनुसार पठन किया जाता है।

(क) **नामाक्षर-मुष्टि-प्रहेलिका**––अक्षरमुष्टि प्रहेलिका का एक अन्य उदाहरण 'श्रीकृष्णविजय-काव्य' के निम्न पद्य से प्राप्त होता है––

रामाभिरतहृत्पद्मः, कामदानकरश्रिया ।
कविचन्द्रस्तुतगुणो, भवतीन्द्रः प्रथाजुषाम् ॥

यहाँ क्रमशः एक, दो, तीन और चार चरणों के क्रमशः एक, दो, तीन और चार संख्या वाले अक्षरों को ग्रहण करके 'रामचन्द्र' यह ग्रन्थकार का नाम निकाला जाता है। अतः इस भेद को 'नामाक्षर-मुष्टि-प्रहेलिका' कह सकते हैं।

२––**बिन्दुमती-प्रहेलिका**––जहाँ उक्तार्थ का उत्तर यथास्थित स्वर, अनुस्वार, विसर्ग आदि के संयोग द्वारा केवल बिन्दुओं में दिया जाए, वहाँ उक्त प्रहेलिका-भेद होता है। जैसे––

तवाववादप्रत्यब्धि, पताका प्रतिसङ्गरम् ।
फलं प्रत्यद्भुतोपायं, यशांसि न तु न क्वचित् ॥ स० क० २।३६३ ॥

इस पद्य के द्वारा जो बात कही गई है उसका उत्तर निम्नरूप में दिया गया है––

०ु ० ० ा०ु०० ा० ा० ा, ०े०ु०े ०े०ु०े ००: ।
०ा ००े ० ा००े ि० ि०:, ००े० ०० ०ो०े०: ॥

अर्थात्––उदधावुदधावाज्ञा, संयुगे संयुगे जयः ।
साहसे साहसे सिद्धिः, सर्वत्र तव कीर्तयः ॥ स० क० २।३६४ ॥

यहां अक्षरों के स्थान पर बिन्दु लिखकर स्वरों के चिह्नों का यथावत् प्रयोग किया गया है। अतः इसे 'बिन्दुमती-प्रहेलिका' माना जाता है।

३--**अर्थवती प्रहेलिका**--जहाँ सूच्य वस्तु का भावार्थ कह दिया जाए किन्तु मुख्य वस्तुनाम अनुमान के आधार पर कहा जाए, वहाँ उक्त प्रहेलिका-भेद होता है। जैसे--

उत्तप्त-काञ्चनाभासं, सन्दष्टदशनच्छदम् ।
सरसं चुम्ब्यते-हृष्टैर्वृद्धैरपि किमुज्ज्वलम् ।। स० क० २।३६५ ।।

यहां भावार्थ से पके हुए आम की स्थिति समझाकर पूछा गया है कि वह वस्तु क्या है? इसका उत्तर अर्थ के आधार पर 'पक्वाम्रफल' प्राप्त होता है, अतः यहाँ 'अर्थवती-प्रहेलिका' मानी गई है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के तृतीयखण्ड में 'प्रहेलिका-लक्षण' नामक सोलहवाँ अध्याय है। जिसमें पन्द्रह पद्यों में प्रहेलिकाओं के नाम और लक्षण प्राप्त होते हैं। प्रहेलिकाओं के निर्माण के लिये कहा गया है कि--'काव्य में जो कुछ विद्वानों द्वारा दोष कहे गये है, उन्हीं से प्रहेलिकाओं की रचना करनी चाहिये। इसी प्रकार कुछ अन्य प्रहेलिकाएँ भी होती हैं जिनका लक्षण मैं कहूँगा। हे नरोत्तम! ये प्रहेलिकाएँ एक अथवा दो पद्यों से बनानी चाहिये अधिक पद्यों से नहीं।'[1] ये प्रहेलिकाएँ विष्णुपुराण के अनुसार तेईस हैं--

१-समात्रता, २-वञ्चिता, ३-विक्रान्तगोपिता, ४-मुषिता, ५-परिहासिका, ६-समानरूपतुल्यार्था, ७-परुषा, ८-संख्याता, ९-कल्पिता १०-नामान्तरिता, ११-निभृता, १२-समानशब्दा, १३-व्यामूढा, १४-गूढा, १५-एकोभयच्छन्ना, १६-बहुच्छन्ना, १७-सङ्कीर्णा, १८-व्यभिचारिणी, १९-वृत्तबन्धनिदर्शना, २०-नष्टाक्षरा, २१-वर्णभ्रष्टा, २२-तदर्थदा और २३-लेशा। इनमें दण्डी द्वारा विवेचित कतिपय यथावद् गृहीत हैं, कुछ नाम परिवर्तित किये गये हैं और कुछ नवीन हैं। यथा--वञ्चिता, मुषिता, परुषा, आदि यथावत् हैं। समागता के स्थान पर समात्रता, परिहारिका के स्थान पर परिहासिका, सम्मूढा के स्थान पर व्यामूढा आदि नामतः परिवर्तित हैं और बहुच्छन्ना, व्यभिचारिणी, वृत्तबन्ध-निदर्शना आदि अन्तिम छः-सात प्रहेलिकाएँ नवीन हैं किन्तु वहाँ इनके संक्षिप्त लक्षण के अतिरिक्त उदाहरण नहीं होने से विवेचन कर पाना कठिन है।[2]

६--च्युत-चित्र : लक्षण और उदाहरण-मीमांसा

भरत, भामह, दण्डी और वामन ने 'च्युतचित्र' के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं का है। रुद्रट ने सर्वप्रथम इस भेद को क्रीडामात्रोपयोगी मानकर चित्रालङ्कार के अन्य भेदों में

१--काव्ये येऽभिहिता दोषाः, कैश्चित्तेभ्यः प्रहेलिकाः ।
कर्तव्याश्च तथैवान्यास्तासां वक्ष्यामि लक्षणम् । १६।१ ।।
श्लोकैनैकेन वा द्वाभ्यां कर्तव्यास्तु नरोत्तम ।
न कर्तव्याश्च ता राजन्, बहुश्लोकनिबन्धना ।। विष्णुधर्मोत्तर-पुराण १६।२ ।।

२--द्रष्टव्य-विष्णुधर्मोत्तर-पुराण, तृतीय खण्ड, १६वाँ अध्याय ।

सर्वप्रथम स्थान दिया है। तथा लक्षण में कहा है कि—जहाँ मात्रा और बिन्दु के च्यवन-भ्रंश कर देने से अन्यार्थ की प्रतीति हो, उसे 'च्युत' कहते हैं।[1] किन्तु अग्निपुराण में इसको शुद्ध चित्रालङ्कार ही माना है तथा सात भेदों में चौथा स्थान देकर कहा गया है कि—'जहां किसी वाक्याङ्ग के स्खलन से अन्यार्थ की प्रतीति हो और उस स्खलित अङ्ग की आकांक्षा से सम्बन्ध का निर्वाह हो, उसे 'च्युत' कहते हैं।[2] इसके अतिरिक्त अग्निपुराणकार ने 'दत्तचित्र' और 'च्युत-दत्तपद' नामक दो चित्रालङ्कारों का पृथक् और नाम देकर क्रमशः उन्हें पाँचवां एवं छठा स्थान दिया है, जो रुद्रट के काव्यालङ्कार की टीका में नमिसाधु के द्वारा 'च्युत' के ही भेद कहे गये हैं।[3] भोज ने 'च्युत' को स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं माना है किन्तु 'प्रहेलिका' के छः भेदों में स्वतन्त्र शब्दालङ्काररूप में 'च्युताक्षरा, दत्ताक्षरा और च्युतदत्ताक्षरा' ऐसे तीनों भेदों का संग्रह किया है किन्तु लक्षण नहीं दिया है।[4] मम्मट, रुय्यकादि पुनः इसके विवेचन में मौन हो गये हैं। हेमचन्द्र ने 'च्युत' को चित्रालङ्कार ही माना है तथा उसे चित्रों के भेदों में सातवाँ भेद मानते हुए चार भेदों का सूचन किया है किन्तु लक्षण नहीं दिया।[5] विश्वनाथ ने च्युतदत्ताक्षरादि को उक्तिवैचित्र्य-मात्र कहा है, अतः वे इसे अलङ्कार मानने को भी तैयार नहीं है।[6] वाग्भट द्वितीय ने 'च्युत' को अनेकधा कहकर उसमें अक्षरादि-च्युति के आधार पर छन्द-परिवर्तन को भी ग्रहण कर लिया है।[7] अमरचन्द्रयति ने भी वाग्भट का ही अनुसरण किया है, किन्तु श्लेष की सिद्धि के लिये जो निर्देश दिये हैं, उनसे भी 'च्युत-चित्र' की रचना में सहायता प्राप्त होती है तथा विभिन्नता का आभास प्राप्त होता है।' इतना विशेष सूचन किया है। इसी प्रकार 'च्युत-चित्र को उत्तरकाल के आचार्यों ने स्वीकृत अवश्य किया है किन्तु कोई लक्षण में नवीनता नहीं दी है। च्युत-चित्र के भेद और उनकी सोदाहरण--मीमांसा इस प्रकार है—

१—मात्रा-च्युतक-चित्र—रुद्रट ने च्युत-चित्र के दो भेदों में मात्रा-च्युतक को

१—मात्राबिन्दुच्यवनादन्यार्थकत्वेन तच्च्युतोनाम ॥ काव्यालङ्कार-रुद्रट ५।२५ ॥

२—यत्रार्थान्तरनिर्भासो, वाक्याङ्गच्यवनादिभिः। तदङ्गविहिताकांक्षस्तच्च्युतं स्यात् ॥
—अग्निपुराण ॥३४३।२७-२८ ॥

३—काव्यालङ्कार-रुद्रट पृ० ५८ टीकाभाग।

४—प्रहेलिका सकृत् प्रश्नः, सापि षोढा च्युताक्षरा।
दत्ताक्षरोभयं मुष्टिबिन्दुमत्यथर्वत्यपि ॥ सरस्वतीकण्ठाभरण २।१३३ ॥

५—च्युतमात्रार्धबिन्दुवर्णगतत्वेन चतुर्धा ॥ काव्यानुशासन-हेमचन्द्र ५।४ ॥

६—उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका ॥ साहित्यदर्पण-विश्वनाथ १०।१४ ॥

७—मात्राबिन्दुवर्णादिभेदैश्च्युतमनेकधा ॥ की वृत्ति-काव्यानुशासन-वाग्भट ४।१ ॥

पहला भेद माना है। किन्तु उसका लक्षण न देते हुए केवल उदाहरण दिया है। यथा--

नियतमगम्यमद्रव्यं, भवति किल त्रस्यतो रणोपान्तम् । [1]

इस पूर्वार्ध में 'किल' शब्द के रहते हुए जो अर्थ होता है इसके अतिरिक्त एक और अर्थ 'किल' के इकार-स्वर को हटा देने से 'कल' शब्द बनजाने पर अग्रिम पद के साथ 'कलत्रस्य' पद के रूप में प्राप्त होता है, अतः यहाँ उक्त चित्रालङ्कार माना गया है।[2]

२--**बिन्दुच्युतक-चित्र**--रुद्रट ने इस द्वितीय भेद का भी कोई लक्षण नहीं दिया है।[3] इसका उदाहरण इस प्रकार है--

कान्तो नयनानन्दी, बालेन्दुः खे न भवति सदा ॥

पूर्वोक्त पद्य के इस उत्तरार्ध में 'बालेन्दुः' पद में अनुस्वार-स्थानीय अर्धाक्षर न के रहते हुए जो अर्थ होता है इसके अतिरिक्त एक और अर्थ इसके हटा देने से 'बालेदुः' बन जाने पर अग्रिमपद के साथ 'बाले दुःखेन' पद से प्राप्त होता है, अतः यहाँ उक्त चित्रालङ्कार माना गया है। अग्निपुराण में इन दो भेदों के अतिरिक्त 'व्यञ्जन' और 'विसर्ग-च्युत' नामक दो नवीन भेद और किये हैं। इसी प्रकार जैसे अक्षरादि को हटा देने से च्युतचित्र होता है, वैसे ही अक्षरादि जोड़ देने से 'दत्त-चित्र' भी अग्निपुराण में वर्णित है। उसके लक्षण में कहा गया है कि--जहाँ किसी वाक्याङ्ग में किसी वाक्यांश के देने मात्र से द्वितीय अर्थ की प्रतीति हो, वहाँ 'दत्त-चित्र' होता है और इसके भी पूर्ववत् --१--स्वर-दत्त, २--व्यञ्जन-दत्त, ३--अनुस्वार-दत्त और ४--विसर्ग-दत्त ऐसे चार भेद होते हैं। 'जहाँ हटाये गये स्वरादि के स्थान पर अन्य स्वरादि देने से अन्यार्थ-प्रतीति हो, उसे 'च्युत-दत्त' चित्र कहते हैं। इस प्रकार कुल नौ भेद हो जाते हैं[4] किन्तु वहाँ कोई उदाहरण नहीं दिये गए हैं। भोज ने इसके तीन भेद दिखलाये हैं, जो अग्निपुराण के पृथक् प्रदर्शित चित्रालङ्कार दत्तचित्र और च्युत-दत्त-चित्र को एक ही प्रहेलिका में समाविष्ट करते हैं। उदाहरण इस प्रकार हैं--

१--च्युताक्षरा-चित्र--पयोधरभराक्रान्ता, संनमन्ती पदे पदे ।
पदमेकं न का याति यदि हारेण वर्जिता ॥स० क० २।३५८॥

१--उदाहरण पद्य ॥ काव्यालङ्कार-रुद्रट ५।२८ ॥

२--मात्रादि स्वर के हटा देने पर भी व्यञ्जन अकारान्त ही रहता है क्योंकि इसके बिना उच्चारण सम्भव नहीं है। नमिसाधु ॥ वहीं पृ० ५८ ॥

३--मात्राबिन्दुच्यवनादन्यार्थकत्वेन तच्च्युतो नाम ॥ वहीं ५।१५ ॥

४--दत्तेऽपि यत्र वाक्याङ्गे, द्वितीयोऽर्थः प्रतीयते। दत्तं तदाहुस्तद्भेदाः, स्वराद्यैः पूर्ववन्मताः।
अपनीताक्षरस्थाने न्यस्ते वर्णान्तरेऽपि च। भासतेऽर्थान्तरं यत्र च्युतदत्तं तदुच्यते ॥
--अग्निपुराण ३४३।२९।३० ॥

यहाँ 'विहङ्गिका काहारेण वर्जिता न याति' ऐसा कहना चाहिये किन्तु वैसा न कह कर 'हारेण' ऐसा कहा है। अतः 'का' अक्षर च्युत होने से उक्त अलङ्कार है।

२–दत्ताक्षरा-चित्र–कान्तयाऽनुगतः कोऽयं, पीनस्कन्धो मदोद्धतः।
मृगाणां पृष्ठतो याति, शम्बरो रूढयौवनः॥ वहीं २।३५६॥

यहाँ 'शबरो' ऐसा कहना चाहिये किन्तु वैसा न कहकर अनुस्वार अधिक दिया है, अतः उक्त अलङ्कार है।

३–च्युतदत्ताक्षरा-चित्र–विदग्धः सरसो रागी, नितम्बोपरि संस्थितः।
तन्वङ्ग्यालिङ्गितः कण्ठे, कलं कूजति को विटः॥
वहीं २।३६०॥

यहाँ 'विटः' इस पद में वि अक्षर को च्युत करके घ—अक्षर देने पर 'घटः' कूजन करता है, ऐसा दूसरा अर्थ प्राप्त होता है, अतः उक्त अलङ्कार है।

वाग्भट ने इसी च्युत-पद्धति को अनेक प्रकार की मानते हुए[1] पद्य के चरणगत अक्षरों को च्युत कर देने से भिन्न छन्द-निर्माण के उदाहरण दिये हैं जिसे अमरचन्द्र यति ने पल्लवित किया है। किन्तु इस पद्धति का छन्दोगत वैचित्र्य से सम्बन्ध होने के कारण हमने उसे छन्द सम्बन्धी विवेचन में स्थान दिया है।

अमरचन्द्र यति ने श्लेष की सिद्धि के लिए कुछ निर्देश दिये हैं, उनसे भी च्युतचित्र की रचना में सहयोग प्राप्त होता है। जैसे **१-पूर्वाक्षर,लोप, २- द्वितीयाक्षरलोप, ३- मध्याक्षरलोप, ४- अन्त्याक्षर-लोप, ५- मात्रालोप, ६- मात्राधिक्य, ७- अतिक्रान्तक्रम, ८- वलितक्रम, ९- केवलाक्षरप्रयोग—:कः आदिगुरु :खः मध्यगुरु और :गः अन्तगुरु द्वारा।**[2] इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—

१–त्रिदशाभोगः—पूर्वाक्षर लोप होने पर—**दशाभोगः।**

२– **कपालिश्री**—द्वितीयाक्षर लोप होने पर—**कलिश्री।**

३–**कमलम्** —मध्यामाक्षर का लोप होने पर—**कलम्।**

४–**दानवश्री** —उपान्त्याक्षर का लोप होने पर—**दानश्री।**

५–**कालस्थितिः**—मात्रा का लोप होने पर—**कलस्थितिः।**

६–**केवलज्ञानः**—मात्रा का अधिकदान होने पर—**केवलाज्ञान।**

७–**भारतीयस्थितिः**—क्रम का अतिक्रमण करने पर—**तीरभास्थितिः।**

८–**पोतवैभवः**—क्रम का वलन होने पर—**तपो वैभवः।**

१—मात्राबिन्दुवर्णादिभेदैश्च्युतमनेकधा॥ काव्यानुशासन-वाग्भट

२—द्रष्टव्य काव्य-कल्पलतावृत्ति पृ० १०३-१०४।

९–(क) **करकस्थितिः**––केवलाक्षर को आदि में गुरु करने पर—**कोरकस्थितिः** ।

(ख) **कृपणस्थितिः**—केवलाक्षर को मध्य में गुरु करने पर—**कृपाणस्थितिः** ।

(ग) **कमलस्थितिः**––केवलाक्षर को अन्त में गुरु करने पर—**कमलास्थितिः** ।

इसी प्रकार आदि मध्य और अन्त के अक्षरों को प्रारम्भ में गुरु रखकर ह्रस्व भी किया जा सकता है, जिससे तीन भेद और बन जाएँगे ।

चक्रकवि ने 'चित्र-रत्नाकर' में इस पद्धति में नवीनता लाते हुए उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त निम्न भेद और प्रस्तुत किये हैंः––

१––**पदद्वयसाधर्म्यवती च्युतदत्ताक्षरा-चित्र** जहाँ एक पद में च्युत अक्षर के स्थान पर अन्यपद के अक्षर को दिया जाए, वहां 'पदद्वयसाधर्म्यवती च्युतदत्ताक्षरा' होती है ।[1] यथा––

अनेकवर्णयुक्ताभिः, शुभाभिर्गोभिरन्वितम् ।
विशाललोचनोपेतं, वदनं भाति ते सखे ॥ चित्ररत्नाकर–२ द्वितीय परि०

यहां 'वदनं' के पद के 'व' अक्षर को च्युत करके 'सखे' पद का 'स' दिया गया है–

२––(क) **च्युतदत्ताक्षरान्तादि-चित्र** जहाँ अन्त और आदि के अक्षरों को च्युत और दत्त करने से प्रश्नोत्तर हो, उसे 'च्युतदत्ताक्षरान्तादि' कहते हैं ।[2] यथा––

को रक्षोनिकरान्धकारतरणिर्धत्ते च का मानुषान्
सम्बुद्धिर्विदुषश्च का पृथुतरं कीदृक् तटाकोदरम् ।
भूषां कां विदुराननस्य वनिताश्रोणिस्थली कीदृशी,
नारावक्षरयुक्तिमुक्तित इह त्वाद्यन्तयोरुत्तरम् ॥ वहीं

यहाँ क्रमशः उत्तर प्राप्ति-रामः धरा, बुध, साम्बु, नासा, घना इन शब्दों से होती है । इनमें प्रथम उत्तर के 'राम' में म च्युत करके आदि में 'ध' दत्त करने से धरा उत्तर प्राप्त हो जाता है द्वितीय उत्तर 'धरा' में अन्त का 'रा' च्युत कर देने से और 'बु' दत्त करने से 'बुध' उत्तर प्राप्त हो जाता है । तृतीय उत्तर 'बुध' में अन्त का 'ध' च्युत करके सा देने से 'साम्बु' उत्तर प्राप्त हो जाता है । चौथे उत्तर का 'बु' च्युत करके आदि में 'ना' देने से 'नासा' उत्तर प्राप्त हो जाता है । और इसी पाँचवे उत्तर का 'सा' च्युत करके घ देने से 'घना' इस रूप में छठा उत्तर प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार इसमें एक शृंखला के रूप में आदि और अन्त में च्युतदत्त-पद्धति का यह नवीन रूप उपस्थित किया है ।

१––पदे च्युतस्यान्यपदाद्, दत्तं स्थानेऽक्षरं यदि । तत्पदद्वयसाधर्म्ये, च्युतदत्ताक्षरं भवेत् ॥
चित्ररत्नाकर, २ परिच्छेद

२––च्युतदत्ताक्षरान्तादि, भवेत् प्रश्नोत्तरं यदि । च्युतदत्ताक्षरान्तादि तद्वदन्ति मनीषिणः।
वहीं ।

(ख) च्युतदत्ताक्षरान्तादि-चित्र--ऐसे ही उत्तरों में जब तीन-तीन अक्षरों के उत्तर में से एक अक्षर च्युत और अन्य दत्त होता है तो वह उपर्युक्त भेद का दूसरा प्रकार बन जाता है। यथा--

> आस्ते कुत्र चतुर्मुखो जनदयापात्री भवेत् का पुनः
> कीदृक्च ग्रहमण्डली क्षितिभुजां कीदृग् बलौघस्तथा ।
> कीदृक् स्यात् सुतनुर्जनश्च भवति श्लाघ्यं पुनः केन वा,
> नादावक्षरयुक्तिमुक्तित इह त्वाद्यं तयोरुत्तरम् ॥ वहीं

यहाँ क्रमशः उत्तर प्राप्ति-'नाली के, दीनाली, सादीना, नासादी, सुनासा और वसुना' इन शब्दों से होती है। इनमें प्रथम उत्तर के नालीके पद में से के अक्षर को च्युत करके आदि में दी अक्षर देने से द्वितीय प्रश्न का उत्तर दीनाली प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार अन्य उत्तर भी दर्शनीय हैं।

३--पूर्णक्रमच्युत-चित्र--जहाँ प्रश्नों में प्रथमादि, मध्य और अन्त के क्रम से अक्षर च्युत करके उत्तर दिया जाता है, उसे 'पूर्णक्रमच्युतचित्र' कहते हैं। यथा--

> सम्पत्कामाः कीदृशाः स्युः, का मृद्व्यः कीदृशी नदी ।
> कं श्रितो युद्धकामः स्यात्, सारम्भाश्च त्रिवृत्तरम् ॥ वहीं।

यहाँ प्रथमप्रश्न का उत्तर है सारम्भाः। इसी के प्रथमाक्षर को च्युत करके द्वितीय प्रश्न का उत्तर 'रम्भा': तृतीय प्रश्न का उत्तर मध्याक्षर-च्युत के द्वारा 'सम्भा' तथा चतुर्थ प्रश्न का उत्तर अन्त्याक्षर-च्युत के द्वारा 'सारम्' दिया गया है।

आचार्य विश्वेश्वर ने 'च्युत-चित्र' के पाँच भेदों में 'स्थानच्युत' का नवीन निर्देश किया है, जिसके लक्षण उदाहरण इस प्रकार हैं--

स्थान-च्युत-चित्र--जहाँ मात्रादि के त्याग से अन्यार्थ की भी प्रतीति होती है अर्थात् उपयोगी शब्दों को इधर उधर स्थानों पर रख दिया जाता है और अन्यार्थ के समय उनका सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है, उसे स्थानगत-अक्षरच्युति के कारण उसे 'स्थान-च्युत-चित्र' कहते हैं।[2] यथा

> द्रव्यं पञ्चविधं जातिं, चतुर्विंशतिधा विदुः ॥
> गुणं द्विधा च नवधा, कर्म काणादपुङ्गवाः ॥ कवीन्द्रकण्ठाभरण ४।६ ॥

यहाँ द्रव्य पञ्चविध है यह कथन अनुचित है, इसी प्रकार गुण भी द्विधा नहीं हैं।

१--प्रश्नेषु पूर्णप्रथममादिमध्यान्ततस्ततः। वर्णैश्च्युतेरुत्तरं यत् तत्स्यात् पूर्णक्रमच्युतम् ॥
चित्ररत्नाकर, ३ परिच्छेद

२--यत्र त्यागेन मात्रादेरन्योऽप्यर्थः प्रतीयते। तत्तत्संज्ञमनासन्नं स्थानच्युतकमुच्यते।
कवीन्द्रकण्ठाभरण-विश्वेश्वर ।४। ५ ॥

इत्यादि अनुचित अर्थों को अन्वय-व्यवस्था द्वारा 'द्रव्यं नवधा, गुणं चतुर्विंशतिधा' आदि समझा जाता है, अतः यहाँ उक्त चित्र माना गया है।

वर्णलोपगत नवशब्द-निर्मिति—सुभाषितरत्नभाण्डागार में च्युत-पद्धति के अनुरूप ही एक नई पद्धति का स्वरूप प्रस्तुत किया है, जिसमें कुछ वर्णों का लोप करके उनके स्थान पर बचे हुए व्यञ्जनों में सन्धि करके नवीन शब्द की निर्मिति की गई है। यथा—

राजन् कमलपत्राक्ष, तत्ते भवतु चाक्षयम्।
आसादयति यद्रूपं, करेणुः करणैर्विना॥

यहाँ 'करेणु' शब्द में से 'करण' अक्षरों का लोप करके उनके स्थान पर बचे हुए 'अ ए उः' की सन्धि करने पर 'आयुः' शब्द बनता है, जो कि राजा के आशीर्वाद के लिए अपेक्षित है।

सीता-रावण-संवाद-झरी (तीन अपूर्व कृतियां)

इस च्युतदत्ताक्षरी पद्धति के आश्रय से बनी हुई तीन रचनाएँ-'सीतारावण-संवाद झरी'-के नाम से प्राप्त होती हैं। जिनमें सर्वप्रथम मैसूर निवासी पं० चामराजनगर रामशास्त्री द्वारा रचित है। इस रचना के १०८ पद्यों में कवि ने प्रारम्भ में पचास पद्य वर्ण चित्र के लिखे और स्वयं व्याख्या लिख कर विद्वानों में उनका प्रचार किया तथा यह भी निवेदन किया कि इस कष्टकारी रचना में मैं सौ पद्य रखना चाहता था, किन्तु क्लिष्टता के कारण पचास पद्य ही बनाये, शेष की पूर्ति जो करेगा वह मेरे द्वारा वन्दनीय होगा।[1] इस कथन से प्रेरित होकर उक्त कवि के शिष्य श्रीसीताराम शास्त्री ने उत्तर भाग के रूप में द्वितीय पूर्ति की जिसके तिहत्तर पद्यों में ५० पद्य इस प्रकार के हैं। और सम्भवतः उन्हीं दिनों में रामशास्त्री की प्रथम रचना को पढ़ कर श्रीबच्चु सुब्बारायगुप्त ने भी पचास पद्यों में एक रचना और इसी नाम के साथ अभिनव शब्द जोड़ कर की। इस प्रकार इन रचनाओं में च्युत-पद्धति का पर्याप्त विकास हुआ है। इनमें सीता और रावण के संवाद के माध्यम से रावण द्वारा प्रतिपद्य के तीन चरणों में मृषाराम-निन्दा और आत्म-स्तुति की गई है जिसे अन्तिम चरण में सीता च्यावितक्षर, अधिदत्ताक्षर और प्रतिदत्ताक्षर के द्वारा रावण-निन्दा और रामस्तुति के रूप में व्यक्त कर देती है। इन रचनाओं में प्रमुखतः तीन प्रकारों को

१—अन्यूनैः शतकात् कृतिः स्वयमियं गूढार्थपद्यैर्युता,
कर्तव्येति ससंविदप्यतिचिरश्रान्तो मतिक्षोभतः।
विश्रान्तोऽस्म्यवशिष्टमर्धशतकं संग्रन्थ्य मत्संविदा,
सार्थं यः परिपूरयेत् कृतिमिमांतस्मै सहस्रं नमः॥
सीतारावण-संवादझरी (प्रथम कृति) १०४॥

स्थान दिया गया है–१–च्यावितक्षर, २–अधिदत्ताक्षर और ३–प्रतिदत्ताक्षर।[1] ये रचनाएँ उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बनी हैं तथा इनमें च्युत-दत्ताक्षर पद्धति के अनेक रूप निखरे हैं, जिनमें कुछ इस प्रकार हैं—

१–अक्षर-त्याग अथवा अक्षरदान से अर्थ परिवर्तन।

२–कहीं एक ही पद्य में एक-एक बार भिन्न-भिन्न अक्षरों की योजना द्वारा विभिन्न तीन अर्थों की योजना

३–न, स अथवा 'अ, अक्षर द्वारा संकेत

४–पद–विभाजन द्वारा अन्यार्थ-कल्पना और पद-विभाजन के बिना अन्यार्थ कल्पना

५–स्वरयुत-च्यावितक्षर, एकवर्णगत-स्वरभेद-प्रतिदत्ताक्षर, वर्णभेद-प्रतिदत्ताक्षर, स्थानद्वयप्रतिपादितदताक्षर, लुप्तैकवर्ण-वर्णद्वयारोपण, रूपचित्र, वर्णद्वयान्यतर तदुभयगत-च्यावितक्षर, आदि

इन रचनाओं पर स्वयं लेखकों ने टीकाएँ भी लिखी हैं, अतः वे सुखग्राह्य बन गई हैं प्रतिदत्ताक्षर में व्यञ्जनाक्षर-यदि विस्वर है तो वहाँ सूचन किया है और यदि स्वर है तो वहाँ च्युत और दत्त दोनों की एकता रहने पर संकेत किया हैं। इनके अतिरिक्त च्युत और दत्त दोनों प्रक्रियाओं में प्रत्युक्ति के अनकूल वैसा ही अक्षर संकेतार्थ दिया है। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

पश्याम्यन्यमुदारभोगविषये तुल्यं न मे कञ्चिद-
प्यन्यः कोऽहमिवास्मि भाजनमुमापत्यादरस्यापि च।
मद्वद्भूतनयं मुखाब्जविकसत्तेजा रणं कः श्रुतिः
पापिन् जल्प यथास्पृहं मम पुनर्मौ नादरो रोचते॥

यहाँ प्रथम तीन चरणों में रावण की उक्ति है जिनमें अपनी प्रशंसा की है। चौथे चरण के रूप में सीताजी ने **'मौ-मु-इति अक्षरे'** कहकर अक्षर को च्युत करने का संकेत किया है तदनुसार तीनों पदों में आये हुए **'मु'** अक्षर को च्युत कर देने से राम की स्तुति और रावण की निन्दा का अर्थ निकल जाता है। यह च्यावितक्षर-चित्र है।

इसी प्रकार अधिदत्ताक्षर का उदाहरण है—

तापोन्मेषविवर्जितो युधि मितौजस्कातिमुख्यातिग-
स्सीते सादितदुर्जयप्रतिरथः कृत्या विमूढाशयः।
स्थानायत्तजयेतिरश्च किमहं श्रोत्रेऽस्मि लग्नो न तु,
प्रागेव त्वमरेप्रसङ्गत इह श्रोत्रेऽसि लग्नो मुहुः॥२६॥

१—गूढार्थस्यानुकूलानि, त्रीण्येवात्र मतानि नः। च्यावितक्षरमित्येकमधिदत्ताक्षरः परम्॥
प्रतिदत्ताक्षरं त्वन्यदित्येव त्रीणि तानि हि॥—सीतारावणसंवादझरी-रामशास्त्री

यहाँ रावण की उक्ति प्रथम तीन चरणों में है, जिनमें रावण ने अपनी प्रशंसा की है किन्तु सीताजी ने चौथे चरण में प्रसङ्गतः पद कह कर उसकी निन्दा व्यक्त की है। तदनुसार प्रतिचरण में उपयुक्त पदों के पूर्व 'प्र' अक्षर की संगति कर देने से-प्रतापोन्मेष, प्रमितौजस्क, प्रसादित,प्रकृत्या और प्रस्थानायत पदों की योजना हो जाती है। अतः इसे 'अधिदत्ताक्षर-चित्र' की संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार प्रतिदत्ताक्षर चित्र का पद्य निम्न-लिखित है—

रामां वाच्यतिविप्रियोतिचलितश्रीस्तन्वि नीचं वपु–
बिभ्रत्काननसीम्नि राक्षसचयायत्तः स्वयं वेहितम् ।
मां पश्यातिविचक्षणोऽस्मि बहुधा चापंकवीरोऽस्म्यहं,
लब्धश्रीप्रचयस्तथाऽस्मि किमरे चेलं बधानासकृत् ॥१६॥

इस पद्य में पहली बार रावण की उक्ति है जिसमें राम की निन्दा की गई है। और सीता ने इसका प्रतिवचन देतेहुए इतना ही कहा है कि **'चे'-चकार के स्थान पर 'लं' लकाराक्षर को बधान-जोड़ दो।** इसके अनुसार पूरे पद्य में आये हुए वाच्य, चलित, नीचं, चयायत्त, अविचक्षण, चापंक, और प्रचयशब्दों में स्थित 'च' को च्युत करके 'लं' दत्त करने से बाल्य, ललित, नीलं, लयायत्तः, विलक्षणः, लापंक और प्रलय' शब्द का प्रयोग हो जाने पर राम की स्तुति और रावण की निन्दा का अर्थ व्यक्त होता है। यह 'प्रतिदत्ताक्षरा' कही गई है।[1] ऐसी महत्त्वपूर्ण रचना को कवि के कथनानुसार स्वयं वाग्देवता ने उसके मुख से कहलाया है।[2]

———

[चतुर्थ अधिकरण]

७—गूढ-चित्र : लक्षण और उदाहरण-मीमांसा

रुद्रट ने सर्व प्रथम कारक-गूढ और क्रिया-गूढ ऐसे दो भेदों का विवेचन करते हुए इन्हें 'क्रीडामात्रोपयोगी' कहा है।[3] अग्निपुराण में इसे चित्र-भेद मानते हुए 'गुप्तपद' कहा

१–ये तीनों उदाहरण प्रथम पूर्ति के हैं।

२–सीतारावणसंवादझरी वाग्देवतैव या।
मन्मुखस्थाऽवदत् प्रेम्णा सैव व्यख्याति तां स्वयम् ॥ सीतारावणसंवादझरी, पूर्वभाग टीका २॥

३–मात्राबिन्दुच्युतके प्रहेलिका कारकक्रियागूढे। काव्यालङ्कार ५।२४॥

है। भोज ने चित्रालङ्कार से पृथक् सामान्य शब्दालङ्कारों में 'गूढालङ्कार' के रूप में छः भेदों की चर्चा की है।[४] मम्मट और रुय्यकादि ने कोई चर्चा नहीं की है। हेमचन्द्र ने चित्रप्रभेदों में तथा शोभाकर मित्र ने शब्दालङ्कार में स्थान दिया है। उत्तरकाल के आचार्यों में अमरचन्द्र यति ने चित्र, ,विश्वनाथ ने उक्तिवैचित्र्य, वाग्भट द्वितीय तथा श्रीकृष्ण ब्रह्मपरतन्त्रकाल ने चित्र तथा विश्वेश्वर ने ज़ाति आदि भेदों में इस अलङ्कार को स्थान दिया है। गूढ को ही कूट कहने की भी परम्परा अनेक स्थानों पर दिखाई देती है। इसमें भाव सङ्गोपन, अभिधेय की वक्रता, अभिप्रेतार्थ की दुरूहता एवं लक्ष्य से विपरीत कथन आदि मुख्यतः रहते हैं। कुछ आचार्यों ने इसे प्रहेलिका आदि अन्य भेदों में भी मिला लिया है। प्राप्त उदाहरणों का विवेचन इस प्रकार हैः—

कारकगूढ-चित्र—रुद्रट ने कर्ता आदि कारकों के गूढ रहने पर 'कारक-गूढ गूढ-चित्र' नामक प्रथम भेद किया है।[१] तथा इसका उदाहरण यह दिया है—

पिबतो वारि तवास्यां, सरिति शरावेण पतितौ केन॥ काव्यालङ्कार ५।३०॥

इस पद्यांश में 'शरावेण' पद में शरौ एण ऐसी सन्धि होने पर इसका वास्तविक अर्थ प्राप्त होता है, अन्यथा अर्थ की व्यवस्था नहीं जमती। अतः यहाँ द्वितीया और द्विवचन गूढ होने के कारण 'कारक-गूढ-चित्र' माना गया है। अमरचन्द्रयति ने कारकगूढ में कर्तृगूढ और कर्मगूढ को भी स्थान दिया है।[२]

१—कर्तृ-कर्मगूढ-चित्र—

मा न कोपभृते पुंसि, शाश्वतीं स्थितिमाश्रयेत्।

शंखेभ्यो नाप्नुयात् कोऽपि, देशः प्राप्नोति कङ्कणैः॥

काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ १०४

यहाँ पूर्वार्ध में 'मा नलक्ष्मीः न' इस पद में कर्ता गुप्त है तथा उत्तरार्ध में 'शंखेभ्यः और 'कंकणैः' पदों में शं-खेभ्यः और कं-कणैः कहने से कर्म गुप्त हैं। अतः यह कर्तृगुप्त और कर्मगुप्त इन दोनों भेदों का उदाहतण है। इनके अतिरिक्त अन्य कारकों की गूढता के उदाहरण 'सुभाषितरत्नभाण्डागार' में संगृहीत हैं। यथा—

१—करणगूढ चित्र—महं महानसायातः, कल्पितो नरकस्तव.
मया मांसादिकं भुक्तं, भीमं जानीहि मां बक॥

यहाँ 'हानस-आयातः' ऐसी सन्धि की भ्रान्ति होती है जब कि 'महानसा' ऐसा 'करण-कारक-गूढ' है, अतः उक्त चित्र भेद माना गया हैं।

१—प्रच्छन्नत्वाद्भवतस्तद्गूढे कारकक्रियान्तरयोः। काव्यालङ्कार ५।२६॥ का पूर्वार्ध,
२ — कर्तृकर्मादिगुप्तादिभङ्गश्लेषेण साधयेत्। काव्यकल्पलतावृत्ति ३।५। १८८॥

२-सम्प्रदानगूढचित्र—प्रशस्त्यायुक्तमागस्य, तव सम्मानितां श्रिता:।
स्पृहयन्ति न के नाम, पुत्रसौभाग्यकाम्यया ।।

यहाँ 'प्रशस्त्यायुक्त' पद में प्रशस्त्यै यह सम्प्रदानकारक गूढ है, अतः उक्त चित्रभेद माना गवा है।

३—अपादानगूढचित्र—सरसीतोयमुद्धृत्य, जनः कन्दर्पकारणम्।
पिबत्यम्भोजसुरभि, स्वच्छमेकान्तशीतलम् ।।

यहाँ 'सरसीतोयम्' पद में 'सरसीतः' ऐसा अपादानकारक गूढ है, अतः उक्त चित्र-भेद मान गया है।

४-सम्बन्धगूढचित्र—इसका उदाहरण भोज के तृतीय भेद के समान है।

५-अधिकरणगूढचित्र—विपद्यमानता सिद्धा, सर्वस्यैव निरुष्मणः।
यथाऽत्र भस्मपद्भ्याञ्च, निर्वाणं हन्त्ययं जनः ।।

यहाँ विपद्यमानता पद में 'विपदि' ऐसा अधिकरणकारक गूढ है, अतः उक्त चित्रभेद माना गया है।

६-सम्बोधनगूढचित्र—कमले कमले नित्यं, मधूनि पिबतस्तव।
भविष्यति न सन्देहः, कष्टं दोषाकरोदये ।।

यहाँ 'कमले' पद में 'अले' ऐसा सम्बोधनान्तपद गूढ है अतः उक्त चित्रभेद माना गया है। कृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी ने सप्तविभक्तिव्यञ्जन-चित्र की योजना करते हुए लिखा है कि-जहाँ एक ही शब्द की सातों विभक्तियाँ गूढ हों, वहाँ 'सप्तविभक्तिवञ्चन-चित्र' अलङ्कार होता है। यथा-

सप्तविभक्तिवञ्चनचित्र—भातीदृशी मयेयं, जगतीष्टे या समर्पितस्वाये।
जनताया आधत्ते, श्रियस्स्तुताया मनोनुभवति च याम् ।।
अलङ्कारमणिहार २। ३२५ ।।

यहाँ 'ई' शब्द की सातों विभक्तियाँ गूढ हैं अतः उक्त चित्र भेद माना गया है।

इसी प्रकार 'जीरापुरीश-पार्श्वजिन स्तोत्र' में सप्तकारक सम्बोधनैक-क्रिया-द्विकर्म गूढ चित्र का निम्न उदाहरण प्राप्त होता है। यथा—

सप्तकारकैकक्रियाद्विकर्मगूढ-चित्र-

आनन्दरो रुचिरपातककूट काल, क्षिप्तस्त्वयाऽवनतदेवनयानयास्त्वम्।
किं पूर्यते मम च तेन गुणोर्मिमालिनोवैरितस्त्रसति यो भजते हितात् त्वाम्।

यहाँ सातों कारक, सम्बोधन, एक क्रिया और द्विकर्म गूढ हैं अतः उक्त चित्रभेद माना गया है।

२-क्रियागूढ चित्र—रुद्रट ने क्रियापदों की प्रच्छन्नता रहने पर 'क्रिया-गूढ' नामक गूढ-चित्र का द्वितीय भेद किया है[1] तथा इसका उदाहरण यह दिया है—

वारि शिशिरं रमण्यो रतिखेदादपुरुषस्येव । काव्यालङ्कार ५ । ३० का उत्तरार्ध ॥

इस पद्यांश में 'रतिखेदादपुरुषस्येव' इस पद में 'रतिखेदाद् अपुः उषसि एव' ऐसा विग्रह करने पर अपुः क्रिया उपलब्ध होती है जो कि गुप्त है । अतः क्रिया-गूढ होने के कारण क्रिया-गूढ-चित्र माना गया है। कृष्ण-ब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी ने गूढ-शब्द के स्थान पर 'वञ्चन' शब्द का प्रयोग किया है ।

३-सम्बन्ध-गूढ-चित्र (सन्धिगूढ-चित्र)—भोज ने 'क्रियाकारक-गूढ' के अतिरिक्त तीसरे भेद सम्बन्धगूढ का निर्देश किया है, जिसमें षष्ठी त्रिभक्ति के गुप्त रहने से सम्बन्ध को गूढ माना है । यथा—

न मयागोरसाभिज्ञं, चेतः कस्मात् प्रकुप्यति ।

अस्थानरुदितैरेभिरलमालोहिते क्षणे ॥ सर० कण्ठाभरण २ । ३६८ ॥

यहाँ 'न मे आगोरसाभिज्ञं' ऐसा जो 'सम्बन्धि-पद' है वह 'नमया' पद के द्वारा तृतीया की भ्रान्ति कराते हुए गुप्त है । अतः यहाँ सम्बन्ध-गूढ-चित्र माना गया है । यही उदाहरण दण्डी ने 'समागता' नामक प्रहेलिका के रूप में दिया है ।[2] कारकाणि षट् के अधार पर ही यह पृथक् माना गया है किन्तु विभक्ति-गूढ की दृष्टि से अन्य आचार्यों के मत में यह प्रभेद विभक्ति-गूढ ही माना जाएगा क्यों कि यहाँ कर्तृ-कर्म आदि प्रथमा, द्वितीया के समान ही षष्ठी गुप्त है । सुभाषितरत्न-भाण्डागार में 'मया' पद में सन्धि की दुरूहता के आधार पर इसी पद्य को सन्धिगूढ चि का उदाहरण माना है ।

४—पादगूढ-चित्र—भोज ने गूढ चित्र का चौथा भेद 'पादगूढ' दिया है । इसमें पद्य के प्रथम और द्वितीय चरणों में चौथा चरण गुप्त रहता है । यथा—

द्युवियद्गामिनी तारसंरावविहतश्रुतिः ।

हैमीषु माला शुशुभे, विद्युतामिवसंहतिः ॥ स० क० २ । ३६७ ॥

यहाँ पूर्वार्ध के द्वितीय, प्रथम, सप्तम, पञ्चम, एकादश, नवम, त्रयोदश और षोडश संख्या वाले अक्षरों के चयन से गूढ-चतुर्थ-चरण की प्राप्ति करनी पड़ती है । अतः यह पादगूढ-चित्र माना गया है । कृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी ने 'पाद-गूढ' के क्रमशः चार भेद प्रस्तुत किये हैं तथा उनके लक्षण में कहा है कि 'जहाँ अन्य पादगत वर्णों के

१—प्रच्छन्नत्वादभवतस्तद्गूढे कारक-क्रियान्तरयोः । का पूर्वार्ध, काव्यालङ्कार ।५-२६

२—द्रष्टव्य-काव्यादर्श ३ । १०८

बीच में किसी एक पद के अक्षरों का गोपन रहता है, उसे 'गूढपाद' चित्र कहते हैं ।[1] इसके अनुसार प्रथम गूढ द्वितीय गूढ, तृतीय गूढ, और चतुर्थ गूढ, नामक चार भेद होते हैं । इनमें एक विशेषता यह भी है कि भोज ने चतुर्थ पाद को केवल पूर्वार्ध में ही गुप्त रखा है, जब कि इनके उदाहरणों में गुप्त पाद के अतिरिक्त तीनों पादों में वह गुप्त रहता है । यथा—

१—प्रथमपाद गूढचित्र—

अशिथिलगुणानुबन्धां, शिथिलित-वन्दारुवृन्दभवबन्धाम् ।
अविकलसदवनसन्धां, विनुवन्प्रगुणां श्रियं जन इहेन्धाम् ॥ अलं० मणि० २३१७ ॥

२—द्वितीय-पादगूढ़-चित्र—

भव्याब्जभानुमाली, भाव्या कृतिरादधाति वनमाली ।
स्तवनकृदखिलबुधालीधृतिं मुरारातिरनघगुणशाली ॥ वहीं २३१८ ॥

यहाँ द्वितीयपाद के वर्ण अवशिष्ट पादों में गूढ़ हैं, अत: उक्त चित्र भेद माना गया है ।

३—तृतीयपादगूढचित्र—

विजिगीषतां दिविषदां, स्वाराज्यश्रीर्यथा पुरा जुगुपे ।
श्रीर्मादेवी जुषतां, सा देशिकवीक्षणात्तशर्माणम् ॥ वहीं २३१९ ॥

यहाँ तृतीय पाद के वर्ण अवशिष्ट पादों में गूढ हैं, अतः उक्त चित्र भेद माना गया है ।

४—चतुर्थपादगूढचित्र—

काकोदराचलौका, लौकाभीष्टार्थदिविजभूमिरुहः ।
ललनोरस्कः पायाज्जलरुहदललोचनोऽपायात् ॥ वहीं २३२० ॥

यहाँ चतुर्थ पाद के वर्ण अवशिष्ट पादों में गूढ हैं, अतः उक्त चित्र भेद माना गया है ।

इन भेदों के अतिरिक्त दो-दो पादों में से कोई भी एक पाद गूढ रहे, इस प्रक्रिया से भी कतिपय पद्य बने हैं जिनके उदाहरण समन्तभद्ररचित **'स्तुति विद्या'** में प्राप्त होते हैं । यथा—

५—द्वितीय-चतुर्थान्यतरपादगूढचित्र—

त्वमबाध दमेनर्द्ध-मतधर्मप्रगोधन ।
बाधस्वाशमनागो मे, धर्मशर्मतमप्रद ॥ ५६ ॥

१—अन्यपादगता वर्णा, गूढाः पादान्तरेषु चेत् । चित्रं तद्गूढपादाख्यं, चतुर्थाद्यादिगूहनम् ॥
अलङ्कार-मणिहार, भाग ४, पृ० २३४ ।

यहाँ द्वितीय अथवा चतुर्थ पाद में से कोई एक पाद अन्य पादों के अक्षरों में गूढ है, अतः उक्त चित्र भेद माना गया है।

६—तृतीय-चतुर्थान्यतरपादगूढचित्र—

तनोतु ममतातीत ममोत्तममतामृत ।
ततामितमते तातमतातीतमृतेमित ॥ १०० ॥

यहाँ तृतीय अथवा चतुर्थ पाद में से कोई एक पाद अन्य पादों के अक्षरों में गूढ है, अतः उक्त चित्र-भेद माना गया है।

७–द्वितीयतृतीयान्यतरपादगूढचित्र—

नुन्नानूतोन्नतानन्त, नूतानीतिनुताननः ।
नतोनूनोनितान्तं ते, नेतातान्ते निनोति ना ॥ ५५ ॥

यहाँ द्वितीय अथवा तृतीय पाद में से कोई एक पाद अन्य पादों के अक्षरों में गूढ है, अतः उक्त चित्र-भेद माना गया है।

८—स्वेष्टपादगूढचित्र—

वर्णभार्यातिनन्द्याव, वन्द्यानन्त सदारव ।
वरदातिनतार्य्याव वर्य्यातान्तसभार्णव ॥ ५४ ॥

यहाँ स्वेष्ट-मनचाहा पाद शेष तीन पादों में गूढ है, अतः उक्त चित्रभेद माना गया है।

९--पश्चार्द्धपादगूढचित्र

धिया ये श्रितयेतार्त्या, यानुपायान् वरानताः ।
ये पापा यात्तपारा ये, श्रियायातनतन्वत ॥ ३ ॥

यहाँ श्लोक के पूर्वार्ध में जो अक्षर आये हैं उन्हीं में उत्तरार्ध के सब अक्षर प्रविष्ट हो जाते हैं तथा एक समान अक्षरों में अनेक समानाक्षरों का समावेश भी हो सकता है। इसलिये इसे 'गूढ-पश्चार्ध (जिसका उत्तरार्ध भाग पूर्वार्ध भाग में गूढ है ऐसा)' कहते हैं।

इसी प्रकार एक पद्य में अन्य पद्याक्षरों के गूढ रहने पर 'श्लोक-गूढ-चित्र' भी होता है जिसका उदाहरण **'जीरांपुरीश-पार्श्वजिनस्तोत्र'** के निम्न पद्य से प्राप्त है। यथा–

१०–श्लोकगूढचित्र

सन्देहापोहकारी मदमदनगजे केसरी सारवाक्यो,
निर्वाणं सम्प्रयातो वृजिनगणभवामापदां पिष्टिसज्जः ।

१—अलङ्कार-चिन्तामणि पृ० ३६ में इसका लक्षण दिया है।

यो नित्यं वन्द्यमानः सुरनरविसरैर्नागचिह्नः परघ्नो,

नन्द्याद् व्याधिप्रमन्था मुकुररसमुखः पार्श्वराट्क्रुष्टतेजाः ॥ १५ ॥

तथा इस पद्य में आये हुए अक्षरों में निम्न पद्य गूढ है—

संसारवासनिर्नाशकरणं परमं जिनम् ।

यो वन्दते सकृदपि, संनिधिः सुखसम्पदाम् ॥

५—अभिप्रायगूढ-चित्र—भोज ने गूढचित्र का पाँचवा भेद 'अभिप्राय-गूढ' दिया है। इसमें कुछ रूढ शब्द प्रयोग के द्वारा अभिप्रेतार्थ को गूढ रखा जाता है। यथा—

जहे देअरेण भणिआ, खग्गं घेत्तूण राउलं वच्च ।

ता किं सेवअवहुए, हसिऊण वलोइअं सअंणक ॥ स० क० २।६७० ॥

यहाँ देवर के यह कहने पर कि 'खड्ग लेकर राजकुल में जाओ' इससे वधू के द्वारा की गई पुरुषायित-रति के शयन-स्थल पर पाद-लिक्षा आदि चिह्न का अभिप्राय गुप्त होने के कारण 'अभिप्राय-गूढ-चित्र' माना गया है।

६—वस्तुगूढ-चित्र—भोज ने गूढ-चित्र का छठा भेद 'वस्तु-गूढ' दिया है। इसमें किसी वस्तु को गूढ रखा जाता है। यथा—

पानीयं पातुमिच्छामि, त्वत्तः कमललोचने ।

यदि दास्यसि नेच्छामि, नो दास्यसि पिबाम्यहं ॥ स० क० २।३७१ ॥

यहाँ दास्यसि—दासी + असि पदों में दासीरूप वस्तु-गूढ होने के कारण 'वस्तुगूढ-चित्र' माना गया है।

१—कर्तृ-क्रियागूढचित्र—

'सुभाषितरत्नभाण्डागार' में गूढचित्र के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त भी कुछ मिश्र-भेद एवं कुछ नवीन पद्धति के उदाहरण दिये हैं। यथा—

घनघनाघनकान्तिघनांधनुद्दनुजपुञ्जमिनात्रिजगुर्विगः

सकमलाऽपिनडर्घसभां क्रियामिह विलोकयितुं च सकर्तृकाम् ॥ ४४ ॥

यहाँ 'विगः' यह कर्तृपद और 'अपिनट्' यह क्रियापद गूढ है, अतः उक्त चित्रभेद माना गया है।

२-कर्तृ-कर्म-क्रियागूढचित्र—

भवानीशङ्करोमेशं, प्रति पूजापरायणः ।

कर्तृ-कर्म-क्रियागुप्तं, यो जानाति स पण्डितः ॥ ४५ ॥

यहाँ क्रमशः 'कर' उमेशं, भाव' ये कर्तृ-कर्म और क्रिया के पद गूढ हैं, अतः उक्त चित्रभेद माना गया है।

३--सुब्वचनगूढचित्र--

प्रमादं जनयत्येव, सदारा गृहमेधिनः ।
यदि धर्मश्च कामश्च, भवेतां सङ्गताविमौ ॥ ५२ ॥

यहाँ सदारा में 'राः' यह सुबन्त एकवचन का शब्द गूढ है, अतः उक्त चित्रभेद माना गया है।

४--तिङ्वचनगूढचित्र--

कस्मात् त्वं दुर्बलासीति, सख्यस्तां परिपृच्छति ।
स्वयं सन्निहिते तासु, दद्यात् कथय सोत्तरम् ॥ ५३ ॥

यहाँ 'सख्यः' इस बहुवचनान्त-क्रिया के साथ 'परिपृच्छति' इस एकवचनान्त क्रिया का साम्य अनुचित प्रतीत होता है किन्तु वस्तुतः यह पद परि उपसर्ग वाला न होकर क्रिया का पद है, अतः अनौचित्य नहीं रहता। इस प्रकार तिङ्वचन की गूढता के कारण उक्त चित्रभेद माना गया है।

५--लिङ्गगूढ-चित्र--

कलिकालमियं यावदगस्त्यस्य मुनेरपि ।
मानसं खण्डयत्यन्नं, शशिखण्डानुकारिणी ॥ ५१ ॥

यहाँ 'कलिकालं-इयं' पद में लिङ्गगत साम्य का अभाव प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः 'कलिका+अलं-इयं' इस प्रकार के पदच्छेद से यह दोष नहीं रहता। अतः उक्त चित्रभेद माना गया है।

६--समासगूढ-चित्र--

विषादी भैक्ष्यमश्नाति, सदारोगं न मुञ्चति ।
रुष्टेनापि त्वया वीर, शम्भुनारिः समः कृतः ॥ ४८ ॥

यहाँ 'विषादी' पद में 'विषादम् अस्यास्तीति' ऐसे उपपद समास का आभास होता है जब कि वस्तुतः 'विष-आदिन्' के अर्थ में यहाँ समास हुआ है, अतः उक्त चित्रभेद माना गया है।[1]

गूढ-चित्र को कुछ कवियों ने एक अन्य पद्धति से भी प्रस्तुत किया है। उसमें किसी भी रचना में किसी विशेष नाम, धाम, मन्त्र आदि को गूढ रखा जाता है। इस पद्धति को वे 'गर्भ' नाम से सम्बोधित करते हैं तथा उद्देश्य की पूर्ति के लिये जिन वर्णों को गुम्फित

१—धर्मदास, चक्रकवि और विश्वेश्वर ने भी इन्हीं प्रकारों को प्रश्नोत्तर-पद्धति से प्रस्तुत किया है।

किया जाता है वे पद्यगत अन्य शब्दों में रहकर उनके अर्थों की पूर्ति करते हैं, किन्तु किसी विशेष क्रम से विचार करने पर कोई नाम, धाम, अथवा मन्त्रादि का गुम्फन प्रतीत होने लगता है। यथा—

१--नामगूढ-चित्र--

जीववत् प्रतिमा यस्य, वचो मधुरिमाञ्चितम्।
देहं गेहं श्रियस्त्वं स्वं, वन्दे सूरिवरं गुरुम्॥

यहाँ क्रमशः प्रतिचरण के आद्याक्षरों के संग्रह से 'जीवदेव' नाम निकल आता है जब कि उनका अर्थ उन-उन शब्दों के अनुसार ही है। इस प्रकार की रचना को अनेकरूपों में अनेक आचार्यों ने प्रस्तुत किया है, जिनका दिग्दर्शन हम 'चित्रालङ्कार की उपलब्धि' के आख्यान में करेगें।

प्रतीकगूढ-चित्र—जहाँ संकेत, प्रतीक अथवा किसी अन्य प्रक्रिया से अभीष्ट को गुप्त रखा जाता है, उसे 'कूट' कहते हैं। इस 'कूट' को भी एक प्रकार का गूढ भेद ही मानना चाहिये क्योंकि इसमें भी उद्देश्य का गोपन ही प्रमुख रहता है। यथा —

विहङ्गो वाहनं येषां, त्रिकञ्चधरपाणयः।
पासालसहिता देवाः, सदा तिष्ठन्तु ते गृहे॥ सुभा० रत्न० भा०।

यहाँ प्रथमादि तीन चरणों के आरम्भ में किये गये तीन-तीन अक्षरों को प्रतीक के रूप में रखा गया है, जिनसे क्रमशः वि-गरुड, हं-हंस गो-वृषभ ये जिनके वाहन हैं, त्रि-त्रिशूल, कंकम्बु, च-चक्र जिनके हाथों में आयुध हैं तथा पा-पार्वती, सा-सावित्री एवं ल-लक्ष्मी जिनकी पत्नियाँ हैं, उनके साथ विष्णु, ब्रह्मा और शिव तुम्हारे घर में निवास करें यह अर्थ कूट प्रयोगों से कहा गया है।

इस प्रकार के कूट-प्रयोग, च्युतचित्र, प्रश्नोत्तर, आदि के मिश्रण से और भी जटिल बन गये हैं।

१—एकार्थगूढ-चित्र, (समस्त)—जहाँ एक ही अर्थ के बोध के लिये अनेक शब्दों का आश्रय लिया जाए, वहाँ 'एकार्थ-गूढचित्र माना जाता है। यह प्रक्रिया समस्त पदों से और असमस्त पदों से दोनों रूप में गृहीत होती है। यथा—

वायुमित्रसुतबन्धुवाहनारातिभूषणशिरोवलम्बिनी।
तज्जवैरिभगिनीपतेः सखा, पातु मां कमललोचनो हरिः॥

यहाँ 'वायु के मित्र अग्नि का पुत्र कार्तिकेय उनका भाई गणेश उनका वाहन चूहा उसका शत्रु सर्प उसका भूषण बनाने वाले शिवजी के सिर पर विराजमान गङ्गा के पुत्र भीष्म के शत्रु शिखण्डी की बहिन द्रौपदी के पति अर्जुन के मित्र भगवान् कमल-

लोचन हरि मेरी रक्षा करें' यह एक अर्थ गूढ है जिसकी प्राप्ति के लिये अनेक शब्दों का सहयोग लिया गया है और वे सब समस्त है, अतः उक्त प्रकार का 'गूढचित्र' माना जायगा।

२—एकार्थगूढ-चित्र-असमस्त—शमीगर्भस्य यो गर्भस्तस्य गर्भस्य यो रिपुः।
रिपुगर्भस्य यो भर्ता स मे विष्णुः प्रसीदतु॥

यहाँ पूर्वार्ध के दोनों चरण और रिपुगर्भस्य पद तक के शब्दों से केवल 'लक्ष्मी' अर्थ की प्राप्ति हुई है और ये शब्द असमस्त भी हैं, अतः उक्त प्रकार का गूढ-चित्र माना गया है।

इसी प्रकार कहीं वर्णों के योग से शब्द निर्माण किया जाता है, कहीं रूपसादृश्य अथवा ध्वनिसाम्य से शब्दबोध करवाया जाता है, कहीं संख्यावाचक शब्दों का प्रयोग करके अभिप्रेतार्थ कहा जाता है और कहीं लक्ष्यार्थ, नेयार्थ, प्रसङ्ग एवं व्युत्पत्ति द्वारा ईप्सित अर्थ का कथन किया जाता है, जो गूढता के कारण चित्रालङ्कार के भेदों में ग्राह्य हैं।

गूढ-चित्र साहित्य की परम्परा में अनेक पद्धतियों का आविर्भाव हुआ है तथा अनेक ग्रन्थों की ओर अनेक स्तुतियों की रचना इस गूढ-प्रणाली के माध्यम से हुई है जिनमें मन्त्र-गर्भ तन्त्रगर्भ, यन्त्रगर्भ, भोज्यादिनामगर्भ, भेषजगर्भ, आभाणकर्भ, दृष्टान्तगर्भ, सहस्रनाम-गर्भ आदि प्रमुख हैं।[1]

८—प्रश्नोत्तरचित्र : लक्षण और उदाहरण-मीमांसा

दण्डी ने निभृता 'नामक प्रहेलिका के विवेचन में प्रश्न द्वारा उत्तर की अपेक्षा को स्थान दिया है। साथ ही यह भी कहा है कि 'विद्वानों के प्रयोगों से प्रश्नोत्तरादि-भेद भी जानने चाहिये।[2] रुद्रट ने क्रीडामात्रोपयोगी मानते हुए प्रश्नोत्तर-प्रक्रिया को चित्रालङ्कार से पृथक् माना हैं। उनके अनुसार प्रश्नों का एक उत्तर हो, उसे प्रश्नोत्तर' कहते हैं। यह व्यस्त, समस्त आदि के कारण अनेक प्रकार का होता है। तथा एक भाषा और अनेक

१—ऐसी रचनाओं का विवरण तथा विवेचन लेखक ने 'शब्दालङ्कार साहित्य का समीक्षा-त्मक सर्वेक्षण' नामक डी० लिट्० के शोध-प्रम्बन्ध में किया है।

२—निभृता निभृतान्यार्था, तुल्यधर्मस्पृशा गिरा। ३।१०२।

तथा—इति प्रहेलिकामार्गो दुष्करात्मापि दर्शितः। (काव्यादर्श के 'कमलमणि ग्रन्थ-माला काशी के पाँचवे प्रकाशन में यह पद्य दिया है। किन्तु श्रीरामचन्द्र मिश्र मैथिल द्वारा अनूदित काव्यादर्श चौखम्बा संस्करण में नहीं है। दण्डी के अन्य चक्र-पूर्ति के पद्यों की तुलना में यह उचित भी प्रतीत होता है।)

भाषा के प्रश्नोत्तरों के कारण भी अनेकविध बन जाता है।[1] अग्निपुराण में 'प्रश्न' को चित्रालङ्कार का पहला भेद बतलाते हुए 'जहाँ समानवर्णों के विन्यास द्वारा उत्तर दिया जाता है, उसे 'प्रश्न' कहते हैं, यह कहा है। तथा इसके दो भेद 'एकपृष्ट-प्रश्नोत्तर' एवं 'द्विपृष्ट-प्रश्नोत्तर' माने हैं। इनमें एकपृष्ट-प्रश्नोत्तर के 'समस्त और व्यस्त' ऐसे दो भेद और किये हैं।[2] भोज ने शब्दालङ्कारों के भेदों में 'प्रश्नोत्तर' को स्वतन्त्र स्थान देते हुए इसके छः भेदों की चर्चा की है[3] तथा लक्षण में कहा है' कि पदों अथवा वाक्यों द्वारा जहाँ विदग्ध-गोष्ठी में पर्यनुयोग—रहस्य का निर्भेद किया जाता है, उसे प्रश्नोत्तर कहते हैं। मम्मट और रुय्यक ने इसकी चर्चा नहीं की है। हेमचन्द्राचार्य और वाग्भटादि ने केवल परम्परा-निर्वाह के लिये 'आदि' पद से ग्रहण करने का संकेत दिया है।[4] शोभाकर, जयदेव और विश्वनाथ 'प्रश्नोत्तर' को अलङ्कार में स्थान नहीं देते हैं। धर्मदास ने 'विदग्धमुखमण्डन' में चित्रालङ्कार के विभिन्न प्रभेदों का 'जाति' के रूप में जो वर्णन किया है, उनमें अधि-कांश प्रकारों में 'प्रश्नोत्तर' का समावेश है। उनके द्वारा प्रदत्त उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि प्रश्नोत्तर-पद्धति का उपयोग सभी चित्रालङ्कारों में किया जा सकता है। केशवमिश्र ने प्रश्नोत्तर को स्वतन्त्र शब्दालङ्कार माना है। चन्द्रकवि ने 'चित्ररत्नाकर' में प्रश्नोत्तर के अनेक प्रकार दिये हैं, जिनमें भी प्रायः चित्रालङ्कार के सभी भेद आवर्जित हैं। विश्वेश्वर पण्डित ने भी 'कवीन्द्रकण्ठाभरण' में धर्मदास और चक्रकवि का अनुसरण किया है किन्तु अपनी दूसरी रचना 'चमत्कारचन्द्रिका' में प्रश्नोत्तर को स्वतन्त्र शब्दा-लङ्कार माना है।[5] उत्तरकाल के आचार्यों ने उपर्युक्त तीनों बातों में से किसी एक का अव-लम्बन लेकर ही वर्णन किया है इनमें से कतिपय भेदों का विकास इस प्रकार है—

प्रश्नान्तं च बहूनामुत्तरमेकं भवेद्यत्र ॥ ५।२६ ॥ प्रश्नोत्तरं तदेतद्व्यस्तसमस्तादिभि-भंवेद्। भेदैरनेक भाषं·········च भिद्यते ॥ ५।२७ ॥

मूल तथा टीकाभाग .— काव्यालङ्कार, रुद्रट

किन्तु उत्तरकाल में यह शब्दालङ्कारों में परिगणित होने लगा था इसका प्रमाण 'पद्या-मृत-सरोवर' के कूटाख्यान ३२वे तरङ्ग में संगृहीत निम्न पद्य से मिलता है—

प्रश्नोत्तर च यमकं. गूढं चित्रं प्रहेलिका। श्लेषं वक्रोक्त्यनुप्रासौ—शब्दालङ्कृतयो ऽष्टधा।

२—यत्र प्रदीयते तुल्यवर्णविन्यासमुत्तरम् ॥ २३ ॥ स प्रश्नः स्यादेकपृष्टद्विपृष्टोत्तरभेदतः। द्विधैकपृष्टो द्विविधः, समस्तो व्यस्त एव च ॥ अग्निपुराण ३४६।२४ ॥

३—यस्तु पर्यनुयोगस्य, निर्भेदः क्रियते पदैः। विदग्धगोष्ठ्यां वाक्यैर्यत्, तं हि प्रश्नोत्तरं विदुः ॥

अन्तःप्रश्नो बहिःप्रश्नो, बहिरन्तः समाह्वयैः। जातिपृष्टोत्तराभिख्यैः, प्रश्नैस्तदपि षड्विधम् ॥ स० क० २-१३६-६७ ॥

अनेकवक्तृक अनेकभाषात्मक व्यस्त-समस्त-प्रश्नोत्तर-चित्र

रुद्रट ने प्रश्नोत्तर के अन्यान्य भेदों के पृथक् पृथक् उदाहरण न देकर केवल एक ही उदाहरण दिया है, जो इस प्रकार है—

उद्यन्दिवसकरोऽसौ, किं कुरुते कथय मे मृगायाशु ।
कथयानिन्द्राय तथा, किं करवाणि क्वणितुकामः ॥

—काव्यालङ्कार ५।३१ ॥

अहिणवकमलदलारुणिण माण् फुरत्तिण केण ।
जाणिज्जई तरुणीअस्स निद्धा भण 'अहरेण' ॥ वहीं ५।३२ ॥

यहां कोई मूर्खतावश अपने आप को मृग बनाकर किसी से पूछता है कि—यह उदित होता हुआ सूर्य क्या करता है ? फिर स्वयं को अनिन्द्र मानकर दूसरे से दूसरा प्रश्न करता है कि—मैं आवाज करना चाहता हूं तदर्थ क्या करूँ ? भाषा भेद से कोई अपने मित्र से प्रश्न करता है कि—अभिनव अरुण कमलदल में स्फुरण से किस कामिनीजन के मान का लक्ष्य है ? यह तृतीय प्रश्न हैं । इस प्रकार इन तीनों प्रश्नों का एक ही उत्तर देते हुए कहा है कि 'अहरेण' इसके यथाक्रम उत्तर इस रूप में प्राप्त होते हैं—१–हे एण ! वंह अहः–दिन का निर्माण करता है । २–हे अहरे ? अनिन्द्र (तुम) अण-शब्द करो । ३–अधरेण । इस प्रकार यहाँ वक्ता एक है, भाषा अनेक हैं, उत्तर एक रूप में दिया गया है जो तीनों का उत्तर बन जाता है । अतः यह व्यस्त-समस्त भी है । इस दृष्टि से यह उक्त भेद का उदाहरण है । यहीं अन्य उदाहरणों को अन्यत्र देखने का संकेत भी दिया है ।

भोज के छः भेद इस से नवीन हैं, जिनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

१—अन्तःप्रश्न-चित्र—का हमस्मि गुहा वक्ति, प्रश्नेऽमुष्मिन् किमुत्तरम् ।
कथमुक्तं न जानासि, कदर्थयसि यत् सखे ॥

स० क० २।३७२ ॥

इम में गुहा पूछती है कि मैं कौन हूं ? इसका उत्तर इसी पद्य के उत्तरार्ध में क-थ अक्षरों से मुक्त 'कदर्थयसि' पद के 'दर्यसि-दरी असि' पद से प्राप्त होता है । जो कि पद्य के अन्तर्भाग में ही वाक्यान्तर के द्वारा प्रश्नोत्तर के रूप में कह दिया है । अतः यह अन्तः प्रश्न कहलाता है । अनेक विद्वानों ने इसी 'अन्तः–प्रश्न' को 'अन्तर्लापिका' नाम से सम्बोधित

४—आदिपदेन प्रश्नोत्तरप्रहेलिकादुर्वचकादिसंग्रहः । काव्यानुशासन अ. ५ सूत्र ४ वृत्ति आदिशब्दात् प्रश्नोत्तरप्रहेलिकादुर्वचकादयोऽपि भवन्ति–काव्यानुशासन, वाग्भट द्वितीय सूत्र-१

५—द्रष्टव्य-कवीन्द्रकण्ठाभरण, प्रथम परिच्छेद, पद्य ५ से १० तथा 'चमत्कार-चन्द्रिका' षष्ठ विलास

किया है और यह नाम उचित भी प्रतीत होता है क्यों कि इसमें प्रश्न के पदों में ही उत्तर छिपा रहता है। यथा—'कं बलवन्तं न बाधते, शीतं' जैसे प्रश्न का उत्तर 'कम्बलवन्तं न बाधते' शीतं के रूप में मिलजाता है। इस पद्धति में आदि और अन्त के अक्षरों को मिला कर उत्तर निकालने की प्रक्रिया भी आकर्षक है। यथा—

'सीमन्तिनीषु का कान्ता' जैसे प्रश्न का उत्तर आदि के 'सी' और अन्त के 'ता' अक्षर के योग से 'सीता' के रूप में प्राप्त होता है।

३—बहिः-प्रश्न-चित्र—

भद्रमाणवकाख्याहि, कीदृशः खलु ते पिता।
वेलान्दोलितकल्लोलः, कीदृशश्च महोदधिः ॥ वहीं २।३७४॥

यहाँ माणवक के पिता और समुद्र सम्बन्धी दोनों प्रश्नों का उत्तर 'मज्जन्मकर' मेरा जन्म देनेवाला, तथा मकर जिसमें डूब रहे हैं वह 'बाहर से प्राप्त हैं। अतः इसे 'बहि-प्रश्न' कहा गया है। विश्वेश्वर ने चमत्कार-चन्द्रिका में इस भेद को माना है। अन्य विद्वान् इसे 'बहिर्लापिका' नाम से भी सम्बोधित करते हैं।

३—बहिरन्तः प्रश्न-चित्र

सुभद्रां क उपायँस्त, प्रश्नेमुष्मिन् य उत्तरः।
स कीदृक् कपिमाचष्टे, व्योम्नि पूर्णस्थितिः कुतः ॥ वहीं २।३७४।

यहाँ बाहर से 'वायुतः' इस उत्तर के कहने पर तीनों प्रश्नों के उत्तरों की योजना इस प्रकार होती है—१–वा अयुतः नरः–अर्जुनः। २–वायुतो नरः– वानरः। ३–वायु–तः–वायु से - इस प्रकार पूछे गये प्रश्न के उत्तर द्वारा ही अन्य प्रश्नोत्तरों की भी योजना करने के कारण यहाँ 'बहिरन्तः-प्रश्न' माना गया है। विश्वेश्वर ने 'चमत्कार-चन्द्रिका' में इसका नाम 'उभय-प्रश्न' दिया है। अन्य दृष्टि से इसे 'बहिरन्तर्लापिका'' भी कहा जा सकेगा।

४—जातिप्रश्न-चित्र—

कीदृशा भूमिनागेन, राजा स्नातोऽनुमीयते .
प्राङ्गणं कुरुतेत्युक्ताः, किमाहुस्तदनिच्छवः ॥ वहीं २।३७५ ॥

यहाँ 'प्रथम प्रश्न का उत्तर 'हेमवारकरञ्जिना' और द्वितीय प्रश्न का उत्तर पूर्वोक्त उत्तर का प्रत्यागत 'नाजिरं करवामहे' है। इस प्रकार गत-प्रत्यागत उत्तर होने से इसे 'जातिप्रश्न' कहा गया है। उत्तर काल के आचार्यों ने इसे 'गतप्रत्यागतोत्तर-जाति' नाम से सम्बोधित किया है।

५—पृष्टप्रश्न-चित्र

को सो जोअणवाओ, को दण्डाणं दुवे सहस्साई।
का काली का मधुरा, किं शुकपृथुकाननच्छायम् ॥ वहीं २।३७६

यहाँ जिन प्रश्नों को पूछा गया है उनके उत्तर भी वे ही प्रश्न शब्दयोजना में सामान्य अन्तर कर देने बन जाते हैं। यथा 'कः स योजनपादः' का उत्तर कोसो-क्रोशः 'कः दण्डानां द्वे सहस्रे का उत्तर दोर्दण्डानां द्वे सहस्रे तथा का काली, का मधुरा और किं शुकपृथकाननच्छायम् के उत्तर क्रमशः 'काकाली, कामधुरा और किंशुकपृथुकाननच्छायम्' बन जाते हैं इस प्रकार यहाँ जो प्रश्न हैं वे ही उत्तर हैं, अतः यह 'पृष्टप्रश्न' कहा है। उत्तर काल के आचार्यों ने इस नाम को यथावद् ग्रहण करते हुए 'जाति' भेदों में स्थान दिया है।

६—उत्तर-प्रश्न—

> **किं वसन्तसमये वनभक्षः, पृष्टवान् स पृथुलोमविलेखः।**
> **उत्तरं च किमवापतुरेते, काननादतिमिरादपि काली॥**

यहाँ पूछे गये प्रश्नों के उत्तर-'हे काननाद, हे तिमिराद, पिकाली' बन जाते हैं। अतः इसे 'उत्तर-प्रश्न' कहा गया है। यही अन्यत्र 'पृष्टोत्तर' कहा गया है।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त प्रश्नोत्तर के भेदों में अनेक भेद अन्य चित्रालङ्कार के भेदों से मिश्रित किये गये प्राप्त होते हैं उनमें से कुछ विशिष्ट प्रकारों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।[1]

१–व्यस्तजाति—पद विभाग के द्वारा जहाँ उत्तर दिया जाय।

२–समस्तजाति—समुदाय के द्वारा जहाँ उत्तर दिया जाए।

३–द्विर्व्यस्तजाति—पदभङ्गविभेद द्वारा जहाँ दो प्रकार से उत्तर दिया जाए।

४–द्विःसमस्तजाति—समुदाय के द्वारा जहाँ दो प्रकार से उत्तर दिया जाय।

२–व्यस्तसमस्तजाति—पदविभाग और समुदाय इन दोनों प्रकारों से जहाँ उत्तर दिया जाए।

४–द्विर्व्यस्तसमस्तजाति—पद-विभाग और समुदाय इन दोनों प्रकारों में प्रथम उत्तर जहाँ दो प्रकार से और द्वितीय उत्तर एक रूप में दिया जाय।

७–द्विर्व्यस्त द्विःसमस्तजातिः—पदविभाग और समुदाय इन दोनों प्रकारों में दोनों उत्तर जहाँ दो-दो प्रकार से दिये जाँय।

१—इसमें पृथक्-पृथक् वर्तमानादिकाल एवं लकारों के अक्षरों के आधार पर अनेक भेद किये जाते हैं।

तथा—

८–एकालापक	९–वचन-भिन्न	१०–विभक्तिभिन्न
११–लिङ्गभिन्न	१२–वचनविभक्तिभिन्न	१३–शब्दार्थलिङ्ग वचनभिन्न
१४–शब्दार्थलिङ्ग विभक्ति-भिन्न	१५–शब्दार्थवचनविभक्ति-भिन्न,	१६–भेदाभेदक
१७–ऊर्जित	१८–सालङ्कार	१९–सकौतुक
२०–पृष्टोत्तर,	२१–पृष्टप्रश्न	२२–भग्नोत्तर,
२३–आद्योत्तर	२४–मध्योत्तर,	२५–अन्त्योत्तर
२६–कथितापह्नुति	२७–विषम	२८–वृत्तनाम,
२९–नामाख्यात"[1]	३०–तार्क-तर्कपूर्ण	३१–सौत्र,
३२–शाब्द,	३३–शास्त्र,	३४–वर्णोत्तर,
३–वाक्योत्तर,	३६–श्लोकार्थोत्तर,	३७–श्लोकोत्तर,
३८–पादोत्तर,	३९–चक्र-पद्मादिबन्धोत्तर	४०–वर्धमानाक्षर
४१–हीयमानाक्षर,	४२–आद्युच्चेयाक्षर	४३–एकरूपोत्तर,
४४–द्विरुपोत्तर,	४५–प्रतिलोमोत्तर,	४६–क्रमाक्षरोत्तर,
४७–एकद्वित्रिरावृत्त,	४८–स्तुतिनिन्दोत्तर	

आदि भेद भी प्रश्नोत्तर के प्रकारों में ग्राह्य किये गये हैं। इससे प्रश्नोत्तर-चित्र की व्यापकता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

९—समस्या-चित्र : लक्षण और उदाहरण-मीमांसा

साहित्यकार के हृदय में विराट् विश्व की प्रतिच्छाया अङ्कित रहती है। वह किस-किस का वर्णन करे और किस-किस को छोड़ दे ? यह समस्या उस समय पूर्णरूपेण समाहित हो जाती है, जब वह किसी के द्वारा प्रेरित होकर किसी एक समस्या के समाधान में दत्तचित्त हो जाता है। पूर्वाचार्यों ने प्रतिभा-विकास के अन्यान्य साधनों के साथ 'समस्या-पूर्ति' को भी एक प्रधान साधन माना है।

राजशेखर ने कवि की आहोरात्रिक-चर्या का निर्देश करते हुए लिखा है कि 'कवि

१—इस विमर्श में 'धर्मदास, चक्रकवि और विश्वेश्वर' तीनों के ग्रन्थों १-विदग्धमुखमण्डन, २-चित्ररत्नाकर तथा ३-चमत्कार-चद्रिका का भी आश्रय लिया गया है।

भोजन के पश्चात् काव्यगोष्ठी का आयोजन करके उसमें कभी प्रश्नों का विभेदन और कभी काव्य-समस्याओं की धारणा करे। १—काव्य-समस्याधारण, २—मातृकाभ्यास और ३—चित्रायोग—ये तीन आयाम हैं, जिनके द्वारा गोष्ठी में काव्याभ्यास सम्बन्धी बल प्राप्त होता है।[1] क्षेमेन्द्र ने समस्या-पूर्ति के लिये 'चमत्कार-विधायक' वाणी की नवार्थचर्चा को आवश्यक बतलाया है तथा पद, पाद और पदावशेष सम्पूर्त्ति की अभिलाषा को सदा जागरित रखने का आग्रह किया है। यह अभ्यास पदसंनिवेश, वाक्यार्थशून्यता और श्लोक-परा-वृत्ति से करना चाहिये। ऐसा अभ्यास करनेवालों में कवि छायोपजीवी, पदकोपजीवी, पादोपजीवी आदि प्रारम्भ में होते हैं और क्रमशः अपने उन्मेष से कवित्वजीवी बनकर सकलोपजीवी बन जाते हैं।[2]

'अग्निपुराण' ने चित्र (अलङ्कार) के सात भेदों में, एक भेद 'समस्या-पूर्ति' को मानते हुए यह लक्षण दिया है—

सुश्लिष्टपद्यमेकं यन्नानाश्लोकांशनिर्मितम्।
सा 'समस्या' परस्यात्मपरयोः कृतिसङ्करात् ॥३४३-३१॥

इसके अनुसार विभिन्न श्लोकांशों से सुनियोजित पद्य समस्या कहाती है तथा इसके 'आत्म-सङ्कर' अर्थात् पद्य के अंशों का सङ्कर और पर-सङ्कर अर्थात् 'अन्य पदों का मिश्रण या सङ्कर' ये दो भेद होते हैं।

अमरचन्द्रयति ने 'काव्यकल्पलता-वृत्ति' में समस्या-पूर्ति में असम्भव समस्याओं की पूर्ति के लिये कतिपय उपाय दिखलाये हैं जिनमें 'कल्पादि-कल्पान्तवस्तुप्रतिपादन, लघु को दीर्घ और दीर्घ को लघु बनाना, तीनों जगत् के पदार्थों को किसी प्रकार विशेष से विपरीत बनाना, यदि शब्द, वात्सल्यादि और स्वप्नादि के द्वारा समस्याओं की पूर्ति का सोदाहरण विवेचन किया है।[1]

देवेश्वर ने भी 'कविकल्पलता' में प्रायः इन्हीं विषयों को स्थान दिया है।[2] वाग्भट

१—द्रष्टव्य—काव्यमीमांसा दशम अध्याय पृ० ५२।

२—वाचां चमत्कारविधायिनीनां, नवार्थचर्चासु मतिं विदध्यात् ॥१७॥
पदे च पादे च पदावशेष—सम्पूरणेच्छां मुहुराददीत ॥२०॥
अभ्यासहेतोः पदसंनिवेशैर्वाक्यार्थशून्यैर्विदधीत वृत्तम्।
श्लोकं परावृत्तिपदैः पुराणं, यथास्थितार्थं परिपूरयेच्च ॥२१॥ (प्र० सन्धि।)
छायोपजीवी पदकोपजीवी, पादोपजीवी सकलोपजीवी।
भवेदथ प्राप्तकवित्वजीवी, स्वोन्मेषतो वा भुवनोपजीव्यः ॥ कविकण्ठाभरण २१॥

१—द्रष्टव्य—सप्तमस्तबक, काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ० १४८ से १५३।

२—द्रष्टव्य—षष्ठकुसुम, कविकल्पलता।

(द्वितीय) ने काव्यानुशासन में समस्यापूर्ति के अनेक प्रकारों की चर्चा करते हुए पाद, पादद्वय, पादत्रय, पदपरिवृत्ति आदि प्रकारों पर प्रकाश डाला है। हेमचन्द्र ने भी 'काव्यानुशासन' की स्वोपज्ञ टीका में इसकी सामान्य चर्चा की है। शार्ङ्ग-धर-पद्धति में 'समस्याख्यान' का एक पृथक् ही सङ्कलन करके वहाँ अनेक प्रकारों को दिखलाने का प्रयास हुआ है। प्रकीर्ण सुभाषित ग्रन्थों में भी सामयिक विद्वानों की समस्यापूर्तियों को सङ्कलित करके बहुत बड़ा संग्रह उपस्थित किया है, जो इस विषय की पुष्टि में पूर्ण सहयोगी है।

समस्या पूर्ति का मूलतत्त्व

प्रारम्भ में 'कहीं शब्दावृत्ति, कहीं पदावृत्ति और कहीं पादावृत्ति की प्रमुखता से उद्भूत 'यमकालङ्कार' में जब महायमक द्वारा पूरे पद्यों की आवृत्ति होने लगी तो उस आयास-साध्य-प्रक्रिया की कुछ अंशों में की गई पूर्ति ने सम्भवतः समस्यापूर्ति का रूप धारण किया होगा! 'क्योंकि यमक में स्वर-व्यञ्जन-संहति का जो पुनरावर्तन होता है वह किसी विशेष क्रम को लिये रहता है तथा वहाँ भिन्नार्थकता भी आवश्यक होती है, किन्तु समस्यापूर्ति में ऐसा प्रतिबन्ध नहीं है। समस्यापूर्ति में एक पद के आधार पर अनेक पद्यों का निर्माण, एकानुरूप भाव-निवेश और काव्यभेद अथवा विचार-भेद से अनेकविध भावों का समावेश भी होता रहता है।

इस प्रणाली का आरम्भ वैदिक ऋचाओं में हमें उपलब्ध होता है। वहाँ ऐसे कतिपय सूत्र हैं जिनमें मन्त्र का अन्तिम चरण समान ही रहता है, जैसे—ऋग्वेद में—कस्मै देवाय हविषा विधेम' इत्यादि अन्तिम पद पूरक सूक्त तथा यजुर्वेद में—'तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु' इस अन्तिम चरणपूर्ति रूप पाँच मन्त्रों का शिवसङ्कल्प-सूक्त तथा 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' पद से पूर्ण होने वाले मन्त्रों से युक्त चमकाध्याय। इस परम्परा का सामन्ती-सभ्यता के युग में—जब स्पर्धाएँ अधिक हुआ करती थीं और जब प्रतिभा-प्रदर्शन कर राजसभाओं में प्रतिष्ठा प्राप्त करना ही ध्येय रहता था, तब—अधिक विकास हुआ। कभी-कभी शास्त्रार्थ और वादगोष्ठियों में भी परीक्षण की दृष्टि से ऐसे प्रयोग हुए हैं तथा ईश्वरीय प्रतिभा का सदुपयोग करने के लिये भी कवियों ने ऐसे साहित्य का निर्माण किया। इससे सामान्य पूर्तियों को यहां विशेष महत्त्व न देते हुए केवल उन चमत्कृतिपूर्ण रचनाओं का निदर्शन आवश्यक माना है जिनके द्वारा शब्दालङ्कार की अभिवृद्धि और आश्चर्यपूर्ण मार्ग का निर्देशन हुआ है।

१—मातृकाक्रम-पूर्ति चित्र—वाराणसी में किसी 'शास्त्रार्थगोष्ठी' के अवसर पर म० म० गङ्गाधरशास्त्री सी० आई० ई० ने शतावधानी पं० गट्टूलालजी शास्त्री से अन्तिम चरण कहकर मातृकाक्रम से उसकी पूर्ति करने का अपेक्षा की थी, तब उक्त शास्त्री जी ने उसकी पूर्ति निम्न प्रकार से की—

अनेकवर्णक्रमरीतियुक्तः कखागघाङच्छजझाञटौठः।
अडाढणस्तोऽथ दधौ न पम्फुल् 'बभौ मयूरोलवशेषसिहः॥'

इसमें प्रस्तुत पद्य के चतुर्थ चरण 'ब से ह' तक के अक्षरों की पूर्तिरूप समस्या में निहित था।[1]

२—अक्षर पंक्तिपूर्ति–चित्र--कहीं कवि द्वादशाक्षरी (बारह खड़ी) के क्रम से भी स्तुति द्वारा समस्यापूर्ति करता है। इसके उदाहरण स्वरूप इन्दौर—म० प्र० के श्रीकरमलकर शास्त्री ने 'काक्षर-पंक्ति' की पूर्ति निम्नरूप में की है—

कर्ता कारयिता किशोरसुवयाः कीनाशभीतिप्रदः,
कुप्यन् कूर्मतनुः कुकेशिहननः कैवल्यदो योगिने।
कोपी कौरवकृत् कुकंसमवधीत् संकः सुकृष्णोऽस्तु मे,
इत्थं काक्षरपंक्तिरत्र कविना कृष्णस्तुतिः साधिता॥

इसमें 'क का कि की' आदि पंक्ति दर्शनीय हैं। कभी कवि विविध भावों की योजना करते हुए प्रश्नों के द्वारा भी समस्याएँ पूर्ण करता है। उपर्युक्त अक्षर—पंक्ति की पूर्ति के लिये कालिदास के नाम से निम्न पद्य सुभाषित के रूप में प्राप्त होता है :—

मित्रामन्त्रय मद्गुजीवितसमां दक्षक्रतू कीदृशौ,
कीदृक्षौ मरुकीटकौ शिखिरुतिः का काममामन्त्रय।
कौ नक्तं विरहातुरौ चरति कस्तोये मिलित्वा भृशं,
लिप्यभ्यासपरायणा गुरुगृहे किं वा पठन्त्यर्भकाः॥

इन प्रश्नों का उत्तर क्रमशः 'क का कि की' आदि काक्षर—पंक्ति से प्राप्त होता है।

३—असम्भव की सम्भवरूप पूर्ति-चित्र—यदि कहीं समस्यापूर्ति के लिये असम्भव बात कहीं जाय तो उसकी पूर्ति के लिये कवि ईश्वर कृपा से अथवा अन्य किसी कथन द्वारा उसे सम्भव बताते हुए पद्य पूर्ति करता है। यथा—

चेतः सूच्यग्रतस्तत्प्रसरति पुरतः प्राणिनां वर्गषट्कं,
दुष्पारं कूपरूपं तदुपरि नगराकारसंसार एषः।
तस्मिन् भाग्योदयाद्वै सुरसरिदभवच्छुद्धबुद्धिस्वरूपा,
'सूच्यग्रे कूपषट्कं तदुपरि नगरी तत्र गङ्गाप्रवाहः॥ पद्या० सरोवर

४—द्विपाद और त्रिपादगत समस्या-चित्र—उपर्युक्त समस्यापूर्ति एक पादगत है, जबकि अन्य विद्वानों ने दो पाद और तीन पाद समस्यारूप में ग्रहण करके भी पूर्तियाँ का हैं। यथा—

तयोरन्तर्विनिर्मग्नां, दृष्टिमुत्पाटयन्निव।
'स्तनावालोक्य तन्वङ्ग्याः, शिरः कम्पयते युवा॥' 'काव्यानुशासन-वाग्भट

१—द्रष्टव्य—संस्कृत के विद्वान् और पण्डित, पृ० ३।
तथा इसी बात को अन्यत्र अन्म रूप से भी प्रस्तुत किया गया है।

इसमें तृतीय-चतुर्थ पाद समस्यारूप हैं। इसे 'उत्तरार्धसमस्या' भी कहते हैं। त्रिपाद-समस्या की पूर्ति का उदाहरण इस प्रकार प्राप्त है—

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः,
सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य।
'कैलासस्यादिमजिनपतिं प्रार्थयेऽस्त्रं विमुक्त्यै'
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा॥ का० वाग्भट॥

यहाँ तृतीय चरण पूर्तिरूप है। इसे 'पूर्वार्धतुरीय पादसमस्या' भी कहते हैं।

५ पूर्वार्ध-समस्याचित्र—शाङ्र्गधर पद्धति में इनके विपरीत समस्यापूर्तियाँ भी दी हैं। यथा—

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'
दलितश्चकितश्छिन्नस्तव सैन्ये विसर्पति॥ समस्याख्यान १॥

यहाँ पूर्वार्ध के दो पद समस्या के रूप में हैं।

६—तृतीयपादसमस्या-चित्र—

उन्नमय्य सकचग्रहमास्यं चुम्बति प्रियतमे हठवृत्त्या।
'ऊं हु हुहुं हुहूं हुहुं' कूजितं भवति (जयति) मानधनायाः॥ विज्जका १८॥

यहाँ तृतीयचरण समस्या के रूप में है।

७—पदैक-समस्या-चित्र—

'प्रलयसहायकरावचितागोलानाचम्य' सकलभूमिरुहाम्।
विलसति दवदहनावलिरिह जलवाहः परं शरणम्॥ (मुरारि कवि) १६॥

इसमें प्रलयादि पद की पूर्ति की गई है।

८—आद्यन्तपाद-समस्या-चित्र—

'अतसीपुष्पसङ्काशं' रवं वीक्ष्य जलदागमे।
ये वयोऽपि हि जीवन्ति 'न तेषां विद्यते भयम्'॥ वही २१॥

इसमें प्रथम और चतुर्थ चरण समस्यारूप है।

६—चतुःपादादिगत सूत्र-समस्या चित्र—

'सर्वस्य द्वे' सुमति-कुमती सम्पदापत्तिहेतू—
'एको गोत्रे' प्रभवति पुमान् यः कुटुम्बं बिभर्ति।
'वृद्धो यूना' सह परिचयात् त्यज्यते कामिनीभिः,
'स्त्रीपुंवच्च' प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनष्टम्॥

यहाँ चरणारम्भ में चार पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्रों की योजना की गई है।

१०—एकसूत्रान्त्यपाद-समस्या चित्र—

आयातो वनमाली, गृहपतिरालि समायातः ।
स्मर सखि पाणिनिसूत्रं, 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' ॥

यहाँ अन्तिम चरण सूत्र-रूप है ।

११—समानशब्दपूर्तिरूप-समस्याचित्र—

श्रुत्वा सागरबन्धनं दशशिराः सर्वैर्मुखैरेकदा,
तूर्णं पृच्छति वार्तिकान् सचकितो भीत्या परं सम्भ्रमात् ।
बद्धः सत्यमपांनिधिर्जलनिधिः कीलालधिस्तोयधिः,
पाथोधिर्जलधिः पयोधिरुदधिर्वारांनिधिर्वारिधि : ? ॥

यहाँ रावण के दस मुखों से एक साथ समुद्र के पर्यायवाची दस शब्दों का गुम्फन चमत्कार—पूर्ण है । कहीं पदपरिवृत्ति से भी समस्यापूरण क्रम को अपनाया है । यथा—

१२—पदपरिवृत्तिरूप-समस्या चित्र—

वाण्यर्थाविव सपृक्तौ, वाण्यर्थप्रतिपत्तये ।
जगतो मातरौ वन्दे शर्वाणी–शिशिशेखरौ ॥ का० वाग्भट ॥

यहाँ कालिदास के 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' पद्य के पद परिवर्तित हैं ।

ऐसी समस्यापूर्तियों से शब्दालङ्कार के लिये पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हुई है । इस प्रक्रम का पूर्णपरिपाक हमें वहाँ प्राप्त होता है, जहाँ कवि पूरे-पूरे स्तोत्रकाव्य, खण्डकाव्य और महाकाव्य को समस्यापूर्ति के माध्यम से उपस्थित करता है । ऐसे साहित्य की भी संस्कृत साहित्य में एक विशिष्ट परम्परा प्रचलित है । जिनमें वेदपादान्तस्तुतियाँ, मेधदूत की १२ से अधिक समस्यापूर्तिमूलक कृतियाँ, भक्तामर-स्तोत्र की १२ तथा कल्याणमन्दिर स्तोत्र की ८-१० समस्यापूर्तियाँ, शिशुपालवध, नैषधीयचरित के प्रथमसर्गों की समस्यापूर्तियाँ, शिवमहिम्नः स्तोत्र एवं सौन्दर्यलहरी की समस्यापूर्तिस्तुतियाँ और सहस्र-नामस्तोत्रों के नामों की पूर्तिरूप काव्यमय रचनाएँ—साहिबकौल का 'काव्य-विलास' श्रीअम्बिकादत्तव्यास का सहस्रनाम-रामायणकाव्य, आशुकवि श्रीहरिशास्त्री दाधीच का ललितासहस्र-काव्य तथा महाराष्ट्र के प्रसिद्ध कवि श्रीमोरो पन्त की शब्दमूलक पूर्तियाँ, मन्त्ररामायण, परन्तुरामायण, इत्यादि रामायण आदि भी इसी कोटि के ग्रन्थ हैं ।

कुछ समस्यापूर्तियाँ अन्य भाषा के बहुचर्चित पद अथवा लोकोक्तियों को लेकर भी विद्वानों ने की है । कूर्माचल के गुमानी कवि ने हिन्दी और लोकभाषा के पदों की पूर्ति निम्नरूप में की है :—

अन्यभाषा पदपूर्तिरूप–समस्या-चित्र—

बलाधिकान्मन्त्रविदः सपापान् हत्वा रणे तान् धृतराष्ट्रपुत्रान् ।
शशास धर्मात्मज एव राज्यं आखिर भले का जग में भला है ॥ १ ॥

इस प्रकार की पूर्तियों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि संस्कृत-साहित्य में समस्या-पूर्ति साहित्य की विविधता के साथ ही शब्दालङ्कारों की प्रेरणा में भी कितना उदात्त सहयोग मिला है।

१०—भाषाचित्र : लक्षण और उदाहरण-मीमांसा

'भाषा-सम' अलंकार की चर्चा हम श्लेष के भाषा श्लेष नामक भेद के विवेचन में कर चुके हैं तथा वहीं यह भी स्पष्ट किया है कि वह अलङ्कार-भेद एक ही समान दो भाषाओं के पदों की योजना से होता है। चित्रकवियों ने सम्भवतः इसी भाषासम अलंकार के सम-विषम प्रयोग के आधार पर 'भाषाचित्र' अलङ्कार की सृष्टि की है अथवा अनुवादक जब अनूद्य विषय के उचित शब्द का पर्याय न मिलने पर उसी के समानार्थक अन्य भाषा-के शब्द को रखता है तो पाठक को आश्चर्य-सा प्रतीत होता है, अतः ऐसी प्रवृत्ति से भी भाषा-चित्र का जन्म माना जा सकता है। लक्ष्य-ग्रन्थों में भाषा-चित्र अलङ्कार के कतिपय उदाहरण प्राप्त होते हैं जो वस्तुतः कुतूहलवर्धक हैं किन्तु इस भेद का कोई स्वतन्त्र लक्षण प्राप्त नहीं होता 'पद्यामृतसरोवर' में इसके निम्न उदाहरण दिये गये हैं.—

१-खाट-पाट-वृषभाटनगारी, डाभलाभकरभाटहुडाटाः।
एत आशु तव कीर्तिपराजन्, गामसीमविहितां प्रदिशन्तु॥

यहाँ आरम्भ के दो चरण एवं चतुर्थ चरण में प्रयुक्त शब्द शुद्ध हिन्दी के हैं, किन्तु उनका संस्कृत की दृष्टि से अर्थ करने पर सङ्गति बैठ जाती है, अतः यहाँ भाषा-चित्र माना गया है।

२- हयाटाख्वाटसिंहाटाजाटागोटाः सशक्तयः।
खाटपाटसरोटाटास्ते देवाः पान्तु सर्वदा॥

यहाँ भी पूर्वोक्त-पद्धति का अनुसरण करते हुए भाषापदों का प्रयोग हुआ है, अतः उक्त अलङ्कार है। इसी पद्धति के वहाँ प्रायः तेरह पद्य हैं, जिनमें अनेक लौकिक वस्तुओं के भाषागत नामों को संकलित किया है।[1]

आर्यभट्ट ने 'महासिद्धान्त' नामक ज्योतिष के ग्रन्थ में भी ऐसे प्रयोग किये हैं। जिनमें अंकों की गणना का संकेत ऐसे भाषागत नामों की योजना से हुआ है। यथा—

सूर्यादीनां भेली फैली फैनी नवी नीनाः।
मसिमसि गडबढ़मुकिमा रे रे धोती हडी गनी गेसे॥ पराशरमताध्याय ५।

इसी प्रकार 'दुर्घट काव्य' में भी एक भोज्यादिनामगर्भा स्तुतिः प्राप्त होती है जिस की पद्य-रचना में भाषागत भोज्य-वस्तुओं नाम दिये हैं और सामान्य सन्धि-समासादि ज्ञान से स्तुतिरूपार्थ भी उपलब्ध होता है। यथा—

लक्ष्मीवन् कृतकूर सूरण दहिन् दुर्धक् क्षमः पापडी
लाडूढोकलघीवड़ां छनवड़ी खाजाम्बुदाली रुचिः।

१—द्रस्टव्य-पद्यामृतसरोवर, ३३ वाँ तरङ्ग चित्राख्यान।

मङ्गाऽऽशाकर खण्डनो विविभुना क्षीरावसा तुल्यमा-
सासुं चालितडिन्निभाङ्गवसनोऽव्यात् सेवकं सारवान् ॥ १ ॥

एक जैन कवि ने भी इसी पद्धति का आश्रय लेकर ग्यारह पद्यों की एक स्तुति बनाई है जिसमें भोज्य-वस्तुओं के नाम गर्भित हैं और वह भाषा-चित्र का रूप ले लेती है। यथा —

आम्बा-रायण सेलडी खडहडी केला मतीराँगभं,
चञ्चद्दाडिम-द्राख-खारिकर सात् त्वां साकुची खाजलाम् ।
लाडू-खाण्ड-खजूर-सार-खडबूजांकूर-दालिप्रभो ।
नौमि श्रीशिवमुद्रसाकरमहंश्रीपानसत्फोफलम् ॥ १ ॥

तथा इसका संस्कृतार्थ जानने के लिये ऐसा खण्डान्वय करना पड़ेगा—

आम्ब अरायण सेलडी खलहलीकेलामतिः रांगभं,
चंचददालिमद्र अखखारिक रसात् त्वां साकुची खाजडाम् ।
लालूषाण्डख जूरसारखलब् अजांकूर दालि प्रभो ।
नौमि श्रीशिव मुद्ररसाकरम् अहं श्रीपानसत्फो फलम् ॥

यहाँ चित्र के 'डलयोरभेदः' आदि का भी उपयोग किया गया है। इस प्रकार यह भाषा-चित्र भो चित्र के भेदों में ग्राह्य हुआ है।

भट्ट मथुरानाथशास्त्री ने 'जयपुर वैभव' में भाषा-चित्र के उदाहरण देते हुए लिखा है कि 'आदि अथवा अन्तिम अक्षरों के पदानुसारी पठन से जहाँ अन्यभाषा का वाक्य निःसृत होता हो, वहाँ 'भाषाचित्र' नामक अलङ्कार समझना चाहिये। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

१—आद्यक्षरगत भाषाचित्र

श्रीमद्भानुवंशवैजयन्ती भासतेऽसौ पुरो, मानमुन्नयन्ती कच्छवाहानां कुलक्रमे ।
नव्यसुमुहाहवेरवसनविभासिनोऽमी, भूपा भूषयन्ति साभद्रया मानसम्भ्रमे ।
पण्डिताः प्रगल्भन्ते कवित्वे मञ्जुनाथ गिरा कीर्तिस्ते दिगन्ते भातु भूयो जगत्संमे ।
जयपुरराजमान मानमहाराजमणे, यशसा विराजसे विवाहोत्सवसंगमे ॥
जयपुरवैभव, चित्रचत्वर २३ ॥

यहाँ आरम्भ के अक्षरों से **'श्रीमानभूप की जय'** यह वाक्य निकलता है, अतः इसे उक्त भेद वाला चित्रालङ्कार कहा गया है।

२—**अन्त्याक्षरगत भाषाचित्र**—पूर्वोक्त पद्य के अनुसार ही यदि अन्तिम अक्षरों में किसी वाक्य विशेष का प्रतिचरण में विन्यास किया जाय तो वहाँ उक्त भेदवाला चित्रालङ्कार कहा जायगा।

३—आद्यन्त्याक्षरगत भाषा-चित्र—जहाँ प्रतिचरण के आदि और अन्त्य के अक्षरों में किसी अन्य भाषा के वाक्य विशेष का विन्यास रहता है तो वहाँ उक्त भेदवाला चित्रालङ्कार होता है। यथा—

चैत्रे मासि मोदन्ते मृगांकं वीक्ष्य यद्वन्नरा नन्दति तथैव त्वयि वीर ! सुप्रजा प्रजा।
जैत्रीयं विभाति भूमिभर्त्री सुर धेनु विप्र, पुञ्ज परिपालनोपकर्त्री भवतो भुजा॥
रञ्जयसे मर्त्यान् मञ्जुनाथ निजनीतिक्रमे मेदिनी यमामोदं दधाति त्वयि नीरुजा॥
रज्ज्यल्लोकलोचनचकोरकृते चन्द्रबिम्ब हेनृप, तवावलम्बमहति महाब्धिजा। वहीं २४॥

उपर्युक्त कवित्व के आदि और अन्त के अक्षरों को क्रमशः मिलाकर पढ़ने से **'चेन जैपुर में रहे राजा प्रजा में जा बजा'** यह उर्दू का पद्य खण्ड निकलता है, अतः उक्तभेदवाला चित्रालङ्कार हैं।

४—बहुभाषा-मिश्रण-चित्र—जहाँ पद्य के प्रतिचरण की भाषा भिन्न-भिन्नरूप में प्रयुक्त हो, वहाँ उक्त चित्र अलङ्कार होता है। यथा—

ओह लुक दैट एलिफेन्ट इस कमिंग हियर, जर्क बर्क अस्प मानन्दे परिन्द ये तमाम।
एइ दिके एसो हेंरो की बाहर पेशाकेर, किंमत कुबेरनी करी छे जरा जुओ आस।
वाह वा सरस सहनाई ये सुनो तो सही, कोयी खई जाय याँ चिरागच्याँ को भारयोकाम।
अहा राजाचे भाऊ बन्धु आले है पहा मित्र मानमहीपाले भञ्जु दृष्टिर्दीयतान्तमाम २६। वहीं

उपर्युक्त पद्य में क्रमशः- अंग्रेजी' उर्दू, बंगाली, गुजराती,व्रज, जयपुरी, मराठी, और संस्कृत भाषा का प्रयोग एक ही प्रसंग में हुआ है अतः यहाँ उक्त भेदवाला चित्रालङ्कार माना गया है।

५—भाषाद्वय चित्र—जहाँ पद्य के तीन चरणों में संस्कृत एवं चतुर्थ चरण में अन्य भाषा का प्रयोग किया जाए वहाँ 'भाषाद्वयचित्र' अलङ्कार होता है। यथा—

कीर्तिपटलस्य यस्य सा काचन लक्ष्मीर्भाति, राकापतिरीक्ष्यते यदग्रे पुरुपिण्याकी।
तादृगसौ गीयतेऽत्र राजसम्पदायां यतो, यस्य तुलनायाँ नरैर्नीयते न वै नाकी॥
'मञ्जुनाथ' यस्य यशोगीतिमुपवर्णयितुं, त्वमपि विभासि देशभाषासूक्तिसम्पाकी।
तेज तुङ्ग ताजा बीर विक्रम के बाजाबजें, राजा हू नगर करें मानमहाराजा की॥ वहीं ३७

इनके अतिरिक्त वहीं 'वर्णपरिवर्तन,-सांकेतिक भाषा-चित्र, अर्द्धाक्षर-चित्र, द्वादशाक्षरी (बारखड़ी)-चित्र, द्वादशस्वर-चित्र एवं राशि, ऋतु, मास, वार, अलङ्कार तथा छन्द नामगर्भ' पद्य भी दिये हैं, जो पूर्वापर-वर्णित चित्रभेदों में समाविष्ट होते हैं।

इस भाषा-चित्र के आधार पर, **अब्दुल रहीम खानखाना का मदनाष्टकं**, और **खेट, कौतुक**, तथा अन्य विद्वानों के–**'कलिदूषण समाजमर्यादा'** आदि ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

पञ्चम-आलोक

[प्रथम-अधिकरण]

आकार-चित्र और उनका वर्गीकरण

विषय-प्रवेश :—चित्रकाव्य अथवा चित्रालङ्कार का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। प्रति-क्षण नवीनता का परिधान धारण कर इस साहित्य ने अपनी अनन्तता को अक्षुण्ण रखा है। हम देखते हैं कि वाणी की शृंगार-सज्जा में युगों से संलग्न कवि कभी मङ्गलमय चित्राकृतियों में वर्णों का रङ्ग भरता रहा है, तो कभी वन के वैभव पर मुग्ध होकर उसे आत्मसात् करने को उद्यत हुआ है। उसके वर्णरत्न हमारे हृदय की प्रसुप्त चमत्कृति-वासना को झकझोर कर, कभी आभरणों में अपनी सुषमा को मूर्त-रूप देते हैं, तो कभी सैन्यसञ्चार की सीमा में शस्त्र और अस्त्रों का सहयोग प्राप्त करे हैं। प्राणियों की अनेक-रूपता भी उसकी आँखों से ओझल नहीं होती और वह नित्य की व्यावहारिक प्रकीर्ण वस्तुओं पर भी अपनी प्रतिभा का अभिषेक करता है।

वर्गीकरण का तथ्य :—ऐसी स्थिति में प्रस्तुत साहित्य का हम जब वर्गीकृत करना चाहते हैं, तो विषयसाम्य की दृष्टि से निम्न छः वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :—

१—मङ्गलम-चित्र **२—वनवैभवात्मकचित्र** **३—आभरणचित्र**
४—शस्त्रास्त्र-चित्र **५—प्राणि-चित्र** **६—प्रकीर्ण-चित्र**

इस विभाजन का आधार केवल विषय-साम्य और वस्तु-साम्य ही है। इसी प्रकार उपर्युक्त वर्गों के नामकरण में भी केवल चित्रों के पीछे निहित भावना को ही प्राथमिकता दी गई है। जहाँ तक सम्भव हुआ है, यह ध्यान रखा गया है कि कवि के विचारों तथा आकारों को हृदयङ्गम करने में कोई कठिनाई नहीं हो, इस दृष्टि से ऐतिहासिक-सङ्कलना की सुविधा के अभाव में प्रत्येक वर्ग के आकार-चित्रों को 'अकारादि क्रम' से प्रस्तुत करना ही उचित माना है। किन्तु मङ्गलमय चित्रों में 'ओङ्कार-बन्ध' को सर्वप्रथम उपस्थित करने में अपनी आस्तिक-भावना[1] को आदर दिया है, जो इसका अपवाद होगा।

१—ओङ्कारश्चाथशब्दश्च, द्वावेतो ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ, तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥ तथा-प्रणवश्छन्दसामिव। गीता

चित्रकाव्य की विशिष्ट मर्यादाएँ—चित्रकाव्य के निर्माण में आनेवाली कतिपय कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए प्राचीन आचार्यों ने कुछ सुविधाएँ निर्धारित कर दी हैं, जिनके सहयोग से चित्र कवि अपनी रचना को सरलता से प्रस्तुत कर सके। प्रायः यह देखा जाता है कि आकार-चित्रों में कुछ वर्ण ऐसे रहते हैं, जिनकी आवृत्ति एक से अधिक बार होती है तथा वह वर्ण व्याकरण के नियमानुसार सन्धि नियमों अथवा ऐसे ही अन्य किसी नियम के कारण रेफ, अनुस्वार अथवा विसर्ग से संयुक्त रहते हुए भी आवृत्ति के समय छन्दों निर्वाह के लिये ह्रस्व अथवा दीर्घ माना जाता है। इसी प्रकार 'र और ल, ड और ल, व और ब,' को भी आवृत्ति में शब्द-विशेष के अर्थ-सौकर्य के लिये अभीष्ट अक्षरों की पूर्ति में सहयोगी बनाने पड़ते हैं। अतः निम्न अभियुक्तोक्तिरूप पद्य चित्रकवि के लिये परम्परा से उपलब्ध होते आये है—

रलयोर्डलयोस्तद्वल्ललयोर्बवयोरपि। नणयोर्नमयोश्चान्ते, सविसर्गाविसर्गयोः ॥
सविन्दुकाबिन्दुकयोः, स्यादभेदेन कल्पनम् ॥ (चित्रभूषण)

यमकश्लेषचित्रेणु, बवयोर्डलयोर्न भित्। नानुस्वार-विसर्गौ च, चित्रभङ्गाय सम्मतौ ॥
(वाग्भटालङ्कार) १-२०

यमकादौ भवेदैक्यं, डलयो रलयोर्बवोः। शषयोर्नणयोश्चान्ते, सविसर्गाविसर्गयोः ॥
सबिन्दुकाविन्दुकयोः स्यादभेदप्रकल्पनम् ॥ (कोई ग्रन्थ)

दीर्घोऽपि ह्रस्वतां याति, ह्रस्वो दीर्घश्च जायते। बिन्दुयोगमयोगं वा, चित्रेऽप्यतिविचित्रता ॥
—पद्यामृतसरोवर

सर्वेष्वाकार-चित्रेषु, वर्णावृत्तिस्तु सन्धिषु। लघूचारेऽलघ्वलघुप्रयत्ने वबयोरपि ॥ १८६॥

संयुक्तयोः सजातीयवर्णयोर्नणयोस्तथा। स्वरवर्जितमनयोविसर्गाभावभावयोः ॥ १८७ ॥
डलयोश्च विरोधो न, यमकश्लेषचित्रयोः। (काव्यकल्पलतावृद्धि, प्र० ३, स्त० ५)

इसी प्रकार 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः, 'तथा' यत्रान्यत् क्रियापदं न श्रूयते तत्रास्तिः प्रयुज्यते, इत्यादि[1] अपवादों को प्राचीन परम्परा के अनुसार स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ मंगलमय-चित्रों में 'तिलक-बन्ध' के पद्य 'हरिपदं दनुजपद्भिमर्दनं दरदं गुणदं भज।' में हरिपदं का 'दं' दूसरी बार 'द' के रूप में ही पढ़ा जाता है। अतः अनुस्वार को दूसरी बार नहीं माना है। इसी प्रकार आभरण–चित्रों में हार-बन्ध के 'चन्द्रे डितं चटुलितं'

१—शंकमानैर्महीपाल कारागारं विडम्नम्। त्वद् वैरिभिः सपत्नीकैः श्रितं बहुबिलं वनम् ॥
वाग्भटालङ्कार

आचार्य वाग्भट्ट ने यहाँ विडम्बनम् को बिलंबनम् पढ़ा है।

इत्यादि पद्य में 'डि' को दूसरी बार 'लि' पढ़ा गया है। ऐसे ही अपवादों का यत्रतत्र उपयोग हुआ है।[1]

इस अपवाद-परम्परा के रहते हुए भी कुछ आचार्यों का अभिमत है कि–'यद्यपि सबिन्दुकाबिन्दुक' इत्यादि की चित्रादि में अभेदकल्पना ग्राह्य है, तथापि जहाँ तक सम्भव हो, इस प्रकार के श्लेष का आश्रय नहीं लेना ही उत्तम है।[2]

बन्धचित्र और उनका परिचय—प्रस्तुत सङ्कलन में प्रायः वे ही बन्ध दिये हैं जिनमें वैचित्र्य के साथ अन्य बन्धचारुता भी है। कई बन्ध ऐसे हैं कि जिनका स्वरूप समान होने पर भी छन्दोभेद से विविधता आ गई है, उनका केवल निर्देशमात्र कर दिया गया है, किन्तु जहाँ छन्दोभेद होने पर आकार-परिवर्तन अथवा बन्धवैचित्र्य आया है उसे अवश्य स्थान दिया है।

बन्धों के कुछ चित्र परिशिष्ट में अनुक्रम से प्रदर्शित किये गये हैं, तथा उनके परिचय के लिये क्रमांक सहित नाम निर्देश किया गया है। चित्र में पद्य का जहाँ से आरम्भ होता है वहाँ तारक-चिह्न*, जिस ओर गति हो उस ओर बाण-चिह्न तथा जिन अक्षरों का विशेष महत्त्व है उन्हें **स्थूलाक्षरों** द्वारा समझाया गया है। गर्भाक्षर अथवा इष्टाक्षरों के ज्ञान के लिये १-२-३-४ की संख्या का साहचर्य प्राप्त किया है। प्रस्तुत आकृतियाँ ही अन्तिम अथवा प्रमाणित हैं, ऐसा हमारा दुराग्रह कदापि नहीं है, क्योंकि चित्रकला इस निबन्ध का विषय न होकर केवल चित्रकवि की काव्यकला का उपस्थापन ही लक्ष्य है। प्राचीन ग्रन्थों में चित्रों को साधारण रेखाओं द्वारा व्यक्त किया गया, जब कि मुद्रण-युग में चित्र-मुद्राओं द्वारा उत्तम स्वरूप निखर आया, अतः आधुनिकतम रूपों को प्रस्तुत करने में ही पक्षपात रहा है।

उदाहरणार्थ चक्रबन्ध में पहले 'अर' दिखलाने के लिये सीधी रेखाएँ काम में लाई जाती थीं किन्तु अब तिरछी-सज्जापूर्ण अंकित की जाती हैं। 'खड्गबन्ध' का आकार

१—(क) प्रक्रान्त-प्रसिद्धानुभूतविषयस्तच्छब्दोपादानं नापेक्षते। ईश्वरशतक, प्रथम पद्य टीका

(ख) तत्रनमस्कारः स्वातन्त्र्यकर्तृत्वाद् भगवतः सर्वातिशायित्वादर्थादिवाक्षिप्तः। वहीं।

(ग) बहुत से पदार्थों की पुनरुक्ति भी दोष नहीं मानी जाती——

यमकश्लेषचित्राणां नातिपदक्षोदः कार्यः। ईश्वर-३५-३६ टीकाः—–

२—यद्यपि–सबिन्दुकाबिन्दुकयोः सविसर्गाविसर्गयोरिति चित्रादावभेदकल्पनाऽभ्युपगता कविभिस्तथापि यावद्बुद्धिबलोदयं तादृशश्लेशानाश्रयणमेव ज्यायः।

अलङ्कारमणिहार-पद्य २३७० की टीका

पाषाण-युग के रूप को उपस्थित करता था, तो अब वह एक 'तलवार' के रूप में अंकित होता है। इसी प्रकार 'कमल-बन्ध' और 'हारबन्धों'[1] में भी कई अच्छे आकर्षक रूप उपलब्ध होने लगे हैं।

आकार-चित्रों का रूप-विधान—बन्धकार ने अपने कौशल को पुरस्कृत करने के लिये भिन्न-भिन्न मार्गों का अवलम्बन लिया है। कहीं वह बन्धचित्र को ही अपनी कविता का विषय बनाता है, तो कहीं वर्ण्यविषय की परम्परा में बन्ध की योजना करता है। मुक्तक के रूप में सामयिक अनुशंसा को भी अनेक स्थानों पर महत्त्व दिया गया है, तो यत्र-तत्र राष्ट्रीयता का प्रस्फुरण चित्रबन्धों में हुआ है। वैसे कई सिद्ध कवियों ने पूरे-के-पूरे ग्रन्थ के कथांश को भी चित्रकाव्य में आकलित किया है और अनेक स्तुतिकाव्यों द्वारा इष्टदेव के चरणों में चित्रालङ्कार-पुष्प भी अर्पित हुए हैं।[1] इस दृष्टि से चित्रकवि अवश्य ही एक कुशल स्वर्णकार की भाँति भिन्न-भिन्न आकृतियों में वर्णरत्नों को जटित करने के लिये आभरण के अंग को लघु-दीर्घ रूप प्रदान करता रहा हैं अथवा आवश्यकता के अनुरूप वर्णों को ही प्रतिभा के द्वारा आकृतिकोष में सजाने के लिये प्रयत्नशील रहा है। अतः कला के पारखी उनकी प्रगल्भता की सराहना किये बिना नहीं रह सकते।

चित्रकाव्य में प्रयुक्त विशिष्ट शब्द—चित्रकाव्यों की संयोजना में कतिपय विशिष्ट शब्दों का प्रयोग सापेक्ष रहा है, जिनके द्वारा कवि अपनी विशेषता की ओर पाठकों का मन आकृष्ट करता है—जैसे '**श्लिष्ट**'-शब्द। इस शब्द का अर्थ साधारणतया यह है कि जिस शब्द में दो या दो से अधिक अर्थ निहित हों किन्तु यहाँ इसका तात्पर्य--'एक ही अक्षर की दो या दो से बार पद्य में आवृत्ति होती हो'—यह लिया गया है। कहीं-कहीं यह शब्द पूरे बन्ध में छिपे हुए अक्षरों के द्वारा निर्मित नाम, धाम, पद्य, पद्य का एक चरण अथवा स्तव्य के वैशिष्ट्य को सूचित करने वाले वाक्य को भी लक्षित करता है। ऐसे स्थानों पर कवि पद्यान्त में स्वयं कह देता है–श्लिष्टैः' 'श्यामकर्णोश्वमेधे इत्यादि। इसी प्रकार कहीं-कहीं इष्ट मन्त्रों का भी न्यास हुआ है। दूसरा शब्द है '**इष्ट**' जिसका अर्थ है अभिमत। कवि जब किसी अभिमत पद्य अथवा पदाक्षरों को बन्ध में स्थापित करके बन्ध की पूर्ति करता है तो वह 'इष्टाक्षर-सन्दृब्ध' अथवा 'इष्टपद-सन्दृब्ध' बन्ध का सूचन करता है। ऐसे अनेक बन्ध हैं कि जिनमें कवि अपने अभीष्ट को लक्षित करके ही पद्य-स्थापना करता है।

इसी प्रकार लोम-विलोम, अनुलोम-प्रतिलोम, गतागत अथवा गतप्रत्यागत आदि शब्दों का भी प्रयोग अनेक स्थानों पर किया जाता है, जिनका तात्पर्य बन्ध में लिखित

१—ऐसे सम्पूर्ण चित्रकाव्यों का निर्देश अन्य आलोकों में यथास्थान हुआ है। विशेषतः षष्ठ आलोक के अन्त में दिये गये नाम द्रष्टव्य हैं।

अक्षर अथवा चरणों का सीधा या उल्टा पाठ करना है। ये शब्द न्यास प्रकार में अधिक प्रयुक्त होते हैं।

न्यास-स्थान और लक्षण प्रकार—न्यास-लक्षणों में चित्रकवि बन्धों के स्थानों का निर्देश देने के लिये कभी-कभी अप्रसिद्ध नामकरण भी कर देता है। जैसे ओंकार के दो पार्श्व और एक शुण्डा तथा ऊपर शीर्ष-बिन्दु और चन्द्र-कला आदि।

आकृति के आधार पर ऊपर-नीचे के स्थानों की सिर, पैर, मध्यभाग, पार्श्वद्वय, दल-भाग आदि परिकल्पना भी इसी भावना की पोषक है। न्यासकार बन्धलक्षण के पद्यों में संक्षेपतः यह भी कह देता है कि उसका पाठ्यक्रम **गोमूत्रिका-क्रम** अथवा **अर्धभ्रम के क्रम** पर आधारित है यथा—

अधस्ताद् द्वे पदे मध्ये, द्वे पदे परितस्तथा।
गोमूत्रिका-क्रमेणैव, गदाबन्धेऽत्र नूतने॥—दामोदरकृत – चित्रकाव्य

इसी प्रकार कहीं दिशाओं के निर्देश से, सन्धि-स्थान, कोण-कर्णिका, दल, नेमि, अटनि, फल, मुख आदि शब्दों से प्रवेशनिर्गम का संकेत करता है।

कई कवियों ने न्यास-प्रकार नहीं दिया है, जिन्हें यथाशक्य समझकर प्रस्तुत करने का प्रयास लेखक ने किया है।

हमने यहां विवेचन का क्रम यह रखा है कि प्रथम शीर्षक द्वारा बन्धनाम देकर यदि न्यास-लक्षण बन्धकार द्वारा दिया गया है. तो उसे लिखकर समझाया गया है तथा यदि न्यास-लक्षण नहीं प्राप्त होता हो, तो उसे स्वयं समझाने का प्रयत्न किया है। तदनन्तर बन्ध का मूल पद्य दिया है और उसके नीचे लेखनविधि और श्लिष्टाक्षरों का संकेत स्पष्ट किया है। साथ ही उन-उन अक्षरों का निर्देशन करते हुए आवृत्ति-संख्या, पाठ-पद्धति अथवा अन्य विशेष सूचन भी कर दिया है।

जिन बन्ध की आकृति में कोई भेद नहीं है किन्तु छन्दोभेद अथवा अक्षर-स्थापना-भेद से कोई नवीनत्व प्राप्त है उसका विवेचन किया गया है किन्तु उसका चित्र नहीं दिया गया है। साथ ही शीर्षकों में उसकी पृथक् संख्या न देकर क, ख, ग आदि अक्षर अथवा संख्या दी गई है।

माङ्गलिक-दृष्टि का स्पष्टीकरण—मङ्गलमय चित्रकाव्यों में जिन्हें स्थान दिया गया है वे भारतीय आस्तिक समाज की धारणा के अनुसार ही विभिन्न धर्मों में आदृत मङ्गल-वस्तुओं से सम्बद्ध हैं। कवि अपनी भावनाओं को प्रतिदिन की व्यावहारिक और उपयोगी सामग्री के माध्यम से ही पुरस्कृत करता रहा है। 'सामाजिक चेतना उत्तमकाव्य की कसौटी है' इस दृष्टि से चित्रकवि भी अपने आराध्य को सन्तुष्ट करने के लिये अपनी कृति को—'यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्' मानकर ही अर्पित करता-सा प्रतीत होता है। प्रस्तुत माङ्गलिक उपादानों में ओंकार और श्रीःबन्ध' अक्षरगत माङ्ग-

लिकता के सूचक हैं, सूर्य, चन्द्र और बालेन्दुरेखा देवरूप होने से मङ्गलरूप माने गये हैं। आसन, कलश, चामर, छत्र, ध्वज, पताका, शङ्ख आदि आराध्य के पूजोपकरण होने से माङ्गलिकता की कोटि में लिये गये हैं। रामानुजसम्प्रदाय का तिलक ऊर्ध्वपुण्ड्र भी इसी दृष्टि से मङ्गलरूप हैं। जैन सम्प्रदाय में अष्टमङ्गल के रूप में स्वस्तिक, भद्रासन, शरावसम्पुट, मत्स्ययुगल, कलश आदि की मान्यता सुप्रसिद्ध है। जैन धर्म के प्राचीन आचार्यों ने ऐसे अनेक चित्रबन्धों की रचना की है अतः उपर्युक्त वस्तुओं को भी मङ्गल-चित्रों में स्थान मिला है और अन्त में स्वस्तिक की विभिन्न-आकृतियों को स्थान दिया गया है, जो अकारादि क्रम की पूर्ति में ही आये हैं।

१—मंगलमय-चित्र-बन्ध

ओङ्कार-बन्ध

इस बन्ध का निरूपण चित्रकवि दामोदर शास्त्री ने किया है तथा इसका न्यास-विधान इस प्रकार दिया है:—

बिन्दुतो मध्य आगच्छेत्, ततः पार्श्वद्वयेऽपि च।
पुनर्बिन्दौ विलोम्नाऽत्र क्रमोऽयं प्रणवात्मके॥ चित्रकाव्य-१॥

इस निर्देश के अनुसार ॐ की आकृति को दुहरी रेखाओं से अङ्कित किया जाता है तथा अर्धचन्द्र में पद्य का प्रथम अक्षर रखा जाता है। वहीं से मध्यपार्श्व (शुण्डा) से होकर मध्यबिन्दु तक एक पद की स्थापना होती है। इस प्रथम पद का अन्तिम अक्षर पुनः द्वितीय चरण के आद्याक्षर में प्रयुक्त होता है तथा ऊपर के पार्श्व में जाकर यह चरण पूर्ण हुआ है। इसी प्रकार मध्य बिन्दु का वही अक्षर तीसरे चरण का आद्याक्षर बनता है और नीचे के पार्श्व में जाकर चरण-पूर्ण होता हैं। चौथे चरण में भी उसी अक्षर को आद्याक्षर बनाते हैं तथा पुनः मध्यपार्श्व में भ्रमण कर अर्धचन्द्र के अक्षर से चरण-पूर्ति होती है। बन्ध का पद्य इस प्रकार है:—

यं विश्वेशं चोंस्वरूपं सुधीरा, रान्तः[२] स्वान्तं सन्ततं यान्ति शान्ताः।
रामं श्यामं शङ्कर भास्करं तं, राजन्तं तं मूर्तिभिः संस्मरेयम्॥ वहीं॥

इस प्रकार इस बन्ध में रा अक्षर जो मध्य बिन्दु के वहाँ लिखा जाता है चार बार प्रयुक्त होता है और यं (अर्धचन्द्र में लिखा हुआ) दो बार पढ़ा जाता है। ये दोनों श्लिष्ट

१—यहाँ से आगे विवेचित बन्धों की कुछ आकृतियां परिशिष्ट में दी गई हैं

२—'रान्तः' पद रा=दाने (द्वि० गण) धातु से शतृ प्रत्यय करके रातृ शब्द की प्रथमा के बहुवचन का रूप है।

हैं। प्रस्तुत पद्य में कवि ने ओंकार-बन्ध की रचना के साथ ही ओङ्कार की स्तुति भी की है, यह कवि की विशेषता है[1]।

आसन-बन्ध

इस बन्ध का पद्य जिनराजसूरि के शिष्य उपाध्याय जयसागर' सूरि' ने दिया है। इस की आकृति में एक पटिया है जो पीठ के तकिये का काम करता है, यहीं से पद्य आरम्भ होता है। बीच में गोल आकार का बैठने का पट्ट है। वहाँ दोनों ओर पहला और दूसरा चरण अंकित किया जाता है। इन चरणों का प्रथम अक्षर श्लिष्ट है। तीसरा और चौथा चरण आसन-पट्ट के नीचे दो डण्डों में लिखा जाता है, किन्तु इन दोनों चरणों में तीसरे का पहला अक्षर और चौथे का अन्तिम अक्षर ऊपर के श्लिष्ट से होकर ही सम्बद्ध रहता है, जब कि तीसरे चरण का अन्त्याक्षर श्लिष्ट होकर चौथे चरण का भी आरम्भाक्षर बन जाता है। कवि ने इसका न्यास-प्रकार नहीं दिया है।[2] बन्ध पद्य इस प्रकार है:—

मरालीवातिविमला, मनोवृत्तिर्यदीयका।
मनुतां बहुनालीकं, कस्मान्न मानसं मम ॥ विज्ञप्तित्रिवेणी पृ० १३ ॥

इसमें १–२ चरण के प्रथमाक्षर तथा १–४ चरण के अन्त्याक्षर **'म'** की चार बार आवृत्ति तथा ३–४ चरणों के अन्त्य और आदि के क अक्षर की दो बार आवृत्ति से चित्रकाव्यता पुरस्कृत हुई है।

१—भद्रासन-बन्ध—ऊपर के आसन-बन्ध से छन्दोगत भेद एवं अन्य कुछ अक्षरा-लेखन की नवीनता लाकर 'श्रीउदयमाणिक्यगणि' ने अपने 'चन्द्रप्रभस्वामिस्तवन' में उक्त बन्ध का एक पद्य दिया है। इस बन्ध की आकृति आसन-बन्ध के समान ही है। नवीनता यह है कि 'पीठ के आलम्बन-रूप पटिये' में कोई अक्षर नहीं है। बैठने के गोल-पट्ट में नीचे की ओर से पद्यारम्भ किया है तथा नीचे आधारदण्ड और फलकों में पद्य की अवतारणा करके पुनः चौथा चरण आसन-पट्ट में आकर पूर्ण हुआ है पद्य इस प्रकार है:—

भद्रक्षमारामघनाघनाभं मायातमासूर्यसमं वराभम्।
भक्त्या प्रभो लाभकरं निकामं, त्वां नौमि नित्यं जितवामकामम् ॥

१—जिन बन्धों में कुछ नवीनता लाकर नये रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं, उनकी चर्चा अन्त में **अन्य सम्भावनाएँ** शीर्षक में की गई है।

२—जिन बन्धों की आवृत्ति और न्यास-प्रकार उपलब्ध नहीं हुए हैं, उन बन्धों को व्यवस्थित करने का प्रयास लेखक ने किया हैं।

तथा मूल-बन्ध की आकृति से साम्य रखने वाले बन्ध भी यहीं साथ-साथ ही दिये गये हैं।

इस पद्य में प्रथम पद का पहला अक्षर तृतीय चरण के अन्तिम अक्षर के साथ तथा पहले पद का छठा अक्षर चौथे चरण के अन्त्य अक्षर के साथ श्लिष्ट है और **भं** और **मं** के अनुस्वारों का दूसरी आवृत्ति में उपयोग नहीं किया गया है।

कलश-बन्ध

इस बन्ध की रचना भी उपर्युक्त 'चन्द्रप्रभस्वामिस्तवन' के अन्यतम पद्य से होती है। कलश की आकृति जैनधर्म की मान्यता के अनुरूप है। कलश के मुखभाग पर एक श्रीफल, दो आम्रपत्र (जिनके द्वारा भालप्रदेश बनाया गया है) तथा दो नेत्र कण्ठ के आस-पास अंकित हैं। कण्ठ में एक उत्तरीय डाला हुआ है जिसके दोनों छोर बाहर निकले हुए हैं, बीच में नासिका की आकृति बनाई गई है और घट के वर्तुलाकार में पद्य लिखा गया है। नीचे आधार-वस्तु में तीन अक्षर लिखे हैं, यह कलश पुरुषाकृति के समान है। इसमें प्रथम और द्वितीय चरण एकभाग में और तृतीय तथा चतुर्थ चरण दूसरे भाग में लिखे जाते हैं। पद्य निम्नलिखित हैं:—

समस्तसन्मानसराजहंसं, सं हं जरामृत्युहरं प्रशंसम्॥
त्वामस्तदोषं भजतेऽयिशान्तं तं शान्तितेजो वृणुते प्रशस्तम्॥

इस पद्य में 'राजहंस-संहजरा' तथा 'तेऽत्तिशान्तं-तं शान्ति-ते' ये अक्षर लोम-विलोम-पद्धति से पठनीय हैं तथा 'म, स्त, प्र और श' ये चार अक्षर श्लिष्ट बनकर दो-दो बार आवृत्त होते हैं।

भृङ्गार-बन्ध—यह बन्ध भी सामान्य कलशाकृति के समान है। इनमें ढक्कन और पिलाने की नलिका अधिक है। किन्तु कलश में ढक्कन के स्थान पर श्रीफल रहने से तथा नलिका में अक्षर-विन्यास न होने से कोई आकृति-गत विशेषता नहीं है। फिर भी इसकी घटाकृति में ही एक और वृत्त अङ्कित रहता हैं तथा उसमें आठ आरे भी बनाये जाते है। कलश का अर्धार्ध-भाग स्पष्ट हो सके एतदर्थ आरे की दो रेखाएँ मध्य में अधिक लम्बी होकर भेदक रेखाएँ बन जाती हैं। इस बन्ध की रचनाविधि आचार्य जिनसेन ने इस प्रकार दी है:—

द्वे द्वे पादे च कण्ठे च, गर्भेऽष्टौ विलिखेत्कविः।
पार्श्वयोरन्त्यपादं तु, लिखेद् भृङ्गारबन्धके॥ अलङ्कार० चि० २-१८०॥

इस लक्षण के अनुसार आधार-स्थल से पद्यारम्भ होता है जो घट के अन्तर्गत वृत्त के एक भाग में एक चरण और दूसरे भाग में दूसरा चरण तथा बाहर के दोंनों पार्श्वों में शेष दो चरण लिखने पर पद्य पूर्ण होता है। पद्य निम्न-रूप में प्रस्तुत है:—

भासते हंसविद्योत, तद्योगतेजसा सभा।
सा ज ते गवि संहन्ते, नोऽतो मल्लिरवैनसाम्॥ वहीं २-१८१॥

इस पद्य में **भास, द्योत** और **तेजसा** अक्षर लोम-विलोम रूप से पढ़े जाते हैं। तृतीय

चरण दूसरे चरण और प्रथम के चार-चार अक्षरों से बनता है तथा चौथा चरण बाह्यवृत्त-गत अक्षरों के पठन से बनता है।

चन्द्र-बन्ध

दामोदर शास्त्री ने इस बन्ध की रचना की है तथा न्यास-प्रकार यह दिखलाया है :—

मध्यतः परितो गच्छेद्, नेमावपि ततः परम्।
इति शैलीं विजानन्तु, बन्धेऽत्र चन्द्रसंज्ञके ॥ चित्रबन्ध काव्य-४६ ॥

तदनुसार चार आरे वाले एक चक्र में मध्याक्षर से इस बन्ध का आरम्भ होता है। आरे के बीच में दो अक्षर और आरे के अन्तिम छोर पर एक अक्षर रहता है तथा पाँचवाँ अक्षर पुनः मध्याक्षर होकर विपरीत दिशा में पढ़ा जाता है—जिससे आधा अनुष्टुप् बन जाता है। शेष दो चरण नेमि में वृताकार-भ्रमण से पूर्ण होते हैं तीन-तीन अक्षर नेमि के अतिरिक्त रहते हैं। इस तरह इसमें चन्द्र की आकृति का भी विशेष निर्देश नहीं है, तथापि पूर्णचन्द्र की सुषमा लाने का प्रयास हुआ है। पद्य इस प्रकार है :—

रक्षत्वं धरणीधीर, रघुराज रमेश्वर।
जन्मकर्मधर्मधार, रमयस्व रतान् व्रज ॥ वहीं ॥

प्रस्तुत पद्य में **र** जो मध्यकर्णिका में स्थित है, वह चार बार तथा **ज** और **र**—जो दो विपरीत दिशाओं में अंकित हैं—दो बार आवृत्त होते हैं।

१—बालेन्दुरेखा-बन्ध—चित्रभूषण[1] नाम से प्राप्त एक हस्तलिखित पुस्तक में इस बन्ध का एक चित्र दिया है। तदनुसार इस बन्ध की आकृति अर्धचन्द्र के समान लिखकर एक पद्य का आधा भाग लिखा जाता है, जिसे प्रतिलोम पढ़ने से पद्य की पूर्ति होती है। यथा—

कालिकालति मे रंका, दायादामयकण्टकम्।
कन्टकं यमदायादाकारं मे तिलकालिका ॥

विशेष चित्रात्मकता न रहने पर भी अर्धचन्द्राकृति में पद्य की परियोजना हृदय-ग्राहिणी है। इसी को "**सोमकलाबन्ध**" भी कहा है।

चामर-बन्ध—कुलमण्डन सूरि ने इस बन्ध को प्रस्तुत किया है। इसमें दण्ड के प्रथम मुष्टिबन्ध स्थान पर सन्धिस्थल में एक अक्षर है, जो तीन बार आवृत्त होता है तथा द्वितीय चरण का आठवाँ अक्षर दण्ड और रोम के सन्धिस्थान में रहकर तीसरे और चौथे चरण

१—प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन—अनुवाद एवं टिप्पणीसहित—लेखक ने किया है, जो प्रकाशनाधीन है।

के श्लिष्टाक्षर को छोड़कर प्रत्यक्षर के बाद नौ बार श्लिष्ट बनता है। यह लघु आकृति में आठ रोमगुच्छ वाला चामर है। इसका उदाहृत पद्य इस प्रकार है :—

त्वं शमीश विशस्त्वालमवन्दत घनारव।
वधवल्ल्यां वह्निवद्यो, वरिवर्त्सि वशी वर॥ पञ्चजिनहारबन्धस्तव।

इस पद्य के प्रथम चरण में श तीन बार तथा द्वितीय चरण का आठवाँ अक्षर व तीसरे और चौथे चरणों में एक-एक अक्षर के बाद श्लिष्ट होने से नौ बार आवृत्त हुआ है।

१—चामर बन्ध—जिनप्रभसूरि ने 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द के पद्य से इस बन्ध का निर्माण किया है। इस चामर के दण्ड में तीन सन्धिस्थल हैं तथा चौथे दण्ड और रोम के संगमस्थल पर एक अक्षर रहता है जहाँ दस रोमगुच्छों में लिखित एक-एक अक्षर से पद्य-योजना की जाती है। आरम्भ के तीन सन्धिस्थलों में तीन-तीन अक्षर रहते है जिनमें एक-एक अक्षर श्लिष्ट रहता है। यथा—

श्रीमद्धामसमग्रविग्रहमया चित्रस्तवेनामुना,
नूतस्त्वं पुरुहूतपूजित ! विभो। सद्यः प्रसद्यै धि माम्।
ख्यातज्ञातकुलावतंस सकलत्रैलोक्यक्लृप्तान्तर—
स्फारक्रूरतरज्वरस्मरतरत्संरब्धरक्षारतः॥ वीरजिनस्तवन २७॥

यहाँ प्रथम चरण का दूसरा अक्षर **म** तीन बार आवृत्त है तथा सत्रहवाँ और उन्नीसवाँ अक्षर **ना** दो बार आवृत्त हुआ है। इसी प्रकार तीसरे चरण का द्वितीयाक्षर **त** चौथे अक्षर के स्थान पर पुनः प्रयुक्त होकर दो बार आवृत्त हुआ है तथा इसी चरण का उन्नीसवाँ अक्षर **र** चौथे चरण के एक-एक अक्षर के बाद प्रयुक्त होकर दस बार आवृत्त हुआ है।

२—चामर-बन्ध (दण्डाक्षर-विहीन)—'पद्यामृत-सरोवर' में चामर-बन्ध का न्यास-प्रकार यह दिखलाया है :—

योजनीयस्तथा वर्णौ दण्डरोमादिसङ्गमे। रोमस्थवर्णपाठादौ, पठनीयो यथाभवेत्॥
दण्डरोमस्थवर्णानां, रोम्णां संख्या न विद्यते। प्रोक्तश्चामरबन्धोऽयं, क्वचिद्रोम्ण्यधिकाक्षरः॥
तरङ्ग ३३॥

इस आधार पर यह बन्ध दण्ड और रोमगुच्छों में अक्षर-विन्यास से बनता है। दण्ड और रोम के सन्धिस्थल पर एक अक्षर लिखा जाता हैं, जो श्लिष्ट होकर चार-बार आवृत्त होता है। रोमगुच्छों की संख्या आठ है तथा पहले रोमगुच्छों में तीन, दूसरे में चार, तीसरे में चार, चौथे में तीन, पाँचवें और सातवें में चार-चार और छठे, आठवें में तीन-तीन अक्षर रहते हैं। यहाँ दण्ड में कोई अक्षर नहीं रहता। पद्य इस प्रकार है :—

न नाकललनापाणौ, लक्ष्यलक्षणसंयुतम्।
ललितं चामरं भैमी, ललनस्येव चामरम्॥

इसमें ल अक्षर श्लिष्ट है। किन्तु इसमें उतनी बन्ध चारुता नहीं प्रतीत होती। क्योंकि एक तो दण्ड अक्षर-शून्य रहता है तथा रोमगुच्छ में पद्य पढ़ने का क्रम भी ठीक नहीं है। प्रवेश और निर्गम का क्रम एक समान रहने से बन्धचारुता आती है।

३—**चामर-बन्ध**—उपाध्याय जयसागर ने उपर्युक्त बन्ध का और भी लघुरूप प्रस्तुत किया है, जिसके रोमगुच्छ केवल चार ही रहते हैं। यथा—

स्मयं क्षयं नयन्तो ये, कुप्रावचनिकाङ्गिनाम्।
सम्यग्धर्मोपदेशेन, पुनन्त्येनं जनः पुनः॥ विज्ञप्तित्रिवेणी— पृष्ठ १४।

इसमें प्रथम चरण का दूसरा अक्षर यं रोमगुच्छ में तथा तीसरे चरण का आठवाँ अक्षर न दण्ड के मुष्टिभाग में श्लिष्ट है जो चौथे चरण के अक्षरों से सम्बद्ध होता है।

४—**चामर-बन्ध**—कृष्णकवि ने उक्त बन्ध का रूप अन्य क्रम से बतलाया है। पूर्व-प्रदर्शित चामरबन्धों में पद्य का आरम्भ दण्ड के पूर्वभाग से होकर रोमगुच्छों में होते हुए दण्डरोम-सन्धि में पूर्ण होता है। किन्तु उपर्युक्त चम्पूकार ने प्रथम रोमगुच्छ से पद्यारम्भ करके पहला और दूसरा चरण पूर्ण किया है तथा शेष दो चरण दण्ड में पूर्ण किये हैं और मुष्टिबन्ध के स्थान पर कोई श्लेष नहीं रखा है। यथा—

मारतारतरफारस्फारभारं परं सुरम्।
सीतानेत्रचकोरेन्दुबिम्बं वन्दे रमेश्वरम्॥ मन्दार-मरन्द-चम्पू॥

यहां प्रथम चरण का द्वितीय अक्षर र श्लिष्ट होकर आठ बार आवृत्त हुआ है तथा तीसरे और चौथे चरण में कोई श्लिष्टाक्षर नहीं है।

५—**चामर-बन्ध**—भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने इस बन्ध का नवीन रूप दिया है। इसका प्रथम चरण दण्ड के मुष्टिस्थान से आरम्भ होकर दण्ड के एक भाग से होता हुआ रोमसन्धि तक पहुँचता है और दूसरा चरण रोमसन्धि से दण्ड के दूसरे भाग में होता हुआ मुष्टिस्थान तक पहुच जाता है। तीसरा चरण पांच रोमग्रन्थियों में रहता है, जो पूर्व सन्धिगत अक्षर से श्लिष्ट होकर ततीय और पञ्चम अक्षरों को द्विरावृत्त करने से पूर्ण होता है। रोमगुच्छ के भी पाँच भाग हैं, जिनमें पृथक्-पृथक् अक्षरों का समावेश है और वे प्रथम चरण के आठवें अक्षर से श्लिष्ट हैं। साथ ही गुच्छों के अन्तिम भाग में पहले तीन और मध्य में एक श्लिष्टाक्षरों के स्थान हैं, जिनमें चार तथा छः से दस तक की संख्या वाले चरणों के अन्त्याक्षर श्लिष्ट हैं। यह पूरा बन्ध सार्वद्वय अनुष्टुप् से पूर्ण किया गया है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :—

यः प्रजारञ्जनोन्मान-नवकीर्ति-सुधालयः।

नभस्ततततमोमोकोन्नत-चन्दिरसद्यशाः॥ १॥

नकोन्मोमोततततमः नतदृक् कविवाग्वशा।

तस्य नीतिलसद् शास्ति, तन्त्रस्य मतिरस्ति या॥ २॥

तद्वैभवभरा शास्ति, तन्त्रस्य मतिरस्ति या॥ जयपुरवैभव, चित्रचत्वर॥

इसमें रेखाङ्कित अक्षर श्लिष्ट हैं, जिनकी आवृत्ति ऊपर कहे गये प्रकारों से हुई है। अक्षरविन्यास एवं पाठ-पद्धति में नवीनता के कारण यह बन्ध पूर्वोक्त चामर-बन्धों से महत्वपूर्ण है।

छत्र-बन्ध—वाग्भट ने इस बन्ध का उदाहरण दिया है। जिसमें खुले हुए छत्र का आकार है और पहला चरण छत्र की छः तानियों पर लिखा जाता है, जिसका पहला और आठवाँ अक्षर श्लिष्ट है। द्वितीय चरण पहले चरण के प्रथम अक्षर से आरम्भ होकर प्रथम चरण के आठवें अक्षर में समाप्त होता है। तृतीय और चतुर्थ चरण के प्रथमाक्षर छत्र के शिखर से आरम्भ होकर तथा इन दोनों चरणों के आठवें अक्षर से श्लिष्ट होकर मुष्टि के स्थान पर समाप्त होते हैं। बीच में चरण का चौथा अक्षर, तीसरे चरण का दूसरा और पाँचवा अक्षर तथा चौथे चरण का दूसरा अक्षर श्लिष्ट रूप में प्रयुक्त है। यथा—

प्रचण्डबलनिःकाम प्रकाशितमहागम।
भावतत्त्वनिधे देव ! भालमत्राद्भुतं तव॥ वाग्भटालङ्कार २५॥

प्रस्तुत पद्य में **प्र, म, भा** और **ल** अक्षर श्लिष्ट हैं तथा **बल** शब्द का **ब** भाव शब्द में **व** के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

छत्र-बन्ध—उपाध्याय जयसागर ने 'विज्ञप्ति-त्रिबेणी' में इस बन्ध की रचना बारह तानियों वाले बड़े छत्र के रूप में की है। इसमें तृतीय और चतुर्थ चरण का आरम्भ शिखर से होकर प्रथम चरण के अक्षर को ग्रहण न करते हुए द्वितीय चरण के सात और आठ संख्या के अक्षरों को ही ग्रहण करता है। पद्य इस प्रकार है :–

सत्यातपत्रमिव पादयुगं यदीयं, सच्छायमेत्य गततापभरा महीयः।
सातत्यतोषमवगत्य भवन्ति सन्तः सातान्विता भुवि नृपा इव संशुभन्तः॥ पृष्ठ १३॥

इसमें 'स, यं, सा, त, ता और न्तः अक्षर' श्लिष्ट है।

क-छत्र-बन्ध (पञ्चवर्ग-परिहारमय) वहीं उपर्युक्त पद्धति में छन्दोगत-परिवर्तन तथा तृतीय-चतुर्थ चरण के अन्तिम तीन अक्षरों में साम्य रखते हुए एक अन्य प्रकार प्रस्तुत किया है जिसका पद्य इस प्रकार है—

विशां हि सेव्याः सरसारवाराः विश्वाविहायोहरयः सुसंवराः।
साहं स्वसाराः सलयाः सुसूरयः, सारश्रियो वैरिविशारसूरयः॥ पृ० ६३॥

इसमें **वि, रा, सा, सू, र, य** अक्षरों की श्लिष्टता के अतिरिक्त बारह अक्षरों का छन्द होने से छत्राकृति छोटी बनती है। तानियों की संख्या दस है तथा नीचे मुष्टि-स्थान पर तीन अक्षर श्लिष्ट होते हैं। कवि ने इस पद्य में 'क-च-ट-त-प' इन पाँचों वर्गों का कोई भी अक्षर उपयोग में नहीं लिया है, अतः यह 'पञ्चवर्ग-परिहारमय' भी कहलाता है।

२-छत्र-बन्ध—कृष्णकवि ने इस बन्ध का नवीन रूप दिया है। इसमें प्रथम चरण

का पहला और दूसरा अक्षर शिखर पर रहता है, तीसरा और पाँचवा अक्षर गोलार्ध के दोनों भागों में रहता है तथा चौथा अक्षर श्लिष्ट होने से दण्ड के मध्य में लिखा जाता है। छठा अक्षर बीच में लिख कर सातवाँ अक्षर तानियों के छोर पर मध्य में लिखते हैं जिसके दोनों ओर दो-दो अक्षर लोम-विलोम पढ़े जाते हैं। तीसरा चरण शिखर के दो अक्षर तथा दण्ड में निहित छः अक्षरों के योग से बनता है जबकि इसी चरण को विपरीत पढ़ने से चौथा चरण बन जाता है। उदाहरण-पद्य इस प्रकार है :—

सारजालवलद्वाते, भूरिभूते दृगाहृते।
साररा ज रमा चारु रुचा मारजरारसा ॥ म० म० चम्पू चित्रबिन्दु ॥

यहाँ सार, ल, ते, भू और दृ अक्षर श्लिष्ट हैं और तीसरे चरण का विलोम चौथा चरण है। अतः उपर्युक्त छत्र-बन्धों की अपेक्षा यह नवीन भी है।

३-छत्र-बन्ध—कवि कर्णपूर ने इस बन्ध का नवीन प्रकार दिया है। जिसमें पद्य मुष्टिभाग से आरम्भ होकर मध्य तक पहुँचता है। तदनन्तर छत्र के आठ वस्त्र-विभागों में क्रमशः तीन, दो, दो, एक, एक, दो, दो, और तीन इस प्रकार अक्षरों की स्थिति रहती है तथा इन अक्षरों में श्लिष्टता नहीं होती। पुनः अवतरणक्रम से दण्ड के अक्षरों को पढ़ने से पद्य पूर्ण हो जाता है। इसका पद्य इस प्रकार है :—

तनुतां तनुतां राधाकृष्णयोश्चरितश्रुतिः।
हृत्तापानां सुधासिन्धु-धारा तां नुततां नुत ॥ अलङ्कार-कौस्तुभ ॥

इसमें प्रथम चरण का विलोम पाठ चौथा चरण बना है तथा द्वितीय चरण में कोई श्लिष्टता नहीं है।

४-छत्रहर-बन्ध—चित्रबन्ध-रामायण में 'छत्रहरबन्ध' के नाम से एक पद्य दिया है इसके आलेखन एवं पठन का प्रकार उपर्युक्त बन्धों से कुछ भिन्न है। इसमें छत्र के शिखर में कोई अक्षर नहीं रहता। पद्य का आरम्भ दण्ड के मध्य भाग से होता है तथा दक्षिण भाग के अर्धवृत्त में घूम कर अधोदण्ड तक पहुँचता है। मुष्टि स्थान में चार अक्षर श्लिष्ट होकर तृतीय चरण में आवृत्त होते हैं जो विलोम पाठ के सूचक है। पुनः अधोदण्ड में होकर अर्धवृत्त में आना होता है तथा प्रथम चरण के प्रारम्भिक चार अक्षर विलोम-पाठ से श्लिष्ट बनते हैं। पद्य इस प्रकार है :—

राममाप मुदा साक्षाद्राज्यलक्ष्मीः सदातनी।
नीतदासकृपाश्रेणीः प्राप्तमत्योपमामरा ॥ चि० ब० रा० ३४ ॥

इसमें '**राममाप-पमामरा**' तथा '**सदातनी-नीत दास**' ये पद लोम-विलोम पठित हैं।

५-छत्र-बन्ध—आशुकवि नित्यानन्दशास्त्री ने इस बन्ध का नवीन रूप प्रस्तुत किया है। इसमें पद्य का आरम्भ अर्धगोलाकार से होता है। प्रथम चरण का प्रथमाक्षर द्वितीय चरण के आठवें अक्षर में तथा प्रथम चरण का आठवाँ अक्षर द्वितीय चरण के प्रथमाक्षर में

श्लिष्ट होता है। द्वितीय चरण तानियों में लिखा जाता है। शिखर से तीसरा चरण आरम्भ होकर प्रथम चरण के चौथे अक्षर से श्लिष्ट होता हुआ दण्ड के वाम भाग से उतरता है तथा इसी चरण का आठवाँ अक्षर पुनः श्लिष्ट बनकर दण्ड के दक्षिण भाग से ऊपर तक पहुँचकर चौथे चरण की पूर्ति करता है जिसमें प्रथम चरण का चौथा, द्वितीय चरण का पाँचवा तथा तृतीय चरण का पहला अक्षर श्लिष्ट ही जाता है। उदाहृत-पद्य इस प्रकार है :—

> चराऽगच्छत्रमुद्भारां संसक्तरमणीरुचम् ।
> मित्ररक्षां श्रये तातं, तं रामं द्विष्टिमिच्छमि ॥ रामचरिताब्धिमहाकाव्य ।

इसमें च, छ, सं, र, मि, और तं अक्षरों की श्लिष्टता के अतिरिक्त शिखर के नीचे 'छत्र' शब्द की योजना भी महत्त्वपूर्ण है।

६-छत्र-बन्ध—म० म० रामावतार शर्मा ने इस बन्ध का प्रकार प्रस्तुत किया है, जिसमें प्रथमाक्षर शिखर पर रहता है तथा वहीं से प्रथम और द्वितीय चरण दण्ड में उतरते हैं। इन चरणों का आठवाँ और सोलहवाँ अक्षर पुनः श्लिष्ट बनकर दण्ड के मुष्टिस्थान पर रहता है। इसी प्रकार तीसरा चरण अर्धगोलाकार में प्रथम और द्वितीय चरण के दो संख्यावाले अक्षरों को समेटता हुआ आरम्भ और अन्त के अक्षरों के रूप में चौथे चरण के आद्य और अन्त्य के अक्षरों को ग्रहण करता है। तथा चौथा चरण पहले और दूसरे चरण के पाँचवे अक्षरों को भी आत्मसात् करता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :-

> तव भक्त्या देवदेव ! तदनन्तं हि शम्भव ।
> सदाशिव दयाधार, सन्मतिं देहि शङ्कर ॥

इसमें त, व, द, दे, व, हि, स और र अक्षर श्लिष्ट हैं और उनके स्थान हैं-शिखर, शिखर के नीचे के दो भाग, मुष्टिस्थान और खुले छत्र की तानियों का अग्रभाग।

७-छत्र-बन्ध—तथा वहीं शर्माजी ने अन्य पद्धति से भी इस बन्ध की रचना की है। इसमें प्रथम चरण दण्ड में, द्वितीय चरण उसके विलोम-पाठ द्वारा तथा तृतीय-चतुर्थ चरण दोनों पार्श्वों में शिखर के अक्षर के अनन्तर भ्रमण से बनते हैं जिनमें दण्डगत अक्षरों का भी ग्रहण होता है। पद्य इस प्रकार है :-

> दासता तव देया मे, मेया देव तता सदा ।
> दातुं सद्गतिमेतां मे, शम्भो मानित निर्जरैः ॥

इसमें प्रथम चरण का द्वितीय चरण विलोम से पठित है तथा दा, स, ता और र अक्षर श्लिष्ट हैं। इसकी आकृति में निर्मित बन्धों को अन्यत्र **पर्वत**, **गवाक्ष** और **रथबन्ध** का नाम भी दिया है।

८ छत्र-बन्ध (आतपत्र)—शर्माजी ने तृतीय छत्रबन्ध का प्रकार छन्दोभेद के साथ ही पठन-भेद के कारण नवीन रूप प्रस्तुत करता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :-

शिव वलयिततक्षकादिकाहे, वसनितदिक्क सदा दयार्द्र दृष्टे।
जगति विततथ्य कीर्तिराशे, शिव तव दत्तमिदं सितातपत्रम् ॥

इसका पठन शिखर से आरम्भ होकर क्रमशः सर्प गति से तीन चरण तक चलता है और चतुर्थ चरण दण्ड में सीधा उतरता है जो बीच के अक्षरों को श्लिष्ट बनाता है। इस प्रकार इसमें छः अक्षर **'शिवतदवत्त'** श्लिष्ट हैं इनकी दो-दो बार आवृत्ति होती है। इसका नाम 'आतपत्र-बन्ध' दिया है।[1]

८—**छत्र-बन्ध**——दामोदरशास्त्री ने एक अन्य प्रकार से इस बन्ध का उदाहरण देते हुए उसका न्यास-प्रकार यह दिखलाया है :—

अश्वतः परितो गच्छेत्, ततो नेमिद्वयेऽपि च।
स्वेष्टंकोष्ठेषु विन्यस्य, छत्रबन्धे विदांवर ॥ चित्रबन्ध-काव्य, २० ॥

इसके अनुसार छः तानियों वाले छत्र में तीन श्लोकों में यह बन्ध पूर्ण होता है। छत्र का मध्यभाग कर्णिकारूप है जहाँ से छहों तानियों के छः चरण लिखे जाते हैं। प्रथम और द्वितीय चरण दण्ड के ऊपर और नीचे के भागों में गति करते हैं। अन्तिम पद्य के दो चरण बाहर के गोलार्ध की छः तानियों और शिखर के अन्त्याक्षरों को मिला कर पढ़ने से बनते हैं तथा इसी प्रकार अन्दर के गोलार्ध में भ्रमण करने से शेष दो चरणों की पूर्ति हो जाती है। पद्य इस प्रकार है :—

वन्द्यस्त्वं भगवन् वीर, बहिष्कुरु भवार्णवात्।
वरं देहि यशोदाज, वन्दनं तु भवाद् भज ॥१॥

वस हृत्सु गुरो ध्येय, वनन्ति त्वां विभुं गवि।
वनतां प्राणवासिन् हे, वसुदेवावतारण ॥२॥
जनाय प्रेष्ठ हे धीर, रक्षणं तु विभो सृज।
यतिगुत्राण-पूर्णाभ, भक्तबन्ध विभक्तभ ॥ वहीं ३॥

इसमें प्रथम पद्य के द्वितीय चरण का प्रथमाक्षर तथा द्वितीय पद्य तक के सभी चरणों में क्रमशः १-३ और आठ संख्या वाले वर्ण श्लिष्ट हैं। तृतीय पद्य के प्रतिचरण में १-३-६-८ संख्यक वर्ण श्लिष्ट हैं जिनमें मध्याक्षर व आठ बार आवृत्त हुआ है।

तिलक-बन्ध——

आस्तिक समुदाय में तिलक भी मङ्गलरूप माना गया है। यही कारण है कि विद्वानों ने तिलक-बन्ध की भी योजना की है। पञ्चनदवासी पं० सुदर्शन शास्त्री ने

१—उपर्युक्त तीन बन्धों के अतिरिक्त अन्य कई बन्ध—जिनका अग्रिम प्रकरणों में यथा-समय उपयोग किया गया है—ये महामहोपाध्याय पं० रामावतारजी शर्मा के भाई पं० श्रीकान्तजी शर्मा द्वारा संकलित एक रजिस्टर से उद्धृत किये हैं।

रामानुज सम्प्रदाय के तिलक की दृष्टि से एक ऊर्ध्वपुण्ड्र-तिलकबन्ध का निर्माण किया है। इसमें तीन विभाग हैं। पद्य का आरम्भ बीच के भूमध्य-भाग से होता है। प्रथम-चरण का द्वितीय अक्षर श्लिष्ट है। पहले दक्षिण भाग के दो अक्षरों को पढ़कर पुनः उस द्वितीयाक्षर के साथ वामभाग में प्रवेश होता है। आठवाँ अक्षर ही पुनः श्लिष्ट होकर द्वितीय चरण का पहला अक्षर बनता है। तीसरा चरण पहले चरण के पाँचवे अक्षर से आरम्भ होकर दक्षिण भाग में पढ़ा जाता है और चतुर्थ चरण पहले चरण के द्वितीय अक्षर से सीधा मध्य में पढ़ने से पूर्ण होता है। पद्य इस प्रकार है :--

वन्दे देवादिदेवी-यं यं नमन्ति मुनीश्वराः।
दिव्यं पत्कमलं विष्णोर्देवीं श्रीललनां हरेः॥

इसमें प्रथम चरण का दूसरा वर्ण 'दे' चार बार, पाँचवा वर्ण 'दि' दो बार तथा आठवाँ वर्ण यं दो बार आवृत्त है।

क-तिलक-बन्ध--पूर्वोक्त आकृति का एक बन्ध श्रीरामरूप पाठक ने भी दिया है। जिसका न्यास-प्रकार इस तरह दिया है :—

मध्ये श्लिष्टं पदं ज्ञेयं, पार्श्वयोश्च पदद्वयम्।
कोणयोरक्षरं श्लिष्टं, तिलकं बन्धसुन्दरम्॥

इसके अनुसार तिलक के बीच का पद श्लिष्ट होकर दो बार पढ़ा जाता है। पार्श्व के दो पदों में कोणाक्षर और भूस्थान के अक्षर श्लिष्ट रहते हैं। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :--

हरिपदं दनुजद्विपमर्दनं, हरिपदं दरदं गुणदं भज।
हरिपदं कमलार्चितमक्षरं, हरिपदं कमलार्चितमक्षरम्॥
चित्रकाव्यकौतुक पृ० ८॥

प्रथम-द्वितीय चरण में 'हरिपदं' तथा ३-४ चरण इसमें समान हैं। साथ ही मध्य और दोनों पार्श्वों के अन्त्याक्षरों से 'रञ्जन' पद का अंकन भी किया है।

दर्पण-बन्ध

उदयमाणिक्य गणि ने अपने 'चन्द्रप्रभस्वामिस्तवन' में दर्पणबन्ध का एक पद्य दिया है। इसमें पद्य का आरम्भ दर्पण के दण्ड से होता है जिसमें तीन अक्षर रहते हैं जो चतुर्थ चरण में विलोम पढ़े जाते हैं। पहले चरण का चौथा अक्षर वर्णवृत्त की परिधि और दण्डसन्धि के स्थान पर रहता है वहीं से वामभाग से पद्य का पाठ गोलाकृति में होता में होता है। चौथे चरण के आठवें अक्षर के रूप में प्रथम चरण का चौथा अक्षर श्लिष्ट होता है। शेष नौ, दस और ग्यारह संख्या के अक्षर प्रथम चरण के एक, दो और तीन संख्यावाले अक्षरों का विलोम पाठ है। पद्य इस प्रकार है—

वन्देरुचा तर्जितचन्द्रकान्ति चन्द्राङ्कितं दत्त जगत्सुशान्तिम् ।
नरामराधीश्वरक्लृप्तसेवं, सदैव चन्द्रप्रभचारुदेवम् ॥ १ ॥

यहाँ **'वन्देरुचा-चारुदेव'** लोम-विलोम पठित हैं ।

१—**दर्पण-बन्ध**—श्री जिनसेनाचार्य ने इस बन्ध का द्वितीय प्रकार इस रूप में दिया है—

षड्वारपादमध्ये च, सन्धौ च भ्रामयेत् कविः
तथैकं तस्य मध्ये च, दर्पणाह्वय-बन्धके ॥ अलं० चिन्तामणि २-१६५ ॥

इस आधार पर यह बन्ध तीन चक्रों में अङ्कित है । नीचे पकड़ने के लिये एक दण्ड रहता है । पद्य का प्रथमाक्षर आठ बार आवृत्त है । तीसरा चरण दण्ड, दण्डसन्धि और मध्याक्षर के लोम-विलोम और गृहीत-मुक्त पद्धति से बनता है । प्रथम चक्र में प्रथम चरण और द्वितीय चरण के चार अक्षर आते हैं । द्वितीय चक्र में चौथा चरण रहता है तथा मध्य चक्र में एक अक्षर अङ्कित हैं । पद्य इस प्रकार है—

नायकं नौमि तत्त्वतः, श्रेयासं पृतनातनाम् ।
ना तनानातनानात ! जयत्याधि तनावित ॥ वहीं २-१६५ ॥

इस पद्य में **ना** और **त** की आवृत्तियाँ दर्शनीय हैं ।

२—**दर्पण-बन्ध**—दामोदर कवि ने चतुष्कोण-दर्पण का एक बन्ध बनाया है । इसका लक्षण इस प्रकार है—

श्लेषे श्लेषे पठन् धीरस्तत्रैव विरमेत् पुनः ।
सुधिया स्वधिया प्रोक्तो, बन्धोऽयं दर्पणाभिधः ॥ चित्रबन्धकाव्य १५ ॥

इसके अनुसार दर्पण की चौकोर परिधि में चार कोण और चार दिशाओं में–सन्धिस्थल है । वहाँ के अक्षरों की पुनरावृत्ति ही इस बन्ध की विशेषता है । पद्य यह दिया है—

दयया साम्प्रतं मेश, शर्म देहि रमाधव । वयमाशास्महे श्रीद, दर्शनं रघुनन्दन ॥
नरकादुद्धरेर्वीर, रक्ष नाथ विनोदद । दर्पण-प्रतिबिम्बेन, नस्तमो निखिलप्रद ॥ वहीं ॥

इसमें 'द–श–व–द–न–र–द–न' अक्षर श्लिष्ट हैं ।

ध्वज-बन्ध—

जयपुर के आशुकवि पं० श्रीहरिशास्त्री दाधीच ने 'ध्वज-बन्ध' की रचना की है । इसके आलेखन में प्रथम चरण का प्रथमाक्षर दण्ड में ध्वजपट बाँधने के स्थान में रहता है और इसी चरण का अन्तिम अक्षर ध्वजपट के अन्तिम छोर पर रहता है । द्वितीय चरण का प्रथमाक्षर द्वितीय बन्धस्थान में रहता है और पूरा चरण बीच में लिखा जाकर प्रथम चरण के अन्तिमाक्षर से मिलकर पूर्ण होता है । इसी प्रकार तीसरे स्थान से तीसरा

चरण भी पूर्ण होता है। चौथा चरण शिखर से मूल की ओर पढा जाता है जिसमें प्रथम, द्वितीय और तृतीय चरणों के प्रथमाक्षरों को–क्रमशः तीसरे, छठे और नौवे स्थान के अक्षरों को आवर्जित करता हुआ मूल में पूर्ण होता है। पद्य इस प्रकार है—

श्रीमान् क्षत्रियवंशभूषणमणिर्मानः स्वकीयं ध्वजं,
माद्यद्दुर्जनसङ्घयुक्तमखिलं जित्वा रिपूणां व्रजम्।
शंखेन्दुप्रतिमं यशोऽवनितले विस्तारयन् शौर्यजं,
शकश्रीमँतिमानयं शमरतो भूमौ निखन्यात् मुदा॥ अलङ्कार-कौतुक॥

इसमें '**श्री, मा शं**' दो-दो बार तथा **जं** तीन बार आवृत्त हैं।

१—**ध्वज (पताका) बन्ध**—कवि कर्णपूर ने इस बन्ध का एक उदाहरण दिया है। इसकी आकृति पूर्व बन्ध के समान ही है, केवल ध्वजपट का अन्तिम छोर मिला हुआ नहीं है अर्थात् वस्त्र पूरा चौकोर है। इसमें पद्य दण्ड-मूल से आरम्भ होता है तथा ध्वजपट में ऊपर से नीचे तक तीन भागों में एक साथ पढ़ा जाता है। ऐसे आधा श्लोक पूर्ण होने पर विलोम पाठ द्वारा पद्य पूर्ण हो जाता है। पद्य इस प्रकार है—

रासतंसरसारम्भे, राधा साऽरं रमाधवम्।
बन्धमाररसाधाराभेऽरं सारसतं सरा॥ अलं० कौस्तुभ, किरण-७- ६०॥

इसकी अर्धाली का विलोम-पाठ ही द्वितीय अर्धाली का पूरक है।

मत्स्य-युगल-बन्ध—जैनधर्मानुसार मत्स्ययुगल को माङ्गलिकता अष्टमङ्गलों में प्रसिद्ध है। उसी को आधार मानकर उदयमाणिक्यगणि ने 'चन्द्रप्रभस्वामि-स्तवन' में एक पद्य दिया है। इस बन्ध की आकृति में दो मछलियाँ जुड़ी हुई हैं। उनके सिर और मुख-भाग में एक-एक अक्षर रहता है जो श्लिष्ट बनता है। शेष पद्याक्षर शरीराकृतियों में अंकित हैं। पद्यारम्भ वामभाग की मछली के पुच्छ भाग से हुआ है तथा प्रतिचरण के अन्तिम दो अक्षर श्लिष्ट बने हैं। पद्य इस प्रकार है—

प्रमादभूमीधरवज्रधारं, संसारपाथोनिधिकर्णधारम्।
गुणावलीकाञ्चननिर्जराभं, चन्द्रप्रभं नौमि निरस्तरागम्॥ ४॥

महादेव-जागेश्वर-बन्ध

अवतारकवि ने इस बन्ध का एक चित्र दिया है। आकृति में शिवलिङ्ग और जलाधारी हैं। जलाधारी के नीचे तीन आवर्त्त वाला आधारासन है। प्रथम चरण आधारासन के प्रथम पंक्ति के मध्य से प्रारम्भ होता है। इस पंक्ति में सात अक्षर रहते हैं जो मध्याक्षर से लोम-प्रतिलोम रूप में पढ़े जाते हैं। द्वितीय पंक्ति में पाँच अक्षर और तृतीय पंक्ति में तीन अक्षर रहते हैं ये भी पूर्वोक्त क्रम से ही पढ़े जाते हैं। इसके पश्चात् पूर्वक्रमानुसार विपरीत पद्धति से आलिखित रूप में तीन, पाँच और सात अक्षरों का लोम-विलोम पाठ

होता है। लिङ्ग के मूल में एक अक्षर तथा दो अक्षर तिलक में रहते हैं। दोनों आधारासनों के बीच में एक अक्षर (सन्धिस्थान में) लिखा जाता है। इसका पद्य इस प्रकार है--

दरवति वरदयभटभयदपराक्षरणपथरथपरपुरशरसमरे ।
मदमयररणरय जय जय खमत, क्षतमख सुरवर सुखद शिव ॥ ईश्वरशतक ।

इस बन्ध में पर्याप्त कौशल प्रदर्शित हुआ है तथा इसकी प्रेरणा सम्भवतः कवि ने लिङ्गतोभद्र से प्राप्त की है। इसमें 'द, प, र, म, य, ख' ये अक्षर श्लिष्ट होकर तीन बार आवृत्त होते हैं तथा कुछ वर्ण विलोम पढ़े जाते हैं।

शङ्ख-बन्ध

कुलमण्डनसूरि ने इस बन्ध का पद्य दिया है। पद्य का आरम्भाक्षर शङ्ख के मुखभाग पर रहता है और वही श्लिष्ट होकर द्वितीयाक्षर बनता है। मुखभाग के द्वितीय आवर्त्त में दो अक्षर रहते हैं जिनमें से चार अक्षर श्लिष्ट होते हैं। पुच्छ में दो अक्षर लोम-विलोम पढ़े जाते हैं और शेष पाँच अक्षर दक्षिणदल में रहते हैं, जो ऊपर के तीसरे आवर्त्त में स्थित एक अक्षर के योग से पद्य की पूर्ति करते हैं। पद्य इस प्रकार है :—

तत कष्टावलीलावलीलाढ्य श्रीवरारताः ।
ताररावश्रुतो वीर रवीद्धाम सुरास्तव ॥ वीरजिनस्तवन, ४ ॥

इसमें 'तत, वलीलावलीला, वरारताः तारराव, वीर-रवि, और अन्तिम व' चित्रात्मकता के पोषक हैं। यही पद्य 'अष्टारचक्रबन्ध' में भी प्रयुक्त होता है, यह इसकी विशेषता है। जैन-परम्परा के अनुसार इस की आकृति बनती है।

१–**शङ्ख-बन्ध**–पद्यामृत-सरोवर में विष्णु की आयुध-चतुष्टयी का निर्देश करते हुए इस बन्ध का एक पद्य दिया है तथा उसका लक्षण इस रूप में प्रस्तुत किया है:—

गर्भतो मौलिमालिख्य, मूलवर्णाच्च मालिकाम् ।
पुनर्द्वितीयां चाधारे, कम्बोः पंक्तिं समालिखेत् ॥

इसके अनुसार पद्य का प्रथमाक्षर मध्य में, शिखर के प्रथम आवर्त्त में द्वितीयाक्षर, द्वितीय आवर्त में तृतीयाक्षर तथा तृतीय आवर्त में चार अक्षर रहते हैं। द्वितीय चरण का प्रथमाक्षर मालिका में इस पद्धति से लिखा जाता है कि जिससे वह अपने आस-पास लिखे हुए तीन अक्षरों के योग से पुनः पुनः पठित होसके। दूसरे चरण का दूसरा अक्षर प्रथमाक्षर के नीचे लिखा जाता है। इस चरण के तीन और चार संख्या वाले अक्षर शिरःस्थ प्रथम-चरण के दो और तीन संख्यक अक्षर हैं। इस चरण के तीन अक्षर वामभाग में और एक पुच्छ के मध्य में रहता है, जो श्लिष्ट बनकर तीसरे चरण का प्रथमाक्षर तथा तीसरा अक्षर बनता है और शेष अक्षर दक्षिणभाग में लिखे जाते हैं। चतुर्थचरण का दूसरा अक्षर

द्वितीय चरण का पहला अक्षर होता है और आस-पास के अक्षरों के योग से इस चरण की पूर्ति होती है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है:—

श्रीदेवदेवकीमातर्भावादेव नुमोऽनिशम् ।
शम्पाशतालोडिताङ्गविर्भावाभाशुभास्यभाः ॥ वहीं।

इसमें **देव** २ बार, **भा** ५ बार, वा २ बार और **शं** ३ बार, आवृत्त हैं।

२—**शङ्ख-पाञ्चजन्य-बन्ध**—पञ्चनदीय सुदर्शनशास्त्री ने रामानुज सम्प्रदाय के अनुसार इस बन्ध की रचना की है। इसमें प्रथमाक्षर शङ्ख के मध्य में और द्वितीयाक्षर उसके नीचे रहता है। प्रथमाक्षर ही पुनः तीसरे अक्षर के रूप में आता हैं। तदनन्तर पाँचवाँ अक्षर द्वितीय आवर्त में, छठा अक्षर तीसरे आवर्त में और सातवाँ अक्षर पाँचवे अक्षर के रूप में श्लिष्ट बनता है। आठवाँ अक्षर शिखर में रहता है जो श्लिष्ट होकर चारों दिशाओं के अक्षरों के साथ सम्बद्ध होता है। दूसरे चरण के पाँच, छः और सात संख्यावाले अक्षर मालिका के वामभाग में आकर प्रथम चरण के सातवें अक्षर से सम्बद्ध होते हैं। तीसरे चरण के तीन अक्षर मालिका के दक्षिणभाग में लिखे रहते हैं जो द्वितीय चरण के दो, तीन और चार अक्षरों को आवर्जित करते हैं। तीसरे चरण के सातवें अक्षर से चौथे चरण के सातवें अक्षर तक के अक्षर चार आवर्तों के वाम, दक्षिण और मध्य के भ्रमण से तथा अन्तिम अक्षर पहले चरण का प्रथमाक्षर होता है। बन्ध का पद्य इस प्रकार है :—

शङ्खः शशिसमः सत्पाः, पाञ्चजन्यः सदारसः ।
रवपञ्चजयः समरदासोऽवन् पशिः स शम् ॥

इसमें **श** ३ बार, **स** ६ बार, **पाञ्चजन्यः** दो बार और **र-व-पं-शि** २-२ बार आवृत्त हैं।

३-**शङ्ख-बन्ध**—कवि कर्णपूर ने भी एक शङ्ख-बन्ध का नवीन प्रकार दिया है। इसके मुखभाग के तीन आवर्तों में क्रमशः एक, दो और चार अक्षर, वामभाग में पाँच अक्षर और पुच्छ भाग में तीन अक्षर, रहते हैं तथा पुनः वामभाग के पाँच अक्षर, दक्षिण भाग में तीन अक्षर, आवर्तों और मुख के अक्षरों के विलोम-पाठ से पूर्ण पद्य बनता है। पद्य इस प्रकार हैः—

धेयमाधुर्यमर्यादा राधामाधवसारसा ।
सारमावधमाधारा धेयमाधुर्यसौभगा ॥ अलङ्कार-कौस्तुभ, किरण-७ ॥

इसमें द्वितीय चरण के आठ अक्षर लोम-विलोम, और प्रथम चरण के पाँच अक्षर द्विरावृत्त होते हैं।

४–शङ्ख-बन्ध—दामोदर कवि ने इस बन्ध का सरलतम रूप दिया है और उसका न्यास-प्रकार यह दिया है :—

मुखात् पदद्वयं वाच्यं, पुच्छात् पादद्वयं तथा ।

मध्ये च विरताः सर्वे, शङ्खबन्धेऽत्र नूतने ॥ चित्रकाव्य-७ ॥

इसके अनुसार चारों चरणों का अन्त्याक्षर श्लिष्ट होता है और वह मध्य में लिखा जाता है तथा शेष चारों चरणों के सात-सात अक्षर दक्षिण, वाम और पुच्छ भाग में लिखे जाते हैं । उदाहृत पद्य इस प्रकार है :—

विष्णो ! शङ्खस्वनेनैव, दुष्टान्मर्दय माधव ।
निरीक्षस्व सदाभाव, प्रार्थयन्ते तु राघव ॥ वहीं ॥

इस पद्य में 'व' चार बार आवृत्त हुआ हैं ।

शरावसम्पुट-बन्ध

जैनधर्म के अष्टमङ्गल में 'शरावसम्पुट' भी मङ्गलमय हैं । इस बन्ध का पद्य उदयमाणिक्यगणि ने 'चन्द्रप्रभस्वाभिस्तवन' में दिया है । इसमें पद्य का आरम्भ ऊपर के शराव से होता है । प्रथम और द्वितीय चरण वाम और दक्षिण भाग में अङ्कित रहते हैं । आरम्भ और अन्त के दो-दो अक्षर तथा छठा अक्षर दोनों चरणों में श्लिष्ट हैं । इनमें प्रथम चरण का छठा अक्षर तीसरे और चौथे चरण का प्रथमाक्षर रहता है तथा दूसरे चरण का छठा अक्षर तीसरे और चौथे चरण का अन्त्याक्षर होता है । पद्य इस प्रकार है :—

चन्द्रातपप्रायसुकीर्तिरामं, चन्द्रानन सारगुणाभिरामम् ।
यः स्तौति चन्द्रप्रभमस्तमारं, यमी स आप्नोति भवाब्धिपारम् ॥ ३ ॥

इसमें 'चन्द्रा, रामं, यः और र' ये अक्षर श्लिष्ट हैं ।

'श्री' बन्ध

वरखेडकर नारायणाचार्य ने सविसर्ग श्री अक्षर का यह बन्ध 'काशी से पूर्वप्रकाशित 'अमरभारती' संस्कृत मासिक पत्रिका' में स्वामी सत्यध्यानतीर्थ के नामाङ्कन सहित प्रकाशित किया है । वसन्ततिलका छन्द में सन्धिगत अक्षर श्लिष्ट और गतागत रूप में आवृत्त हाते हैं । श्रीः अक्षर दोहरा कर लिखा जाता है और उसके बीच में अक्षर-विन्यास इस ढंग से किया जाता है कि सन्धिस्थानीय अक्षरों की आवृत्ति और गतागत-पठन से चित्रात्मकता उत्पन्न हो । इसका पद्य इस प्रकार हैं :—

श्रीध्यानधीरतम भो अभिनन्द्यबोध-स्तव्यस्तवा जनधनं जयति स्म भासा ।
सा भावभास्वरयतीन्द्र पवित्रिताङ्का, प्राकाशि काशिकबुधैरमरौघवाणी ॥

इस पद्य में न, ध, स्त, जन, भासा और का ये अक्षर चित्रात्मक रूप से आवृत्त हैं।

१- 'श्रीः' बन्ध—दामोदरशास्त्री ने इस बन्ध का दूसरा सरल रूप दिया है। इसका न्यास-प्रकार यह है :-

श्रियो लेख-क्रमेणैव, चानुलोम-विलोमतः।
श्लिष्टे तु यच्छेद् बिन्दुं तु, श्रीर्बन्धेऽत्र कविप्रियः॥ चित्रबन्धकाव्य-२४

इसके अनुसार श्रीः लिखने के प्रथम सन्धिस्थल में पहला अक्षर लिखकर तीन अक्षर गोल आकृति में लिखते हैं। पाँचवाँ अक्षर प्रथमाक्षर ही रहता है। तीन अक्षर पहली तिरछी रेखा में, दो अक्षर द्वितीय सन्धि में–जिनमें से एक अक्षर लोम-विलोम पठन से आवृत्त होता है–शेष क्रम पूर्ववत् ही है, किन्तु शिरोरेखा में जो तीन अक्षर रहते हैं–उनमें सन्धिस्थान का अक्षर मध्य न होकर प्रथम स्थान में उसके पासवाले भाग में दो अक्षर रहते हैं, और द्वितीय स्थान के दक्षिण भाग में दो अक्षर रहते हैं। इसी प्रकार विसर्गबिन्दुओं में एक-एक अक्षर रहता है। उदाहरण पद्य यह है :—

प्राणप्रेष्ठात् प्राणिसेवाप्रसादात्, सा ध्यासाच्च ध्यानतः प्रेमभावैः।
भामद्य प्राप्यारमस्माद् गरादाद्, रागं कृत्वा वल्लभं याहि रामे॥ वहीं।

इस पद्य में 'प्रा, सा, ध्या, म, मा, ग और रा' ये अक्षर श्लिष्ट हैं।

२–'श्रीः' बन्ध—श्रीरामरूप पाठक ने भी अपने 'चित्रकाव्य-कौतुक' में यही बन्ध उपर्युक्त लक्षण के आधार पर प्रस्तुत किया है किन्तु प्रथम चरण के दस और ग्यारह संख्या के अक्षरों को विपरात पढ़कर द्वितीय चरण के प्रथम और द्वितीय अक्षरों की पूर्ति की है तथा तीन और चार संख्या के अक्षरों में ही लोम-विलोमता रखी है। उनका पद्य इस प्रकार है :—

विप्रप्रेष्ठो विश्ववन्द्यो मनोज्ञो, ज्ञोनो धाता धातृपो रामतातः।
तामद्य प्राप्नोतु कन्यां कमान्दां, मां कस्तूरीवल्लभां कृष्णदेवः॥

यहाँ 'मनोज्ञो ज्ञो नो' इन अक्षरों में पूर्वापेक्षा से पाठ वैशिष्ट्य है।

सूर्य-बन्ध

दामोदर कवि ने इस बन्ध का लक्षण यह दिया है :-

द्वे पदे अनुलोम्नात्र, विलोम्ना च पदद्वयम्। भिन्नार्थवाचकाः शब्दा, बन्धे मिहिरसंज्ञके॥
चित्रबन्धकाव्य-४५॥

यह बन्ध वृत्ताकार में सूर्य की षोडश किरणों से युक्त है। श्लोक का अर्धभाग प्रतिकिरण में एक-एक अक्षर के रूप में लिखा जाता है। वही विपरीत पठन से तृतीय और चतुर्थ चरणों का पूरक होता है। उदाहृत पद्य इस प्रकार है:—

मारतात सदाराम, नयासारमहोगिरा।
रागिहोम रसायान, मरादास,ततारमा॥ चित्रकाव्य।

यहाँ पूर्वोक्त बालेन्दु रेखा-बन्ध के समान ही है, किन्तु आकृतिगत भेद से सूर्य-बन्ध बनाया गया है।

स्वस्तिक-बन्ध (सकर्णिकाक्षर)

इस बन्ध का पहला प्रकार उपाध्याय जयसागर ने दिया हैं। इस बन्ध में चारों चरणों का प्रथमाक्षर मध्य में रहता है और प्रतिचरण का चौथा अक्षर द्विरावृत्त होता है। इसमें अन्तिम अक्षर में श्लिष्टता नहीं है। छन्द की लघुता के कारण प्रति भाग में तीन-तीन अक्षर रहते हैं। इसका उदाहरण पद्य इस प्रकार है:–

वर्णनीययशोराशिवरो विततलोचनः।
वरदो मम सम्भूयाद, वर्यस्तारवो गुरुः॥ विज्ञप्ति-त्रिवेणी पृ० ६३॥

इसमें व, य, त, म, और र ये अक्षर श्लिष्ट हैं।

२–स्वस्तिक–बन्ध (सकर्णिकाक्षर)

आगमिकगच्छीय जयतिलकसूरि ने इस बन्ध की रचना दुहरी रेखाओं से स्वस्तिक अङ्कित कर प्रारम्भ का प्रथमाक्षर मध्य में लिखा है, जो चारों चरणों का आदि और अन्त का अक्षर बनकर सोलह बार प्रयुक्त होता है इसी प्रकार प्रति चरण का छठा और सातवाँ अक्षर भी एक ही रहकर आवृत्त होता है। यह अक्षर स्वस्तिक के मोंड़ पर रहता है पद्य इस प्रकार है:–

नरानराणाममरासुरेन, नवीनलक्ष्मीं ददतो मतेन।
नमाम्यतीताननघाजनेन, नवेन नुत्वा ननमस्तकेन॥चतुर्विंशतिका २-१३॥

इस पद्य में **न** सोलह बार तथा **म, द, न, और न,** दो-दो बार प्रयुक्त हुए है।

२-(**बन्धूक) स्वस्तिक-बन्ध**—वहीं उपर्युक्त नाम का एक बन्ध और दिया है। इस बन्ध का आलेख्य प्रकार भी अन्य स्वस्तिकों से भिन्न है। दो-दो तिरछी रेखाओं के योग से यह स्वस्तिक बनाया है। ऊपर के चारों दिशाओं के स्थान पर रेखाएँ मिला दी गई हैं अतः इसमें आठ कोण बन गये है। इसमें प्रति चरण के एक, बार और ग्यारह संख्या वाले अक्षर श्लिष्ट रहते हैं जिनमें पहले चरण का पहला अक्षर चौथे चरण की अन्तिमाक्षर बनता और प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय चरणों के अन्त्याक्षर क्रमशः दो, तीन और चौथे चरणों के आद्याक्षर बनते हैं। पद्य इस प्रकार हैं:–

तातोपमामानविहीनदेहा, हावादिनानाकिनराबलाभिः।
भिन्ना न ये येस्वबलैरमेया, याचे रमामादरभाविनीं ताम्॥ वहीं ४-१३॥

इसमें 'ता, मा, हा, ना, भि, ये, या और मा' ये आठ अक्षर श्लिष्ट होकर दो बार पढ़े जाते हैं तथा इनकी स्थिति प्रत्येक कोण पर रहती है।

३-भद्रकावर्त-स्वस्तिक (निष्कर्णिकाक्षर)—अवतारकवि ने भद्रकावर्त-बन्ध के नाम से एक पद्य दिया हैं। यह स्वस्तिक का एक प्रकार माना जाता है। इसमें स्वस्तिक के प्रथम

दल से पद्य का आरम्भ होता है प्रतिदल में चार-चार अक्षर रहते हैं। मध्य में कोई अक्षर नहीं रहता। पहले चरण के चार अक्षर विपरीत पठन से चौथे चरण के अन्तिम चार अक्षर बनते हैं। इसी प्रकार अन्य प्रतिचरण के चार-चार अक्षर विपरीत पठन से आगे-आगे के चरणों के पूरक बनते हैं। पद्य इस प्रकार है:—

भाविदासहिते साररमा ते हि रमामय।
यममारतनु त्यागगत्या नुत सदा विभा ॥ ईश्वरशतक १०३ ॥

इसमें चरण के १ से ४ तथा ७-८ संख्यक अक्षर श्लिष्ट होकर विलोम पढ़े जाते हैं।

४-भद्रकावर्त स्वस्तिक-बन्ध (सकर्णिकाक्षर)

इसी पद्धति का एक बृहत् छन्द स्रग्धरा में निर्मित और वहीं दिया है:—

सादासन्ना रिपूणां परमुखसुरपक्षोतितस्वस्थिरासा,
सारास्थिस्वच्छभावा विभवनवभावित्राणभव्योत्तमासा।
सामात्तव्योमरूपा तनुरमरनुतत्वात्पुरस्ताद्विलासा,
सालाद्विस्तारलाभातिगजन जयति स्वः प्रसन्ना सदासा ॥ वहीं १०४ ॥

इस बन्ध की विशेषता यह है कि चारों चरणों का आदि और अन्त का अक्षर 'सा' स्वस्तिक के मध्य में रहता है तथा प्रतिचरण के आदि-अन्त के चार-चार अक्षर लोम-विलोम पठित हैं साथ ही आठ, नौ, दस, और बारह, तेरह, चौदह, संख्या के अक्षर भी लोम-विलोम से पढ़े जाते हैं तथा प्रतिपाद के पन्द्रह, सोलह, और सत्रह संख्यावाले अक्षर बिन्दुओं में रहते हैं। जो पादादि के अक्षरों को पादान्त के अक्षरों से जोड़ते हैं।

५—चतुर्महादेवात्मक-स्वस्तिक-बन्ध (निष्कर्णिकाक्षर)—अवतार कवि ने स्वस्तिक का यह नया प्रकार बनाया है। इसमें स्वस्तिक के चारों कोणों पर चार शिवलिङ्ग की स्थापना है। प्रत्येक शिवालिङ्ग में पद्य का एक-एक चरण है। पद्य का आरम्भ आधारस्थल की प्रथम-पंक्ति के मध्य से होत है। यहाँ तीन अक्षर रहते है जिनमें गतागत-पद्धति से मध्याक्षर तीन बार आवृत्त होता है। द्वितीय पंक्ति में एक अक्षर है। तृतीय पंक्ति पुनः मध्य में एक अक्षर और आस-पास एक-एक अक्षर वाली है जिसका पाठ प्रथम पंक्ति के सामान होता है लिङ्ग में एक अक्षर की स्थापना है। यही क्रम चारों लिङ्गों का है। इसका पद्य इस प्रकार है:—

महामते मन्त्रपते परंपद, विना विभुं विन्दति कोऽतिभूतिमान्।
कृपाकृते कृत्तयमाय मायते, नमो नमो नम्रहिते, हि पाहिमाम् ॥ वहीं ११२ ॥

इस पद्य में म, प, वि, ति, कृ, य, न, हि—ये अक्षर तीन-तीन बार आवृत्त हुए हैं।

६—नन्द्यावर्त-स्वस्तिक-बन्ध (सकर्णिकाक्षर)—उदयमाणिक्यगणि ने दो पद्यों से इस बन्ध की रचना की है। यह पर्याप्त विशाल स्वस्तिक है इसमें कई स्थानों पर मोड़ हैं।

एक दल में दो चरणों का समावेश रहता है, जिनमें छः अक्षर सन्धि कोणों में श्लिष्ट होते हैं। मध्याक्षर चारों दलों का एक ही रहता है और पद्य का आरम्भ भी वहीं से होता है। पद्य इस प्रकार हैः-

नव्यं मुक्तिपदं दरामतनुदं दत्तोल्लसत्सम्पदं,
भव्यं व्यक्तरवं वरामृतसुवं वर्यक्ष माभूधवम् ।
नन्द्यानन्दमयं यमोत्तमलयं यं प्रस्तनानाशयं,
विज्ञाज्ञानधरं रसासुखकरं रम्यं नमन्त्यादरम् ॥ १ ॥
नम्रानेकसुरं रमाकुलगृहं हंसप्रभाभास्वरं,
नित्यं त्यक्तमदं दयाख्यवसुधाधाराधराभं प्रभुम् ।
नन्द्यावर्तलसत्समुद्रसहितातास्राभचञ्चत्पदं,
नत्वा त्वां जनसंसदीहितमतं तत्त्वं समासादते ॥ चन्द्रप्रभस्वामिस्तवन २ ॥

यहाँ प्रतिपद्य के प्रथम और तृतीय चरण में ६-७, १२-१३ और १६-१७ संख्यक अक्षर तथा द्वितीय और चौथे चरण के २-३, ६-७ और १२-१३ संख्यक अक्षर आवृत्त हैं। तथा एक, तीन, पाँच और सातवें चरण का प्रथमाक्षर 'न' मध्याक्षर है।

७-नन्दिकावर्त-स्वस्तिक-बन्ध--अवतार कवि ने उक्त बन्ध की रचना की है। इसमें दल की रेखाएँ अतिविस्तृत एवं अनेकविध वक्रतापूर्ण है। पद्यारम्भ दल के बीच से होकर मध्य-कर्णिकाधार से मिलता हैं तथा चार अक्षर तक सीधे जाकर पुनः विपरीत पाठ होता है और शेष पाँच अक्षर दल के बाह्य भाग से पढ़े जाते हैं। पद्य इस प्रकार है :—

छिन्ते कार्यं भर्ग भयं कामद कालात्, चिन्तेयं मे मन्युममेयं जनयित्री ।
व्यङ्क्ते भालादग्निदलाभां तव दृष्टिं भुङ्क्ते नैतिं मन्दमतिं नैपुणतः किम् ॥
ईश्वरशतक ६४ ॥

इस बन्ध में पद्य के चारों चरणों का द्वितीयाक्षर 'ते' मध्याक्षर है। चार विदिक् कोणों में चारों चरणों के प्रथमाक्षर है तथा दिक्कोणों में प्रति चरण के तीन और चार संख्या वाले अक्षर हैं। प्रत्येक चरण का पाँचवा अक्षर विदिक्-कोण में आता है जो सातवाँ अक्षर भी होता है। तीसरा अक्षर नौवाँ अक्षर बनता है। शेष तीन अक्षर दल के तीन कोणों पर लिखे जाते हैं। मत्तमयूर छन्द में यह पद्य बना है।

८-नन्दिकावर्त-बन्ध (स्वस्तिक) —वहीं 'चण्डव्यष्टिप्रपात-दण्डक' छन्द में यही बन्ध दूसरे रूप में दिया गया है। इसका पद इस प्रकार है :-

स्थिरसुरवरसुप्रसादक्षमोपेत हा मोघमोहातपे मोक्षद त्वामजं,
दिवि भुवि च विभुं कृपा देशहीनाविमौ कालकामौ विनाहीश देहाङ्गदम् ।
जितरणगुणरत्न तौ रौरवीयाधिदौ माकिमादौ धिया वीररौद्रौ यतः,
किमु भवभवभङ्गदोषागते पाशवे साधु सावेशपाते गदा घ्नन्त्यलम् ॥ ८९ ॥

प्रस्तुत पद्य में चारों चरणों के आदिम दो अक्षर स्वस्तिक के दल मध्यस्थ बिन्दु स्थान पर रहते हैं तथा तीन और चार संख्या वाले अक्षर विलोम होकर छः और सात संख्या वाले अक्षर बन जाते हैं। दस से सोलह तक के अक्षर सत्रहवें को छोड़कर अठारह से चौबीस तक विलोम होकर पढ़े जाते हैं तथा अन्तिम तीन अक्षर मध्यकोण में कर्णिका के निकट स्थापित चारों बिन्दुओं में अंकित किये जाते हैं। यह पूर्वापेक्षा नवीन प्रकार है।

९-सर्वतोभद्र-स्वस्तिक-बन्ध–श्रीवासुदेवानन्द सरस्वती ने इस बन्ध का नवीन रूप सर्वतोभद्र के पद्य से दिया है यहाँ प्रतिदल में चार अक्षर रहते हैं जो विपरीत-पठन से आठ बनकर चरण-पूर्ति करते हैं। मध्य में कोई अक्षर नहीं रहता है। पद्य का स्वरूप निम्नानुसार है :–

साकारता तारकासा, कापि साररसाधिका।
रसाय मे मेयसार, तारमेय यमेरता॥

प्रतिपद के चार-चार अक्षरों की लोम-विलोमता ही इस बन्ध की चारुता है।

अन्यसम्भावनाएँ

मङ्गलमय-चित्रों के अधिकरण में प्रदर्शित बन्धों के अतिरिक्त भी कतिपय अन्य समानाकृति वाले बन्धों का निर्माण बन्धगत न्यूनाधिक पठन-पद्धति के परिवर्तन से सम्भव है। इन परिवर्तनों में छन्द परिवर्तन, श्लिष्टाक्षर के स्थान परिवर्तन, आकृतियों की लघुता अथवा दीर्घता, विशेष अङ्कन और पठन-पद्धति के परिवर्तन मुख्य हैं। प्रस्तुत शीर्षक में लेखक द्वारा निर्मित नवीन प्रकारों का प्रकटन एवं कतिपय अन्य सम्भाव्य सूचनों का उल्लेख किया जा रहा है। साथ ही अन्य भाषा में निर्मित नवीन बन्ध-प्रकारों के आधार पर संस्कृत में रचित नवीन बन्धों को भी संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

ओङ्कार-बन्ध (द्व्यक्षरकर्णिक)

इस बन्ध के पूर्व-दर्शित प्रकार में मौलिकता लाने की दृष्टि से लेखक ने अपने एक ग्रन्थ 'चित्रालङ्कार-चन्द्रिका' में इस बन्ध की योजना की है तथा बन्ध-रचना के लिये निम्न लक्षण प्रस्तुत किया है :—

मस्तकान् मध्य आगच्छेत्, ततो यायादधः पदे।
शुण्डायां च ततो गत्वा, ह्यर्धचन्द्रे समापयेद्॥ १॥
कर्णिकायां भवेद् वर्णौ, विलोम्ना तौ पठेत् पुनः।
द्वित्रिपादादिगौ स्यातांमोङ्काराकृतिचित्रके॥ २॥

इसके आधार पर पद्य का आरम्भ ओंकार के शिरोभागस्थ प्रथम दल से होकर मध्य के कर्णिकास्थान पर विरत होता है। दूसरे चरण के दो आरम्भाक्षर प्रथम चरण के दो अन्त्याक्षरों–जो कर्णिकास्थानीय हैं–से श्लिष्ट बनकर नीचे के दल में उतरते हुए चरण-पूर्ति करते हैं। तृतीय चरण के दो आरम्भाक्षर भी कर्णिकाक्षरों से श्लिष्ट हैं तथा शुण्डा में

यह चरण पूर्ण होता है। चौथा चरण अर्ध-चन्द्र और बिन्दु में लिखने से पूरा हुआ है। उदाहृत पद्य इस प्रकार है :—

संस्तौम्यहं दिव्यगुणाभिरामामाराधकायेप्सितसिद्धिदात्रीम् ।
मारारि-दैत्यारि-चतुर्मुखाद्यैर्ध्येयां धियां मातरमीश्वरीं ताम् ॥ १ ॥

इसमें प्रथम चरण के १०-११ संख्यावाले अक्षर 'रामा' कर्णिका में रहकर श्लिष्ट हुए हैं और वे द्वितीय, तृतीय चरणों के आरम्भ में विलोमरूप से पढ़े जाते हैं। पूर्वदर्शित ओंकार-बन्ध में स्थित बिन्दु में कोई अक्षर नहीं हैं, अर्धचन्द्र में कोई केवल एक अक्षर है तथा शुण्डा के मार्ग से पद्य का अवतरण होता है जो लेखन पद्धति के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। साथ ही शुण्डा में प्रवेश और निर्गम के समय पृथक्-पृथक् अक्षरों का पाठ होता है, जबकि अन्य पदों में नहीं। प्रस्तुत बन्ध को उपर्युक्त न्यूनताओं से बचाने का प्रयास किया गया है।

१–ओङ्कार-बन्ध-(त्र्यक्षरकर्णिक)— वहीं उपर्युक्त पद्धति में सामान्य परिवर्तन से एक और प्रकार इस बन्ध का दिया है, जिसका लक्षण इस प्रकार है :—

मध्यतो मस्तकं गच्छेत्, पुनर्गच्छेदधो दले।
शुण्डायां च ततो गत्वा चन्द्रे बिन्दौ प्रपूरयेत् ॥
कर्णिकाक्षरसंश्लेषात् त्रिवारं पठ्यते बुधैः।
ओङ्कारबन्धो नूत्नोऽयं, विदुषां मोददायकः।

इस दृष्टि से पद्य के तीनों चरणों का आरम्भ कर्णिकागत तीन श्लिष्टाक्षरों से होकर पूर्वापेक्षा नवीनता को प्रस्तुत करता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :—

सकलरिष्टहरं समरिष्टदं, सकलकाव्यकलासु धुरन्धरम् ।
सकलतीर्थयुतं सुखदं परं, वयमहो विनता विनताः स्म तम् ॥ २ ॥

इसमें **'सकल'** ये तीन अक्षर श्लिष्ट होकर तीन बार आवृत्त हुए हैं।

२–ओङ्कार-बन्ध-(एकाक्षर-कर्णिक)—क्रमाङ्क एक के प्रकार में कर्णिकाक्षर दो के स्थान पर एक अक्षर रखकर छन्दोभेद से निर्मित इसी बन्ध का यह उदाहरण भी नवीन प्रतीत होगा। यथा—

यतो विश्वं कृत्स्नं प्रसृतिमुपयातं च विपुलं,
लसन्नानाभावं नवनवविरावं विजयते ।
लयं यात्वा यस्यां विरमति चिरं तत्पदयुगं,
ललामं संस्तौमि प्रणवमयमूर्तेः सविनयम् ॥ गायत्रीलहरी ९९ ॥

इसमें 'ल' श्लिष्ट है। यह क्रमाङ्क एक के अनुसार निर्मित है किन्तु यहाँ कर्णिका में एक ही अक्षर श्लिष्ट रखा गया है।

इनके अतिरिक्त दल और शुण्डा में प्रवेश-निर्गम-पद्धति और श्लिष्टाक्षरों की योजना के किसी बड़े छन्द द्वारा भी नवीन रूप इस बन्ध का दिया जा सकता है।

कलश-बन्ध

मङ्गलकलशों के अनेक प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। जैनाचार्य नन्दिषेण के प्राकृत-स्तोत्र 'अजिय-सन्ति-थओ' की गाथा के अनुसार दो कलशों से बने इस बन्ध का एक उदाहरण लेखक ने अपने 'पत्रदूत-काव्य' के साथ प्रकाशित 'चित्रबन्धाष्टक' में दिया है, जिसका लक्षण निम्नानुसार है :—

फलादधः कुम्भमुपेत्य नीचैः, कुम्भस्य मध्याद् भ्रमणं प्रकुर्वन्।
कण्ठे प्रकुर्याद् विरतिं तथैवं, भागद्वयेनात्र पठेत् सुकुम्भे॥

इस आधार पर श्रीफल, प्रथम-कलश और द्वितीय कलश के एक भाग से होता हुआ पद्य का आधा भाग द्वितीय कलश के मध्य में प्रवेश करता है और निम्न भाग से होकर उसके एक भाग में भ्रमण करते हुए मध्याक्षरों में पूर्ण होता है। यही क्रम द्वितीय भागके द्वारा सम्पन्न होने पर पद्य के शेष दो चरण पूर्ण हो जाते हैं। इसमें प्रथम कलश के कण्ठ का एक अक्षर तथा द्वितीय कलश के मध्यभाग में स्थित छः अक्षर श्लिष्ट हैं। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :—

नमत बुधजना गुरुत्तमं, सकलसुखप्रभेदकमुत्तमम्।
भजत भुवि तमेव वित्तमं, सकलतमोहृतयेऽपि सत्तमम्॥

—चित्रबन्धाष्टक ६॥

इसमें पूर्वार्ध का तृतीयाक्षर **त** और १० से १४ तक के पाँच अक्षर **'तमं सकल'** श्लिष्ट हैं। यही पद्य दीपिका तथा वापिका-बन्ध में भी प्रयुक्त होता है जिनके चित्र परिशिष्ट में दिये हैं।

छत्र-बन्ध

छत्र के पूर्वदर्शित उदाहरणों से कुछ नवीन रूप वाला एक उदाहरण गुजराती भाषा में प्राप्त बन्ध के आधार पर संस्कृत में लेखक ने बनाया है, जिसका लक्षण इस प्रकार है :—

एकस्मात् कोष्ठकादेकादश कोष्ठावधि क्रमात्।
अधोऽधस्ताल्लेखयित्वा, छत्रं दण्डेन पूरयेत्॥

इसके अनुसार ऊपर से नीचे की ओर क्रम से एक से ग्यारह कोष्ठक तक छः पंक्तियों में अक्षर लिखे जाते हैं तथा मध्य-दण्ड के अक्षरों को श्लिष्ट बनाकर पुनः उनकी आवृत्ति-पूर्वक दो अक्षरों से दण्ड के अधोभाग में पद्य पूर्ण होता है। उदाहरण इस प्रकार है :—

तत्त्वं परं शोषकमंहसां यद्, बीजं च सौख्यस्य गुणैरमेयम्।
श्रीकृष्णतीर्थस्य गुरोर्वरीयः, सदैव तत्पत्कजमेव वन्दे॥ चि० चन्द्रिका॥

इसमें 'तत्पत्कजमेव' ये अक्षर मध्य में श्लिष्ट होकर दो बार पढ़े गये हैं। पूर्वबन्धों में पठन-पद्धति के अवतरणक्रम और इसके अवतरणक्रम में सामान्य भेद है।

तिलक-बन्ध (त्रिपुण्ड्र)

तिलक के कई प्रकार हैं। पूर्वक्रम में रामानुज-सम्प्रदाय के तिलक का बन्ध दिया है। शैव सम्प्रदाय में प्रचलित त्रिपुन्ड्र-बन्ध की रचना हम इस लक्षण के अनुसार कर सकते हैं।

आद्यमध्यान्त्यभागेषु, समानाक्षरयोजनम्।
अर्धार्धपद्ये यत्र स्यात्, त्रिपुण्ड्रं तदुदीरितम्॥ चि० च०।

इसके अनुसार इस बन्ध की आवृत्ति में पद्य के चारों चरणों को रेखा क्रम से लिखा जाता है तथा दो-दो चरणों में क्रमशः आदि, मध्य और अन्त के अक्षर श्लिष्ट होकर दो-दो बार आवृत्त होते हैं। उदाहरण इस प्रकार है :—

शशांकशीर्ष्णे परमेश्वराय, शर्मप्रदात्रे परवारकाय।
नमन्निलिम्पस्तुति-तोषिताय, नमः शिवास्तु जटाधराय॥ चि० च०॥

इसमें क्रमश: **'श-प-य-न-स्तु-य'** ये छः अक्षर श्लिष्ट हैं जो १-६-११ संख्यक हैं।

ध्वज-बन्ध (भारत-राष्ट्र ध्वज)

प्रस्तुत बन्ध की रचना लेखक ने निम्न लक्षण के आधार पर की है :—

वस्त्रस्य भागद्वितये पदत्रिकं, स्थाप्यं तथा येन पदाक्षरद्वयी।
पूर्वा भवेद् श्लेषयुताऽत्र दण्डके, तत्रैव शिष्टं विलिखेद् ध्वजस्य वित्॥
चि० च०॥

इसके अनुसार वस्त्र के तीन विभागों में तीन पद स्थापित किये जाते हैं और प्रत्येक के दो-दो अक्षर दण्ड में लिखे रहते हैं जो चौथे चरण में श्लिष्ट होकर दण्ड के अवतरण क्रम में पढ़े जाते हैं। पद्य इस प्रकार है:—

नन्दन्ति प्राणिवर्गाः प्रणतिततिपरा दर्शनेनैव येषां,
तीर्थावासस्य पुण्यं शिरसि पदरजोधारणात् प्राप्यते च।
यत्तिग्मं चापि कष्टं तदपि हि सकलं यत्कृपातो हतं स्याद्,
श्रीकृष्णानन्दतीर्थान् यतिवरचरणान् भक्तिस्तान् भजामि॥ वहीं॥

इसमें क्रमश: १-२-३ चरणों के आद्याक्षर **'न-ती-य'** श्लिष्ट होकर चौथे चरण में ४-६-८ संख्यक अक्षर के रूप में आवृत्त हुए हैं।

१—द्विपताका-बन्ध—गुजराती में काव्य-सरिता के रचयिता श्रीमहासुखभाई चुनिलाल द्वारा निर्मित इस बन्ध का अनुकरण लेखक ने संस्कृत में किया है, जिसका लक्षण इस प्रकार है—

यष्टिमध्ये तथोपान्त्ये, वस्त्रयोश्च यथोप्सितम्।
श्लिष्टाक्षरसमावेशाद्, द्विपताकाकृतिर्भवेत्॥ चि० च०॥

इसके अनुसार दोनों यष्टियों के मध्य में एक अक्षर, यष्टि के उपान्त्य भागों में तथा दोनों के वस्त्र में अभिरुचि के अनुरूप श्लिष्टाक्षरों का समावेश करने से द्विपताका-बन्ध की रचना होती है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है—

प्रथम-पताका—**सूर्यं प्रकाशतां रात्रौ, नभः स्याद् भूगतं नतम्।**
तथापि तं नरं रुच्या, सदा वामगसञ्चरम् ॥ १ ॥

मनसा प्रतिविघ्नाक्षं, भूमौ त्यक्तशुचस्ततिम्।
जनस्तुतं सत्यरतं, न तं प्रच्यावितुं क्षमः ॥ २ ॥

द्वितीय-पताका—**ज्वलनो हिमतां रातात्, सर्पो वमतु साहसात्।**
पीयूषं रञ्जनायालं, धियाऽऽक्रामतु विघ्नधीः ॥ ३ ॥

वाक्पतिं चाप्ययि त्र्यक्ष-मनस्कं निश्चितस्थलात्।
न जातु सात्त्विकं वीरं, पथश्चालयितुं क्षमः ॥ ४ ॥

इनमें प्रथम पद्य के प्रथम-चरण का सातवां अक्षर 'रा' तृतीय पद्य के प्रथम-चरण का सातवां अक्षर बना है। तथा **'भूगतं, स्तुतं प्रच्यावितुं क्षमः'** और **'जातु सात्त्विकं वीरं पथश्चालयितुं क्षमः'** ये अक्षर श्लिष्ट हैं जो प्रथम और द्वितीय पताका में द्वितीय और चतुर्थ चरणों में आदि के तीन-तीन अक्षरों को छोड़कर शेष अक्षरों की पूर्ति करते हैं।

उपर्युक्त बन्धों की पूर्ति के पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस साहित्य का विस्तार जितना किया जाय उतना ही कम होगा। धर्मों की विविधता, मङ्गलमय वस्तुओं की अनेकरूपता, प्रत्येक वस्तु की आकृतियों के भिन्न-भिन्न प्रकारों की रचना और कल्पनागत अनन्तता के कारण अभिनवरूपों का निर्माण सहज सम्भव है। भारतीय साहित्य-शास्त्र के इस आलङ्कारिक उपहार से काव्यगत विशेषताओं में श्रव्य के दोनों प्रकारों का एकत्र समावेश अवश्य ही सम्मान का भाजन है।

———

[द्वितीय-अधिकरण]

२-वनवैभवात्मक-चित्रबन्ध

कल्पना और प्रकृति का अद्भुत मिश्रण ही कविता का अन्तस्तत्त्व है। सभी कवियों ने प्रकृति की मनोरम मूर्ति आँकने में अपनी लेखिनी को स्फूर्तिमती बनाने का प्रयास किया है। प्रकृति के अनेक रूपों को चित्रबन्ध के अनुरागियों ने तूलिका-चित्रों के साथ-साथ शब्द-चित्रों में भी उतारा है, जिनका संक्षिप्त दर्शन हम इस शीर्षक में करेगें। प्रस्तुत शीर्षक

में आकृति-पूर्ण ऐसे चित्रबन्धों में 'कमल' के प्रति सर्वाधिक अनुराग प्रकट हुआ है। साथ ही वृक्ष, लता फल और अन्य पत्र-पुष्पों के चित्र भी इनमें अङ्कित हुए हैं। अतः इस साहित्य का परिचय हम 'वनवैभवात्मक-चित्र' के नाम से दे रहे हैं।

कमल-बन्ध और उसके पठन-प्रकार—संस्कृत के कवियों का झुकाव 'नेत्रकमल, हस्तकमल, चरणकमल' आदि पदों से स्पष्ट ही कमल के प्रति प्रेमाधिक्य का परिचायक है। चित्रबन्ध-साहित्य में कमलबन्ध के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। प्रत्येक कमल की आकृति में 'कर्णिका' और 'दल' ये दो वस्तुएँ महत्त्वपूर्ण हैं। कोई पद्य कर्णिका-स्थित अक्षर से आरम्भ होता है और दल में स्थित अक्षरों से मिल कर बार-बार पढ़ने से पूर्ण होता है तो कोई पद्य दल से आरम्भ होकर कर्णिका-स्थित अक्षर के साथ मेल करते हुए पढ़ने से पूर्ण होता है। कभी-कभी कर्णिका में दो अथवा इससे अधिक अक्षर भी लिखे जाते हैं तथा जो एक अक्षर लिखा जाता है वह बन्धपूर्ति के लिये विविध रूप में—सानुस्वार, सविसर्ग अथवा केवलाक्षर के रूप में—भी पढ़ा जाता है[1]। सन्धि के प्रभाव से उत्पन्न अर्धाक्षरों का उपयोग भी कवि की इच्छा पर निर्भर रहता है तथा ग्रहण और त्याग का क्रम भी कवि स्वतन्त्र रूप से निश्चित करता है। निम्न पठन-क्रम और अन्य विशेष पद्धतियाँ हमें यहाँ देखने को मिलेंगी :—

'अर्धभ्रम, गत-प्रत्यागत, बहिर्गत, अन्तःप्रविष्ट, सन्ध्यक्षर-समन्वित, प्रश्नोत्तररूप-उत्तराक्षर-निष्पन्न, द्वितीयाक्षरमध्यगत, प्रतिपदचतुरक्षर, प्रतिपद सप्ताक्षर, गतागत, पादादि, पादमध्य अथवा पादान्त्याक्षरश्लिष्ट, क्रमहीनावृत्ति और अन्तःपत्र-संयुक्त' आदि।

इनके अतिरिक्त स्पृष्ट-कर्णिक और अस्पृष्ट कर्णिक, इष्टाक्षर-सन्दृब्ध तथा नामाङ्क-संयुक्त विधाओं को भी इसमें स्थान मिला है। यहाँ आकृतिभेद में हमने पत्र संख्या की वृद्धि का क्रम अपनाया है और उसी क्रम से उपलब्ध कमल-बन्धों का विवेचन किया जा रहा है।

द्विदल कमल-बन्ध

'पद्यामृत-सरोवर' के चित्राख्यान-तरङ्ग में दो पत्र और कर्णिका से युक्त कमलबन्ध का स्वरूप प्राप्त होता है। इस बन्ध में चार अक्षर होते हैं जिन्हें क्रमशः दो अक्षर दो पत्रों में तथा दो अक्षर कर्णिका में लिखा जाता है। अतः इसे **'द्विदलं चतुरक्षरं कमलम्'** इस नाम से सम्बोधित किया गया है। पद्य इस प्रकार है :—

नन्दनन्दनमानन्दनतानन्दनमानदम्। नन्दतानन्दमानन्दमानतानननन्दनम्॥

१—कर्णिका में दो अक्षरों का आलेखन 'द्विदल-कमल-बन्ध' में हुआ है। 'शतदल-कमल-बन्ध' का कर्णिकाक्षर 'मं' है जो कई बार मः अथवा म के रूप में पढ़ा जाता है। जिनका विवेचन आगे किया गया है।

इस पद्य में 'नन्द, मा और ता' ये चार अक्षर हैं, जिनमें से 'नन्द' ये दो अक्षर कर्णिका में रहते हैं और शेष दो अक्षर 'मा' और 'ता' दो पत्रों में लिखे जाते हैं। कर्णिकाक्षरों से पद्य आरम्भ होता है किन्तु आवर्तन का क्रम सुनिश्चित नहीं है।

त्रिदल-कमल-बन्ध [निष्कर्णिकाक्षर]

वहीं उपर्युक्त पद्य में से एक अक्षर कम करके तीन दलों के एक कमल-बन्ध का उदाहरण दिया है। इस बन्ध में कर्णिका में कोई अक्षर नहीं लिखा जाता। केनल तीन अक्षर रहते हैं। अतः यह **'निष्कर्णिकाक्षर कमल-बन्ध'** माना जाता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :—

नन्दनन्दनमानन्दमादनं ननमादनम्। दमानमामानमानमानमानन्दमानदम्॥

यहाँ **'नन्द और मा'** ये तीन अक्षर प्रयुक्त हैं जो तीन पत्रों में अङ्कित होते हैं। यदि एक अक्षर कर्णिका में लिख दिया जाय तो यही पद्य द्विदलकमल-बन्ध का भी उदाहरण हो जाता है। इस बन्ध की आकृति में कर्णिका भाग नीचे और पत्रभाग कुछ ऊपर उठा हुआ रहता हैं। इसी बन्ध को **'विल्वपत्रबन्ध'** भी कहा गया है।

चतुर्दल कमल बन्ध

इस बन्ध का उदाहरण भी 'पद्यामृतसरोवर' में प्राप्त है तथा उसका लक्षण निम्नरूप में वतलाया है :—

एकं मध्ये चतुष्पत्रेष्वेकैकं वर्णमालिखेत्.
द्वात्रिंशदक्षरं पद्यं मिथो योगैर्यथा भवेत्॥
तथैव मेलनं कुर्यात् पद्मबन्धः शराक्षरः।

इसके अनुसार कर्णिका में एक अक्षर और चार पत्रों में चार अक्षर लिखकर इस रूप में पढ़ना चाहिये कि जिससे बत्तीस अक्षरों का पद्य बन जाय। यह पाँच अक्षरों वाला चतुर्दलकमलबन्ध है। ग्रन्थकार ने यहीं कहा है कि 'पञ्चवर्णं तदधिकवर्णं च' इससे ज्ञात होता है कि कहीं पाँच वर्ण और कहीं उनसे अधिक वर्णोंवाला भी यह बन्ध होता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :—

नन्दनन्दन तेन त्वं, नतेननननन्दन।
नतेन त्वं नतेनन्द, नन्दनं ननन न ते॥

इसमें 'नं' कर्णिकाक्षर है तथा 'द ते, त्वं और न' ये चार अक्षर चार पत्रों में लिखे गये हैं। आवृत्तिक्रम अनिश्चित है।

अ-चतुर्दल-कमल-बन्ध—उपर्युक्त उदाहरण पद्य का पठन क्रम एक निश्चित रूप में न होने से वहीं ग्रन्थकार ने निम्नलिखित पद्य लिखकर स्थिरक्रम का सूचन किया है—

मन्दं मन्दं मदं मन्दं, नन्दनन्दनदं नद। मन्दं मदं मदं मन्दं, चन्दचन्दचदं चद॥

इसमें मध्याक्षर 'दं' है तथा चार पत्रों में क्रमशः भं, नं, मं और चं' अक्षर स्थापित हैं। प्रतिचरण में प्रतिपत्र का अक्षर चार बार पढ़ा जाता है। सानुस्वार और अनुस्वार-रहित पठन से पद्य की पूर्ति की गई है।

१-चतुर्दल-कमल-बन्ध—सरस्वतीकण्ठाभरण 'में इस बन्ध का लक्षण यह दिया है—

कर्णिकातो नयेदूर्ध्वं, पत्राकाराक्षरावलीम्।
प्रवेशयेत् कर्णिकायां, पद्यमेतच्चतुर्दलम्॥ २-२६१॥

इसके अनुसार मध्य में एक अक्षर रहता है तथा प्रतिपत्र में पाँच-पाँच अक्षर रहते हैं। पद्यारम्भ कर्णिका से होता है और वहीं कर्णिकाक्षर प्रतिचरण का आरम्भ और अन्त्याक्षर बनता है। पहले चरण का दूसरा अक्षर चौथे चरण का सातवाँ अक्षर, दूसरे चरण का दूसरा अक्षर, पहले चरण का सातवाँ अक्षर, तीसरे चरण का दूसरा अक्षर, दूसरे का सातवाँ अक्षर तथा चौथे चरण का दूसरा अक्षर तीसरे चरण का सातवाँ अक्षर होता है। पद्य इस प्रकार हैं:—

सासवा त्वा सुमनसा, सा नता पीवरोरसा।
सारधामेति सहसा, साहसर्ध सुवाससा॥ २।२६१॥

इसमें 'सास' नसा, सान, रसा, सार, हसा, साह, ससा, अक्षर आवृत्त है। मध्याक्षर 'सा' आठ बार आवृत्त हुआ है।

१—**चतुर्दल कमल-बन्ध** इसी पद्धति में कुछ नवीता लाने के लिये नमिसाधुने तिम्न वसन्ततिलका छन्द में निर्मित पद्य दिया हैः—

या पात्यपायपतिता नवतारिताया, यातारिता वपति वाग्भुवनानि माया।
या मानिना वपतु वो वसु सा स्वगेया, यागे स्वसा सुररिपोर्जयपात्यपाया॥ काव्या० पृ०५६।

इस पद्य में 'या' मध्याक्षर है जो आठ बार आवृत्त है तथा चार-चार अक्षर लोम-विलोम पठित हैं। पूर्व पद्य में पत्र का एक अक्षर ही आवृत्त होता है जबकि इसमें चार-चार अक्षर आवृत्त होते हैं[१]।

२-चतुर्दल-कमल-बन्ध— चरणमध्य—गतप्रत्यागत-पञ्चमवर्ण से बने हुए इस बन्ध पत्र से पद्यारम्भ होता है तथा मध्याक्षर की आवृत्ति तेरह बार होती जबकि पत्र के अक्षरों की आवृत्ति क्रमशः चार, नौ तथा तीन-तीन बार होती है। पद्य इस प्रकार हैः—

बियातया यातया वि, यातयात, तया तया।
तयाविनो नो वियात, यातनो न नया नया॥ पद्यामृतसरोवर॥

१—यह पद्य काव्यालङ्कार' में अष्टदल कमल-बन्ध के उदाहरण के रूप में दिया गया है, किन्तु नमिसाधु का कथन है कि यह चतुर्दल-कमल ही है-इदमष्टदलं पद्यमिति पूर्वे भणन्ति तन्न सम्यग् बुध्यते। चतुर्दलं तु बुध्यते। इत्यादि। देखो पृ ५०६

इसमें मध्याक्षर 'या' है तथा गत-प्रत्यागत पद्धति से पठन हुआ है।

३-चतुर्दल-कमल-बन्ध—चार पत्र वाले कमल के पत्रों में चार पत्र और छोटे रख कर एक अन्य प्रकार का उदाहरण निम्न पद्य से प्राप्त होता है:—

इस पद्य का प्रथमाक्षर 'स' कर्णिका में रहता है, जो आठ बार आवृत्त होता है तथा प्रतिलघुपत्र में प्रतिचरण के दो बार तीन संख्या वाले अक्षर रहते है जो लोम-विलोम पद्धति से पढ़े जाते हैं।

सरदे क्रीडकावास, सवाकामस्य सारसा।
सरसा गोपिकावास, सवाकाजानदेरस॥

४-चतुर्दल-कमल-बन्ध—प्रश्नोत्तर द्वारा भी इस बन्ध की सृष्टि हुई है। जिनवल्लभसूरि ने इसका पद्य यह दिया है:—

प्राह द्विजो गजपतेरुपनीयते का ? पात्री प्रभुश्च जिनपङ्क्तिरवाचि कीदृक्।
कीदृग् विधेह वनिता नृपतेरदृश्या ? प्रस्थास्नु विष्णुतनुरक्षत कीदृशी च ॥प्रश्नशत २६।

इसमें पूछे गये प्रश्नों के उत्तर क्रमशः **विप्र, विद्या, विना,(ऊ+इना) विग्रा और विप्रधानाग्रा** इन शब्दों से दिये गये हैं। इन शब्दों का प्रथमाक्षर **'वि'** कर्णिका में लिखकर शेष चारों पत्रों में लिखने से यह बन्ध पूर्ण होता है।

५-चतुर्दल-कमल-बन्ध—चित्रकवि दामोदर शास्त्री ने इस बन्ध का एक सरल पद्य देते हुए उसका लक्षण यह दिखलाया है:—

कर्णिकायां तु सर्वेषां, पदानां विरतिर्भवेत्।
एकार्थद्योतकाः शब्दाः, पद्येष्वष्टदलादिषु॥ चित्रबन्धकाव्य।

इसके अनुसार इस बन्ध में कर्णिकाक्षर चारों चरणों का अन्तिम अक्षर-जो श्लिष्ट होकर चार बार आवृत्त होता है-रहता है। शेष पूर्वाक्षर एक-एक पत्र में लिखे जाते हैं। उदाहरण पद्य इस प्रकार है:—

नमामि विष्णो ! पदपङ्कजं सदा, स्मरामि तेऽहं नखरञ्जनं हृदा।
रटानि गाढ़ं तव नाम सर्वदा समर्पये मत्सकलं पदे मुदा॥ वहीं १३॥

इसमें 'दा' अक्षर श्लिष्ट होकर चार बार पढ़ा गया है।

६-चतुर्दल-कमल बन्ध—श्रीमद्भागवत में दशमस्कन्धस्थ रासपंचाध्यायी के कुछ पद्यों के चित्रबन्ध डा० रसिकबिहारी जोशी ने प्रकाशित किये हैं। उनमें इस बन्ध का नवीनरूप बतलाया गया है। उदाहृत पद्य के प्रतिचरण का दूसरा अक्षर जो कि श्लिष्ट रहता है, वह-कर्णिका में लिखा जाता है शेष चारों चरणों चारों पत्रों में लिखे रहते हैं

किन्तु प्रतिचरण का प्रथमाक्षर अन्य चरण वाले पत्र से पूर्व में रहता है, यह उसकी विशेषता है। उदाहरण पद्य यह दिखलाया गया है:–

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम्
घनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर ! यच्छसि ॥ ३। १२ ॥

इसमें 'न' अक्षर श्लिष्ट होकर चार बार आवृत्त हुआ है।

षड्दल-कमल-बन्ध

इस बन्ध का एक उदाहरण कृष्णभट्ट कवि ने दिया है। इस बन्ध के छः पत्रों में छः अक्षर हैं तथा कर्णिका में एक अक्षर निहित है। पत्रों के अक्षरों की आवृत्ति तीन-तीन बार होती है और कर्णिकागत अक्षर की चौदह बार आवृत्ति होती है। पद्य का अन्तिम चरण कर्णिकाक्षर से आरम्भ होकर छहों पत्रों में घूमता है तथा पुनः कर्णिका में ही समाप्त होता है। पद्य इस प्रकार है:–

रसासार रसातार, रमासार रसं सर।
रसं सर रभभर रसातामास संभर ॥ चित्रभूषण।

इसमें 'र' अक्षर कर्णिका में है तथा **सा, ता, मा, सं, सं भ**, ये छः अक्षर पत्रों में स्थित हैं जिनकी आवृत्ति तीन-तीन बार हुई है। यह लोम-विलोम पद्धति को भी आवर्जित करता है किन्तु क्रम नहीं होने से एक-वाक्यता नहीं आपाई है। इसी पद्य को **'षट्कोण बन्ध'** का भी उदाहरण बतलाया है।

१-षड्दल-कमल-बन्ध–रामरूप पाठक ने इस बन्ध का नवीन रूप प्रस्तुत किया है, जिसका न्यास-प्रकार यह दिया है :–

कर्णिकातः समारभ्य, कर्णिकायां समापयेत्।
षट्सु पर्णेषु वृध्देषु, लघुपर्णेषु षट्सु च ॥

इस साधार पर प्रति पत्र-सन्धि में एक-एक अक्षर तथा पत्रों में तीन-तीन अक्षर हैं जो कर्णिकागत अक्षर के साथ आद्यन्त में सम्बद्ध होते हैं। पद्य इस प्रकार है:–

मालिनी रमोत्तमा, मात्तभीः प्रियादिमा।
मादिजा क्षमासमा, मासना शुभागमा ॥
मागधी सुनिर्ममा, सामवेज्ज्यालिमा। चित्रकाव्य-कौतुक–पृ० ५२ ॥

इस पद्य का प्रथमाक्षर **'मा'** कर्णिका में स्थित है तथा अक्षर गतागत-रूप में पढ़ा जाता है। यह पद्य चामरवृत्त में निर्मित है।

२-षड्दलकमल-बन्ध–इसी कवि ने प्रस्तुत बन्ध को और भी विस्तृत बनाकर एक बड़ा कमल और एक छोटा कमल इन दोनों के मिश्रण से नवीन रूप उपस्थित किया है और न्यास-प्रकार ऊपर बताये लक्षण के अनुसार ही माना है। तदनुसार कर्णिका और

लघु पत्रों का रूप ऊपर लिखा हुआ ही है किन्तु बाहर के अन्य बड़े छः पत्रों में लिखित दो-दो अक्षर तथा प्रतिपत्र के शिरोभाग पर लिखित एक-एक अक्षर के साथ पढ़े जाने पर अन्य छन्द में निर्मित पद्य बन जाता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है:–

मालिनी रघुवरप्रियाऽऽदिमा, मात्तमीः प्रियरसा क्षमासमा।

मादिजा क्षरदया शुभागमा, मासना शुचिजया सुनिर्ममा॥

मागधी सुघनदाऽजमालिमा, मामवेज्जनकजा रमोत्तमा।

इस पद्य का प्रथमाक्षर '**मा**' कर्णिका में निहित है तथा पठनक्रम बाहर के पत्रों की रेखा के आधार पर रखा गया है। अतः उपर्युक्त पद्धति से पठन हुआ है। प्रतिपत्र के शिरोभाग पर लिखे हुए अक्षरों से '**वरदजनक**' अङ्कन हुआ है। अतः इस बन्ध को साङ्क कहते हैं[1]।

अष्टदल-कमल-बन्ध—इस बन्ध का उल्लेख रुद्रट ने 'या पात्यपाय' इत्यादि चतुर्दल-कमल-बन्ध के पद्य से किया है। किन्तु टीकाकार नमिसाधु ने उसका खण्डन करके उसे चतुर्दल-कमल-बन्ध ही सिद्ध किया है। अग्निपुराण में कमल-बन्धों के प्रकार-निर्देशन में अष्टपत्र का उल्लेख अवश्य है किन्तु कोई उदाहरण नहीं दिया है। अतः सर्वप्रथम 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पृ० २७२ में इस बन्ध का लक्षण इस प्रकार मिलता है—

कर्णिकायां न्यसेदेकं, द्वे द्वे दिक्षु विदिक्षु च।

प्रवेश-निर्गमौ दिक्षु, कुर्यादष्टदलाम्बुजे॥

इसके अनुसार मध्य कर्णिका में एक अक्षर तथा प्रतिपत्र में दो-दो अक्षर रहते हैं, जो कर्णिकाक्षर से आरम्भ होकर द्वितीय पत्र में जाते हैं। जब कि वहाँ से आगे कर्णिकाक्षर का स्पर्श किये बिना ही तीसरे पत्र में पहुँचकर फिर कर्णिकाक्षर पढ़ा जाता है। अतः चारों दिशा के पत्रों में कर्णिकाक्षर समन्वय तथा प्रवेश-निर्गम होता है और विदिशा के पत्रों में केवल पाठ मात्र होता हैं, कर्णिका-समन्वय नहीं। उदाहृत पद्य इस प्रकार है—

या श्रिता पावनतया, यातनच्छिदनीचया।

याचनीया धिया माया, या माया संस्तुता श्रिया॥ वहीं॥

इसमें '**या**' अक्षर कर्णिका में हैं तथा उसका प्रतिचरण के २-३ और ६-७ संख्या वाले अक्षरों के साथ लोम-विलोम पाठ हुआ है। यह 'देवीशतक' का चौथा पद्य है।

१- **अष्टदल-कमल-बन्ध**—वहीं इस बन्ध का दूसरा रूप बनाने के लिये यह लक्षण बतलाया है :—

अष्टधा कर्णिकावर्णः पत्रेष्वष्टौ तथा परे।

तेषां सन्धिषु चाप्यष्टावष्ट-पत्रसरोरुहे॥

इसके अनुसार आठ पत्रों के आठ अक्षर कर्णिकागत अक्षर के साथ मिलाकर पढ़े जाने से आधा श्लोक बन जाता है तथा उन्हीं पद्यों के आठ अक्षरों को पुनः सन्धिगत पत्रों

१— दामोदरशास्त्री ने 'चित्रबन्ध-काव्य' में पड्दल-कमल-बन्ध का एक रूप और दिया है। किन्तु वह 'षडरचक्र-बन्ध' का ही रूप है। अतः वहीं इस पर विचार किया जायगा।

के अक्षरों के साथ मिलाने से आधा श्लोक बन जाता है। इस प्रकार अष्टदल के साथ ही आठ सन्धि-पत्र भी इसमें बनाये जाते है किन्तु विशेषता यह है कि सन्धि के पत्रों में एक ही अक्षर को आठ बार पृथक्-पृथक् लिखा गया है। पद्य इस प्रकार है—

चरस्फारवरक्षारवरकारगरज्वर। चलस्फालवलक्षल्लवलकालगलज्वल ॥ वहीं ॥

इस पद्य के **'च-स्फा-व-क्षा-व-का-ग-ज्व'** ये आठ अक्षर पत्रों में लिखे गये हैं। **'र'** कर्णिका' में तथा **'ल'** सन्धिपत्रों में लिखित है। यदि **'र'** और **'ल'** में साम्य माना जाय तो केवल आठ पत्रों के कमल से भी यह बन जाता है।

२-अष्टदल-कमल-बन्ध—कमल-बन्ध जाति के नाम से 'कूटप्रपञ्च' काव्य-संग्रह में उपर्युक्त प्रकार में कुछ संशोधन करते हुए नवीन प्रकार दिया है। इसकी विशेषता यह है कि सन्धि-पत्रों में एक ही समानाक्षर **'न'** लिखकर विभिन्न अक्षर लिखे गये हैं। पद्य इस प्रकार है—

कदा कर्मकरो कस्मात्; कदं कल्पं कटेः करम्।
सदा शर्मकरो ह्यस्मात्, पदं नाल्पं कटेदरम् ॥

इसमें कर्णिकाक्षर 'क' है तथा एक-एक अक्षर कर्णिकाक्षर के अतिरिक्त आठ पत्रों में रहते हैं जिनसे आधा पद्य बन जाता है। सन्धिपत्रों में तृतीय और चतुर्थ चरण के २-४-६-८-१०-१२-अक्षर क्रमशः लिखकर प्रधान पत्राक्षरों के साथ पढ़ने से पद्य पूर्ण होता है। इस बन्ध में १४ और १६ संख्या वाले 'गोमूत्रिका-बन्ध' की पठन-पद्धति का अनुसरण हुआ है।

३-अष्टदल-कमल-बन्ध—वहीं तीसरे प्रकार का लक्षण यह दिया है—

प्राक् कर्णिकां पुनः पर्णं पर्णाग्रं पर्णकर्णिके।
प्रतिपर्णं व्रजेद् धीमानिह त्वष्टदलाम्बुजे ॥

इस दृष्टि से कर्णिका में एक अक्षर तथा आठ पत्रों में दो-दो अक्षर रहते हैं और वे लोम-विलोम पद्धति से पढ़े जाते हैं। उदाहरण का पद्य इस प्रकार है—

न शशीशनवेभावे, नमत्कामनतव्रत।
नमामि माननमन, ननु त्वानुनयं नयम् ॥

इसमें 'न' कर्णिकाक्षर है तथा शेष कर्णिकानिकटस्थ अक्षर लोम-विलोम पठित हैं क्रमाङ्क एक के बन्ध से इसमें यह विशेषता है कि यहाँ सभी पत्रों में कर्णिका के निकट के अक्षर द्विरावृत्त होते हैं जब कि वहाँ केवल चार दिक्पत्रों में आवृत्ति होती है और वह भी दोनों अक्षरों की।

४-अष्टदल-कमल-बन्ध—'काव्यप्रकाश' की विवेक टीका में इस बन्ध का नया प्रकार दिया है जिसमें कर्णिकाक्षर में पद्य आरम्भ होकर प्रथम पत्र से निर्गम और द्वितीय पत्र से प्रवेश होता है। इसमें एक, तीन, पाँच और सात संख्यावाले पत्र कर्णिकाक्षर से

आरम्भ होते हैं और उन्हीं पत्रों के अक्षर गतागत-पद्धति से पढ़े जाते हैं जब कि दो, चार, छः और आठ संख्यावाले पत्रों के अन्त में कर्णिकाक्षर रहता है। प्रथम संख्या के बन्ध से इसकी विशेषता यह है कि वहाँ विदिग्दलों में कर्णिकाक्षर नहीं आता। पद्य इस प्रकार है—

भासते प्रतिभासार ! रसाभाताहताविभा।
भावितात्मा शुभा वादे, देवाभा बत ते सभा॥ पृ० ३२१॥

इसमें 'भा' कर्णिका में लिखित है तथा प्रति-पत्र में दो-दो अक्षर है उपर्युक्त पद्धति से पठित हैं।

५-अष्टदल-कमल-बन्ध—'चित्रभूषण' में ऊपर कही गई रीति के अतिरिक्त कुछ नवीन प्रकार और भी इस बन्ध के लिये दिये गये हैं। एक नवीन प्रकार के अष्टदल-कमल बन्ध की न्यासविधि यह बतलाई है—

कर्णिकायां न्यसेदेकं, पर्णौ द्वौ न्यस्य कर्णिकाम्।
अष्टपत्राम्बुजे धीमान्, व्रजेदेवं पुनः पुनः॥

इस लक्षण के अनुसार कर्णिका में एक अक्षर तथा प्रतिपत्र में दो-दो अक्षर लिखे जाते हैं। पद्य का आरम्भ कर्णिकाक्षर से होता है तथा प्रतिपत्र के अक्षरों के आदि और अन्त में कर्णिका वाला अक्षर सम्पुटित करते हुए पढ़ा जाता है। उदाहरण का पद्य इस प्रकार है—

नभोवननदीपीननलिनाननलोचन।
न नौमि न नया नूनं, नमं मननतं जन॥

इसमें 'न' अक्षर कर्णिका में तथा शेष दो-दो अक्षर क्रमशः आठ पत्रों में लिखे जाते हैं।

६-अष्टदल-कमल-बन्ध—वहीं अन्य प्रकार से इस बन्ध की निर्माण-विधि का सूचन निम्नरूप में किया है—

प्राक् कर्णिकां पुनः पर्णं, पर्णाग्रं चेद्दशीं क्रियाम्।
प्रतिपर्णं पुनः कुर्यादिह त्वष्टदलाम्बुजे॥

इसके अनुसार कर्णिका में एक अक्षर, पत्र में एक अक्षर और पत्र के अग्रभाग पर एक अक्षर लिखा जाता है। कर्णिकाक्षर से पद्य आरम्भ करके प्रतिपत्र के दो-दो अक्षरों के पश्चात् पुनः कर्णिकाक्षर पढ़ा जाता है। इस रीति से पद्य के तीन चरणों की पूर्ति हो जाने पर आठों पत्रों के अग्रभाग पर स्थित आठ अक्षरों से चौथा चरण बनता है। उदाहृत पद्य इस प्रकार है—

वकेशवशश्रृणवर्वरावन्तं सुवरपल्वम्।
मामावर्धनवं रक्षः, केशवन्तं रमारधरम्॥

इसमें कर्णिकाक्षर 'व' है तथा प्रथम, द्वितीय और तृतीय चरणों के अन्य दो-दो

अक्षर क्रमशः दल और दलाग्र में निहित हैं। 'केशवन्तं रमाधरम्' यह चौथा चरण दलाग्रस्थित अक्षरों से बना है। यह बन्ध निश्चित पद-प्राप्ति को ध्यान में रखकर बनाया जाने के कारण 'साङ्क' कहा जाता है।

७-अष्टदल-कमल-बन्ध—वहीं उपर्युक्त पद्धति में परिवर्तन करके अन्य प्रकार उपस्थित किया है। तदनुसार पूर्वोक्त पद्य दलाग्र अक्षरों से चौथे चरण का निर्माण किया गया है किन्तु यहाँ वैसा न करके दलाग्र अक्षरों से ही पहला चरण बनाया है। अन्य सभी प्रकार ऊपर कहे अनुसार ही है। इसका उदाहरण निम्न पद्य से दिया है—

केशवं तं नमामीशं, न केशनशनं नवम्।
धनतन्वाननमनं, मानिनं मीनिनः शपम्॥

यहाँ 'केशवं तं नमामीशं' ये दलाग्रस्थित अक्षर हैं तथा कर्णिका में न अक्षर लिखा जाता है। शेष रीति पूर्ववत् है।

८-अष्टदल-कमल-बन्ध—दिगम्बर सम्प्रदाय के गुणभद्रकीर्ति ने अपने 'चित्रबन्ध-स्तोत्र' में इस बन्ध का अन्य प्रकार दिया है तथा प्रतिपत्र में तीन-तीन अक्षर हैं और इन्हीं तीन-तीन अक्षरों के बाद का चौथा अक्षर कर्णिकाक्षर होता है। पद्य इस प्रकार है—

पद्माभेन धृतो येन, समयो नयपावनः।
स्वर्लोकेन कृतामानः, पूयाज्जिनः स नो मनः॥ ७॥

इसमें 'न' अक्षर आठ बार श्लिष्ट हुआ है। शेष अक्षर पत्रों में अङ्कित हैं।

९-अष्टदल-कमल-बन्ध—'चित्रभूषण' में कर्णिका में दो अक्षर, दिक्-पत्रों में दो-दो अक्षर तथा विदिक्-पत्रों में एक-एक अक्षर वाले अष्टदल-कमल-बन्ध की भी योजना की है। जिसका लक्षण यह दिया है—

कर्णिकायां न्यसेद् वर्णौ, पर्णे पर्णे च तद्युगे।
पादस्याद्यान्त्ययोरैक्यं, मध्ययोश्चाष्टपत्रके॥

इसके अनुसार उदाहरण पद्य यह दिया है—

सरस्तार रसध्वंस, सदाविररसारस।
रसत्तीर रसद्धास, रसभावरसल्लस॥

इस पद्य के आरम्भ के दो अक्षर **'सर'** कर्णिका में रहते हैं तथा दिक्पत्रों में क्रमशः **'स्तार, दावि, तीर, और भाव'** ये शब्द लिखे जाते हैं। विदिक्पत्रों में क्रमशः **ध्वं, सा, द्धा, और ल्ल'** ये अक्षर लिखने पर उपर्युक्त पद्य पूर्ण होता है।

१०-अष्टदल-कमल-बन्ध—वहीं इसी नवीन पद्धति का आश्रय लेकर दिक्पत्रों में दो-दो अक्षर तथा विदिक्पत्रों में एक-एक अक्षर के योग से भी इस बन्ध को प्रस्तुत किया है, जो इस पद्य द्वारा प्रस्तुत है—

रक्ष राम महासार, रसाहार रसाजर ।
रजसा ततसंसार, रसासह हराक्षर ॥

इसमें **'र'** अक्षर कर्णिका में, **'क्षरा, साहा, जसा और सासं'** ये शब्द दिक्पत्रों में तथा **' म, र, त, ह'** ये अक्षर विदिक्पत्रों में स्थापित हैं। विदिक्पत्रों के अक्षर द्विरावृत्त होते हैं तथा दिक्पत्रों में क्रमशः निर्गम और प्रवेश होता है जो कर्णिकाक्षर के पश्चात् विलोम भी पढ़े जाते हैं।

११-अष्टदल-कमल-बन्ध— शृङ्खला-पद्धति से पढ़े जाने पर नवीनरूप को उपस्थित करने वाले इस बन्ध का भी एक प्रकार 'चित्रभूषण' में प्राप्त है। जिसमें कर्णिकाक्षर के अतिरिक्त एक गोल आकार की कर्णिका और बनाई जाती है तथा उनके बाहर आठ पत्रों के आधे-आधे भाग रहते हैं। द्वितीय कर्णिका में दो-दो अक्षर तथा पत्रों में एक-एक अक्षर लिखा जाता है। पद्यारम्भ पत्र के अक्षर से करते हुए वाम-भाग की द्वितीय कर्णिका में प्रविष्ट होते हैं तथा वहाँ के दोनों अक्षरों को पढ़कर प्रथम कर्णिकाक्षर पढ़ा जाता है जो द्विरावृत्त होता है। तदनन्तर द्वितीय कर्णिका के दो अक्षर और दूसरे तथा तीसरे पद्य के अक्षर से योग करते हुए पुनः पूर्ववत् प्रवेश होता है। उदाहरण पद्य निम्नलिखित है—

वभ्रश्यामभवच्यावि, रक्षोन्धमरार्चितम् ।
नमस्याय महास्थेम, रामनाम महो मलम् ॥

इस पद्य में **'म'** प्रथम कर्णिकाक्षर है, द्वितीय कर्णिका जो पत्रों के आधार पर आठ भागों में विभक्त हैं उनमें 'भ्रश्या' आदि दो-दो अक्षर हैं तथा बाहर पत्रों में **'अ वि रतं नमरालं'** ये आठ अक्षर लिखे जाते हैं।

१२–अष्टदल-कमल-बन्ध (कविनामाङ्क)—'सरस्वतीकण्ठाभरण' में उक्त बन्ध की न्यास-पद्धति यह बतलाई है :—

निविष्टाष्टदलन्यासमिदं पादार्थभक्तिभिः ।
अस्पृष्टकर्णिकं कोणैः, कविनामाङ्कमम्बुजम् ॥

इसके अनुसार बड़े आठ पत्रों में छोटे आठ पत्र रहते हैं जिनके आस-पास कोणों में तीन-तीन अक्षर शिरोभाग पर तीन-तीन अक्षर रहते हैं। कर्णिकाक्षर से पद्य आरम्भ होता है जो कोणाक्षर से निकल कर शिरोभाग के अक्षरों के साथ पुनः अग्रिम कोणाक्षरों के साथ प्रवेश करता है। कर्णिका के निकट का अक्षर दो बार और श्लिष्ट होता है तथा वह कर्णिका के अक्षर का स्पर्श किये बिना ही बाहर निकल कर पूर्व-पद्धति का अनुसरण करता है। इस प्रकार दिग्दलों के सन्धि-कोणों में बार-बार कर्णिकाक्षर का स्पर्श होता है तथा सभी कोणाक्षर लोम-विलोम पद्धति से पढ़े जाते हैं। पद्य इस प्रकार है :—

रातावद्याधिराज्या विसररसविद्व्याजवाक्क्ष्मापकारा,
राका पक्ष्माभशेषा नयनननयनस्वाखया स्तव्यमारा ।

रामास्तव्यस्थिरत्वा तुहिननहितुः श्रीःकरक्षारधारा,
राधा रक्षाऽस्तु मह्यं शिवममवशिमव्यालविद्यावतारा ॥
(द्वि० परि० पृ० २७५ श्लो० २६४)

यहाँ रा कर्णिकाक्षर है। रेखाङ्कित अक्षरों में लोम-विलोमता है तथा **'राजशेखर-कमल'** यह कविनामाङ्क निहित है।

३–अष्टदल-कमल-बन्ध–उपर्युक्त लेखन प्रकार में कुछ विशेषता लाकर अन्य प्रकार के अष्टदल-कमल-बन्ध की रचना भी चित्रभूषणकार ने बतलायी है। जिसमें तीन वृत्तों में कर्णिकाएँ बनाई हैं। प्रथम कर्णिका में एक अक्षर, द्वितीय तथा तृतीय कर्णिकाएँ–जो कि पत्रों के अनुसार आठ विभागों में विभक्त हैं–उनमें एक-एक अक्षर, उनके बाहर आठ लघु पत्रिकाएँ–जो कि प्रत्येक बीच से आधी-आधी विभक्त होकर सोलह भेदवाली बन जाती हैं–उनमें भी एक-एक अक्षर की स्थापना की जाती है। इन लघुपत्रिकाओं के बाहर बड़े आकार के आठ पत्रों में एक-एक अक्षर और उन पत्रों के सन्धिस्थल में भी एक-एक अक्षर अङ्कित रहते हैं। इस बन्ध का पद्य यह प्रस्तुत किया है :–

साकतत्राणवेलाजनिततत निजप्राङ्कणश्रीप्रभा सा,
साभाप्रश्रीरटव्यामियममयमित्यापद्वुच्छेदि लासा।
सालादिच्छेदितिग्माहवरुरुवहह्लीकरस्यामरा सा,
सा रामस्यांघ्रिमभ्याजति ननतिजस्थूलमुत्त्रातके सा ॥

इस पद्य का आद्यन्ताक्षर **'सा'** कर्णिका में हैं। वहीं से पद्य का आरम्भ होकर वह निर्गम पद्धति से दो कर्णिका और लघुपत्रिका के दोनों अक्षरों को साथ लेकर बड़े पत्र के सन्ध्यक्षर से सम्बन्ध करता है। वहाँ से अग्रिम बड़े पत्र में स्थित अक्षर को ग्रहण करता हुआ प्रवेश-पद्धति से बड़े पत्र तथा लघुपत्रिका एक-एक अक्षर के साथ तृतीय कर्णिका के एक अक्षर तक पहुंचता है। द्वितीय कर्णिका का अक्षर यहाँ एक साथ तीन बार पढ़ा जाता है, जो यहाँ प्रथम कर्णिका का स्पर्श किये बिना ही निर्गम पद्धति से दोनों कर्णिकाओं के पूर्व पठित अक्षरों को लेता हुआ लघु-पत्रिका के अन्य एक अक्षर को ग्रहण करता है। वहाँ से बड़े पत्र के सन्ध्यक्षर तक पहुंचता है। इस प्रकार निर्गम, प्रवेश, त्याग और ग्रहण तथा भ्रमण की पद्धतियों से निर्मित यह बन्ध क्लिष्ट होते हुए भी 'चित्र-पाठ पद्धति' के कारण महत्त्वपूर्ण है। साथ ही बड़े पत्रों के सन्धिस्थानों में लिखित अक्षरों से **'वेङ्कटपति-कमल'** यह अङ्कन भी प्राप्त होता है।

१४–अष्टदल-कमल-बन्ध (सनाल)—'पद्यामृत-सरोवर' में अष्टदल-कमल को नाल सहित लिखने का नया उपक्रम किया है। प्रतिपत्र में तीन-तीन अक्षर रहते हैं तथा प्रति-चरण का चार, आठ और बारह संख्यावाला वर्ण कर्णिकाक्षर बनता है। यह तृतीय चरण केआठवें अक्षर तक चलता है। शेष चार अक्षर और चतुर्थ चरण नाम में लिखे जाते हैं। पद्य इस प्रकार है –

नमोऽस्तु ते रावणतेजसायुते, यातूद्धते राघवतेजसैधिते ।
मुनिव्रते नष्टसुतेव लङ्किका, निकुम्भिलाऽभ्याशगता न शोभते ॥

इसमें 'ते' कर्णिकाक्षर है, जो आठ बार आवृत्त हुआ है ।

१५–**अष्टदल-कमल-बन्ध (नाल तथा पत्रद्वय सहित)**–वहीं उपर्युक्त पद्धति में दो पत्र और नाल के साथ जोड़ कर कुछ नवीनता प्रदर्शित की गई है । दो पत्रों के बीच का अक्षर श्लिष्ट है तथा चौथे चरण का अन्तिम अक्षर भी श्लिष्ट होकर दसवें अक्षर में पूर्ण होता है । पद्य इस प्रकार है :–

शमोऽस्तु ते रावणतेजसा युते, यातूद्धते शाक्रकृते विमोहिते ।
धुरं यते राघवतेजसाञ्जसा, शराजयाशाविधुरा न रेजिरे ॥

यहाँ भी 'ते' कर्णिकाक्षर आठ बार आवृत्त हुआ है तथा 'सा' और 'रे' श्लिष्ट हैं ।

१६–**अष्टदल-कमल-बन्ध (स्थान और नामाङ्क सहित)**–चित्रकवि दामोदरशास्त्री ने उपर्युक्त पद्धतियों में कुछ परिवर्तन करते हुए अन्य अष्टदल-कमल-बन्धों की रचना की है । एक नवीन पद्धति का लक्षण यह दिया है :–

कर्णिकानेमिकोष्ठेषु, स्वेष्टक्लिष्टाक्षराणि च ।
पूर्वं विन्यस्य निर्मेयं, पद्ममष्टदलाभिधम् ॥

इस आधार पर कर्णिकाक्षर चार बार आवृत्त होता है तथा कमल के अन्तर्गत एक लघु कमल की और योजना की गई है जिसमें निहित अक्षरों में पत्राग्र-स्थित अक्षरों से नामाङ्क में सहयोग मिलता है । पद्य इस प्रकार है :–

गच्छेयं कर्माम हे दासगेह, योगस्त्वाद्वीपेऽमरामोदवारि ।
कल्याणापी राम चादर्यसंस्थ, रम्यं देयं प्रेमसागरः शुभाशा ॥ चि० का० १० ॥

इसकी पठन पद्धति अत्यन्त सरल है जो अष्टार-चक्रबन्ध से साम्य रखती है । प्रत्येक पद का छठा अक्षर '**म**' कर्णिकाक्षर है तथा चार दलों में चार पद लिखने से मध्याक्षर को छोड़ आधे-आधे में विभक्त होकर आठ दलों की पूर्ति करते हैं । इसकी विशेषता अङ्कन से निःसृत '**गयाकरहरिस्थ-शाकद्वीपीयदामोदरः**' वाक्य से भी है ।

१७–**अष्टदल-कमल-बन्ध**—उपर्युक्त कवि ने दूसरी पद्धति के इस बन्ध का लक्षण यह दिया है :–

कर्णिकातो दलाग्रे च, कर्णिकायां दलात् पुनः ।
अनुलोम-विलोमभ्यां, क्रमोऽयं पद्मसंज्ञके ॥

इसके अनुसार दो अनुष्टुप् पद्यों को कमल की प्रति पँखुड़ी में इस प्रकार लिखा है, जिससे कि आठों चरण आठ दलों में आजायँ । इन चरणों में एक, तीन, पाँच और सात संख्यावाले चरणों का पहला अक्षर कणिका में रहता है जबकि दो, चार, छः और आठ संख्या के चरणों का अन्तिम अक्षर कर्णिकाक्षर बनता है । पद्य इस प्रकार है :—

बालिका तु व्रजे धीरा, धियाऽऽराधितसद्भवा ।
वामेयं ते गोपिकैका, रासमण्डित-वैभवा ॥१॥
वामभागे तु भक्ताक, यादवेन्द्र-मनोभवा ।
वाग्रूपा कोटिचन्द्राभा, तिग्मवंश-समुद्भवा ॥ चित्रबन्धकाव्य २॥

इसमें 'वा' अक्षर कर्णिका में स्थित है तथा आठों दलों के अग्रभागस्थ अक्षरों से **'राधिका राकया भाति'** यह पद निकलता है। दिग्दलों से निर्गम और विदिग्दलों से प्रवेश की पद्धति का यहाँ आश्रय लिया गया हैं।

१८—अष्टदल-कमल-बन्ध—मध्याक्षर शून्य अष्टदल वाले कमल-बन्ध की योजना भी इसी कवि ने की है, जिसका लक्षण इस प्रकार है—

इष्टं विन्यस्य पूर्वं तु, दलाद् गच्छेद् दलं पुनः ।
जानन्तु शेमुषीप्रेष्ठा, बन्धेऽत्र पद्मसंज्ञके ॥

इस पद्धति से प्रतिचरण का पहला अक्षर उससे पूर्वचरण का अन्त्याक्षर होता है, जो चार दिक्पत्रों में लिखा जाता है। तथा अन्य अक्षर विदिक् पत्रों में लिखे जाते हैं। उदाहरण पद्य इस प्रकार है।

वासं देहि नृणामासु, सुराराध्य जगन्मुदे ।
देवदेवलसद्भाव, वन्दनीयाकृतिर्नवा ॥ चित्रबन्ध-काव्य

इसमें चारों चरणों के अक्षरों से **'वासुदेव'** इन इष्टाक्षरों की भी प्राप्त होती है, शेष सुगम है।

१९—अष्टदल-कमल-बन्ध—श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्धान्तर्गत रासपञ्चाध्यायी के श्लोक से डा० रसिकबिहारी जोशी ने एक अष्टदल-कमल-बन्ध की रचना का नवीन प्रकार प्रकट किया है! उसमें प्रतिचरण का दूसरा अक्षर कर्णिका में रहता है। दिग्दलों में चरण का प्रथम अक्षर रहता है तथा तृतीयाक्षर से पूरे चरण के अक्षर विदिग्दलों में लिखे जाते हैं। पद्य इस प्रकार है—

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते, चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं, शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥ ३॥५॥

इसमें प्रतिचरण का द्वितीयाक्षर 'र' कर्णिका में स्थित होकर चार बार आवृत्त हुआ है।

२०—अष्टदल-कमल-बन्ध(प्रश्नोत्तररूप)–'अलङ्कार-चिन्तामणि' में इस बन्ध का प्रश्नोत्तराजाति के रूप में उदाहरण दिया हैं पद्यों में पूछे गये प्रश्नों के तीन-तीन अक्षरों वाले आठ शब्दों के उत्तर प्राप्त होते हैं, जिनका पहला अक्षर कर्णिकास्थित अक्षर तथा प्रतिपत्रस्थित दो-दों अक्षरों से बना हुआ एक वाक्य भी स्वतन्त्र उत्तर प्रदान करता है। पद्य इस प्रकार है—

को दुःखी स्यात् कुराजः को, जिनो मोहाय किं व्यधात् ।
किमलुब्धकुलं कीदृग् ,मुनिः सिद्धो गुणः क्व न ॥ २-७६ ॥
कुत्रास्ते गुणसन्ततिर्जिनपतिः कीदृक् च यस्तार्किकः,
कीदृग् धर्मबलादभूद् वरजिनो मारः कुतो नीयते ।
कीदृक्षा मुनयो, वनेऽपि सुगुरावायाति शिष्योऽपि च,
कीदृक्षो बहु शस्यते बुधवरैः कीदृग् दरिद्रो वद ॥ २-८० ॥

इन सोलह प्रश्नों का उत्तर '**अनयः, अकुप्यत्, अशयः, अकके, अमोहः, अनष्टः अभियः, अमायः**' इन आठ शब्दों से प्राप्त होता है तथा सामूहिक उत्तर-**अनयोऽकुप्य-दशयोऽककेऽमोहोनष्टोऽभियोऽमायः**-इस वाक्य से मिलता है । । इनका पहला अक्षर '**अ**' कर्णिका में तथा शेष दो-दो अक्षर पत्रों लिखे जाते हैं ।

२१—**अष्टदल-कमल-बन्ध(प्रश्नोत्तर)**जिनवल्लभसूरि ने उपर्युक्त पद्धति में दो अक्षरों के शब्दों द्वारा उत्तर देनेवाला पद्य यह दिया है—

क्रव्यादानां केनतुष्टिर्जगदनभिमता का रिपुः कीदृगुग्रः,
कं नेच्छन्तीह लोकाः प्रणिगदति तिरिर्वृश्चिकानां विषं क्व ।
कुत्र क्रीडन्ति मत्स्याः प्रवदति मुरजित् कापिले भोगभाक् कः,
कीदृक् का कीदृशेन प्रणयभृदपि चालिङ्ग्यते न प्रियेण? ॥
प्रश्नशतक १४ ॥

इसके प्रश्नों का उत्तर ,**अस्ना,अता, अस्त्री, अमम्, अग, अले, अप्सु, अना, अस्ना-ता**' और '**अस्नाता स्त्री मंगलेप्सुना**' इस वाक्य से प्राप्त होता है ।

२२—**अष्टदल-कमल-बन्ध(प्रश्नोत्तर)**—इसी कवि ने वहीं एक और नवीन रूप इस बन्ध का दिया है , जिसमें प्रत्येक प्रश्न का उत्तर दो अक्षरों का तो है ही, किन्तु कर्णिकाक्षर उत्तरात्मक शब्द का दूसरा अक्षर रहता है जब कि पूर्व उदाहरणों में प्रथमाक्षर होता था इस पद्धति का उदाहरण यह है

किं प्राहुः परमार्थतः कमृषयः किं दुर्गमं वारिधेः
विद्याः कं न भजन्ति, रागिमिथुनं कीदृक् किमर्धं स्मृतम् ।
रक्षांसि स्पृहयन्ति किं तनुमतां कीदृक् सुखार्थादिकं,
कीदृक् कर्षकलोकहर्षजनकं न व्योमवर्षास्वपि ? ॥ २० ॥

इन प्रश्नों का उत्तर '**विलं, गलं, तलं, जलं, ललं,दलं, पलं, टलं** तथा '**विगतजलद-पटलं**' इन शब्दों से प्राप्त होता है । इनमें द्वितीयाक्षर '**लं**' कर्णिकाक्षर है ।

२३—**अष्टदल-कमल-बन्ध (श्रीवत्स)**—उदयमाणिक्यसूरि ने 'चन्द्रप्रभस्तवन' में 'श्रीवत्स-बन्ध' की रचना की है, जो अष्टदल-कमल-बन्ध ही का रूप है । यह बन्ध भुजङ्ग-

प्रयात छन्द में निर्मित है तथा प्रत्येक चरण के दो विभाग करके उनका अन्तिम अक्षर कर्णिका में रखा है। पद्य इस प्रकार है :—

लसत्कान्तिदेहं क्षमावासगेहं, सदा दुःखदाह-क्षतावम्बुवाहम् ।
हृतप्राज्यमोहं कृतक्रोधद्रोहं, कुकर्मेभसिंहं जिनेशं भजेऽहम् ॥७॥

यहाँ 'हं' कर्णिका में श्लिष्ट होकर आठ बार आवृत्त होता है। प्रतिपत्र के अग्र-भाग से पद्य आरम्भ होकर कर्णिका में प्रविष्ट होता है।

इनके अतिरिक्त सर्वतोमुख, ब्रह्मदीप और गूढदीपिका-बन्ध भी अष्टदल-कमल-बन्ध का अनुसरण ही करते हैं, जिनका विवेचन अग्रिम प्रकरण में किया जायगा।

द्वादशदल-कमल-बन्ध (सकर्णिक)—'चित्रभूषण' में द्वादशदल-कमल-बन्ध के दो भेद बतलाये हैं—सकर्णिक और निष्कर्णिक। सकर्णिक कमल के चार दिक्पत्रों में दो-दो अक्षर लिखे जाते हैं जो चारों चरणों के आरम्भाक्षर होते हैं। शेष आठ पत्रों में एक-एक अक्षर लिख कर मध्यकर्णिका में एक अक्षर लिखा जाता है। कर्णिकाक्षर की आवृत्ति सोलह बार होती है, क्योंकि प्रतिचरण का चौथा अक्षर भी तीसरे अक्षर के साथ कर्णिकाक्षर बनता है। पद्य इस प्रकार है :—

स्वामिनं नन्दनन्धानं, पावनं नरनन्दिनम् ।
सदनं नवनस्यानं, नौम्येनं नगनन्दिनम् ॥

इसमें **'नं'** अक्षर कर्णिका में है जो सोलह बार पढ़ा जाता है।

१-द्वादशदल-कमल-बन्ध (निष्कर्णिक)— इस बन्ध की रचना में पद्य को बारह भागों में विभक्त करके बारह पत्रों में लिखा जाता है। पठन का प्रकार 'प्रथम पत्र से प्रवेश तथा द्वितीय पत्र से निर्गम' रखा गया है। पद्य इस प्रकार है :—

पत्न्यै दत्तार्धभागो रमति नगपतेः प्रीतिभाजं सुपुत्रीं,
योऽसौ भक्तान् प्रयातीरजतवरगिरौ स्थानमेषेश्वराऽस्तु ।
गङ्गां स्वीयोत्तमाङ्गे धरति हरिसुगाधस्तलात् सम्पतन्तीं,
यो वा रामेति सारे रमति सुर-वरे रामरामेति रामात् ॥

इसमें ११वें पत्र से प्रतिपत्र के कोणगत अक्षरों से **'रमापतेः प्रीतिरस्तु गङ्गाधरे'** यह वाक्य बनता है। बस यही चमत्कार है।

द्वादशदल कमल बन्ध (निष्कर्णिक)—उपर्युक्त पद्धति में श्लिष्टाक्षर का अभाव होने से अरुचि दिखलाते हुए वहीं दूसरा उदाहरण दिया गया है। जिसमें प्रतिपत्र के दो-दो सन्ध्यक्षर लोम-विलोम पढ़े जाते हैं। पद्य इस प्रकार है :—

रावीशा यान्तु रंकुं कुररमथ बकं कंबकेभासमा री,
रीमां वेगाम्बुटं-कं कटकरचितवाजं जवाक्रान्तकीरम् ।
रंकीशं शुभ्रभल्लं लभरगिरिपराममरां धामरामां,
मारायं सैहमंगं गमयत पृतनाशंसनामे नृवीराः ॥

इसमें रेखांकित अक्षरों की लोम-विलोमता ही चित्रबन्ध के विस्मय तत्त्व का पोषण करती है तथा कर्णिका में कोई भी अक्षर नहीं रखा गया है।

३–द्वादशदल-कमलबन्ध––उपर्युक्त पद्धतियों में कुछ नवीनता लाते हुए वहीं एक और उदाहरण इस बन्ध का दिया है। जिसमें एक अक्षर कर्णिका में रहकर छः बार आवृत्त होता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :––

पत्न्यै दत्तार्धभागो रमति नगपतेः प्रीतये भ्राजदङ्गो,
दक्षो यत्रैति भीतिं रजतगिरिमगो भक्तदर्पघ्नवस्तु ।
गङ्गाम्भोराजदङ्गो दरवरहनिगाद् धर्महाने समाङ्गो,
मारे रामेति सारे रमति सुरभगो भक्तरामेति रामात् ॥

इसमें 'गो' अक्षर की छः बार आवृत्ति हुई है तथा प्रवेश-निर्गम पद्धति से पठन में प्रवेश करने पर दल का अन्तिमाक्षर कर्णिकाक्षर बन जाता है। प्रतिपत्र में क्रम से छः-सात अक्षर लिखकर बन्ध-पूर्ति की गई है। अतः यह **'सम-विषमपत्राक्षर कमल-बन्ध'** भी कहा जाता है।

४–द्वादशदल कमल बन्ध––रूपदेवगोस्वामी ने 'स्तवमाला' के 'चित्रकवित्व' में इस बन्ध का एक सरल रूप प्रस्तुत किया है। तदनुसार स्रग्धरा वृत्त के तीन भाग करके प्रत्येक भाग का अन्तिम अक्षर श्लिष्ट रखा है। उदाहरण इस प्रकार है :––

तारप्रस्फारतालं सरभससरलं भासुरास्यं सुभालं,
पापघ्नं गोपबालं करणहरकलं नीरभृद्वारनीलम् ।
चारुग्रीवं रुचालं रदमदतरलं चेतसः पीतचेलं,
शीतप्रस्फीतशीलं वरयवरबलं वासुदेवं सुबालम् ॥ ८४ काव्यमाला-पृ० २६० ॥

इसमें 'लं' अक्षर कर्णिका में लिखा जाता है जो बारह बार आवृत्त होता है तथा प्रतिपत्र में छः छः अक्षर लिखकर प्रवेशपद्धति से पढ़ा जाता है। दामोदर कवि ने 'चित्र-बन्ध काव्य' में इसी पद्धति का आश्रय लेकर तीन अनुष्टुप् में भी इस बन्ध की पूर्ति की है।

५–द्वादशदल-कमल-बन्ध––महामहोपाध्याय श्रीरामावतार शर्मा ने प्रतिपत्र में दो-दो अक्षर लिखकर कर्णिकाक्षर के संयोग से भी यही बन्ध बनाया है। पद्य इस प्रकार है :–

तं देवं सततं भक्त्या, महितं नौम्युमायुतम् ।
तंसितां हि शतं मृत्युरहितं चन्द्रभासितम् ॥

इसमें 'तं' अक्षर आठ बार आवृत्त हुआ है। कर्णिका से पद्य आरम्भ होकर निर्गम और प्रवेश पद्धति का अनुसरण करता है। निर्गम के आदि में तथा प्रवेश के अन्त में कणिकाक्षर रहता है। द्वितीय पाद के अन्त में कर्णिकाक्षर श्लिष्ट बनकर तत्काल आवृत्त होता है तथा चौथे चरण का अन्तिमाक्षर भी कर्णिका में ही पूर्ण होता है।

६-द्वादशदल-कमल-बन्ध (प्रश्नोत्तर)—प्रश्नोत्तरा जाति के रूप में इस बन्ध की पूर्ति 'प्रश्नशत' में जिनवल्लभसूरि ने की है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :—

सीरी पाणि क्व धत्ते क्रतुरथमुद्गात् स्यात् कथा देहिनां भीः,
ब्रूते स्वः क्वारिविष्णुर्व्यधृत सविधगं हन्तुकामःकिमाह !
शम्भुं घ्नन्तं गजं द्राक् सदय ऋषिरगात् किन्तु काक्वा तथास्मिन्,
हारं किं नापि धत्से विरहिणि नभसीत्यूचुषीं सा वदेत् किम् ॥४२॥

इसमें किये गये प्रश्नों के उत्तर क्रमशः हले, हव, हर्ष, हत्या, हय, हस्ते, हम्भोः हदे, हहा, हर, हस्ती, हत' इन शब्दों से तथा **'हलेवर्षत्यायस्तेऽम्भोदे हारतीतः'** इस वाक्य से दिये गये हैं। इनमें 'ह' अक्षर कर्णिका में रहता है तथा शेष अक्षर क्रम से पत्रों में लिखे जाते हैं।

७-द्वादशदल-कमल-बन्ध (प्रश्नोत्तर)-उपर्युक्त पद्धति का एक नवीन रूप 'चित्रभूषण में और दिया है, जिसमें प्रश्नों का उत्तर अन्य पद्य से ही माँगा जाने पर पद्य द्वारा ही उत्तर दिया गया है। पद्य इस प्रकार है:—

इटि लटि च वदेः किं चास्मदो रूपमाद्यं,
सुरवर निकरः कं स्तौति नित्यं कया च।
तमिह हि विशिनष्टि द्विः कथं हेतुकं किं,
लटि मिपि भवतेः किं रूपमाख्याहि विद्वन् ॥

यह प्रश्न-पद्य देकर पुनः पद्य से ही प्रश्न किया है। जैसे—

विचित्रचित्रबोधकः, सखेऽस्ति को धरातले।
ममाखिलोत्तरं परं, द्विषड्दलाम्बुजाद् वद ॥

और उत्तर में निम्न पद्य दिया है जिससे द्वादशदल-कमल-बन्ध का निर्माण होता है:—

वन्देऽहं केशवं भक्त्या, सुरन्वद्य पदं ध्रुवम्।
वञ्चिताखिलबन्धं यदभवं पीडितो ध्रुवम् ॥

इसमें कर्णिकाक्षर 'व' है तथा दो-दो अक्षर बारह पत्रो में लिखे जाते हैं जो कर्णिका से आरम्भ होकर निर्गम और प्रवेश-विधि से भ्रमण करते हुए कणिका में विरत होते हैं।

षोडशदलकमल-बन्ध

सोलह पत्र वाले कमल-बन्ध की रचना भी अनेक प्रकारों से होती है। जिनमें

उपर्युक्त पठन-पद्धतियों के साथ ही कुछ नवीन प्रकार उपस्थित हुए हैं। इस बन्ध का लक्षण 'चित्रभूषण' में यह प्राप्त होता है:-

आद्यमध्ये लघुं न्यस्य, ह्येकैकं षोडशच्छदे।
अभ्यसेन्मध्यमन्त्यैस्तु, कमले षोडशच्छदे॥

इसके अनुसार आद्यवर्णकर्णिक-प्रत्यक्षरोत्तर-पत्राक्षर वाला पद्य भी उदाहरण के रूप में वहीं इस प्रकार दिया है:-

मलीमसमतिं मर्त्यमवमत्य महामदम्।
मनाम राममलं, महोमयमनामयम्॥

इसमें कर्णिकाक्षर 'म' हैं जो प्रतिपत्राक्षर के बाद आवृत्त है। इस पद्यका आरम्भ कर्णिका से होता है।

१—षोडशदल-कमलबन्ध—उपर्युक्त पद्धति के अतिरिक्त पत्र से आरम्भ होकर कर्णिका में प्रवेश करनेवाले अर्थात् मध्यवर्णकर्णिक इसी बन्ध का उदाहरण वहाँ इस प्रकार दिया है :—

रामं रामरमं धाम, श्यामं कामद्रुमं नमम्।
कामं मम समं वामं, क्षेमं धाम नमत्तमम्॥

इसमें कर्णिकाक्षर 'मं' है जो सोलह बार आवृत होता है। इस पद्य का आरम्भ पत्र से हुआ है।

२–षोडशदल कमल-बन्ध—जहाँ प्रतिपत्र के पश्चात् कर्णिकाक्षर से योग न होकर प्रति दो पत्रों के पश्चात् योग होता है, ऐसा उदाहरण पं० रामचन्द्रजी मिश्र के निम्न पद्य से प्राप्त होता है : –

रमतु रसायां रघुवरवंशः। रविकरतेजा रसिकरमेशः॥

इसमें 'र' कर्णिकाक्षर है तथा अन्य अक्षर पत्रों में रहते हैं, तथा प्रति दो पत्र के बाद कर्णिकाक्षर से योग होता है।

३–षोडशदल-कमल-बन्ध—'चित्रभूषण' में अष्टदल-कमल में प्रदर्शित क्रमांक एक से साम्य रखने वाले षोडशदल-कमल-बन्ध का उदाहरण निम्न पद्यों से दिया है :—

हरहारपरद्वार, सूरदूरपरस्तर। नीरपूरधरस्फार, वरवारकरज्वर॥ १॥
हतहानपतद्धारि, सूर्यदूरापतस्ततः। नीरपूराधरास्फार, वत्दे वामाकरोज्ज्वक्तः॥ २॥

इनमें प्रथम पद्य का 'र' अक्षर कर्णिका में है तथा अन्य अक्षर सोलह पत्रों में रहते हैं। द्वितीय पद्य के विषमसंख्या वाले अक्षर पूर्वोक्त सोलह पत्रों के ही अक्षर हैं तथा सम-संख्या वाले अक्षरों को सन्धिगत बाह्य पत्रों में लिखा गया है। इस दृष्टि से पहले पद्य के पत्र में स्थित सभी अक्षर पुनः आवृत्त हो जाते हैं।

४—षोडशदल-कमल-बन्ध— कवि श्रीहरिचन्द्र ने 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य के ग्यारहवें सर्ग में इस बन्ध का नवीन रूप पुरस्कृत किया है। इसकी आकृति दो अष्टदलों से पूर्ण हुई है जिनमें आठ दल पूर्ण हैं तथा आठ दल सन्धिगत पत्रों के रूप में हैं। प्रतिपत्र में पाँच-पांच अक्षर हैं जिनकी स्थापना में एक अक्षर पत्र के अग्रभाग में और दो-दो अक्षर पत्र के वाम एवं दक्षिण भाग में स्थित हैं। कर्णिका के समीप प्रथम अष्टदल की सन्धि रेखाओं में भी आठ अक्षर लिखित हैं। पठन-प्रकार में सर्वप्रथम आरम्भ अन्तः—कमलपत्र के अग्र-भागस्थ अक्षर से होता है। पहली आवृत्ति इस अक्षर से आरम्भ होकर कर्णिका के निकट-स्थ सन्धि-रेखाक्षर से सम्बन्ध करते हुए आठों पत्रों के अग्रभाग और सन्धिरेखाक्षर के मेल से पूर्ण होती है। द्वितीय क्रम में अन्तिम सन्धिरेखाक्षर के बाद कर्णिकाक्षर तथा पत्र के एक भाग के दो अक्षरों के साथ उसी पत्र के अग्रभाग का अक्षर बाह्यकमलपत्र के पाँचों अक्षरों को ग्रहण करता हुआ पुनः अन्तःकमल के पत्र में प्रवेश कर तीन अक्षरों को आवर्जित करता है। तदनन्तर कर्णिकाक्षर, अन्तःपत्र, बाह्यपत्र और अन्तपत्र यह क्रम चलता है। इस क्रम में अन्तःकमल के अग्रभाग में स्थित अक्षर तीन-तीन बार प्रयुक्त होते हैं। पद्य इस प्रकार है :—

चक्रेऽरिसन्ततिमिहाजिषु नष्टपद्यातिख्यातिमेकचकिताकृतिधारणीं यः।
तिग्मासिरिष्टमतवत्सतवावति क्ष्मां, किं तत्परं धरणिमित्र कृतिन् ब्रवीमि॥ ९८॥
कः शर्मदं वृजिनभीतिहरं जितात्मा, हर्षाय न स्मरति तेऽभिनवं चरित्रम्॥
सम्पद्गुणातिशयपस्त्यरुचं तवैति, कः कान्तिमानतिसुधाद्रवरोचमानाम्॥ ९९॥

इसमें '**ति**' कर्णिकाक्षर है। बाह्य-कमल के आठ पत्र तथा अन्तःकमल के आठ पत्र के अग्रभागस्थ अक्षरों को कर्णिकाक्षर से युक्त कर देने से '**हरिचन्द्रकृतधर्मजिनपतिचरितमिति**' यह वाक्य निकलता है—जो कवि और काव्य नाम का निर्देश करता है।

५-षोडशदल-कमल-वन्ध—एक अन्य नवीत प्रकार का यह बन्ध '**चित्र-भूषण**' में दिया है। इसमें मध्यकमल और बाहर सोलह सन्धिदल हैं। मध्याक्षर से पद्य आरम्भ होकर दल, सन्धिदल तथा तृतीय संख्यावाले दल में पहुँचता है। तदनन्तर कर्णिका से पुनः इसी क्रम से पाठ होता है। यह क्रम चौथे चरण के सात अक्षरों तक चलता है और बाद में कर्णिकाक्षर का स्पर्श किये बिना ही सभी दलों के अक्षरों से चरणपूर्ति होती है। पद्य इस प्रकार है :—

रंहोभारं रसूत्कं नररणमरनभ्रान्तरं मर्मतन्त्रं,
रन्तर्यङ्गं रतस्वं मरमकुहरमं ह्लीक्षरं हर्षभद्रम्।
रक्षःसादं रमस्यादरदमकरदप्राधरं कर्महोरं,
इंधर्मं सूरसूरं नमत तगमहक्षोभदंकंकघर्मम्॥

इसमें कर्णिकाक्षर 'र' प्रति तीन अक्षरों के बाद आवृत्त हुआ है, साथ ही चारों चरणों के आरम्भ में भी एक साथ पुनः पढ़ा गया है।

षोडशदल-कमल-बन्ध—चौथे वर्ण को कर्णिका में रख कर सोलह पत्रों में तीन-तीन अक्षर लिखने से एक नवीन प्रकार का निर्देश 'चित्रभूषण' में किया है। उदाहृत पद्य इस प्रकार है—

चराचरा करा परा, वराधराधरेश्वरा।
दरासुरासरोत्तरा, वरागिराजिमागिरा ॥१॥
दयापरा हतासुरा, त्वमुज्ज्वरावहातुरा।
नता जरा जयेश्वरा, नुतामराऽमरीवरा ॥२॥

इसमें 'रा' अक्षर कर्णिका में है जो सोलह बार आवृत्त हुआ है।

षोडशदल-कमल-बन्धः (चतुष्कर्णिका)—'चित्रभूषण' कार नेउ पर्युक्त पद्धति में और भी सरलता लाते हुए एक अन्य प्रकार का उदाहरण दिया है तथा उसका लक्षण यह बतलाया है—

पर्णत्रयेण त्रयवाक् प्रवृत्तिरम्भोधिवारं क्रमतस्तु यत्र।
यत्यन्तवर्णनि गुणाखिलेषु, पादेषु तद्द्विर्दलषोडशाब्जम् ॥

इसके अनुसार कर्णिका के चार भाग बनाकर प्रत्येक में एक-एक अक्षर रखा गया है। ये अक्षर चार दलों में साथ पढ़े जाते हैं। उदाहरण पद्य इस प्रकार हैं—

नरेन्द्रा गजेन्द्राः सुरेन्द्रा मुनीन्द्रा, वरेण्यं सुपुण्यं सुगण्यं शरण्यम्।
सुवामं सुकामं निकामं सुभीमं, नयन्ति श्रयन्ति स्तुवन्ति स्मरन्ति ॥

इसमें क्रमशः 'न्द्रा, ण्यं, मं, और, न्ति, ये चार अक्षर कर्णिका के चार भागों में लिखे हैं जो चार-चार बार आवृत्त हुए हैं।

८–षोडशदल-कमल-बन्ध(स्तुतिरूप-गुरुनामगर्भ)—इस बन्धका अत्यन्त सरल प्रकार श्रीहेम-विजयगणि ने उपस्थित किया है, जिसमें पद्य के प्रत्येक चरण का अन्तिम अक्षर कर्णिका में स्थित रहता है। अन्त्यानुप्रास निबद्ध ऐसे पूरे स्तोत्र की रचना इस प्रकार है—

पयोजपाणिं वृषभं वृषाङ्कं, रमातनूजन्मभिदा वृषाङ्कम्।
महोदयश्रीरजनीमृगाङ्कं, गुरुं स्तुवे कीर्तिनिरस्तपङ्कम् ॥१॥
रुचिं दधानं परमामिताङ्कं, श्रीमंङ्गलैस्तं सुमुपैति साकम्।
हीलाप्रहीणं श्रितपुण्यपाकं, ररक्ष यस्त्वां हृदि बुद्धलोकम् ॥२॥
विद्यानवद्या तमुपैत्यशोकं, जलेशयश्री जितशाल्यशोकम्।
यस्त्वां स्मरेत् पीडितकामघूकं, सूरप्रभं हर्षितसाधुकोकम् ॥३॥
रिपुव्रजाक्रान्तममुं वराकं, पुन्नाम। पुन्नागनुतिष्वमूकम्।
गर्भारसंसारजलैकभेकं, वाग्वर्य ! नाभेय ! पुनीह्यशोकम् ॥४॥

'षोडशदल-कमल-बन्ध-बन्धुर-युगादिजिन-स्तवन' नाम के इस स्तोत्र के प्रति चरण का अन्त्याक्षर **'कं'** कर्णिका में रहता है तथा प्रतिपत्र के शिरोभाग के अक्षरों से–**परमगुरु श्री हीरविजय-सूरिपुंगवयाः**––यह वाक्य बनकर कवि के गुरुनाम को सूचितक रता है। इसी कवि ने इस पद्धति के चौबीस स्तोत्रों का निर्माण करके चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की है।

६––षोडशदल-कमल-बन्ध (सप्तावरणमय)–उपर्युक्त पद्धति में कुछ नवीनता लाकर 'चित्रभूलषणकार' ने इस बन्ध का अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस कमल में सोलह पत्रों में सात चक्र रहते हैं, जिनमें से प्रत्येक पत्र के सात भाग बन जाते हैं तथा कर्णिका में एक अक्षर रहता है, जो प्रत्येक भाग के अक्षरों के साथ पढ़ा जाता है। ग्यारह पद्यों से यह बन्ध पूर्ण होता है। निर्गम-पद्यति से क्रमशः प्रतिचक्र में एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः और सात-सात अक्षर रहते हैं और प्रति पत्राक्षरों के बाद कर्णिकाक्षर का ग्रहण होता है पद्य इस प्रकार है :––

विचित्ररत्नराजिमं दधत् किरीटमुत्तमं, परिस्फुरन्सुवर्णमद्भुतप्ररोचिषा समम् ।
सुरासुराभिवांछिमज्ज्वलत्कृशानुजोपमं, हिरण्यगर्भवेदमन्त्रसंस्तुतं ससिद्धिमम् ॥१॥
ददातु वः शरीरमन्त्रभक्तभावसत्तमं, सहस्रघस्रनाथमण्डनैकशोभयोत्तमम् ।
दिवस्पतीक्षणक्रमं प्रभावितंकवृत्तिमं, वशिष्ठशिष्टतागमं प्रभावदेकसुप्रमम् ॥२॥

सप्ताक्षरमय-प्रथमावरण–

पीयूषपोषितमयूखविभूतिदाम, सम्भासतेऽखिलमदस्त्रिदिवं सुधाम ।
अञ्जस्य यस्य रमया सततं प्रकामं, वैचित्र्यरूप तमवन् नितरां नमामः ॥३॥
मार्गैरनेकसमयाभिनयाभिरामं, वेदादिवन्दितमतस्य सदा प्रणामम् ।
नानाविघैर्गरिमभिर्कंधुभिः सरासं, कुर्वंतरां च यमभीतिविनाशकामम् ॥४॥

षडक्षरमय-द्वितीयावरण–

अमृतेन समस्तधरातरुमद्, भुवनं धृतमद्भुतरूपगमम् ।
सकलं परमं शशिना विषमं, रविणा विषमज्वलतप्तसमम् ॥५॥
अपि येन तमःकुलखण्डनमन्त्रकृतं नतमं सशिवं सुषमं,
दिशतु द्विजमस्तकवासरमं सकलाधिशमं सकलादिगमम् ॥६॥

पंचाक्षरमयतृतीयावरण

त्रिदशेशमद्भुतविक्रमं भज देवमब्धिसुतोत्तमं,
सुधया समस्तविशस्तमर्त्यजनं न नाम न पालितम् ॥७॥
मरणोद्भवैर्महसां निधिं महदादिशग्मकृतोत्सवं,
मतिमन्तमामरराजकामविशेषतोऽमरसोच्छ्रयम् ॥८॥

चतुरक्षरमय-चतुर्थावरण

बृहत्तमं प्रशान्तिमत् प्रतापमञ्जुलद्रुमं प्रभावमन्थरक्रमं मुरारिमर्दनोद्यमम् ।

ददातु मन्त्रसिद्धिमत्र ते समच्छवीरमचछशीसम प्रभुर्नमस्कृतश्च मन्त्रिसत्तम ॥६॥

त्र्यक्षरमय-पंचमावरण

भजाम प्रभो मञ्जुलं मन्त्रधाम, प्रणामं वरं मन्दिरं मर्त्यकामम् ।
तवामर्षसंमर्दसीम प्रकामं, विभो मन्दहेमस्फुरन्मध्यवामम् ॥१०॥

द्व्यक्षरमय–षष्ठावरण

नमस्ते महिमन् सोम ! सामसीम समप्रम । कामद्रुम समश्रीम प्रेमनेमनमक्रम ॥११॥

एकाक्षरमय-सप्तमावरण

इसमें कर्णिकाक्षर 'म' है जो प्रतिचक्र में सोलह-सोलह बार श्लिष्ट होने से पूरे बन्ध में एक सौ बारह बार श्लिष्ट बना है। म, मं और मः को समान माना है। चौथे आवरण के सातवें पत्र में चार अक्षरों के स्थान पर पाँच अक्षर लिखे गये हैं जो छन्द के अनुरोध से ग्राह्य हैं।

१०–षोडशदल-कमल-बन्ध (विषम-पत्र-पञ्चावरणमय)—इसी ग्रन्थकार ने विषम-पत्रों से भी इस बन्ध का निर्माण किया है। इसमें कर्णिका के पश्चात् सोलह दल का एक कमल है जिसके प्रत्येक दल में एक-एक अक्षर है। उसके बाहर द्वितीय कमल में ग्यारह पत्र हैं तथा प्रतिपत्र में दो-दो अक्षर हैं। उसके बाहर एक कमल बारह पत्रों वाला है जिसके प्रत्येक पत्र में तीन-तीन अक्षर हैं। उसके बाहर एक कमल पन्द्रह पत्रोंवाला है जिसके प्रतिपत्र में चार-चार अक्षर हैं और अन्तिम अक्षर प्रथमाक्षर में श्लिष्ट होता है। उससे बाहर पुनः एक कमल चौदह पत्रों वाला हैं जिसके प्रतिपत्र में पाँच-पाँच अक्षर हैं, इस तरह यह बन्ध पाँच पद्यों के पाँच आवरणों से पूर्ण हुआ है। पद्य इस प्रकार :—

श्रेयस्कामैरमन्दो धृतपरमगतिर्देवतैर्मर्त्यभाग्भि—
र्भेदैर्मन्त्रैश्च यज्ञैः शमयमनियमैर्मञ्जु भक्त्या जितोमः ।
प्रोघध्वान्तप्रमन्युप्रवहदमनकृद् श्रीबलो नर्मविज्ञः ।
श्रीसोमस्त्वस्मदीयं शमलमिह हरन् मर्त्यमाधेहि राम ॥१॥

पञ्चाक्षरमय प्रथमावरण

गंगाधार महायशस्य मतिदश्रीसोमदेव प्रभो !
मन्दोत्साह तमः प्रणाशन महामन्त्रोपम ध्वान्तहन् ।
कामज्वालनकृन् महोदपरम त्रैलोक्यधाम प्रभो,
विश्रामस्थितिहेतुमंस्तव यथा मन्त्रस्तथा कामगः ॥२॥

चतुरक्षरमय-द्वितीयावरण

मखशमनमवामकामभीमं, तरुणमसृणवामदेहरामम् ।
गजजमहं वृतं मतिप्रकामं, भजत मनुजवामदुःखनामम् ॥३॥

त्र्यक्षरमय तृतीयावरण

चिन्तामणिसमश्रीक, महोद्यम जगन्मणे ।
सोमदेव महाभीमन्, देहि मह्यं समद्युतिम् ॥४॥

द्वयक्षरमय चतुर्थावरण

नमस्ते महिमन् सोम सामसीमसमप्रम । कामद्रुमसमश्रीम प्रेमनेम-नमक्रम ॥५॥

एकाक्षरमय पञ्चावरण

इसमें कणिकाक्षर 'म' है जो पत्राक्षरों के साथ क्रमशः प्रथम पद्य में चौदह बार, द्वितीय पद्य में पन्द्रह बार, तृतीय पद्य में तेरह बार, चतुर्थ पद्य में दस बार और पाँचवें में सोलह बार आवृत्त हुआ है इस प्रकार कर्णिकावर्ण 'म' ६८ बार पढ़ा जाता है।

११–षोडशदल-कमल-बन्ध (प्रश्नोत्तर)—प्रश्नोत्तर द्वारा भी इस बन्ध की पूर्ति हुई है। 'चित्रभूषण' कार ने इस बन्ध का नाम 'व्यस्तोत्तर-पदघटित-षोडशदल-कमल-बन्ध' दिया है। इसके उत्तर शब्दों का द्वितीय अक्षर कर्णिका में रहता है। पद्य इस प्रकार हैं :—

सत्सङ्गे सुखि किं भवेद् वद सखे धातुश्च कः सेवने,
मूल्योऽहेः किमु जायते किमु मुधा काम्यं स्थितिः का सतः ।
रूपं प्राह किमीश्वरस्य विबुधः प्राप्नोति सौख्यं च किं,
सादृश्येऽव्ययमाप्य का चरतरा प्रश्नोत्तरं चेद् वद ॥

इसके उत्तरों को प्राप्त करने के लिये निम्न पद्य से प्रश्न किया है :—

सार्थकार्थपद्मका, सर्वदा शुभा कथम् ।
सा च यातुतासती, नवीन-पद्यचातुरी ॥

तथा उत्तर निम्न पद्य से दिया है :—

मया नया श्रिया धिया, नयाधियानयामया ।
अयावियादयातया, जयान्वय भयाक्रिया ॥

इस उत्तर पद्य में दो-दो अक्षरों में सोलह शब्द हैं जिनका द्वितीयाक्षर 'या' कर्णिका में अङ्कित है।

१२–षोडशदल-कमल-बन्ध (प्रश्नोतर)–इसी पद्धति का विकास श्रीजिनवल्लभसूरि ने 'प्रश्नशत' में दो पद्यों द्वारा किया है। उत्तरात्मक सोलह शब्दों के अतिरिक्त केवल पत्राक्षरों से एक पंक्ति भी निकलती है। पद्य इस प्रकार है :—

चक्री चक्रं क्व धत्ते, क्व सजति कुलटा, प्रीतिरीतोः क्व कस्मै,
कूपः खन्येत राज्ञां क्व च नयनिपुणैर्नेत्रकृत्यं निरुक्तम् ।
कन्दर्पापत्यमूचे रणशिरसि रुषा ताम्रवर्णः क्व कर्ण—
श्चक्षुश्चिक्षेप, विष्णुर्वदति वसु पुरस्तेन किं त्वं करोषि ॥५८॥

युज्यन्ते कुत्र मुक्ताः क्व च गिरिसुतया संजि कस्मिन् महान्तो,
यत्नं कुर्वन्ति, चौर्यं निगदति विदिता क्वैकदिक् तिग्मधारा ।
कस्मिन् दृष्टे रटन्ति क्व च सति करभाः पक्ष्मलाक्ष्याः किलोक्तः,
कश्चित् किं वा ब्रवीति स्मरशरनिकराकीर्णकायः सदेश्यान् ॥५६॥

इन श्लोकों के प्रश्नों द्वारा प्राप्त उत्तर क्रमशः ये हैं :—**करे जारे क्षीरे वारे, चारे, स्मारे, नरे, हरे, हरे, सरे, हरे, सारे, चुरे, क्षुरे, भरे, दरे**—इनमें **'रे'** अक्षर कर्णिका में अङ्कित है और केवल पत्रगत अक्षरों से यह चरण उद्धृत होता है—**'कजाक्षीवाचास्मानहह सहसा चुक्षुभदरे'** ।

चतुर्विंशतिदल-कमल-बन्ध—पूर्वोक्त पद्धतियों का आश्रय लेकर कवियों ने और भी प्रयास किये हैं । चौबीस पत्र वाले कमल-बन्ध का निर्माण जयतिलकसूरि ने अपने **'चतुर्हारावली-चित्रस्तव'** में इस प्रकार किया है :—

नवीनपीनस्वनमानगानकिन्नराननानर्घ्यनवेन मानसे ।
नयानघा नअनरेनका नता, नवं नवं न स्वनतान जैनपाः ॥ १-१२ ॥

इसमें कर्णिकाक्षर 'न' है तथा प्रतिपत्र में एक-एक अक्षर निहित है । 'न' की आवृत्ति चौबीस बार हुई है ।

१-चतुर्विंशतिदल-कमल-बन्ध (कविनामगर्भ) :—सर्वजिनस्तवनकार ने इस बन्ध की रचना पूर्वोपेक्षित नवीन प्रकार से की है । इसमें स्तुति का प्रथम पद्य परिधि में रहता हैं तथा छः पत्रों के प्रत्येक चरण के तीन-तीन खण्ड एक-एक में रहते हैं । चरण में पाँच-पाँच अक्षर और छः अक्षरों के बाद के अक्षर तीन बार आवृत्त होते हैं जो चौबीस लघु कर्णिकाओं में निविष्ट हैं । पूरा स्तोत आठ पद्यों में पूर्ण हुआ है तथा इसी में कविनाम भी गर्भित है । स्तोत्र इस प्रकार है :—

नम्राखण्डलौलिमण्डलमिलन्मन्दारमालोच्छलत्,
सान्द्रामन्दमरन्दपूरसुरभीभूतक्रमाम्भोरुहान् ।
श्रीनाभिप्रभवप्रभुप्रभृतिकांस्तीर्थङ्करान् शङ्करान् ।
स्तोष्ये साम्प्रतकाललब्धजननान् भक्त्या चतुर्विंशतिम् ॥ १ ॥
नन्द्यान्नाभिसुतः सुरेश्वरनुतः संसारपारङ्गतः,
क्रोधाभैरजितं स्तुवेऽहमजितं त्रैलोक्यसम्पूजितम् ।
सेनाकुक्षिभवः पुनातु विभवः श्रीशम्भवः शम्भवः,
पायान् मामभिनन्दनः सुवदनः स्वामी जनानन्दनः ॥ २ ॥
लोकेशः सुमतिस्तनोतु नमति श्रेयः श्रियं सन्मतिं,
दम्भद्रौ कलभं मदेभशरभं संस्तौमि पद्मप्रभम् ।
श्रीपृथ्वीतनयं सुपार्श्वमभयं वन्दे विलीनाभयं.
श्रेयस्तस्य न दुर्लभं शशिनिभं यः स्तौति चन्द्रप्रभम् ॥ ३ ॥

बोधिं नः सुविधे ! विधेहि सुविधे ! कर्मद्रुमौघप्रघे !
जीयादम्बुजकोमलक्रमतलः श्रीमान् जिनः शीतलः ।
श्रीश्रेयांस ! जय स्फुरद्गुणचयः श्रेयः श्रियामाश्रय !
सम्पूज्यो जगतां श्रियं वितनुतां श्रीवासुपूज्यः सताम् ॥ ४ ॥

मोक्षं वो विमलो ददातु विमलो मोहाम्बुवाहानिलो,
ऽनन्तोनन्तगुणः सदा गतरणः कुर्यात् क्षयं कर्मणः ।
धर्मो मे विपदं स्यताच्छिवपदं दद्यात् सुखैकास्पदं,
शान्तिस्तीर्थपतिः करोत्विभगतिः शान्तिं कृताघक्षतिः ॥ ५ !

कुन्थुर्मेघरवो भवादवतु वो मानेभकण्ठीरवो,
भक्त्या नम्रनरामरं जिनवरं प्रास्तस्मरं नौम्यरम् ।
श्रीमल्लेखनतक्रमोच्छितमो मल्लेऽस्तु तुभ्यं नमो,
विश्वार्च्यो भवतः स पातु भवतः श्रीसुव्रतः सुव्रतः ॥ ६ ॥

लोभाम्भोजतमेश्वरोपम ! नमे धर्मे धियं धेहि मे,
वन्देऽहं वृषगामिनं प्रशमिनं श्रीनेमिनं स्वामिनम् ।
श्रीमत्पार्श्वजिनं स्तुवेऽस्तवृजिनं दान्ताक्षदुर्वाजिनं,
नौमि श्रीत्रिशलाङ्गजं गतरुजं मायालतायां गजन् ॥ ७ ॥

और यह पुष्पिका-पद्य दिया है, जो बन्ध से संयुक्त नहीं है :—

इत्थं धर्मवचोवितानरचितं वर्यस्तवं मुद्युतः,
सद्धर्मद्रुमसेकसंवरमुचां भक्त्यार्हतां नित्यशः ।
श्रेयः कीर्तिकरं नरः स्मरति यः संसारमाकृत्य सो,
ऽतीतार्तिः परमे पदे चिरमितः प्राप्नोत्यनन्तं सुखम् ॥ ८ ॥

इसमें कर्णिका के निकट परिधिरूप में बनी हुई २४ लघु कर्णिकाओं में प्रतिचरण के ६-६ और ८ संख्या वाले अक्षर तीन-तीन बार प्रवेश प्रवेश पद्धति से पढ़े जाते हैं।

त्रिंशद्दल-कमल-बन्ध

इस बन्ध की रचना पण्डितशिरोमणि वरखेडकरोपाह्व श्रीनरसिंहाचार्य ने की है। पठनपद्धति में कर्णिका और पत्राक्षरों का क्रम ही अपनाया है। पद्य इस प्रकार है :—

मतिमदमलमर्त्या मर्त्यमध्ये मतंमद्विमतमदमथं मत्कामदं मत्समः स्याः ।
मतिमदमद मत्वा मर्त्य मत्प्रेमधामन्, कमलमसमभीम श्रीमरुन्मध्वमन्त्रम् ॥

अमरभारती संस्कृत-पत्रिका ।

इसमें **'म'** कर्णिकाक्षर है, जो तीस बार आवृत्त होता है।

द्वात्रिंशद्दल-कमल-बन्ध

'महावीरजिनस्तवनकार उपाध्याय श्री उदयधर्म' ने इस बन्ध की रचना अठारह पद्यों से की है। इसकी रचना में नवीन पद्धति का आश्रय लिया गया है। पद्य का आरम्भ कर्णिकाक्षर 'स' से होकर दो चरणों में एक पत्र और उसके ऊपरी भाग की पूर्ति करते हुये दूसरे पत्र में प्रवेश करता है तथा पुनः तीसरे चरण का आद्याक्षर कर्णिका से होकर द्वितीय चरण के अन्तिम अक्षर 'र' को तीसरे चरण के अन्तिम अक्षर में समाप्त करता है। इस प्रकार स्तोत्र के सोलह पद्य इस में हैं। एक पद्य परिधिश्लोक है, जिससे **कविनाम, काव्यनाम और गुरुनाम** प्रकट होते हैं। अन्तिम पद्य कवि ने प्रस्तुत रचना की अनुशंसा में लिखा है जिसका चित्र से सम्बन्ध नहीं है। स्तोत्र इस प्रकार है :–

सन्नमत्त्रिदशवन्द्यपदं श्रीवर्द्धमानममलं विजितारम्।
संस्तवीमि भवसागरपारं प्राप्तुमिच्छुरुरुसद्गुणरत्नम्॥ १।

सद्भिराहृतमुरीकृतयत्नं त्वन्मते गततमस्युरुभासि।
संशयावलिहरेऽद्य विलासि स्वान्तमस्तु मम संयमगेह॥ २॥

सङ्गमुक्त! भवदावजदाहं त्वं पयोधर-रव! त्रिशलासू-
सम्भवं तमदितांगिमनःसूदात्तधीरिममनोगजवारी॥ ३॥

सन्ततं जिन! भवानघहारी वैरसेव्यततरां गततन्द्रम्।
सस्पृहं श्रयति तान् नृसुरेन्द्रश्रीर्मनोहररसाऽपि दुरापा॥ ४॥

सङ्गतं गमशतैर्गुरुपापाऽपोहकं जिन नयद्रुमकन्द।
सम्मदाय नहि कस्य तवाऽदस्सद्वचो मिततमोमभरदीपः॥ ५॥

सञ्चितं गुणगणैर्भवतापच्छेदि तेऽद्भुततमं पदपद्मम्।
संसृजन्ति भविकाः श्रितपद्मं स्वेऽमले हृदि दितारतिकामम्॥ ६॥

सङ्कटेऽपि पतितास्तव नामध्यानमंगज जलातप येऽधुः।
सम्पदं त इह यान्ति सुसाधुश्रेणिसेविततपस्तति-तीव्र॥ ७॥

सज्जनाम्बुज विबोधकृतिब्रध्नोपमोजचननीरधितो तः।
संसदा दिविषदां नत तातः पाहि मां शममयस्त्वमनीच॥ ८॥

सम्यगूर्ध्वभुवने मरुतोञ्चत् पञ्चमस्वररवैः सुसुरीकाः।
सञ्जगुर्गुरु-यशस्तव राका चन्द्रमण्डल लसद्गुणचारो॥ ८॥

सम्परायरिपुभिः सह मारो वर्धते मददधन् मयि नोदम्।
स त्वयावगणितः किमकन्दः काञ्चनच्छविविभूषितकाय॥ १०॥

संसृतिं भयकरीमपहाय स्फीतिनिर्मल लभंस्तव बोधम्।
शर्म नैर्वृतममन्दमबाधं यामि नायक! कदाऽहमकर्मा॥ ११॥

सङ्गरे श्रियममी अरिमर्मविच्छरोत्कररयेऽप्युपयेमुः ।
संस्मृतस्त्वमसि यैर्भविकामुद्दामकामित-तरुः शुभशस्त ॥ १२ ॥

सङ्गमामरकुदर्पदवास्तप्रावृडम्बुद दयापर देव ।
सम्प्रति स्फुरति ते महिमावच्छासनं भुवि विभो सविवेकम् ॥ १३ ॥

सत्पथप्रथनसार्थपतिं कस्त्वां जिनेश न नमत्यपकाम ।
सत्कलाकुवलयामृतधामन्नद्भुता विधिधियं दमशाल ॥ १४ ॥

सर्वभामयकरःकलिकाचीतावदंगिनि निबद्धविटम्बः ।
संश्रितौ तव पदौ नहि यावद् वासवायुधधरो रिपुयोध ॥ १५ ॥

सर्वदाऽपि भगवन्नघबन्धं प्रार्थयाम्यममनो बहिरंगम् ।
सन्निधौ निजपदोरितरागं मां विधेहि शशभृद्वदनश्रीः ॥ १६ ॥

श्रीरत्नसिंहसूरीन्द्रपादपद्ममधुव्रतः ।
चकारोदयधर्मामुं स्तवं कमलबन्धनम् ॥ १७ ॥

इन पद्यों में 'सं' कर्णिकाक्षर है, जो निरनुस्वार के रूप में भी प्रयुक्त होकर **बत्तीस** बार आवृत्त हुआ है । प्रतिपत्र के उपान्त्यभाग में प्रथम चरण का जो अन्त्याक्षर है वह प्रति चतुर्थ चरण का अन्तिम अक्षर बनकर श्लिष्ट होता है । द्वितीय चरण में पाँचवाँ अक्षर पत्र के अग्रभाग पर द्विरावृत्त होकर, छठा अक्षर भी बनता है तथा द्वितीय चरण का अन्तिम अक्षर तृतीय चरण के अन्तिम अक्षर के रूप में श्लिष्ट होता है । चतुर्थ चरण में भी पाँच और छः संख्या वाले अक्षर दूसरे चरण के समान पढ़े जाते हैं तथा अन्तिम अक्षर अगले चरण का अन्तिम अक्षर होता है । यह सब चित्र द्वारा स्पष्ट ज्ञात हो सकेगा । साथ ही प्रति पद्य के प्रथम और तृतीय चरण के अक्षरों से **गुरुनाम, कविनाम और कमल-बन्ध-स्तव** का सूचन किया है । इस कमल की परिधि में निम्नलिखित पद्य अंकित किया जाता है—जिसका कमल के अन्तर्गत पद्याक्षरों से कोई सम्बन्ध नहीं है—पद्य निम्नानुसार है :—

श्रीसिद्धार्थनरेन्द्रनन्दन जिन श्रीवीरनीरुक्तनो,
स्तुत्वां त्वां नयनाग्नि-सम्मितदलाम्भोजन्मबन्धस्तवात् ।
नेहे चक्रिपदं न वासवपदं नास्तापदं सम्पदं,
किन्तु त्वत्पदपंकयोनियमले भृङ्गायतां मे मनः ॥

शतदल-कमल-बन्ध

श्रीसहजकीर्तिगणि द्वारा निर्मित पच्चीस पद्यों के स्तोत्र से इस बन्ध की रचना होती है । यहाँ विविध छन्दों में बनाये गये पद्यों का प्रत्येक चरण अन्त्यानुप्रास के कारण समानाक्षर वाला है । अतः वही अक्षर कर्णिका में निहित है । इसी प्रकार प्रत्येक पत्र में लिखे गये प्रत्येक चरण के प्रथमाक्षर जो कि अग्रभाग पर रहते हैं—से पृथक् तीन पद्य और

चार अक्षरों की सृष्टि हुई है जिससे पार्श्वनाथ भगवान् की स्तुति होती है। यह स्तोत्र गुजरात के लोध्रपुर : लोध्रवा जैसलमेर : गाँव के जैन मन्दिर में सचित्र अंकित है। कुछ स्थानों पर कुछ अक्षर नष्ट भी हो गये हैं। पाठकों की सुविधा के लिये हमने प्रतिचरण के साथ पत्रांक भी लगा दिये हैं।

१–श्रीनिवासं सुरश्रेणि-सेव्यक्रमं, २–वामकामाग्नि-सन्ताप-नीरोपमम्।
३–माधवेशादि-देवाधिकोपक्रमं, ४–तत्त्वसंज्ञान-विज्ञान-भव्याश्रमम् ॥१॥
५–नव्यनीरागता-केलिकर्म्मक्षमं, ६–यस्य भव्यैर्भजे नाम सम्पत्प्रदम्।
७–नीरसं पापहं स्मर्यते सत्तमं, ८–तिग्ममोहार्ति-विध्वंसतापभ्रमम् ॥२॥
९–लब्धप्रमोदजनकादरसौख्यधाम, १०–तापाधिकप्रमदसागरमस्तकाम।
११–घण्टा-रवप्रकटिताद्भुतकीर्तिरामं, १२–नक्षत्रराजि-रजनीशतनाभिरामम् ॥३॥
१३–घण्टापथ-प्रथितकीर्तिरमोपयामं, १४–नागाधिपः परमभक्तिवशात्सवामम्।
१५–गम्भीरधीरसमतामययाजगामं, १६–मर्त्यानतं नमत तं जिनपंक्तिकामम् ॥४॥
१७–संसारकान्तारमपास्य नाम, १८–कल्याणमालास्पदमस्तशामम्।
१९–लाभाय बभ्राम तवाविरामं, २०–लोभाभिभूतः श्रितरागधूमम् ॥५॥
२१–कर्मणां राशिरस्तोकलोकोद्गमः, २२–संसृतेः कारणं मे जिनेशावमम्।
२३–पूर्णपुण्याढ्यदुःखं विधत्तेऽन्तिमं, २४–न क्षमस्त्वां विना कोऽपि तं दुर्गमम् ॥६॥
२५–कार्मणंनिर्वृतेर्हन्तुमन्यो समः, २६–यक्षराट्पूज्य तेनोच्यते निर्ममम्।
२७–श्रीपते तं जहि द्राग् विधायोद्यमं, २८–दानशौण्डाद्य मे देहि रुद्धिप्रभम् ॥७॥
२९–यस्य कृपा-जलधेर्विश्रामं, ३०–कण्ठगताशु सुभट-संग्रामम्।
३१–भय-जनक-व्यायामं, ३२–जेतारं जगतः श्रितयामम् ॥८॥
३३–कक्षीकृत-वसुभृत्-पुग्रामं, ३४–लोपोच्चार-महामम्।
३५–केशोच्चयमिह नयने क्षामं, ३६–लिङ्गति कमलां कुरुते क्षेमम् ॥९॥
३७–कलयति जगता प्रेम, ३८–लम्भयति सौख्यपटलमुद्दामम्।
३९–कालं हन्ति च गतपरिणामं, ४०–मह तं महिम-स्तोमम् ॥१०॥
४१–रसनयेप्सित-दान-सुरद्रुमं, ४२–हितमहीरुह-वृद्धि-जलोत्तमम्।
४३–तरुण-पुण्य-रमोदय-संगमं, ४४–समरसामृत-सुन्दर-संयमम् ॥११॥
४५–हिनस्ति सद्ध्यानवशात्स्वमध्यमं, ४६–तं तीर्थनाथं स्वमत-प्लवंगमम्।
४७–सुरासुराधीशममोघनैयमं, ४८–रैनाथ-सम्पूजित-पादयुक् स्तुमः ॥१२॥
४९–संसारमालाकुल-चित्तमादिमं, ५०–शास्त्रार्थ-सवेदन-शून्यमश्रमम्।
५१–रम्याप्त-भावस्थित-पूर्ण-चिद्दमं, ५२–सर्पाङ्कितः शोषित-पापकर्दम ॥१३॥
५३–रत्नत्रयालंकृत-नित्यहेम, ५४–सीमाद्रि-सारोपम सत्त्वसोम।
५५–शोभामय ज्ञानमयं विसाभं, ५६–षड्वर्ग मां देव विधेह्यकामम् ॥१४॥
५७–भावविभासक-नष्टविलोमं, ५८–कन्दित-स्कन्दलितं प्रणमामः।
५९–रंगपतंग-निवारण भीमं, ६०–कम्बुवरं जिन तेऽस्ति सु (भीमम्) ॥१५॥[1]

६१–मन्त्रेश्वरः पार्श्वपतिः परिश्रम, ६२–लालास्थितस्थापनया मनोरमम् ।
६३–कर्मोत्थितं मे जिनसाधुनेंगमं, ६४–रम्भाविलासालसनेत्रनिनिर्गमम् ॥१६॥
६५–समितिसार-शरीरमविभ्रमं, ६६–हरिनतोत्तम-भूरिगमागमम् ।
६७–श्रयत तं नितमानभुजंगमं, ६८–फलसमृद्धि-विधान-पराक्रमम् ॥१७॥
६९–णभ्रं यशः सृजति शं जिनसार्वभौमः, ७०–तारस्वरेण विबुधैः श्रितशातहोम ।
७१–शोकारिमारि विरहय्य तवात्तदाम, ७२–भव्यैः स्तुतं निहतदुर्मतदण्डशामम् ॥१८॥
७३–मद्याम्बुज-ध्वंसविधौ महद्धिमं, ७४–न वाजयत्याशु मनस्तुरङ्गमम् ।
७५–मन्त्रोपमं ते जिन राम पञ्चमं, ७६–स्तवेन युक्तं गुणरन्तकुट्टिमम् ॥१९॥
७७–कलि-शैलोरु-व्याधाम, ७८–माहात्म्यं हृदयंगमम् ।
७९–लब्ध-श्रित-वसुत्रामं, ८०–यतिवर्ग-स्तुतं नुमः ॥२०॥
८१–लोकोत्पत्ति-विनाश-संस्थितिविदां मुख्यं जिनं वै स्तुमः,
८२–द्रव्यारक्त-समाक्षरं नमत भोः पूज्यं परं पश्चिमम् ।
८३–पर-पक्षस्य तव स्तवं त्वन्निमित्त-करीन्द्रगे ।[1]
८४–तत्तद्भावमयं वस वदतस्त्रैकम्यस्तर्वेद ॥२१॥[2]
८५–नयनानन-सद्रोम, ८६–सन्ततिं तव जङ्गम ।
८७–स्थावराशुमतां स्याम, ८८–नयते शम कृत्रिमम् ॥२२॥
८९–दासानुदासस्य मम, ९०–नवानन्द-विहंगमम् ।
९१–माद्यति प्राप्य च सुमं, ९२–नयाक्षत्तां महाद्रुमम् ॥२३॥
९३–क्षमा-बोहित्थ-निर्यामं, ९४–मानवाचर्यं महाक्षमम् ।
९५–गुणिपूज्यं प्रीणयामः, ९६–रुचिं स्तौमि नमंनमम् ॥२४॥
९७–स्मरन्ति यं सुन्दरयक्षकर्द्दमं, ९८–रागात् समादाय महन्ति कौंकुमम् ।
९९–मिथो मिलित्वा मधुजाड्यकुंकुमं १००–चन्द्राननं तं प्रविलोकतादरमम् ॥ २५ ॥[3]

इनमें प्रतिचरण का अन्तिम अक्षर 'मं' जो कि कहीं सविसर्ग अथवा निरनुस्वार भी पढ़ा जाता है, कर्णिका में स्थित होकर सौ बार आवृत्त होता है। साथ ही प्रति चरण के प्रथमाक्षरों के संग्रह से नीचे लिखे तीन पद्य और चार अक्षर पार्श्वनाथ की स्तुति के भी बनते हैं —

श्रीवामातनयं नीतिलताघं न घनागमम् ।
सकलालोक-सम्पूर्णकायं श्रीदायकं भजे ॥१॥
कलाकेलिं कलंकाम-रहितं सहितं सुरैः ।
संसार-सरसी-शोष-भास्करं कमलाकरम् ॥२॥

१-२–ये दोनों पद कुछ अस्पष्ट हैं ।
३—१५वें पद्य में कुछ पाठ-भ्रष्ट था, जिसे सुधारने का भी प्रयास किया गया है ।

सहस्रफणता-शोभमान-मस्तकमालयम् ।
लोद्रपत्तन-संस्थान-दानमानक्षमागुरुम् ॥३॥
स्मरामि च ।

इनके अतिरिक्त वहीं एक अन्य पद्य कमलाकृति के दक्षिण भाग में खुदा हुआ है, जिसमें प्रस्तुत रचना का काल, गुरुनाम, स्थान-नाम, रचनानाम तथा कविनाम का सूचन है। वह पद्य इस प्रकार है :—

इत्थं पार्श्वजिनेश्वरो भुवनदिक्कुम्भ्यंगचन्द्रात्मके,
वर्षे वाचकरत्नसारकृपया राकादिने कार्तिके ।
मासे लोद्रपुरस्थितः शतदलोपेतेन पद्मेन सन्,
नूतोऽयं सहजादिकीर्तिगणिना कल्याणमालाप्रदः ॥

इनके अनुसार इसकी रचना १६८३ वि०सं० की कार्तिक-पूर्णिमा को वाचक रत्नसार की कृपा से सहजकीर्तिगणि ने लोद्रपुर में रहकर की। इस पद्य का बन्ध से कोई सम्बन्ध नहीं है।

सहस्रदल-कमल-बन्ध

इस बन्ध की रचना खरतरगच्छीय ज्ञानविमलवाचक के शिष्य श्री वल्लभगणि ने की है तथा स्वोपज्ञ टीका भी कवि ने बनाई है। सम्पूर्ण रचना अठारहवें तीर्थंकर श्री अरनाथ की स्तुति में लिखी गई है, अतः इसका नाम—**'प्रदलदशशताम्भोजगर्भित-श्रीअरनाथ-स्तव'**—यह दिया है। इस स्तव में विविध छन्दों का उपयोग किया गया है, इसके चौपन पद्य तक बन्धपूर्ति की गई है तथा अन्तिम पद्य से कृति के सम्बन्ध में सूचन हुआ है। आरम्भ पद्य तथा अन्तिम पद्य इस प्रकार हैं :—

असुरनिर्जरबन्धुरशेखरप्रचुरभव्यरजोभिरयंजिरम् ।
क्रमरजं शिरसा सरसं वरं, जिवरमेश्वरमेदुरशंकरम् ॥ १ ॥
इत्थं देवेन्द्रसंघप्रणतनरपतिह्लाददस्तीर्थनाथो,
भद्रं दद्यादरः सऽो भिमतधृतिततिप्राप्तिदः प्राप्तमुक्तिः ।
ख्यातः श्रीवाचकज्ञानविमलसगुरूणां प्रसादाद्धि यस्य,
चक्रे श्रीवल्लभेन प्रदलदशशताम्भोजगर्भस्तवोऽयम् ॥ ५५ ॥

इसमें पत्र से पद्यारम्भ हुआ है। कर्णिका में र अक्षर है तथा प्रतिपत्र में दो-दो अक्षर लिखे रहते हैं। यह स्तव भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट पूना की २२६।१८७३-७४ संख्या वाली पुस्तक में है।

१-कूप-बन्ध

दामोदर कवि ने 'चित्रबन्ध-काव्य' में इस बन्ध का न्यास-प्रकार यह बतलाया है—

मध्यतः परितो गच्छेन्नेमौ सश्लेषमेव च ।
एवं न्यासक्रमो ज्ञेयः कूपबन्धेऽत्र नूतने ॥

इसके अनुसार प्रस्तुत बन्ध में कर्णिकारूप मध्याक्षर से पद्य आरम्भ होता है तथा चारों दिशाओं में चार चरण लिखे जाते हैं। तदनन्तर उपर्युक्त चारों चरणों के अन्त्याक्षरों से क्रमशः वर्तुलाकार में अन्य चरणों द्वारा भ्रमण होता है। इस प्रकार इसमें मध्याक्षर तथा प्रथम चार चरणों के अन्त्याक्षर श्लिष्ट बनते हैं। उदाहरण के पद्य इस प्रकार हैं—

शम्भुना सर्वदा त्वं मे, शर्म देहि जगन्मुदे।
शश्वन्मनो रमाभावे, शत्रून् विघ्नप्रदान् जहि॥
मेघैर्वारि सदा देहि हिताय कर्मसिद्धये।
देवेश ! भारते भावे, वेलायां पदयो रमे॥

प्रथम पद्य के चारों चरणों के आद्याक्षर 'श' तथा द्वितीय पद्य के चारों चरणों के आद्यन्ताक्षर श्लिष्ट हैं।

२-**वापीबन्ध**[1]—'चित्रभूषण' में इस बन्ध का उदाहरण दिया है। मध्याक्षर से पद्य का आरम्भ करके चारों दिशाओं में चार चरण रखते हैं। इन चरणों की रचना मध्याक्षर के साथ अन्य तीन-तीन अक्षरों के गतागत-पठन से होती है। चारों चरणों में मध्याक्षर आदि और अन्त में आता है। यह 'चतुर्दल-कमल-बन्ध' का भी उदाहरण है। पद्य इस प्रकार है—

महेशोययशोहेम, मदनाललनादमः।
मया मानिनि मायाम, ममतोययतो मम॥

इसमें मध्याक्षर 'म' है और शेष तीन-तीन अक्षर गतागत-पठित हैं.

२-**सरोबन्ध**—दामोदर कवि ने इस बन्ध की रचना का लक्षण इस रूप में दिया है—

कोणेभ्यः परितः स्तम्भे सश्लेषं सर्वतः पुनः। सम्पठेत् पाठकश्चात्र सरोबन्धे कविप्रियः॥

इसके अनुसार सर्वप्रथम चारों कोण में लिखित चार-चार अक्षरों को मध्याक्षर से मिलाते हुए पढ़ा जाता है। तदनन्तर चारों दिशाओं में अंकित सोपान-पंक्ति पर चार पंक्ति में लिखे हुए तीन-तीन अक्षरों को पंक्ति-क्रम के अनुसार कोणाक्षरों का योग करते हुए चारों ओर पढ़ा जाता है। पद्य इस प्रकार है—

भाजक नाथे भासितपाथः। भातु च नाथो भासितगाथः॥
भावितरामा मारितकोपान्। पान्तु तपोमा भानुनिजाभाः॥
जन्तुनिदान नस्स्मर जातु। तुष्टिकरोऽसिसिन्धुजयाय॥
कंजसुदास सस्यसुवाचम् चन्दय तात तर्पितकाक॥
नौमि सदापा पालय नाना। नाथ सुभागां गांचरनाना॥

१—'कूप, वापी और सरोवर' इनमें साम्य रहने के कारण एक साथ विवेचन किया गया हैं।

इसमें मध्याक्षर 'थः' है तथा चारों कोणों में प्रथमपद्य के चार-चार अक्षर अंकित हैं जो आद्यन्त में श्लिष्ट बनते हैं।

गुच्छ-बन्ध

'साहित्यरत्नाकर' में धर्मसूरि ने इस बन्ध का उदाहरण दिया है। इसमें चार पुष्प तीन-तीन पत्रवाले रहते हैं जिनकी कर्णिकाओं में एक-एक अक्षर रहता है जो श्लिष्ट होकर तीन बार आवृत्त होते हैं। पद्य के चौथे चरण को उपर्युक्त गुच्छ की नालयष्टि में लिखते हैं। पद्य इस प्रकार है—

हारहीरहरस्फूर्तिमूर्तिकीर्तिपुरस्सर ।
शरवीरपरक्रूरदानवोन्मदनक्रमः ।। षष्ठीकौमुदी

इसमें 'र-र्ति-र-र' ये चार अक्षर कर्णिकाओं में स्थित हैं।

१-गुच्छ-बन्ध—चावलिरामसूरि ने इस बन्ध का एक उदाहरण दिया है। इसकी रचना बारह पुष्पों से होती है। गुच्छ में पाँच पुष्प गोल आकृति में मिले रहते हैं, उनके बाहर पुनः सात पुष्पों की रचना की जाती है। प्रत्येक पुष्प में चतुर्दल-कमल के समान चार पत्र और कर्णिका है। प्रतिपत्र में एक-एक अक्षर है, कर्णिकाक्षर से मिलकर सात-सात अक्षरों का पुष्प बन जाता है। पद्य इस प्रकार है—

पायाच्छायलयाश्रीगुणगणगणनाप्रेमधामस्थमब्धेः,
दायादायामयानापयशनयना वीरधीरत्वरम्यम् ।
मारामाराजराजं निजभुजविजयख्यातिजातिप्रतिष्ठं,
साराचाराभिरामं विजयजयजयं गोपभूपप्रपद्यम् ।। अलङ्कारमुक्तावली ।।

इसमें क्रमशः **'या-ण-म-या-य-र-रा, ज-ति-रा-अ-प'** ये बारह अक्षर तीन-तीन बार आवृत्त होकर श्लिष्ट हैं।

मेरु-बन्ध

इस बन्ध का उदाहरण दामोदर शास्त्री ने दिया है। जिसका लक्षण निम्न पद्य द्वारा दिखलाया है—

पञ्चविंशतिकोष्ठेषु, गच्छेदुपरि मध्यतः ।
अनुलोम्ना तथा धीर, द्वौ द्वौ न्यूनौ विधाय च ।।
मेलयेच्च शिखाभागे, मेरुबन्धेऽत्र नूतने ।। चित्रबन्धकाव्य ।

इसके अनुसार पच्चीस कोष्ठकों से यह बन्ध होता है। सबसे नीचे की पंक्ति मे पच्चीस दूसरी में तेईस, तीसरी में इक्कीस, इस प्रकार क्रमशः दो-दो कोष्ठक कम करते हुए सात कोष्ठक तक की पंक्ति बनाई जाती है। तदनन्तर पाँच अक्षरों की उर्ध्व पंक्ति से शिखर बनाया जाता है। शिखर वाली पंक्ति के अक्षर नीचे से ऊपर तक सभी

कोष्ठकों में मध्यस्थानीय होकर पद्य की प्रथम पंक्ति का रूप लेते हैं, शेष पंक्तियाँ नीचे से क्रमश पढ़ी जाती हैं, जो प्रथम पंक्ति के अक्षरों को भी आवर्जित करती रहती हैं। पद्य इस प्रकार है—

सजलजलदतनुजलजनिनयन ! भवभयविनाशनसुहृदय सदन ।
रिपुदलदलन मदनरिपुभजन सुरजनसुखज जनयसि मुदमिह ॥
हरसि विरहमपि विवसि सुकुलज ! जगति सुगतिददुरितमरममर ।
रतिपजनक करकमलसुललित ! ललित सुमिमल श मलमु वितरसि ॥
कुजजनभरण दधति गिरिधरण ! सकलशरण ततगुणभव-विभव ।
तव ननु कथमरिततिगजति सभट सपदि लधुनिजनिनयन ॥

इसमें प्रथम पंक्ति के सभी अक्षर श्लिष्ट हैं तथा कवि ने पूरे बन्ध के पद्यों को ह्रस्वाक्षरों से ही बनाया है, अतः यह भी एक चित्रपद्धति है।

लता-बन्ध

हरिदास सिद्धान्तवागीश ने इस बन्ध का उदाहरण दिया है और न्यास-पद्धति का लक्षण दामोदर शास्त्री ने 'चित्रबन्धकाव्य' में यह दिया है—

उपरिष्टाद् पार्श्वतश्चाधस्तात् तु मध्यभागके।
ततः पार्श्वे क्रमादूर्ध्वं लताबन्धे सरेद् बुधः ॥ चित्रबन्धकाव्य

इसके अनुसार आठ पुष्पों वाली लता के आकार में यह बन्ध बनता है। प्रत्येक पुष्प में चार दल और कर्णिका है। कर्णिकाक्षरश्लिष्ट होकर तीन-तीन बार आवृत्त होते हैं। प्रत्येक पुष्प के चौथे दल में दो-दो अक्षर हैं तथा अन्य दलों में एक-एक अक्षर है। पद्य इस प्रकार है—

वाहवाहसहव्यूह–भूरिवैरिप्ररिष्टिकृत् ।
सदामदा पदातिश्च व्यसरत् सह संगिमः ॥ १९ ॥
प्रकृष्टकृतिकृद्धीरभूतिमातिस्तुतिश्रितः ।
हरिकरिपरिव्राजी, चायं चायं स्वयं ययौ ॥ २० ॥
रुक्मिणीहरणमहाकाव्य ॥

इसमें कर्णिकागत अक्षरों के द्वारा 'हरिदासकृतिरियं' यह कविनामाङ्कन प्राप्त होता है - और ये ही अक्षर श्लिष्ट होकर तीन-तीन बार पढ़े जाते हैं।[1]

१—करमलकरशास्त्री ने 'पुष्पलता-बन्ध' के नाम से एक पद्य दिया है किन्तु वह हार-बन्ध से साम्य रखनेवाला होने के कारण आभरण-चित्रों के साथ दिया जायगा।

वृक्ष-बन्ध

इस बन्ध का उदाहरण भी हरिदास सिद्धान्तवागीश ने 'रुक्मिणीहरण-महाकाव्य' के पन्द्रहवें सर्ग में दिया है, जिसके आधार पर श्री दामोदर शास्त्री ने न्यास-प्रकार निम्नरूप में दिया है—

उपरिष्टात् तिरोभागदधोमध्यात् तु मध्यके ।
एवं क्रमैः पुनर्मध्ये विरमेत् तरुसंज्ञके ॥
शाखा विस्तारयन् धीरो, यथेष्टं रचयेद् धिया । चित्रबन्धकाव्य ॥

इसके अनुसार इस बन्ध में दक्षिण और वाम भाग में दो-दो शाखाएँ हैं, जिनके अग्र-भाग पर चार पत्र और कर्णिका से युक्त एक-एक पुष्प है। इन पुष्पों की पठन क्रिया ऊपर बताये गये पुष्पों के समान ही है किन्तु चौथे दल में दो अक्षर न रखकर एक अक्षर रखा जाता है और एक अक्षर जो चरण का अन्तिम अक्षर होता है वह वृक्ष के मध्य में रहता है। दोनों भागों के पुष्पों के बीच में रहने से यह अक्षर भी श्लिष्ट होकर दो बार पढ़ा जाता है। यही क्रम अन्य दो पुष्पों के पठन का है। इसका पद्य निम्नलिखित हैं :—

प्रकामकार्यकाम्येक–भूपतिः पतिपर्वक ।
नश्य–पश्य आश्य रविस्तेजः स्वोजः सुजः पविः ॥ ३८ ॥

इसमें **'का-प-श्य-जः-क और विः'** अक्षर श्लिष्ट हैं। दामोदरकवि ने और भी शाखा-पुष्पादि बढ़ाकर वृक्ष को बड़ा बनाने का संकेत करके कवियों के मार्ग को प्रशस्त कर दिया है।

१-वृक्षबन्ध—दामोदरशास्त्री ने इस बन्ध का एक नवीन प्रकार दिया है, जिसका लक्षण निम्नलिखित है :—

मूलात् पदद्वयं वाच्यं, स्कन्धात् पादा रसास्तदा ।
विन्यस्याः पक्षिणश्चात्र, वृक्षबन्धे सुधीवरैः ॥ चित्रबन्धकाव्य ।

इसके आधार पर मूल से शिखर तक दो चरण तथा शेष छः चरण शाखाओं में लिखे जाते हैं। इसकी शाखाओं पर पक्षी भी बिठाये हैं, जो स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। विशेषता यह है कि इन पक्षियों के माध्यम से निर्दिष्ट तीन-तीन अक्षरों के शब्दों में मध्याक्षर प्रस्तुत श्लोकों के ही लिए हैं। ऐसे सत्ताईस पक्षियों से निष्पन्न शब्दों से गीतोक्त-उर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्-के अनुसार वृक्ष की आकृति बनाई है।[1] उदाहरण पद्य इस प्रकार हैं :—

१- इस बन्ध के चित्र में हमने पक्षी न दिखाकर पर्वग्रन्थियाँ एवं पत्र दिखाये हैं।

अश्वत्थवृक्षगुणलोकविधो पतङ्गाः, संराजिते सकलसेवितपादकञ्जे ।
लोकेभ्य आप्य निवसन्ति च संव्रजन्ति, लोलाः सदा चतुरशीतिकलक्षिकासु
लोचन्त आसु विचरन्ति जनास्त्वदीयाः, लोभप्रसक्तमनसो नरके पतन्ति,
लोकापवादसहिता दुरितैः समेतां, लोपं मदादिविकृताः सुकृतिं नयन्ति ॥

यहाँ कर्णिकाक्षर 'लो' श्लिष्ट है तथा शाखाग्रन्थि-स्थान में रखकर अन्य दो-दो अक्षरों का पुट देकर निम्नलिखित नवीन शब्दों की सृष्टि की है और इन्हीं शब्दों के मध्याक्षर श्लिष्ट हैं:—

१-विश्वलाः, २-सगुणाः, ३-पतङ्गाः, ४-वाजिनः, ५-ललनाः, ६-द्विपादः, ७-सञ्जेता, ८-कैलासः, ९-चातुरीः, १०-सुकलः, ११-विभवाः, १२-अमराः, १३-अरयः १४-शान्तिदः, १५-विपदः, १६-त्रिविश्वाः, १७-प्रकृतिः, १८-अचराः, १९-नाकेशः, २०-मुनिभिः, २१-सुचराः, २२-भ्रान्तिदः, २३-कोविदः, २४-सुजनाः, २५-विकाराः, २६-असदः और २७-करिणः ।

ये विराट्रूप ईश्वर में पक्षी के रूप में स्थापित किये गये हैं ।

३-वृक्ष-बन्ध (त्रिपुष्पात्मक)—चित्रभूषणकार ने तीन षोडशदल-कमलों के तीन पुष्प बनाकर उनके नीचे केवल आकृति द्वारा इस बन्ध की योजना का संकेत किया है । तदनुसार इसकी आकृति रचना सूर्यमुखी पुष्प के पौधे से की जा सकती है । उदाहरण पद्य इस प्रकार है :—

जनस्य नयनस्थानध्वान एनश्छिनत्तु नः ।
इनः पुनर्जिनः पीनज्ञानध्यानधनः स नः ॥ १ ॥
सुरासुरादेराधारा निराकारा स्मरातुरा ।
धाराधीराक्षरापारा पारा-वीरा वराम्बरा ॥ २ ॥
हरं माररं वीरं पुरस्सर-पुरन्दरम् ।
निरन्तरं कीरदरमरनारं परंदहरम् ॥

इन पद्यों से बने हुए सोलह पत्र वाले तीनों पुष्पों की कर्णिकाओं में क्रमशः 'न, रा और र' अक्षर निहित हैं ।

अन्य सम्भावनाएँ :—

वनवैभात्मक-चित्र-बन्धों में कमल-बन्धों की एक दीर्घ-परम्परा का विकास परिलक्षित होता है । बहुधा इस परम्परा से कहीं प्रत्यक्ष और कहीं अप्रत्यक्ष रूप में चित्रबन्ध-साहित्य अवश्य ही प्रभावित हुआ है । उदाहरणार्थ केवल आकृति-भेद के रहते हुए भी कमल-बन्धों से साम्य रखने वाले—कूप, पुष्प, सूर्य, चन्द्र, सरोवर, दर्पण, हार के अन्तर्गत पुष्प, बिल्वपत्र, षडर-चक्र, अष्टारचक्र आदि कई बन्ध दर्शनीय हैं । इनके अतिरिक्त प्रस्तुत आलोक के सभी चित्रबन्धों पर सामूहिक दृष्टि डालने पर इस तथ्य की और भी पुष्टि हो सकती है ।

आकृति और अक्षरांकन की विविध प्रक्रियाओं के आधार पर कतिपय और भी प्रकार बन सकते हैं, इस दृष्टि से लेखक द्वारा निर्मित छः बन्धों को यहाँ प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा।

१-षड्दल-कमल-बन्ध—प्राकृतस्तोत्र "अजिय-सन्ति-थओ" की इक्कीसवीं गाथा के अनुसार संस्कृत में निर्मित इस बन्ध का लक्षण इस प्रकार है :—

दलान्मन्ध्ये पुनः पत्रे, मध्ये चेति क्रमात् पठन्।
पत्रसन्ध्यक्षरैः शिष्टं, पूरयेत् षड्दलाम्बुजे ॥

इसके अनुसार इस बन्ध में कर्णिका और छः पत्रों में एक-एक अक्षर लिखा जाता है तथा पत्रों की सन्धि में भी छः अक्षर रहते हैं। तीन पदों का पठन पत्र और कर्णिका में हो जाने के पश्चात छः सन्ध्यक्षरों से पद्य पूर्ति की जाती है। यथा—

मतिदं गतिदं, स्थितिदं सुखदम्।
शिवदं वरदं, प्रणतोऽस्मि गुरुम् ॥ चित्रबन्धाष्टक ८ ॥

इसमें 'द' कर्णिका में स्थित है जो छः बार पढ़ा जाता है और अन्तिम चरण सन्ध्यक्षर के रूप में है।

२-द्वादशदल-कमल-बन्ध—मराठी के विट्ठलकवि द्वारा 'रुक्मिणी-स्वयंवर' में रचित इस बन्ध का अनुकरण इस लक्षण पर आधारित हैं :—

जिन-पत्रै द्विवारं प्राक्, परीतं तदनन्तरम्।
रसयुग्म-दलैर्युक्तं, कमलं कर्णिकान्वितम् ॥
बहिर्विदिग्दलेषु द्वौ, द्वौ वर्णौ स्थापयन् बुधः।
कमलं विमलं रम्यं, नवीनं सरलं पटेत् ॥ चित्रालङ्कार-चन्द्रिका ॥

इसके अनुसार कर्णिका के बाहर चौबीस-चौबीस दलों की दो आवृत्ति तथा उनके बाहर बारह दलों की रचना में बाहर के चार विदिग्दलों को जोड़कर अन्यत्र सभी स्थानों पर एक-एक वर्ण लिखा जाता है तथा कर्णिका के निकटस्थ पत्र से पठन आरम्भ कर निर्गम और प्रवेशपद्धति द्वारा पद्य की पूर्ति की जाती है। यथा—

मौलौ चन्द्रधरं गले गर वरं पाणौ प्रियं झर्झरं,
देहे सर्पधरं त्रिलोचनधरं रुद्राक्षमालाधरम्।
भाले भूतिधरं गिरीशमजरं सत्यं शिवं सुन्दरं,
भक्त्या नौमि हरं परात्परतरं मृत्युञ्जयं शङ्करम् ॥

३—षोडशदल-कमल-बन्ध—प्रतिपत्र में दो-दो अक्षरों के समावेश से निर्मित इस बणध का लक्षण इस प्रकार है :—

प्रतिपत्रं वर्णयुग्मं, कर्णिका-वर्णयोगतः।
पठन षोडशपत्रेभ्यो, रचयेत् कमलं नवम् ॥

इसके अनुसार प्रतिपत्राक्षरों को कर्णिकाक्षर के साथ पढ़ा जाता है। यथा :—

विधुवद् विमलो विरुदैर्विदितोविभवैर्विततोऽविरतं विरतः।
विनतैर्विनतो विदिशाविहृतो विधिना विपुलो विजयं वितरेत्॥
—गुरुस्तुतिमञ्जरी॥ ४॥

इसमें कर्णिकाक्षर 'वि' सोलह बार आवृत्त हुआ है।

४—**विंशतिदल-कमल-बन्ध**—पूर्वप्रदर्शित 'युगादिजिनस्तवन' के चार पद्यों से निर्मित षोडशदल-कमल (क्रमांक ८) की अनुकृति में निर्मित यह बन्ध निम्न लक्षण पर आधारित है :—

पादान्त्यवर्णमध्यस्थैर्विंशत्या चरणैर्युतम्।
पञ्चपद्यात्मकं रम्यं, कमलं परिपठ्यताम्॥

इसके अनुसार प्रतिदल में एक-एक चरण स्थापित कर उनका अन्तिम अक्षर कर्णिका में लिखा जाता है, जो श्लिष्ट होकर बीस बार आवृत्त होता है। पद्य इस प्रकार हैं—

स्तुता वेद-वेदाङ्ग-शास्त्रैः प्रकामं, नुता ब्रह्म-विष्णुप्रदेवैर्निकामम्॥
मुदा भासते यत्पदं भाऽभिरामं, लभन्तेऽत्र भक्ता यदङ्के विरामम्॥ १॥
मुखे धारितं यैस्तु तस्या अ-वामं, परं पावनं सर्वगेयं सुनाम।
इहाप्तं सुखं तैरहो! सार्वभौमं, तथान्ते कृतं हस्तसाद् दिव्यधाम॥ २॥
भवेत् कष्टमाकस्मिकं भूरि भीमं, रणे वा वने वा गतं वीतसीम।
तदग्निप्रभं चेद् विधत्ते सुबीमं, स्मृता वेदधात्री नितान्तं प्रतीमः॥ ३॥
भवेन्नाम तस्याः शरीरस्य वर्म, स्मृतं जायते रक्षितं येन मर्म।
रिपूणां वृथा स्यात् समं छद्मकर्म, प्रभावेण मातुर्मिलेदाशु शर्म॥ ४॥
परित्यज्य सांसारिकं मित्र! नर्म, न यायाद् वृथात्वं यथेदं स्ववर्ष्म।
तथा चिन्तयित्वा हृदि स्वीयधर्मं, जनन्याः पदाब्जे कुरुष्व प्रणामम्॥

इनमें प्रति चरण का अन्त्याक्षर 'म' कर्णिकाक्षर है जो बीस बार पढ़ा जाता है।

५—**कदली-बन्ध**—वृक्ष-बन्धों में इस बन्ध की रचना का लक्षण इस प्रकार है :—

मूलान्मध्ये तथा पत्रे, मध्ये पत्रे ततस्ततः।
पञ्चपत्रान्विते भ्रान्त्वा, सम्पठेत् कदलीतरुम्॥

इसके अनुसार वृक्ष के मूल से आरम्भ कर मध्य तक पहुँचते हैं तथा प्रतिपत्र में स्थित तीन-तीन अक्षरों के पश्चात् मध्यान्तर का पठन करते हैं। पद्य इस प्रकार है :—

कुर्वन् सेवां सज्जनानां विद्वन् मोदस्व मानद।
दयया मदयन् नित्यं दयनीये दयां कुरु॥ चित्रालङ्कार-चन्द्रिका॥

इसमें मध्याक्षर 'द' छः बार आवृत्त हुआ है।

६–पुष्पलता-बन्ध–इस बन्ध में मूल भाग से वाम और दक्षिण भागों में दो-दो चरणों का पठन किया जाता है तथा प्रत्येक चरण का प्रथमाक्षर श्लिष्ट होकर चार बार पढ़ा जाता है। १-२ चरणों और ३-४ चरणों के अन्त्य वर्ण भी श्लिष्ट हैं तथा प्रति चरण का तृतीयाक्षर प्रतीकरूप में रखा गया है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

मूलाद् वामे दक्षिणे च, पत्र-पुष्पेषु संव्रजन्।
साङ्क-श्लिष्ट युतानर्णान्, पठेत् पुष्पलताऽभिधे ॥

इसके अनुसार बन्ध का पद्य निम्नलिखित है—

श्रीसारस्वत्यसेवासमधिगतयशाः सत्कविर्विद् द्विजेशः,
श्रीधामा ख्यातनामा गणकगणगुरुः प्राप्तविद्याप्रकाशः।
श्रीराकाकान्तधर्तुः पदकमलसमाराधकः पुण्यकर्मा,
श्रीमन्तः सेवयन्ते यमिह स जयतु श्रीरमाकान्तशर्मा ॥

यहाँ क्रमशः '**श्री**' का चार बार, और '**शर्मा**' का दो बार आवर्तन हुआ है तथा कवि के पितृनाम '**श्री रमाकान्त शर्मा**' का नामाङ्कन भी प्रतीक रूप में निहित है।

इस प्रकार वनवैभव की अनन्तता से चुने हुए ये चित्र साहित्यकार की नैसर्गिक अभिरुचि को आलोकित करने में पूर्ण सहयोगी बने हैं।

———

[तृतीय अधिकरण]

३–आभरण-चित्र-बन्ध

भारतीय आस्तिक जगत् ने अपने इष्टदेवों की स्तुतियों में उनके अनेक आभरण-धारी होने का सूचन अत्यन्त ही विस्तृत किया है। पाषाण-युग में पत्थरों के विभिन्न आभरण बनाकर पहनने के प्रमाण भी हमें यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। यही कारण है कि धातु-युग के पश्चात् भारतीय ललनाओं तथा पुरुषों में आभरण के प्रति अनुराग अत्यधिक बढ़ गया। चित्रकवियों ने भी अपने काव्यों में आभरण-संबंधी अनेक चित्र-बन्ध प्रस्तुत किये हैं। जिनका यत्किञ्चित् दर्शन इस शीर्षक में हम करेंगे।

हार बन्ध और उसके पठन प्रकार :—शरीर के बाहर दिखाई देने वाले सभी अवययों में आभरण पहनने की रुचि समाज में रही है। यदि अधिक न हुआ तो कण्ठ में अपनी शक्ति के अनुसार एकाध आभरण रहना तो नारियों के सौभाग्य तथा मनुष्यों की सम्पन्नता का आधार ही माना गया है। चित्र कवियों ने भी आभरणों में हार-बन्ध को ही सर्वाधिक सम्मान दिया है। उनके द्वारा सम्मानित हार-' मणि, मुक्ता, सुवर्ण-पत्र आदि

के तो हैं ही, साथ ही पुष्पहार भी अनेक प्रकार से निर्मित हैं। आलेख्य-पद्धति में भेद रहते हुए भी पठन प्रकार में साम्य रहने से तथा कहीं पुष्पमाला और कहीं मणिहार आदि नाम का उपयोग कर उनमें कोई पृथक् भेद स्वीकार नहीं करने से हम इन्हें एक साथ ही प्रस्तुत कर रहे हैं। इनका पठन प्रकार कभी चर्तुदल-कमल जैसा, कहीं प्रवेश-निर्गम-पद्धति का और कहीं भ्रमण-पद्धति का आश्रय लेता है। प्रायः सभी चित्र-बन्धों में आदृत श्लिष्ट-अक्षरों का आश्रय यहाँ भी अवश्य लिया गया है और कहीं-कहीं नामांकन आदि को भी महत्त्व मिला है।

कङ्कण-बन्ध

इस बन्ध के कतिपय उदाहरण हमें प्राप्त होते हैं। इनमें वेङ्कटेशकवि ने 'चित्र-बन्ध-रामायण' में एक पद्य दिया है। इस बन्ध की रचना बत्तीस कोष्ठक वाले कङ्कण की आकृति में पद्याक्षरों की स्थापना से की गई है। इसके पठन में ग्रह-मुक्त प्रकार से बत्तीस पद्यों की रचना हो जाती है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :—

रामं देवं धामायावं, द्रागाकारं भो दातारम्
गेयो भूदारो यो धेयो, वन्दे हंसं तं भिन्नाधिः ॥ ३६ ॥

इसमें प्रथम पद्य का एक अक्षर छोड़कर उसे अन्तिमाक्षर के साथ जोड़ देने से द्वितीय पद्य बन जाता है। तदनन्तर क्रमशः पूर्वाक्षर का त्याग कर उसे अन्त में जोड़ देने से बत्तीस पद्य बनाये जाते हैं।

१-कङ्कण-बन्ध (रामायण) :—इसी बन्ध का द्वितीय उदाहरण वशिष्ठ गोत्रीय कृष्णमूर्ति कवि ने कङ्कण-बन्ध-रामायण के रूप में दिया है। कवि ने इसकी रचना से पूर्व यह सूचन किया है कि पूर्व-कवियों ने कंकण-बन्ध के कतिपय उदाहरण तो दिये हैं, किन्तु उनमें कथा-क्रम का संग्रथन न होने से वे इतने सुकर नहीं बन पाये हैं। अतः मैं रामायण की कथा से समृद्ध इस बन्ध की रचना करता हूं[1]। उनका उदाहृत पद्य इस प्रकार है :—

नेता देवालीनामाशाधानाधीनानेकालोका।
मास्थानं भाख्यायोगी शं पायादेतं रामे राजा ॥

इसी पद्य का प्रथम अक्षर 'ने' अन्त्य के अक्षर 'जा' के आगे रख देने से निम्न पद्य बन जाता है :—

तादेवालीनामाशाधानाधीनानेकालोकामा।
स्थानं भाख्यायोगी शं पायादेतं रामे-राजाने ॥

इसी क्रम से ग्रह-मुक्त पद्धति के अनुलोम-पाठ से बत्तीस पद्य बनते हैं तथा विलोम-पाठ द्वारा पूर्वोक्त क्रम से बत्तीस पद्य और बन जाते हैं। इन चौंसठ पद्यों में क्रमशः छः

१- ननु कङ्कणबन्धकृतिः कृतिनामपि नो सुकरा यदि वा कविभिः।
कविभिर्घटितास्ति तथापि कथाक्रमसंग्रथिता न चकास्ति भुवि ॥ टीका-भाग ॥

काण्डों का विभाग है जिनमें रामायण की कथा संगृहीत है स्वयं कवि ने इस पद्य पर टीका लिखी है तथा उसका क्रम-निर्देश इस प्रकार किया है :—

चतुः षष्ट्यर्थसम्बन्धो, बन्धो द्वात्रिंशदक्षरः ।
सतां मुदे विजयतां नितान्तमतिदुष्करः ॥

प्राचेतसादिकविराजविराजमानवाक्केलिसिन्धुततिसङ्गति-बन्धुरस्य ।
श्रीरामकीर्तिभरभव्यपयःपयोधेः, सेयं कृतिर्भवति कङ्कणबन्ध एव ॥

द्वादशांशं प्रथमतो, द्वितीये तु त्रयोदश ।
तृतीये षट् चतुर्थे स्युरेकादश ततो दश ॥
पञ्चमे द्वादश तथा, षष्ठे काण्डे क्रमात् कृताः ॥

इस प्रकार कुल चौंसठ पद्यों का विभाग किया है। पद्यों का संकलन इस क्रम से किया जा सकता है :—

१-नेता०, २- तादे०, ३- देवा०, ४- वाली०, ५- लीना०, ६- नामा०, ७- माशा०, ८- शाधा०, ९- धाना०, १०- नाधी०, ११- धीना०, १२- नाने०, १३- नेका०, १४- कालो०, १५- लोका०, १६- कामा०, १७- मास्था०, १८- स्थानं०, १९- नंभा०, २०- भाख्या०, २१- ख्यायो०, २२- योगी०, २३- गीशं०, २४- शम्पा०, २५- पाया०, २६- यादे०, २७- देतं०, २८- तंरा०, २९- रामे०, ३०- मेरा०, ३१- राजा०, ३२- जाने०, ३३- जारा०, ३४- रामे०, ३५- मेरा०, ३६- रातं०, ३७- तंदे०, ३८- देया०, ३९- यापा०, ४०- पाशं०, ४१- शंगी०, ४२- गीयो०, ४३- योख्या०, ४४- ख्यामा०, ४५- मानं०, ४६- नंस्था०, ४७- स्थामा०, ४८- माका०, ४९- कालो०, ५०- लोका०, ५१- काने०, ५२- नेना०, ५३- नाधी०, ५४- धीना०, ५५- नाधा०, ५६- धाशा०, ५७- शामा०, ५८- माना०, ५९- नाली०, ६०- लीवा०, ६१- वादे०, ६२- देता०, ६३- ताने० और ६४- नेजा०।

ये प्रत्येक पद्य के आरम्भ के दो-दो अक्षर हैं। वैसे यह टीकाकार की विशिष्ट प्रतिभा से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। क्योंकि, ये अक्षर केवल प्रतीकात्मक बन गये हैं और कवि ने स्वयं इनकी टीका निर्माण कर रामायण की कथा का समन्वय दिखलाया है। कुछ भी हो, विश्वसाहित्य में ऐसी अपूर्व रचना की महत्ता सदा स्मरणीय ही है।

२-कङ्कण-बन्ध (रामायण)—इस पद्धति का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण चारलू भाष्यकार शास्त्री ने बनाया है जिसकी विशेषता यह है कि एक ही पद्य के एक सौ अट्ठाईस अर्थ किये गये हैं। चौंसठ पद्यों में प्रत्येक पद्य के दो-दो अर्थ इसकी अभिन्नता का परिचायक है। पद्य इस प्रकार है :—

रामानाथामारासाराचारावारागोपाधारा ।
धाराधारा भीमाकारा, पारावारासीतारामा ॥

इसमें भी रामायण की कथा का समावेश किया गया है।

३-कङ्कण-बन्ध–चावलिरामसूरि ने भी चौंसठ पद्यगर्भित इस बन्ध की रचना की है। पद्य इस प्रकार है :—

साराचारा रामामारा काराधारा दानाधारा।
मामारामा धारादारा दानाकादा धारावामा ॥ अलङ्कारमुक्तावली।

पूर्वोक्त उदाहरण से यद्यपि इसमें अधिक वैशिष्ट्य नहीं है तथापि इसकी अक्षर योजना से सारल्य अवश्य प्रतीत होता है। इसमें किसी कथा का समावेश भी नहीं है, किन्तु यह संग्राह्य अवश्य है।

४-कङ्कण-बन्ध–म०म० रामावतारशर्मा ने भी इस दिशा में प्रयास करते हुए एक नवीन प्रकार इस बन्ध का उपस्थित किया है। जिसमें तीन-तीन अक्षर प्रति कोष्ठक में हैं और सोलह कोष्ठकों से कङ्कण की आकृति पूर्ण की गई है। इस बन्ध की विशेषता भी पूर्व बन्धों के अनुसार ही है जिसमें किसी भी कोष्ठक से पद्यारम्भ करके लोम तथा विलोम पाठ द्वारा पद्य पूर्ति की जा सकती है। उभय विधि से पढ़ने पर बत्तीस पद्यों का निर्माण हो जाता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :...

राघवः सुप्रभः पापहृत् सर्वदा, जायतां धीमतां भूतये श्रीपतिः।
सर्वदः सद्गुणः सन्ततं सुन्दरः, सौख्यदः केशवः पालकः सन्नृणाम् ॥

पूर्व-बन्धों में एक-एक अक्षर से बन्ध पूर्ण हुआ है, जबकि इसमें तीन-तीन अक्षरों का शब्द ही बन्ध का पूरक है।

काञ्ची-बन्ध—इस बन्ध का प्रथम उदाहरण अवतारकवि ने 'ईश्वर-शतक' में दिया है, जिसमें समुद्गयमक और गोमूत्रिका-बन्ध का भी समावेश हुआ है। इसकी आकृति काञ्ची के रूप में बनाकर सात-सात विभागों में एक-एक अक्षर लिखा जाता है तथा मध्य में दो अक्षर एक ही स्थान पर लिखे जाते हैं। पद्य का पूर्वार्ध ही पुनः पठन से उत्तरार्ध बन जाता है। पद्य इस प्रकार है :—

नरकं कालमालाभरणा हि तरसा श्रिताः।
नरकङ्कालमालाभरणाहितरसाश्रिताः ॥ १३ ॥

इसमें **'भर'** अक्षर मध्य में एक ही स्थान पर रखे जाते हैं।

१-काञ्ची-बन्ध–इसी कवि ने द्वितीय उदाहरण निम्न पद्य से दिया है जिसमें पद्य के कतिपय अक्षर श्लिष्ट बनाये गये हैं। पद्य इस प्रकार है :–

स्फूर्जन्महाः प्रसन्नास्ते क्षणादेव त्वयि स्तुते।
स सन्महानमुत्रास्ते यस्त्वां देव नमोऽस्तुते ॥ ९८ ॥

इसमें **'महा, स्ते, देव, स्तुते'** ये अक्षर श्लिष्ट हैं।

हार-बन्ध (त्र्यक्षर-श्लिष्ट-मणिमय)

श्रीगिरिधारीलाल शास्त्री ने इस बन्ध की रचना की है, जो निम्नलिखित लक्षण पर आधारित है :–

आदि-मध्यावसानेषु श्लिष्टाक्षर-निवेशनात् ।
निर्मितो मणिहारोऽयं मानसं रंजयेद् विदाम् ॥ चित्राङ्कार-चन्द्रिका ॥

इसके अनुसार आदि, मध्य और अन्त में श्लिष्टाक्षरों की योजना करके चार चरण के अक्षर प्रत्येक मणि में लिखने से यह बन्ध पूर्ण होता है। चारों चरणों में नियत स्थान पर तीनों वर्णों की चार-चार आवृत्ति ही इसकी विशेषता है। यथा :-

श्रीनाथस्य पदारविन्दमधिकं यः सर्वदा सेवते,
श्रीदामोदरलालतश्च मधुरां यः सत्कथां विन्दते ।
श्रीगोवर्धनलाल एवमतुलं सोऽयं हि राराज्यते,
श्रीयुक्तं विनिवेदयामि मणियुक्तं हारकं भूभृते ॥

यहाँ **'श्रीमते'** इन तीन अक्षरों की १-१०-१६ संख्यक स्थानों पर प्रतिचरण में श्लिष्टता है।

१-हार-बन्ध (नवरत्न-साङ्क) :—उपर्युक्त पद्धति के अनुसार ही श्रीकरमलकर-शास्त्री ने स्तव्य का नामाङ्कन करते हुए आलेखन की नवीनता से युक्त इस बन्ध की रचना की है। इसमें छः मणियाँ हैं, जिसमें दस-दस पत्र की आकृतियाँ बाहर हैं और दो कर्णिका के दोनों पार्श्व में हैं। आदि, मध्य और अन्त के तीन अक्षरों को तीन स्वर्णपुष्पों में अङ्कित किया है। यथा :—

राजन् त्वं गुर्जरीयानव निजसुतवच्छ्रीसयाजीतभीते,
राष्ट्रे गर्जत्वभीक्ष्णं सकलजनमुखे नाम मायां विना ते ।
राज्ञां हारे मणिर्वा लसति जहि रिपूनस्तु शं सर्वदा ते ॥
राज्येऽन्येशः स्वकीर्त्यैं भुवि भजतु सदा पद्धतिं श्रीमतीं ते

इसमें **'राजते'** अक्षर तीन स्थानों पर प्रति चरण में श्लिष्ट हैं तथा **'गुर्जरेशः श्रीसयाजी'** यह स्तव्य-नामाङ्क दिया है।

२-हार-बन्ध (पुष्पलतात्मक-साङ्क) :—श्रीकरमलकरशास्त्री ने उपर्युक्त पद्धति में केवल आकृति भेद करते हुए इस बन्ध की रचना की है। इसमें आदि, मध्य और अन्त के अक्षरों के अतिरिक्त अन्य श्लोकाक्षर भी पुष्पों की पत्रिकाओं में अङ्कित कर हाररूप पुष्पलता की रचना की गई है। यथा :-

राज्ये श्रीहोल्कराख्ये भुवि विजयिभटैः खड्गवल्ल्या विभाते,
राज्ञीयं लब्धराज्या सकलजनहिते ऽभूद् रता हि प्रभूते ।
राष्ट्रेऽत्राकल्पमस्या गुणभजन-परैर्नाम सेव्यं प्रभाते,
राजत्स्त्रीरत्नमेतत् सितनिजयशसा भूतले देवि आस्ते ॥

इसमें भी **'राजते'** अक्षर तीन स्थानों पर प्रति चरण में श्लिष्ट हैं तथा **'होलकर देव्यहिल्या'** यह स्तव्य-नामाङ्क दिया है।

३-हार-बन्ध (चतुरक्षर-श्लिष्ट):– श्रीलक्ष्मीनारायणशास्त्री काङ्करोली निवासी ने आदि और अन्त में एक-एक तथा मध्य में दो-दो पंक्तियों के लिये दो पृथक्-पृथक् अक्षरों को श्लिप्ट बनाकर नवीन रूप उपस्थित किया है। उदाहृत-पद्य इस प्रकार है :–

लक्ष्मीवाक् श्रितमुखजलज सुधृतसुशासनमाल,
लघु निघ्नीकृत बुधव्रजधृत-सद्गुण-मणिमाल।
लब्ध-यशःसमुदयसुनय-विबुधगिरां वर-माल,
ललितहृदय सुचिराय जय सुखकर मोहनलाल ॥ १ ॥

इसमें आद्यन्त के अक्षर **'ल ल'** चार-चार बार तथा मध्याक्षर **'ज य'** दो-दो बार आवृत्त हुए हैं।[1]

४-हार-बन्ध (मध्याक्षर-श्लिष्ट-साङ्क):–नाथद्वारा (राजस्थान) के एक अज्ञातनामा विद्वान् ने इस बन्ध की रचना केवल मध्याक्षरों को श्लिष्ट बनाकर की है। इसमें पाँच लड़ियाँ है, जिनके मध्य में स्थित पाँच अक्षर और एक नायकमणि की सन्धि में स्थित अक्षर श्लिष्ट हैं। नायकमणि में आठ दल और आठ दलसन्धि के स्थानों में भी अक्षर स्थापित हैं। यथा :–

यशः श्रियं सदा त्वं भूर्भूपाल भुज्यतां सुखं,
ईतिर्निवार्यतां पापा, पार्वतीवल्लभेन ते ॥ १ ॥
सुविभातु प्रजापाल, लंकेव नगरी तव।
पातु पासि करेणासिं, सिंहशत्रो प्रजाश्च गाः ॥ २ ।
श्रीपतिस्त्वां सदैवेह, हरिदीर्घायुषं क्रियात्।
भूपालसिंह भूप त्वद्, भूयादाशीरियं शुभा ॥ ३ ॥

इसमें **'भूपालसिंह'** ये मध्याक्षर दो-दो बार आवृत्त हैं तथा अन्तिम दो चरणों के अक्षरों को नायक-मणि में लिखा गया है।

५-हार-बन्ध (आद्यन्ताक्षर-सांक) :–श्रीजयतिलकसूरि ने 'चतुर्हारावली-चित्रस्तव' में इस बन्ध की रचना की है। इसमें आदि और अन्त में प्रतिचरणों के अक्षरों से विशेष नामाङ्कन रखते हुये मध्याक्षरों को मणियों में स्थान दिया है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :–

श्रीनाभिसूनो जिन सार्वभौम, वृषध्वज त्वन्नतये ममेहा।
षड्जीवरक्षापर देहि देवी, भर्त्रार्चितं स्वं पदमाशु वीर ॥ १ ॥

१—राजस्थान संस्कृत साहित्य-सम्मेलन के सातवें (उदयपुर) अधिवेशन की विवरण-पत्रिका में यह बन्ध प्रकाशित है।

इसमें आद्याक्षरों से 'श्रीवृषभ' और अन्त्याक्षरों से 'महावीर' नामों का अङ्कन किया है। इसी प्रकार के अन्य पद्यों से २४ तीर्थङ्करों का नामाङ्कन स्तव में दिया है।

६—हार-बन्ध(मणिमय)——भट्ट मथुरानाथशास्त्री ने 'जयपुर-वैभव' में एक अनुष्टुप् द्वारा नवीन आकृति का यह बन्ध प्रस्तुत किया है। इसमें चार अक्षर मध्य में और उनके नीचे सात मणियों में सात अक्षर दिये हैं। तथा दोनों पार्श्व में पाँच-पाँच अक्षर अन्य मणियों में दिये हैं, जिन्हें मध्याक्षरों के साथ गोमूत्रिका-क्रम से पढ़ने पर पद्य पूर्ण होता है। यथा—

सदाशिवः स्वयं धत्ते यदभेदभ्रमागतः।
सदाशिवमयं द्राक् ते प्रदत्तादभ्रमागतः॥

इसमें- 'सदाशिव यं ते द द मागतः' ये अक्षर दो-दो बार आवृत्त हैं।

७—हार-बन्ध—वेङ्कटाध्वरी ने 'लक्ष्मी-सहस्र' काव्य के चित्रस्तबक में इस बन्ध का उदाहरण दिया है। वहीं टीका में इसका लक्षण यह दिखलाया है—

हारान्तरे तु दलयोराद्यवर्णचतुष्टयम्।
रसाष्टदिग्रविमनु-तिथि-भूपाः समास्तथा॥

इसमें अनुसार पूर्व और उत्तर के दलों में आदि के चार वर्ण समान रख कर क्रमशः छः, आठ, दस, बारह, चौदह, पन्द्रह और सोलह संख्या के वर्णों को समान रखते हुए इस बन्ध की रचना की जाती है। यथा—

समुद्रजोन्नतान् कुर्यात्, सा नः संसारतारिका।
समुद्रजोन्वितान् कीर्यात् पुनस्त्रासान्वितारिका॥ २१॥

इसमें पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के ५-७-६—११-१३ संख्या वाले अक्षर श्लिष्ट नहीं है शेष अक्षर दो दो बार पढ़े जाते हैं।

८—हार(माला)बन्ध—दामोदर शास्त्री ने 'चित्रबन्ध-काव्य' में आठ बड़ी मणियों से इस बन्ध की रचना की है। और न्यास-प्रकार यह दिखलाया है—

मध्यतः पदमेकं तु, गौमोत्रेण पदद्वयम्।
जानन्तु शेमुषीप्रेष्ठा, माला-बन्धेऽत्र नूतने॥ पृ० २७॥

इसके अनुसार प्रतिमणि में तीन-तीन अक्षरों की स्थापना है, जिनका गोमूत्रिका-क्रम से अर्थात् मध्याक्षरों का एक बार पाठ कर के दूसरी बार प्रतिमणि के समस्त पदों का एक साथ-पाठ होता है। यथा—

राधिका राकया भाति सौराज्यसाधिशालिका।
कृष्णराज्ञी शं करोतु या चन्द्राभा विभूतिदा॥

इसमें प्रथम चरण मणियों के मध्य में अंकित है और उसी के आठ अक्षर अन्य स्थानों पर आवृत्त हुए हैं।

९–हार (माला) बन्ध—इसी कवि ने वहाँ एक अन्य बन्ध का न्यास-प्रकार यह दिया है–

अनुलोम-विलोमभ्यां, मध्येऽधः पुनरेव हि ।
भ्रमन् व्रजेत् कविश्रेष्ठो, मालाबन्धेऽत्र नूतने ॥

इसके अनुसार ग्यारह मणियों की सन्धिस्थलियों में एक-एक अक्षर तथा मध्य की लघुमणि में एक अक्षर स्थापित है। चार और नौ संख्या की मणि में भ्रमण-पद्धति का तथा शिरोमणि में यथाक्रम पाठ होता है, जब कि अन्य मणियों में अनुलोम-विलोम-पाठ होता है। यथा—

रतिपति-वलकालव्यालशोभिप्रियाभिरिह वह सहमानज्ञानभानस्वधर्मम् ।
घर भर नम चेम प्रेम यातु प्रयातु. व्रतयुत मत शम्य क्षम्य दम्य प्रजेश ॥

इनमें क्रमशः 'ति-ल-भि-ह-न-र-म-तु-त-म्य' अक्षर कुछ स्थानों पर दो-दो बार तथा अन्यत्र तीन-तीन बार आवृत्त हुए हैं।

१०–हार-बन्ध—किसी अन्य अज्ञातनामा कवि इस ने बन्ध की रचना का नवीन प्रकार उपस्थित किया है। इसमें चतुर्दल-कमल जैसे दो-दो मुक्तकमलों के पश्चात् सन्धि में एक-एक मणि अधिक जोड़ दी है। गतागत-पठन से इस बन्ध का निम्न पद्य पूर्ण होता है। यथा—

भुवन-वद-वरिष्ठो विप्र-विद्याविलासः, स्मरहर परमिष्टः शिष्टशिष्टाशिवघ्नः ।
मतिततिगतितुष्टो लब्धलक्ष्म्यालयोऽयं, गुरुरुरुपुरुषेड्यः शभ्रशक्रेश वोऽस्तु ॥

इसमें प्रतिचरण के व-वि-र-शि-ति-ल-रु-श,' ये अक्षर प्रतिकर्णिका में रह कर तीन-तीन बार आवृत्त हुए हैं।

११–हार-बन्ध (मणि-स्वर्णपुष्पमिश्रित) श्रीपुञ्जराज ने 'शिशुप्रबोध-काव्यालङ्कार' में इस बन्ध की रचना बीस मणि और तीन पत्र वाले बारह स्वर्णपुष्पों के मिश्रण से की है। पद्य का आरम्भ हार के नायकपुष्प की निकटस्थ मणि से होता है। दो मणियों के पश्चात् पुष्प के मध्यपत्र, बाह्यपत्र और अन्तःपत्र का पठन करके पुनः मध्यपत्र और बाह्यपत्र का दूसरी बार पठन होता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार हैं—

दद्यादानन्ददानं दनुतनुजतनुच्छेद-दक्षः सदक्ष-
ध्वंसी लोकावलोकाकलितनुततनुर्विश्वभावः स्वभावः ।
वः कालापं कलापं कलयति नियतिस्फीतधामातिधामा,
सर्वाकाशाऽवकाशात्मकरुचिररुचिर्दग्धमारः प्रमारः ॥ ७-४५ ॥

इसमें क्रमशः 'दा-नं-त-नु-द-क्ष-लो-का-नु-त-भा-व-ला-पं-य-ति-धा-म-का-शा-रु-चि भा-रः' ये अक्षर दो-दो बार आवृत्त हुए हैं।

१२–हार (प्रेममाला)बन्ध–दामोदरशास्त्री ने तीन दल वाली बीस स्वर्णपत्रिकाओं से निर्मित इस बन्ध का न्यास-प्रकार यह दिया है—

गोमूत्रिका-क्रमेणैव, चतुष्पादास्तु मध्यतः ।
भिन्नार्थवाचकाःशब्दा, मालाबन्धेऽत्र नूतने ॥ पृ० २६ ॥

इसके अनुसार प्रतिपत्रिका में निहित तीन-तीन अक्षरों का गोमूत्रिका-क्रम से पाठ होता है तथा मध्यपत्रों के अक्षर-संकलन से पृथक् एक वाक्य निकलता है । यथा :—

पशुपतिभजनं मा रक्ष लेयं जयं त्वं,
शिशुरिह भजते तां त्वां नरास्तेऽपि धन्याः ।
दध नटवर साकं नून् मठेशैस्तु मेशं,
विश हृदि कृतिपाता भाललेखिन् प्रयाहि ॥

इसमें 'सुममालेयं शुभतां राधाधवकण्ठे मेशकृता लेया' ये मध्याक्षर के रूप में श्लिष्ट हैं । यहाँ 'मेश' यह कवि का उपनाम है ।

१३–हारबन्ध(छः पुष्पात्मक)-श्रीकृष्णपरकालस्वामी ने 'अलङ्कार-मणिहार' में इस बन्ध की रचना चार-चार दल वाले सकर्णिक छः पुष्पों से की है । जिसमें पत्र, कर्णिका, पत्र, कर्णिका और पत्र इस रूप में पाठ होता है । उदाहृत पद्य इस प्रकार है :—

श्रीलक्ष्मीलक्ष्मालंक्रियं घनाघनघनश्रियभयभयदम् ।
नूतध्यातं चेतःशेबधराधरध रार्माणि गुणिभणितम् ॥ २३७५ ॥

इसमें 'क्रमशः ल-घ-य-त-रा-णि' ये अक्षर कार्णिका में स्थित होकर तीन-तीन बार आवृत्त हुए हैं ।

१४—हार-बन्ध (आठ पुष्पात्मक)—बङ्गीय विद्याभूषण ने 'साहित्यकौमुदी' में इस बन्ध की रचना पूर्वोक्त पद्धति के आधार पर आठ पुष्पों में की है । यथा :—

कुरु तरुणि रुषं नोपतापप्रपन्ने भज निजविजनं तारहारस्फुरन्ती ।
स्तनकनकनगौ शातपातप्रतप्तां तनुतनुतनुतां भावशाबल्यवत्ताम् ॥

इसमें क्रमशः रु-प-ज-र-न-त-नु-व' ये अक्षर कार्णिका में स्थित होकर तीन-तीन बार आवृत्त हुए हैं ।

१५–हार-बन्ध (नव-पुष्पात्मक)—म०म० रामावतारशर्मा ने उपर्युक्त पद्धति में ही कुछ नवीनता लाकर इस बन्ध की रचना की है । इसमें ऊपर एक योजक ग्रन्थि है जहाँ से पद्य दो पार्श्वों में चार-चार पत्र वाले सकर्णिक चार-चार पुष्पों से अवतरित होता है । मध्य में नायक पुष्प पाँच पत्र वाला सकर्णिक है जो द्वितीय और चतुर्थ चरण के अन्तिम पाँच-पाँच अक्षरों के योग से बनता है । यथा :—

सदा शम्भो शस्ताशयविनयनम्रं नरममुं,
त्वमुक्तौ मुख्यत्वं सरसमसमं प्रापय परम् ।

स ते दृष्टया दृष्टा दृतिरिव भवन्नेव सततं,
न तं गीतं गायन् महिमनि मनस्थापय परम् ॥

इसमें क्रमशः 'र-मु-स-पू-म-ते-व-ह' ये अक्षर कर्णिका में रहकर तीन-तीन बार आवृत्त हुए हैं। किन्तु द्वितीय और चतुर्थ चरण संयोग से निष्पन्न पञ्चपत्रात्मक पुष्पों की कर्णिका में स्थित 'प' अक्षर की चार बार तथा ऊपर की ग्रन्थि में स्थित 'स' अक्षर की दो बार आवृत्ति हुई है।

१७--हार-बन्ध (बारह-पुष्प साङ्क)—करमलकर शास्त्री ने उपर्युक्त पद्धति के आधार पर बारह पुष्पों में इस बन्ध की पूर्ति करते हुए नामांकन भी किया है। यथा :—

त्वं मोधान् मोग्रमोहादिह हि हर हठात् स्वान्नरानस्वनत्रान्,
त्वं दावोदास्यदारुण्यसतिसति सदा ते जिता जिह्मजिह्वा।
एकस्त्वं कर्म कर्तुर्नरवर सरसि त्वं महामन्दमर्त्यैः,
वाचं काचं शुचं नो वद तुद सदयं त्वं जयाजय्यजन्तून् ॥

इसमें 'मोहदासजि-करमचन्दज' ये अक्षर कर्णिका में स्थित होकर तीन-तीन बार आवृत्त हुए हैं तथा ये ही नामाङ्कन बन गये हैं।

१८—हार-बन्ध (ग्यारह पुष्प एवं ग्रन्थियुक्त) - उपर्युक्त पद्धति में कुछ नवीनता प्रस्तुत करते हुए म० म० रामावतारशर्मा ने दस पुष्प चार पत्रात्मक और एक नायक पुष्प छः पत्रात्मक सकर्णिक देकर ऊपर की ग्रन्थि में एक अक्षर की संयोजना द्वारा इस बन्ध की रचना की है। यथा :—

देवीरम्यारसीरप्रकृतिगतिमतिप्रौढिभव्याभवाभ-
त्रान्रं (णं) दत्ता दयोदध्यनुपमपशुप प्रेम हर्म्याहनीह।
त्वं हर्म्याहः संहतिं सा तव तपत इयं जन्मिजय्याजयौघं,
धन्या धर्म्याधरित्रीं दिशि दिशि दिशतां शत्रशस्त्रांशवादे ॥

इसमें क्रमशः 'र-भ-द-प-ह-त-ज-ध-दि-श' ये अक्षर कर्णिका में स्थित होकर तीन-तीन बार आवृत्त हुए हैं किन्तु मध्य के नायक पुष्प की कर्णिका में स्थित 'ह' की आवृत्ति छः बार तथा इसी पुष्प के ऊपर वाले एक पत्र में 'र्म्या' अक्षर की दो बार आवृत्ति हुई है। इसी प्रकार ऊपर की ग्रन्थि में स्थित 'दे' अक्षर की भी आदि-अन्त में आवृत्ति हुई है।

१९--हार-बन्ध (षष्टिपुष्पात्मक)—महाराष्ट्रीय कवि मयूरपन्त ने 'अम्लान-पङ्कज-माला-बन्ध पञ्चकम्' के नाम से क्रमांक सत्रह के अनुसार ही पाँच पद्यों द्वारा इस बन्ध की रचना की है। पाँचों पद्यों में एक ही पद्धति अपनाई गई है। यथा :—

दाता धाताऽविता त्वं गृह इह गहने लोकशोकघ्नकर्मा,
दीनानां नाथ नान्यो हृतनतपतनस्त्वां विना विश्ववित्तः।

मायेशा ये नये त्वामनु ननु मनुजास्तैः कृतं कृत्स्नकृत्यं,
वाग्विद्या विघ्नवित्तैर्बत हतमतयो राम ! वा मद्यमत्तः ॥ १ ॥
ज्ञानात्माऽनादिनाथः स्वजनजयजनुः पावनो वर्ण्यवर्यः,
सेवा ते वासवार्हा किमुत मुनिमुदे राम ! भूमन् नमस्ते ।
कालं कालं बलं त्वद् भुजमज न जहातीश मां शर्वशक्ते ।
त्वं हंहो ! हन्तहन्ता हरिररिहरिणो रावणोऽवद्यवर्त्मा ॥ २ ॥
वीरो धीरो गुरो त्वं शुचिरुचिरुचितं सेवितुं विज्ञविर्रा,
मोदाढ्यो दासदायः खलबलविलयो भावनावत्सु वश्यः ।
शान्तोऽनन्तोऽतितोषात् सममभरमणे ! भासि पासि स्वसिद्धः,
साधुर्बन्धुर्विधुर्मा कुरु गुरुकरुणां सेवकेऽव स्ववत्सम् ॥ ३ ॥
माने दानेऽवने सं त्वमसि महिमनो मोहनो हर्षहर्म्यः,
कीशादीशातिशातं सुरनरवर ! ते ह्यादरादत्र दत्तम् ।
स्वाचारे चापचारुव्रतमत इतरे त्वां न केऽनर्यनम्राः,
सेवां हेयवांग वांछन् कपिरपि स पिनाकी सदा सख्यसक्तः ॥ ४ ॥
स्वोजा राजा प्रजानां त्वमति महिमहः पालको लब्धलक्षो,
भोगी त्यागी भगी सोत्सवनवसवको मन्दकन्दर्पदर्पः ।
आज्ञानाशान्न शाढ्यं कृतमुत नतरां घात एतच्च तज्ज्ञै-
र्ज्ञातं तातं हितं त्वां जगुरगुरुगुरुं ज्ञानिनो नित्यनिष्ठाः ॥ ५ ॥

इसमें प्रतिचरण के २-४-६-६-११-१३-तथा १८-२० संख्या वाले अक्षर कार्णिकाओं में रह कर तीन-तीन बार आवृत्त हुए हैं।

२०––हार-बन्ध (अष्टपुष्प चार पत्रात्मक)–वाग्भट ने 'वाग्भटालङ्कार' में इस बन्ध की रचना पूर्वोक्त पद्धति से भिन्न भ्रमण-पद्धति द्वारा आठ पुष्पों में की है। इसमें चार पत्र वाले सकर्णिक आठ पुष्प हैं जिनमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पत्र में क्रमशः भ्रमण करके प्रथमपत्राक्षर को श्लिष्ट बनाते हुए कर्णिकाक्षर एवं तृतीयाक्षर का पुनः पठन होता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :––

चन्द्रेडितं चटुडितस्वरधीतसार-रत्नासनं रभसकल्पितशोकजातम् ।
पश्यामि पापतिमिरक्षयजारकायमल्पेतरामलतपः कचलोपलोचम् ॥२४॥

इसमें क्रमशः 'च-जि-त-र-र-स-क-त-प-मि-र-य-म-त-प-च' अक्षर श्लिष्ट हैं।

२१––हार-बन्ध (षड्पत्रयुताष्टपुष्पात्मक)–म० म० रामावतारशर्मा ने उपर्युक्त पद्धति को और भी विकसित करते हुए छः पत्र-वाले सकर्णिक आठ पुष्पों से इस बन्ध की रचना की है। इसमें मध्यपार्श्व के पुष्पों के निकट दो-दो मणियां और अन्य प्रतिपुष्प के

पश्चात् एक-एक मणि का संयोग भी इसकी नवीनता का द्योतक है। साथ ही पठन-पद्धति में कोई अन्तर नहीं किया है। यथा :—

रामश्रीप्राणनाथो मसृणतरवचा भक्तसारल्यभव्यो,
रक्षोधीशप्रवीरप्रशमनरसिको जानकीरम्यजानिः ।
निर्यद्बाणौघनष्टायतिघनपटलो देवताकूटभाव–
स्तव्यस्त्वं पातु भक्ताव्यवतु तव सुतं धीरसावस्य धीराः॥

क्रमशः 'म-ण-र-म-र-श-र-जा-र-घ-र-ट-व-व्य-तु-व-धी' अक्षर पत्रों में रह कर तीन-तीन बार आवृत्त हुए हैं तथा आदि का अक्षर ही अन्त में श्लिष्ट हुआ है। उसी प्रकार मध्यमणि का अक्षर भी श्लिष्ट है।

२२—हार-बन्ध (चतुर्विंशति पुष्पात्मक)—अष्टलक्षीकर्ता समयसुन्दरगणि ने उपर्युक्त पद्धति का अवलम्बन लेकर चार पत्र वाले दो पुष्प तथा सात पत्र एवं दो कर्णिका से युक्त ग्यारह युगल-पुष्पों से युक्त इस बन्ध की रचना निम्नलिखित तीन पद्यों से की है। इसमें कर्णिकाक्षर से पद्यारम्भ होता है तथा युगल-पुष्पों में दस, चौदह और पन्द्रह की संख्यावाला अक्षर चौथे पत्र में तीन बार श्लिष्ट होता है। बन्धकार ने इन पद्यों से बने स्तोत्र का नाम 'हारबन्धद्वय-चलच्छृङ्खलागर्भित-श्रीपार्श्वनाथ-स्तोत्र' दिया है। उदाहृत पद्य इस प्रकार है :—

वन्दामहे वरमतं कृतसातजातं, तं मानकान्तमनघं विपरौघकोपम्।
पद्मामलं परमभङ्करा मदाकं, कष्टावली कलिवनद्विपहीन पापम् ॥१॥

पद्माननं पवनभक्षवरं भवावं, वन्दारुदेवमरुजं जिनराजमानम्।
नव्याजमानमजरं धरसारधीरं, रम्याम्बकं रणवधं सुमनोधरोमम् ॥ २ ॥

मन्दारकाममरमं समधामराम-, मर्हन्तमा मयतमस्तति सोमकान्तिम्।
तिग्मोरुतान्तितरु–पर्शु समं परासं, संसीतिहासमतिमर्ह नमाममानम् ॥३॥

(प्रथमहारबन्ध)

उपर्युक्त पद्धति का द्वितीय हार निम्नलिखित पद्यों से बना है :—

गर्वारिभारहरमङ्गजभीमराजं, जन्त्वानतं जयिनमङ्ग ! सदा मदासम्।
नष्टा शिवं नतशिवप्रदमेवसाद,–दम्भायुतं दमयुतं सुगतान्तरङ्गम् ॥ ४ ॥

संसारवासधर शम्बसमं शवासं, सद्वेदास-शिवशर्मकरं शमेकम्।
कम्रं कलाकरकलं गलभालशालं, लब्धोदयं लसदनन्तमतिं नमामः ॥ ५ ॥

मञ्जूदयं मतदयं शुभगेयशोभं, भव्यं विदम्भकविवन्द्यपदाऽवजापम्।
पत्कञ्जरूपविजयं वरकायमार, रक्षाकरं रतिकरं नतसूरजातम् ॥ ६ ॥

(द्वितीयहारबन्ध)

इन छः पद्यों को एक साथ मिलाकर बन्ध रचना करने से पूर्वोक्त आकृति का दुगुना रूप भी बन जाएगा। उपर्युक्त हार-बन्ध की पुष्पिका के रूप में नीचे लिखे पद्य लिखे हैं :—

तुष्टप्रभो गुणगणान्तरवृत्तवृत्त–, मुक्तावलीग्रथितमाशु शिवैकदानम्।
देहीह मे त्वदभिधा स्फुटनायकाग्रं, दृष्ट्वा, भवत्स्तवनहारमुदारमेनम् ।७॥
इति हारबन्धकाव्यै–र्मनोमतं मेऽद्य संस्कृतः पार्श्वः।
विदधातु पूर्णचन्द्रः, सकलसमयसुन्दराम्भोधौ ॥ ८ ॥

इन पद्यों का बन्ध से सम्बन्ध नहीं है।

२३—हारबन्ध (शृङ्खलामय)—म० म० रामवतारशर्मा ने शृङ्खलाओं के परस्पर संयोजन से निर्मित सुवर्णसूत्र-रूप हार का निर्माण निम्न पद्य से किया है। इसमें प्रति एक अक्षर के पश्चात् दो-दो अक्षरों का साम्य है, जो योजकशृंखला में एक अक्षर के रूप में लिखकर श्लिष्ट बनाये जाते हैं। यथा :—

रमामान्यो नानाविधधनुरुरुक्षोभभयदं,
दशास्यस्य क्षिप्रप्रसृततरपापावृततनुम्।
विविच्यान्योन्योच्चैररसममदं स्वस्वनततं,
मुदादासीद्योद्यो सददधिपपक्ष्यः ससहजः ॥

इसमें द्विरावृत्त अक्षर श्लिष्ट हैं।

हार-मध्यनायक फलक (लॉकेट) बन्ध—भट्ट श्रीमथुरानाथ शास्त्री ने नवीन पद्धति के प्रचलित मुक्ताहारों के मध्य में संयोजित सुवर्ण-फलक (लाकेट) का यह बन्ध 'जयपुर-वैभव' में दिया है। इसमें चतुष्कोण-फलक के चारों कोणगत अक्षरों को श्लिष्ट बनाया है। यथा :—

सौभाग्यभृतराज्यश्रीश्रीमानमरराडिव।
वन्द्यः सुमनसां नूनं नन्दतान्मानराडसौ ॥

इसमें सौ-श्री-यं-नं अक्षर श्लिष्ट हैं

अन्य सम्भावनाएँ

आभरण-चित्रों में 'कङ्कण, काञ्ची और हार' ये तीन ही आभरण आदृत हुए हैं, इनमें भी हार ही सबसे अधिक ग्राह्य हुआ है। हम ने भी हार-बन्ध के कुछ प्रकारान्तर से नवीन रूप तैयार करने का प्रयास किया है, जो पूर्वोक्त प्रकारों पर आधारित होते हुए भी अभिनवता लिये हुये हैं।

१-हार-बन्ध (द्व्यक्षर-श्लिष्ट)—यह अत्यन्त सरल प्रकार है। इसमें आदि और अन्त के दो अक्षर श्लिष्ट रहते हैं तथा चारों पदों के मध्याक्षर चार पंक्तिबद्ध मणियों में

लिखे जाते हैं। आद्यन्ताक्षर इन मणि-पंक्तियों के योजक सुवर्ण के त्रिकोण आकृति के पत्र होते हैं। लक्षण इस प्रकार हैं :—

मध्याक्षराणां न्यासः स्याद्, मणिरूपासु पंक्तिषु।
आद्यान्त्याक्षरसंश्लेषाद्, निर्मिते हार-बन्धके॥

और उदाहरण पद्य इस प्रकार निर्मित है :—

व्याकीर्णो यस्य भूमौ सकलकविकला संयुतो वाग् विलासः,
व्याहारे ज्योतिषादौ प्रखरतरकरो वर्तते यद्विकासः।
व्याहारे सत्यवक्ता सपदि कृतपुरातत्त्वबोधे प्रयासः,
व्यासः श्रीसूर्यनारायण इति सुकृती जीवताद् भारते सः॥

इसमें प्रतिचरण के आदि और अन्त्य अक्षर 'व्यासः' श्लिष्ट हैं।

२–हार-बन्ध (चतुरक्षर-श्लिष्ट)—इस बन्ध में आदि और अन्त्य के श्लिष्टाक्षरों के अतिरिक्त मध्य में भी दो अक्षर श्लिष्ट रखे गये हैं। मध्य–मणियों का विभाजन इस प्रकार किया गया है जिससे मणि-संख्या में समानता रहे। लक्षण इस प्रकार है :—

आदौ मध्ये पुनर्मध्ये, तथा चान्ते समस्थितौ।
चतुरक्षर-संश्लेषाद्, हारोऽयं मञ्जु राजते॥

तथा उदाहरण-पद्य निम्नलिखित है :—

विश्वस्मिन् जनताजनार्दनहितं यः सर्वदा चेष्टते,
विज्ञान् मानितसज्जनांश्च निरत यत्नेन यः सेवते।
वित्तं स्वं निखिलं जगद्हितकृते यः सर्वदाऽपेक्षते,
विज्ञः कृष्णगुरुर्जयत्यविरतं यत्तः सुखं भारते॥

इसमें **'विजयते'** अक्षर श्लिष्ट हैं।

३–हार-बन्ध (नामाङ्क संयुक्त)—उपर्युक्त बन्ध में साम्य न रखकर केवल नामाङ्क का संयोजन भी चमत्कारकारी होता है। इस दृष्टि से तीन चरणों के आदि और अन्त के अक्षरों तथा चतुर्थ चरण में आदि, मध्य, मध्य और अन्त्य के अक्षरों का संयोजन करते हुए नवीन हार-बन्ध की योजना की गई है। लक्षण इस प्रकार है :—

आद्यन्तयोस्त्रिपादानां, चतुर्थे च चतुःस्थले।
नामाक्षर-निवेशेन, हारबन्धोऽत्र निर्मितः।

और उदाहरण-पद्य निम्नलिखित है :—

१ अस्तु प्राशस्त्ययुक्तं सकलमपि कुलं कीर्तिकेकाविशाला ४
२ मृद्वीकामध्यमिष्टा प्रसरतु भवताद् श्रीविलासः सलीलः। ५
३ तन्व्या गृह्णन् सुरम्यं भवतु वरवया वर्धतां भूरितेजः, ६
चन्द्रावत्याः सुपाणिं द्रवदमृतनिकायाञ्चितं चन्द्रकान्तः॥

इस पद्य में 'अमृतलालजः चन्द्रकान्तः' ये दस अक्षर तीन चरणों के आद्यान्त में नामाङ्क सूचक हैं तथा चौथे चरण में 'चन्द्रावत्याः चन्द्रकान्तः' इस रूप में भी व्यक्त है जिन्हें अंकों के आश्रय से पढ़ा जा सकता है।

४-हार-(माला)-बन्ध (निरङ्क)—द्वादशपुष्पात्मक हारबन्धों की शृङ्खला में पूर्वदर्शित साङ्क हार के समान ही निरङ्क बन्ध की योजना लेखक ने निम्न लक्षण के आधार पर की है—

सकर्णिकैः पत्रचतुष्कयुक्तैः, पुष्पैरथो राशिमितैर्विरच्य।
हारं दलान्मध्यगताक्षरस्य, श्लिष्टया पठेद् बन्धमिमं सुविज्ञः॥

इसके अनुसार पत्र और कर्णिका में स्थित अक्षरों के योग से यह बन्ध बनता है। प्रतिपुष्प की कर्णिका में स्थित अक्षर श्लिष्ट होकर प्रतिचरण के तृतीयांश में तीन बार पढ़ा जाता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है—

श्रीमान् धीमान् नृमान्यः सकलकविकला संयुतो युक्तियुक्तो,
ज्ञानी ध्यानी मुनीनां स्तुतिनुतिततिभिर्भासितः सिद्धिसिद्धः।
दान्तः शान्तः स्वतन्त्रः समविमलमतिः क्षेमदो मर्त्यमध्ये,
'श्रीकृष्णः' कृच्छ्रकृत्यो जयति यतियशाः सेवितो विश्वविज्ञैः॥

इसमें प्रतिचरण के २-४-६, ६-११-१३ और १६-१८-२० संख्या वाले अक्षर श्लिष्ट हैं।

५-हार-बन्ध (द्वादशपुष्पमय)—पुष्पहारों में शार्दूलविक्रीडित छन्द से भ्रमण और प्रवेश-निर्गम-पद्धति-निर्मित बारह पुष्पों का यह हारबन्ध छन्दोभेद के कारण अपनी नवीनता उपस्थित करता है। इसका लक्षण निम्नलिखित है—

चतुःपत्रात्मके पुष्पे, भ्रान्त्वा स्पृष्ट्वा च कर्णिकाम्।
प्रवेशनिर्गमश्लेषाद् हारो द्वादशपुष्पयुक्॥

अर्थात् इस हार के चार पत्रवाले पुष्प में पहले चारों पत्रों में भ्रमण करना चाहिये तदनन्तर आरम्भाक्षर को श्लिष्ट बनाकर कर्णिकाक्षर पढ़ना चाहिये। इसके पश्चात् बाहर के तीसरे पत्र में स्थित अक्षर को श्लिष्ट बनाकर निकलते हुए वह अक्षर पुनः पढ़ना चाहिये। ऐसे बारह पुष्पां से यह हार-बन्ध बनता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है—

वन्द्यश्रीकं वरश्रीकरतलकलितं सुन्दरं यः सुहारं,
धत्ते नानाऽधनानां विपदमविपदं हन्ति यत्नाद् हरिर्यः।
यश्चारं वीक्ष्य सारं जलनिधिजजनिं वष्टि रत्नं वरोरः,
वन्देऽहं तं वरेहं पदतलपतितः सन्ततं श्रीसमेतम्॥

इसके प्रथम चरण में १-५, ३-७, ८-१२, १०-१४, १५-१९, तथा १७-२१, संख्या वाले अक्षर श्लिष्ट होकर दो-दो बार आवृत्त हुए हैं।

६-हार-बन्ध (मणि-सुवर्ण-पुष्पमिश्रित)—मिश्र-पद्धति से निर्मित इस बन्ध में हार-सूत्र के अन्तिम छोर पर दो फुन्दे, तीस बन्ध ग्रन्थियां, मणि, चतुर्दल-पुष्प सकर्णिक, मणि, द्विपत्रात्मक और मणि के योग से हार का प्रथम भाग बना है इसी प्रकार हार का द्वितीय भाग भी निर्मित है। मध्य में सात पत्रवाला पुष्प है जिसमें मध्यपत्रगत अक्षर श्लिष्ट हैं। इसके चतुर्दल पुष्पों में भ्रमण, प्रवेश और निर्गम-पद्धति का उपयोग किया गया है तथा दो पत्र वाले पुष्पों में केवल प्रवेश-निर्गम करते हुए कर्णिकाक्षर को श्लिष्ट मानने की पद्धति अपनाई है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

चतुष्पत्र-द्विपत्राणां, पुष्पैः सन्मणिभिस्तथा।
मध्यपुष्पसमायुक्तो, हारो मिश्रविधौ मतः॥

इसका उदाहरण-पद्य निम्नलिखित है—

शश्वच्छान्तिमयान् महामतिमतः कल्यङ्कुरान् कर्मठान्,
भव्यापत्तिभरापहान् जलजवज्जन्तुभ्य आनन्ददान्।
दान्तान् नौमितमां विभावितविधीन् व्याख्यानसव्यासन-
प्रौढान् सत्यसखान् सदानतधियाऽऽनन्दाब्धिसूरीश्वरान्॥

इसमें क्रमशः—'श्व-म-म-क-भ-प-ज-दान्-वि-व्या-न-स-न-धि'—अक्षर श्लिष्ट हैं जिन की आवृत्ति कहीं दो बार तथा कहीं तीन बार हुई है।

७—हार-मध्यनायक फलक (बन्ध-लाकेट)—भट्ट मथुरानाथशास्त्री के पूर्वोक्त बन्ध को विस्तृत करते हुए शिखरिणी छन्द में इस बन्ध की रचना लेखक ने निम्न लक्षण के आधार पर प्रस्तुत की है—

अत्र दिक्कोणसंस्थानां, वर्णानां श्लेषपाठतः।
फलकस्यास्य निर्माणं, विदुषां मोददायकम्॥

इसके अनुसार चार कोणस्थ अक्षरों के श्लेषवाला निम्न पद्य इसका उदाहरण है—

रसालानां राशी रसयति जनानां सुहृदयं,
यशोगाथा ऽप्यन्तःकरणशरणा वै सुखयति।
तिरस्कृत्यं ते ना भजति मुदितो यर्हि सुखदं,
दयार्द्रं त्वन्नाम प्रभवति ततोऽप्यत्र मधुरम्॥ गायत्रीलहरी॥

इसमें प्रतिचरण के आदि और अन्त के अक्षर श्लिष्ट हैं।

———

षष्ठ आलोक

[प्रथम–अधिकरण]

४—शस्त्रास्त्र-चित्र

भारतीय शास्त्रों में चार प्रकार के शस्त्र बतलाये हैं, वे इस प्रकार हैं :—१-मुक्त, २-अमुक्त, ३-मुक्तामुक्त तथा ४-यन्त्रमुक्त। इनमें जो मुक्त हैं वे अस्त्र कहलाते हैं तथा जो अमुक्त हैं वे शस्त्र कहलाते हैं। अस्त्रों से चक्रादि की गणना होती है जबकि शस्त्रों में खड्ग आदि आते हैं। शल्य-भाला आदि मुक्तामुक्त कहलाते हैं तथा बाणादि यन्त्रमुक्त की संज्ञा में आते हैं।

भारतीय देवताओं के हाथों में अनेकविध शस्त्रास्त्र रहते हैं। पूर्वाचार्यों ने स्तुति-साहित्य में अन्यान्य विशेषताओं के साथ-साथ शस्त्रास्त्रों का स्मरण भी पर्याप्त रूप में किया है। यही कारण है कि हमें शस्त्रास्त्रों के भी अनेक प्रकार के चित्रबन्ध उपलब्ध हुए हैं, जिनका विवेचन इस अधिकरण में किया जारहा है।

अङ्कुश-बन्ध—'कूटप्रपञ्च-काव्य' में इस बन्ध का उदाहरण मिलता है। इसकी आकृति में मूठ के गोलाकार से पद्य का आरम्भ होता है। प्रथम अक्षर सातवें अक्षर के रूप में श्लिष्ट होता है वहाँ से आगे ऊपर की ओर चलते हुए द्वितीय चरण का छठा अक्षर श्लिष्ट होकर अंकुश की सन्धि में रहता है। इस चरण के शेष दो अक्षर ऊपर रहते हैं—जो तृतीय चरण में विपरीत पढ़े जाकर दक्षिण भाग के दो अक्षरों को साथ लेते हुए तीक्ष्ण भाग में चतुर्थ चरण के साथ पूर्ण होता है। पद्य इस प्रकार है :—

श्रीरामं जलदश्रीकं, कौस्तुभोद्भासिकन्धरम्।
रन्धकं कामकन्दस्य, तं वन्देऽहं रघूद्वहम्॥

इसमें 'श्री-कं, ध, रं' अक्षर श्लिष्ट हैं।

खड्ग-बन्ध—इस बन्ध का सर्वप्रथम उदाहरण आचार्य रुद्रट ने दिया है। दो अनुष्टुप् पद्यों से निर्मित इस बन्ध की आकृति में मस्तक, कूलक, गण्डिका, द्राढिका, फल और शिखा—इतने स्थान हैं और तलवार की आकृति में द्राढिका—(मूठ के ऊपर का हिस्सा) के मध्यभाग से पद्य का आरम्भ होता है। फल-फाल के एक विभाग में लिखित अक्षर को

श्लिष्ट बनाते हुए दो चरण पूर्ण होते हैं। शिखा के अक्षर से ही तीसरा और चौथा चरण फल के दूसरे भाग में होकर द्राढिका के मध्याक्षर में पूर्ण होता है। तदनन्तर द्राढिका के दोनों भाग गण्डिका, कूलक के दोनों भाग और मस्तक के अक्षरों से दूसरा पद्य पूर्ण होता है जिसमें मध्याक्षर और मस्तक के दो अक्षर श्लिष्ट हैं। उदाहरण–पद्य इस प्रकार हैं :—

मारारिशक्ररामेभ-मुखैरासाररहंसा।
साराब्धस्तवा नित्यं, तदर्तिहरण-क्षमा ॥६॥
माता नतानां संघट्टः, श्रियां बाधितसम्भ्रमा।
मान्याऽथ सीमा रामाणां, शं मे दिश्यादुमादिजा ॥ काव्यालङ्कार ७ ॥

इसमें **मा** और **सा** अक्षर श्लिष्ट हैं। ये दोनों पद्य अष्टारचक्र-बन्ध में भी प्रयुक्त होते हैं।

१-खड्ग-बन्ध—इसी पद्धति से स्रग्धरा छन्द में निर्मित इस बन्ध का उदाहरण श्रीमहेश्वर तर्कालङ्कार ने इस प्रकार दिया है :—

सानन्दं देवदैत्य-द्विज-भुजगमुखैः प्राणिभिः सेव्यमाना,
नाशं तापं नयन्ती शरदि शशिकलां श्यामयन्ती स्वभासा।
सा सख्यः संघरारे सकलनगदधीशेन संयुक्त-हारा,
सा ध्वस्ताशेष-पापा-सलिलनिधिसुता सन्ततं पातु युष्मान् ॥ साहित्यदर्पणटीका

इसमें **'सा-ना-सा'** अक्षर श्लिष्ट हैं तथा पूर्वोक्त-पद्धति से कूलक के मध्य में लिखित अक्षर **'पा'** की दो बार आवृत्ति की नवीनता है।

२-खड्ग-बन्ध—इसी प्रकार उपर्युक्त पद्धति में संक्षिप्त परिवर्तन करते हुए श्रीधर्म-सूरि ने 'साहित्य-रत्नाकर' में एक पद्य इस का दिया है। जिसमें श्लिष्टाक्षरों को दो-दो बार ही आवृत्त किया है। तथा छोटे छन्द से ही बन्ध की पूर्ति की है। पद्य इस प्रकार है–

जपधृत-शशचिह्नं, निजजन-सुखदायम्।
सलिलजजनुतं नीतिनगमिरति माला ॥ ६२ ॥ (तरंग ६)

इसमें 'ज, न, ति' अक्षर श्लिष्ट हैं।

३-खड्ग-बन्ध—दामोदर शास्त्री ने इस बन्ध के कुछ प्रकार नवीन निर्मित किये हैं। जिनमें द्वितीय-बन्ध[1] का न्यास-प्रकार यह दिया है :—

उपरिष्टादधस्ताच्च, द्वितीये ह्यनुलोमतः।
द्वितीयान्तस्तृतीयादौ, तुरीयान्तौ विलोमतः ॥
द्वितीये खड्गबन्धेऽत्र, क्रमः कविवरैः स्मृतः।

१—यहाँ द्वितीय, तृतीयादिशब्दों से उनके 'चित्रबन्ध-काव्य' ग्रन्थ में प्रदर्शित क्रम समझना चाहिये।

इसके अनुसार खड्ग में पद्य का आरम्भ कूलक के एक भाग से होता है जिसका मध्याक्षर श्लिष्ट है और मस्तक के अक्षर से नीचे की ओर अनुलोम पठन करते हुए फल के दोनों भागों में भ्रमण कर कूलक तथा मस्तक के अक्षर से संयोग होता है। पद्य इस प्रकार है :—

विनयं सुनयैर्लब्ध्वा, रटन् मेशस्य नामकम् ।
कंसारातेः सन्त्यजेयमहमानन्दवानसु ॥

इसमें '**न, सु, कं**' अक्षर श्लिष्ट हैं।

४-खड्ग-बन्ध——शास्त्रीजी ने अपने तृतीय खड्ग का न्यास-प्रकार यह दिखलाया है:–

उपरिष्टादधस्ताच्च, द्वितीये ह्यष्टमे पुनः ।
उपरिष्टादधोऽधस्तान्मध्ये चैवानुलोमतः ॥
तृतीये खड्गबन्धेऽत्र, क्रमो ज्ञेयो विचक्षणैः ।

इसके अनुसार खड्ग के मुष्टिभाग में दो स्थानों पर दूसरे और आठवें अक्षर को श्लिष्टता देकर तीत-तीन बार आवृत्ति की गई है तथा द्वितीय चरण के दो अक्षरों को छोड़कर शेष तीनों पद फल में लिखे जाते हैं। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :——

तव नवभावव्रतमतनि, नितपतु शत्रुकुलम् ।
वितरतु चेष्टं हरिरलं, लंघितदुष्टदलम् ॥

इसमें '**व, त और नि**' की आवृत्ति हुई है।

५-खड्ग-बन्ध——शास्त्रीजी ने चतुर्थ खड्ग का न्यास-प्रकार यह दिया है :—

मध्यतस्तु सरन्नग्रे, पुनस्तत्र च पार्श्वयोः ।
द्वितीयपार्श्वयोर्मध्ये, प्रान्ते च विरतिर्भवेत् ॥
चतुर्थे खड्गबन्धेऽत्र, शैलीं जानातु सत्कविः ॥

इसके अनुसार मुष्टि के मध्याक्षर से फल में और नीचे के अक्षर को श्लिस्ट बनाकर फल के दूसरे भाग को पढ़ते हुए मुष्टि के मध्याक्षर में पहुँचते हैं। पुनः वहाँ दोनों भागों में भ्रमण से पद्य पूर्ण होता है। पद्य इस प्रकार है :——

मयोल्लसन्तीं शिवदां भवानि, नित्यं तु खड्गैरवतात् स्मराम ।
महेशपादाम्बुजनौसुमग्नां, महौजसः शक्तिकरीं ससख्या ॥

इसमें '**म, नि, और स**' अक्षर श्लिष्ट हैं।

६-खड्ग-बन्ध——दामोदर शास्त्री ने इस बन्ध के एक अन्य प्रकार का लक्षण इस रूप में दिया है :—

वर्णावाद्यौ चानुलोम्ना, चतुर्थान्तौ विलोमतः ।
द्वितीयान्तस्तृतीयादौ, खड्गबन्धेऽत्र पञ्चमे ॥

इसके अनुसार प्रथम चरण के आदिम दो वर्ण तथा द्वितीय चरण के अन्तिम दो अक्षर खड्ग की मूठ और फल के अन्त में रहकर श्लिष्ट होते हैं। शेष अक्षर फल के दोनों पार्श्वों में अंकित हैं। उदाहरण का पद्य इस प्रकार है :—

हेमगर्भगणेशान, नरनारायणान् सदा।
दासदासत्वमापन्ना, वयं हृदि भजामहे ॥

इसमें **'हेम'** और **'दास'** शब्द लोम-विलोम पठित हैं।

७-खड्ग-बन्ध—म०म० रामावतार शर्मा ने इस बन्ध का कुछ नवीन प्रकार प्रस्तुत किया है, जिनमें छन्दः परिवर्तन के साथ ही पद्य का आरम्भ मस्तक से होकर नीचे के भागों में अवतरित होता है। कूलक में चतुर्दल-कमल का रूप देकर कर्णिकाक्षर को श्लिष्ट बनाया है जो मस्तक और गण्डका के साथ आवर्त होकर पाँच बार आवृत्त होता है। द्राढिका में भी एक मध्याक्षर और आस-पास में दो अक्षर रखकर गतागत-पद्धति से पठन किया जाता है। नीचे पुनः गण्डिका और द्राढिका बनाकर अक्षरों का न्यास किया गया है जो मध्याक्षर को श्लिष्ट बनाकर पढ़े जाते हैं। जबकि फल और शिखा में पूर्व विधि का ही अनुसरण हुआ है। उदाहृत पद्य इस प्रकार है :—

देव स्तवस्तव भवस्य वचोभिरेभिराश्चर्यजन्मनरभिन्ति न तेन तेने।
तेनेऽद्य यावदपि नाल्पतमाऽपि पूजा, आयेत पूर्णकरुणामय तत्कथं ते ।।

इसमें **'व, भि, न, ते और जा'** अक्षर श्लिष्ट हैं।

क्षुरिका-बन्ध—अवतार कवि ने इस बन्ध की रचना की है। पद्य का आरम्भ शिखा से होकर फल, गण्डिका, कूलक और मस्तक तक पहुँचता है तथा वहाँ से पुनः उतरते हुए शिखा तक पहुँचता है। मस्तक के तीन अक्षर, कूलक में मध्याक्षर, गण्डिका में दो अक्षर तथा शिखा में एक अक्षर श्लिष्ट रहते हैं। पद्य इस प्रकार है :—

साध्यामूर्तिर्गुणैर्या ते, भावितत्त्वमतारसा।
सारताबाधितविभा, रविजस्य सदैव सा ॥ ४५ ॥

इसमें **'सा, भावित, और तारसा'** अक्षर श्लिष्ट हैं।

१-क्षुरिका बन्ध–चित्रभूषणकार ने इस बन्ध का उदाहरण दिया है। इसकी आकृति में फल के ऊपरी भाग में तीन अक्षर हैं जिनमें मध्याक्षर श्लिष्ट होकर दूसरे चरण का अन्त्याक्षर बनता है। मुष्टि के गोलपार्श्व में पाँच अक्षर हैं तथा प्रथम चरण का आठवाँ अक्षर द्वितीय चरण के दूसरे अक्षर के रूप में श्लिष्ट बनता है। शिखर से नीचे उतर कर फल में तृतीय और चतुर्थ चरण दो पार्श्वों में रहते हैं किन्तु उनमें विशेषता यह है कि एक पार्श्व में एक ही अक्षर आठ बार लिखा गया है जो दूसरे पार्श्व के आठ अक्षरों में प्रत्येक अक्षर के बाद पढ़ा जाता है। पद्य इस प्रकार है—

शिवं करावमादुष्ट-नष्ट-जन्म-मयोद्भवम् ।
आरक्रूरनरस्फारखरवारहर-त्वर ॥

इसमें **वं और ष्ट** अक्षर श्लिष्ट हैं।

२-**क्षुरिका-बन्ध**—इस बन्ध का उदाहरण भी 'चित्रभूषण' में अन्य प्रकार से दिया है। इसमें फल के ऊपरी भाग में एक अक्षर है, वहीं से पद्य आरम्भ होकर फल के प्रथम भाग में उतरता है। पुनः दूसरा चरण भी मध्याक्षर से द्वितीय भाग से उतरता है। तृतीय चरण में मध्याक्षर पुनः दो बार आवृत्त होता है तथा मुष्टि के भाग में एक-एक अक्षर दो भागों में पाँच अक्षर दूसरी पंक्ति में और दो अक्षर ऊपरी दोनों पार्श्वों में अंकित हैं जो आवृत्त होकर पद्य पूर्ण करते हैं। पद्य इस प्रकार है :—

मनस्त्वां सेवते कथं, मतं पाहि त्वदाश्रितम् ।
ममत्वावासनाधीन-मेनधीनासवद्रुमे ॥

इसमें **'वासनाधीन'** अक्षर श्लिष्ट एवं लोम-विलोम पठित हैं ।

गदा-बन्ध—इस बन्ध का उदाहरण 'चित्रभूषण' में प्राप्त होता है। पद्य का आरम्भ गदा के मुष्टिभाग से होता है प्रथम चरण का तीसरा अक्षर श्लिष्ट रहता है जो छठे अक्षर के रूप में आवृत्त होता है। वहाँ से ऊपर गदाग्रभाग में चतुर्दल कमल का आकार बना है उसके चार विदिक्-पत्रों में एक–एक अक्षर लिखा जाता है तथा दण्ड के पत्र में दो अक्षर रहते हैं। कर्णिका में चार भाग बनाकर चार अक्षर लिखे जाते हैं जो दण्डगत-पत्र के द्वितीय अक्षर को श्लिष्ट बनाकर पढ़े जाते हैं तथा बाहर के चार अक्षरों में प्रत्यक्षर के साथ वही दण्डगत अक्षर चार-बार श्लिष्ट होकर चतुर्थ चरण को पूर्ण करता है। पद्य इस प्रकार है :—

जयदेव वदेदानीं, मां रक्षामीति शङ्कर ।
रम्यपाका साक्षरते, रते रक्ष रतं रणम् ॥

इसमें **'दे'** अक्षर दो बार तथा **'र'** अक्षर की सात बार आवृत्त हुई है ।

१-**गदा-बन्ध**—ऊपर लिखे हुए पद्य में सामान्य परिवर्तन के साथ इसी बन्ध का दूसरा उदाहरण 'पद्यामृतसरोवर' के कूटाख्यान में दिया गया है। इसमें दण्डगत पत्राक्षर की आवृत्ति पाँच बार हुई है। गदा के अग्रभाग में कर्णिका, चतुर्दल और उसके बाहर के भागों में अक्षर रहते हैं। कर्णिकाक्षर चार दलों के साथ श्लिष्ट रहता है तथा चार दलों के अक्षर बाह्य भाग के अक्षरों के साथ श्लिष्ट होते हैं। पद्य इस प्रकार है :—

जयदेव वदेदानीं, त्वां रक्षामीति शङ्कर ।
रतिरम्य-रसा-रक्ष, क्षणसात्काम्यपातित ॥

इसमें **दे-र-क्ष-सा-म्य-पा** अक्षर श्लिष्ट हैं तथा 'र' पाँच बार पढ़ा जाता है ।

२-गदा-बन्ध—अवतार कवि ने इस बन्ध के दो रूप और प्रस्तुत किये है। जिनमें प्रथम बन्ध मालिनी-छन्द के आधे पद्य से बनाया है। इसमें गदा के निम्न यष्टि भाग से गदाग्र सन्धि भाग तक चार स्थानों पर मध्याक्षर श्लिष्ट एवं उसके आस-पास दो दल भाग रहते हैं तथा बीच-बीच में एक-एक अक्षर लिखा जाता है। गदा के वर्तुल भाग में कर्णिका तथा चतुर्दल बनाया गया है जिसमें चार दिग्दलों में चार अक्षर हैं जो कर्णिका को श्लिष्ट रखकर पढ़े जाते हैं। उदाहरण का पद्य इस प्रकार है :—

जय जय जगतस्त्वं, तत्त्वतज्ज्ञोऽसि भासिन्,
रसिकसदमदासस्ते भवे भर्ग भव्यः ॥ ईश्वरशतक ३८ ॥

इसमें 'ज-त-सि-स-भ' अक्षर श्लिष्ट हैं।

३-गदा-बन्ध—इसी कवि ने दो अनुष्टुप् पद्यों के द्वारा इस बन्ध की रचना की है। प्रथम उदाहरण से इसमें विशेषता यह है कि गदा के निम्न यष्टि भाग में कर्णिका और पार्श्व दलों के बाद दो-दो अक्षरों को लिखा है। गदाग्रभाग की मध्यकर्णिका के चार भाग में चार अक्षर लिखे हैं जो प्रतिविभाग के तीन-तीन दलों के साथ श्लिष्ट होते हैं। तथा कर्णिका के बाहर दलों के सन्धिभाग में तीन स्थानों पर तीन अक्षर और दण्ड-सन्धि में दो अक्षर अंकित हैं। उदाहृत पद्य इस प्रकार हैं :—

भवभव्य भवातीत, तत्त्वतज्ज्ञ तमोहर।
रणे रक्त रसेनेहि, हिताहितहितार्थद ॥४०॥
दयादक्ष दहाघानि, निन्द्यानि त्वं निरासय।[1]
यमायातं यतित्वाव, वर वन्द्य वरेण्य माम् ॥४१॥

इन पद्यों में 'भ-त-र-हि-द-नि-य-व' अक्षर श्लिष्ट हैं।

४-गदा-बन्ध—दामोदर शास्त्री ने 'चित्रबन्ध-काव्य' में इस बन्ध का उदाहरण देते हुए न्यास-प्रकार यह दिया है :—

अधस्ताद् द्वे पदे मध्ये, द्वे पदे परितस्तथा।
गोमूत्रिका-क्रमणैव, गदाबन्धेऽत्र नूतने ॥ पृ० ९ ॥

इसके अनुसार यष्टिभाग में प्रथमचरण और द्वितीय चरण के छः अक्षर तक का न्यास रहता है। गदा के वर्तुल भाग में कर्णिका तथा नौ पत्र बनाकर प्रत्येक में एक-एक

१—मूल में 'विरामय' पाठ दिया है तथा टीका में भी यही पद देकर व्याख्या में 'अधः कृतोरग' शब्द दिया है जिसका कोई सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता। अतः यहाँ बन्ध-विधान की दृष्टि से उक्त पद संयुक्त किया गया है।

अक्षर की स्थापना की जाती है। कर्णिकाक्षर को श्लिष्ट बनाकर आठ पत्रों में प्रतिपत्राक्षर के साथ उसका पठन होता है किन्तु नवम पत्र के साथ नहीं। उदाहृत पद्य इस प्रकार है :-

कौमोदक्या तु गदया, रक्ष विष्णो ! जनार्दन।
सेन मीन जनध्यान, दानवाननमर्दन॥

इसमें 'न' अक्षर श्लिष्ट है जो नौ बार पढ़ा जाता है।

५-गदा-बन्ध—उपर्युक्त पद्धति को ही परिष्कृत करके गदाग्रभाग में सकर्णिक अष्ट-दल-कमल की योजना द्वारा इस बन्ध की रचना रामरूप कवि ने इस पद्य से की है :—

रामनारायण त्राहि, कौमोदकीगदाधर।
दरं हर वरस्मेर, धीरवीर धुरन्धर॥ चित्रकाव्यकौतुक॥

इसमें 'ध' अक्षर की दो बार तथा 'र' अक्षर की नौ बार आवृत्ति हुई है।

चक्र-बन्ध (चतुरर)—कमल बन्ध के समान ही चक्र-बन्ध के भी अनेक प्रकार प्राप्त होते हैं। भगवान विष्णु के चार आयुधों में अन्यतम आयुध चक्र भी है इस दृष्टि से भी चित्र-बन्धकारों ने इसको अधिक महत्त्व दिया है। इसका प्रथम प्रकार 'चतुरर-चक्र' है, जिसमें चार और हैं किन्तु वे चतुर्दल-कमल के आकार में लिखे हैं और दलों को परिधिचक्र से अन्तर्निहित कर दिया गया हैं। कर्णिका में एक अक्षर तथा दलों में और दलसन्धि में दो-दो अक्षर निहित हैं। वैशिष्ट्य यह है कि चार महादिशाओं में भी एक-एक अक्षर कर्णिकाक्षर के समान है। इस बन्ध की रचना स्वामी समन्तभद्र ने की है तथा उसके टीकाकार वसुनन्दी ने आकृति-निर्माण का गद्य में निर्देश किया है। पद्य इस प्रकार है :—

नन्द्यनन्तर्द्ध्यनन्तेन, नन्तेनस्तेऽभिनन्दन।
नन्दनर्द्धिरनम्रो न नम्रो नष्टेऽभिनन्दन॥ स्तुतिविद्या २२॥

इसमें कणिकाक्षर 'न' है तथा पद्यारम्भ भी कर्णिका से ही हुआ हैं। प्रतिपत्र में प्रवेश और निर्गम होता है जिससे पत्राक्षरों की भी आवृत्ति होती है। पत्र के अन्त्यभाग में समानाक्षर 'न' रहने से सौन्दर्य आगया है।

१-चक्र बन्ध—उपर्युक्त पद्धति में दलान्त्यभाग में कर्णिकाक्षर के समान ही अक्षर रखने का नियम न रहने पर भी यह बन्ध बनता है। इस दृष्टि से वहीं द्वितीय उदाहरण इस पद्य द्वारा दिया है :—

वरगौरतनुन्देव, वन्दे नु त्वाक्षयार्जव।
वर्ज्जयार्त्ति त्वमार्याव, वर्याभानोरुगौरव॥२६॥

इसमें कर्णिकाक्षर 'व' है जो आठ बार आवृत्त हुआ है।

२-चक्र-बन्ध (चतुरर पदोत्तरजाति)—आचार्य अजितसेन ने 'अलंकार-चिन्तामणि' में इस बन्ध का नवीन रूप दिया है जिसमें कणिका, लघुचक्र और दीर्घचक्र की योजना की गई है। तथा दलों के स्थान पर रेखाओं का ही उपयोग किया है। इस आकृति

भेद के साथ ही अठारह प्रश्नों के उत्तर से इसका उदाहरण-पद्य निःसृत है, यह अन्यतम विशेषता है। प्रश्न के पद्य इस प्रकार हैं :—

नयप्रमाणसम्बुद्धिः, शमः का श्रीमुखेऽपि सा ?।
किं निषेधेऽव्ययं लोकनाशिनी दुःखि किं कुलम् ?।। २-७३ ।।
कः पुमानन्तसम्बुद्धिः, का च नश्वरनिःस्वने ?।
लोटि किं पदमस्माकमित्यर्थे केन नाश्यते ? ।। २-७४ ।।
वस्त्वंशो बुद्धयते केन वक्षश्चक्रं रमा च का ?।
संवत्सरार्धसम्बुद्धिः, का कथं जिन ईड्यते ? ।। २-७५ ।।

इन प्रश्नों के उत्तर क्रमशः इस रूप में दिये हैं :—

नयमान, क्षमा, मानन, मा, मारी, आर्ति, ना, अशन, नशनाद्दय, नः, येन, वयेन, उरः, अरि, मा, अयन' तथा सम्पूर्ण पद्य का अर्थ इन उत्तरों के समवाय रूप से 'चतुरर-चक्र' का पद्य बनता है, जो इस प्रकार है :—

नयमान क्षमामान, नामामार्यातिनाशन।
नशनादस्य नो येन, नये नोरोरिमाय न ।। २-७६ ।।

इसमें कर्णिकाक्षर 'न' है तथा पठन पद्धति पूर्ववत् है। स्तुतिविद्या में यह पद्य ५३ वाँ है।

३-चतुरर-चक्रबन्ध—श्री पुञ्जराज ने 'शिशुप्रबोध-काव्यालङ्कार' में इस बन्ध का एक नवीन रूप उपस्थित किया है। इसमें कर्णिका में एक अक्षर चार अरों के स्थान पर एक-एक अक्षर तथा परिधि में चारों दिशाओं के चार अक्षरों के अतिरिक्त चारों विदिशाओं में दो-दो अक्षरों का निवेश है। पद्य का पठन कर्णिका, अर और परिधि के अक्षरों के गतागत पठन से होता है, किन्तु यह क्रम तीन अरों तक ही निभाया है चौथे अर में सीधा पठन करके परिधि में भ्रमण करते हुए दिशागत अक्षरों के योग से पद्य पूर्ण किया है। उदाहरण का पद्य इस प्रकार है :—

कामना नामका देवि, विदेका त्वममत्वका।
का त्वं नु तेऽर्थ नावैमि, मनसा विश्वसंनुते ।। ७-४३ ।।

इसमें 'का' कर्णिकाक्षर है तथा अन्य अक्षर गतागत एवं श्लिष्ट पद्धति से पठित हैं। आचार्य पुञ्राज ने हारबन्ध की रचना में भी नवीनता का समावेश किया है।

षडर-चक्र-बन्ध

इस बन्ध का लक्षण आचार्य अजितसेन ने इस प्रकार दिया है :—

षडरंचक्रमालिख्यारमध्ये स्थापयेत् कविः।
त्रीन् पादान् नेमिमध्ये तु, चतुर्थं चक्रवृत्तके ।। अलं०चिन्ता० २-१७९ ।।

इसके अनुसार छः आरों वाले चक्र में कर्णिका रहती है। इसमें एक अक्षर रहता है जो तीनों चरणों का दसवाँ अक्षर होकर श्लिष्ट बनता है। प्रत्येक अर में नौ-नौ अक्षर लिखकर नेमि-सन्धि में दो-दो अक्षर अंकित किए जाते हैं तथा दस चक्रों से इस बन्धकी आकृति में सौन्दर्य लाया गया है। तीन चरण नेमियों के पठन से तथा चौथा चरण नेमियों के प्रथमाक्षरों को समन्वित करते हुए पूर्ण होता है। उदाहरण 'स्तुतिविद्या' के इस पद्य में दिया है:—

नष्टाज्ञान मलोन शासनगुरो नम्रं जनं मानिन,
नष्टग्लान सुमान पावन रिपूनप्यालुनन्भासन।
नत्येकेन रुजोन सज्जनमते नन्दन्ननन्तावन,
नन्तृन् हानविहीनभामनयनो नः स्तात् पुनन्सज्जिन॥ १११॥

इसमें 'न' अक्षर श्लिष्ट बनकर कर्णिका, नेमि के प्रथमाक्षर तथा नेमि के अन्त्याक्षरों के रूप में आवृत्त हुआ है।

१-षडरचक्र-बन्ध (नाम एवं काव्याङ्कयुत) —सरस्वती–कण्ठाभरण में इस बन्ध का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

पुरःपुरो लिखेत् पादानत्र त्रीन् षडरीकृतान्।
तुर्यं तु भ्रामयेन्नेमौ, नामाङ्कश्चक्रसंविधिः॥

इसमें विधि तो पूर्ववत् ही है केवल पद्य के-आरम्भिक तीन चरणों के तीन, छः, चौदह, और सत्रह संख्या के अक्षरों का चयन करने से कवि और काव्य नाम का अंकन प्राप्त है। इसका उदाहरण माघकवि कृत 'शिशुपाल-वध' के पद्य से इस प्रकार दिया है—

स त्वं मानविशिष्टमाजिरभसामालभ्य भव्यः पुरो,
लब्ध्वाघक्षयशुद्धिरुद्धरतरश्रीवत्सभूमिर्मुदा।
मुक्त्वा काममपास्तभीः परमृगव्याधः सनादं हरे–
रेकोघैः समकालमभ्रमुदयी रोपैस्तदा तस्तरे॥

इसमें कर्णिकाक्षर–'र' है तथा १-२-३ चरणों के ३ और १७ वें अक्षर मिलकर 'माघकाव्यमिदं शिशुपालवधः' इन दो अंकों की सृष्टि करते हैं।

तथा 'र' मध्याक्षर है तथा चौथे चरण में उपर्युक्त तीनों चरणों के आद्यन्ताक्षर का आवर्जन हुआ है। इसी को **कवि-काव्यनामाङ्कचक्रबन्ध** भी कहते हैं।

(क)-षडर-चक्र-बन्ध—श्रीरामस्वरूप पाठक ने किसी छन्द के एक चरण को श्लिष्ट रखते हुए उपर्युक्त प्रकार में कुछ नवीनता लाकर निम्न पद्य प्रस्तुत किया है—

विश्व श्रीकर मञ्जनव्यकवितासत्सेवनादेशकृद
नम्यो रुक्मजमालिकाढ्यकलशैर्भू वन्द्यदेवोत्तमः।

विद्याद्रव्यघनप्रवृष्टिकलभो हंसेत्स्फुरन्मस्तकः,
कञ्जाभे विमले नदत्कविगणे कृद्गीर्नमद् हंसकः ॥

इसमें इन्द्रवंशा-वृत्त का एक-चरण 'श्रीरुद्रदेवो मम मानसे वसेत्' ये अक्षर श्लिष्ट होकर अङ्कित हुए हैं। यह पद्य डाँ रुद्रदेव त्रिपाठी को लक्ष्य करके लिखा गया है।

३-षडर-चक्र (त्र्यङ्क)—उपर्युक्त पद्धति में नवीनता लाकर तीन अङ्कनों से अङ्कित उदाहरण आचार्य अजितसेन ने 'अलङ्कार-चिन्तामणि' में दिया है। इस षडर-चक्र की आकृति में चतुर्थ चरण अरों की सन्धि में लिखित तीन-तीन अक्षरों तथा इसी चरण के आद्याक्षर के योग से बनता है, इसमें आरम्भ के तीन चरणों के आदि और अन्त्य के अक्षर चौथे चरण में नहीं लिखे जाते हैं, यह इसकी विशेषता है। उदाहरण-पद्य इस प्रकार है—

अत्याकृत्यमलो वरो भवयमः कुर्वन् मतिं तामसे,
जिष्णू तस्फुटकीर्तिवारवशमः श्रेयोभिधे मण्डने।
तत्त्वाचिन्त्यमतीशितातवसितः स्तुत्योरुवाणिः पुनः,
धीर स्थापय मां पुरो गुरुवर त्वं वर्धमानोरुधीः ॥ २-१७८ ॥

इसमें प्रथम, द्वितीय और तृतीय चरण के १-१६, ३-१७ तथा ६-११ संख्या वाले अक्षरों से 'अजितसेनेन कृतचिन्तामणिः भरतयशसि' ये तीन पद अंकन के रूप में प्राप्त होते हैं तथा मध्याक्षर 'व' है।

४.षडरर-चक्र (चतुरङ्क)—'सरस्वती-कण्ठाभरण' में प्रत्येक अर के चार-चार अक्षरों में विशेष अङ्कन का समावेश करते हुए नवीन उदाहरण निम्न पद्य द्वारा दिया है—

शुद्धं बुद्धसुरास्थिसारविषमत्वं रुग्जयातिस्थिर-
भ्रष्टोद्धर्मरजःपदं गवि गवाक्षीणेन चञ्चदभ्रुवा।
तथ्यं चिन्तितगुप्तिरस्तविधिदिग् भेदन्न चक्रं शुचा,
चारो प्रांशुरदभ्रमुग्रतनुमे रम्यो भवानीरुचा ॥
द्वि० प० पृ० २७३, श्लो० २६८

इसके क्रमशः १-१६, ३-१७, ६-१४ और ८-१२ संख्या वाले अक्षरों से-'शुभ्रतर-वाचा, बुद्धचितिचक्रं राजगुरुणेदं और सादरमवादि' ये चार अंकन प्राप्त होते हैं और मध्याक्षर 'वि' है।

५-षडरर-चक्रबन्ध (स्तव्यनामगर्भ)—देवीप्रसाद कवि चक्रवर्ती ने 'चित्रोपहार' ग्रंथ के पूर्व भाग में इस बन्ध का एक नवीन रूप उपस्थित किया है। उसमें चतुर्थ चरण की पूर्ति के लिए छः अरों से छः अक्षर तथा प्रथम चरण के अन्तिम पाँच अक्षरों को विपरीत पठन से लिया है। उदाहृत पद्य इस प्रकार है—

श्रीदं साक्षात् को हरन्तं नृवृन्दा, गोघोघं व्यामोहहीनं जपेन।
विभ्राजन्तं नेह मान्यत्यमन्द ,श्रीगोविन्दानन्द मत्यन्यमाह ॥ ४६ ॥

इसमें '**श्रीगोविन्दानन्द मत्यन्यमाह**' अक्षर श्लिष्ट हैं। साथ ही '**श्रीगोविन्दानन्द**' इस अंकन द्वारा स्तव्यनाम भी प्रस्तुत किया है।

अष्टार-चक्र-बन्ध

राजस्थान के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थल चित्तौड़गढ़ के किले पर स्थित त्रिमूर्ति-मन्दिर के एक शिलालेख में इस बन्ध का पद्य चित्र सहित दिया है, जिसमें बन्ध का प्रत्येक अक्षर एक-एक लघुचक्र में दिया है तथा इसकी आकृति में कर्णिका और चारों दिशाओं में दो-दो अक्षर हैं। इसी प्रकार दिक्कोणों में भी दो-दो अक्षर लिखे गए हैं। यह गतागत-पद्धति के अष्टदल-कमल-से साम्य रखता है। पद्य इस प्रकार है—

हरोऽस्तु रोहनामो ना, हव्यकव्य-हसे लसे।
हरस्य रहतो प्रीतो हरते रहसीरसी॥

इसमें कर्णिकाक्षर 'ह' के अतिरिक्त उसके आसपास के अक्षर भी श्लिष्ट होकर दो-दो बार अवृत्त होते हैं।

१-अष्टार-चक्र-बन्ध—(एकाङ्क-कविनामगर्भ)—धर्मघोषसूरि ने इस बन्ध का उदाहरण दिया है। जिसका लक्षण इस प्रकार प्राप्त होता है—

चक्रं त्वालिख्य मध्ये विलिखतु सदृशं वर्णमेकं चतुष्कं।
तद्द्वारासु प्रलेख्यं प्रविलिखतु महादिक्षु चत्वारि विद्वान्।
मध्ये रूढानि सप्तेतरवरदिगरेष्वष्ट रूढानि कुर्यात्,
कुर्याद् बाह्यासु दिक्षु प्रलिखतु विषमान् वा समान् श्लोकचक्रे॥

अलं० चित्रा० २-७७॥

इसके अनुसार मध्यकर्णिका और आठ अर से यह बन्ध बनता है। प्रति अर में जो चार दिशा और चार विदिशा में रहते हैं—नौ-नौ अक्षर रहते हैं। पद्य का प्रथम चरण पर्व के अर से आरम्भ होकर मध्याक्षर को ग्रहण करते हुए सीधी रेखा में पश्चिम के अर में जाकर समाप्त होता है। इसी प्रकार क्रमशः चार अरों में भ्रमण होने से पद्य पूर्ण होता है। उदाहृत-पद्य इस प्रकार है—

इत्थं धर्मवचोवितानरचितं वर्यं स्तवं मुद्युतः,
सद्धर्मद्रुमसेकसंवरमुचां भक्त्याऽर्हतां नित्यशः।
श्रेयःकीर्तिकरं नरः स्मरति यः संसारमाकृत्य सो,
ऽतीतार्तिः परमे पदे चिरमितः प्राप्नोत्यनन्तं सुखम्॥

सर्वजिनस्तवन ८।

इसमें 'र' श्लिष्ट है तथा प्रतिचरण के तीसरे और सत्रहवें अक्षर के योग से '**धर्मकीर्तिमुनिकृतं**' यह अंकन प्राप्त होता है। अतः इसे एकांक अथवा कविनाभगर्भ भी कह सकते हैं।

२-अष्टार-चक्र-बन्ध—अमरचन्द्रसूरि ने इस बन्ध का नवीन रूप प्रस्तुत किया है, जिसमें पद्य का आरम्भ कर्णिकाक्षर से होता है तथा परिधि में एक अन्य पद्य लिखा जाता है। परिधि-पद्य में आठों अरों के अन्त्याक्षरों का भी ग्रहण होता है। उदाहृत पद्य इस प्रकार है—

विश्वावरोधाय विरोधबाधका, विपत्तमोजालविकर्तनोर्जिताः।
विधूदयद्दामविशुद्धकीर्तिभा, विभान्ति सन्तः सविवेकवैभवाः॥
वाचं स्मृत्वा यतीन्द्रेण, काव्यकल्पलता कृता।
तारश्रीरमरेणेयं, भावनीया सतां गणै.॥ काव्यकल्प० वृत्ति पृ० १०२॥

यहाँ प्रथम पद्य में कर्णिकाक्षर 'वि' आठ बार आवृत्त हुआ है तथा दूसरे पद्य में कतिपय अक्षरों को ग्रहण करते हुए पद्य-पूर्ति की गई है।

३-अष्टार-चक्र-बन्ध-(चतुरङ्कश्लोकाङ्क)—हरिचन्द्र कवि ने 'धर्मशर्माभ्युदय' में इस बन्ध की रचना दो पद्यों से की है तथा अंकन द्वारा कवि के पिता, काव्य का नाम एक श्लोक द्वारा व्यक्त किया है। इसकी पठन-पद्धति चक्र क्रमांक दो के अनुसार ही है। पद्य इस प्रकार है—

आतङ्कार्तिहरस्तपद्युमणिसद्भूरि-प्रभाजिद्वसु-
र्द्रष्टव्यं हृदि चिह्नरत्नमसमं शौचं च पीनोन्नते।
देहे धत्त हितं त्वमन्दमहृदि क्षुद्रेऽप्यतो दर्शने,
वल्गुर्भद्रमहस्यरम्यमपरं क्षीण-व्यपायं पदम्॥ धर्मशर्माभ्युदय १०१॥

इसमें प्रतिचरण का अक्षर म कर्णिका में हैं तथा चारों चरणों के क्रमशः एक तीन, छः, आठ, बारह, चौदह, सत्रह और उन्नीस संख्यावाले अक्षरों से एक श्लोक की उत्पत्ति होती है।

परिधि की पूर्ति के लिये निम्न पद्य का सहयोग लिया गया है—

दम्भलोभभ्रमा आदिरुद्धा गुणैर्द्रष्टुमप्यक्षमा देव वक्त्रं तव।
वर्जयित्वा ययुः सुश्रुत ! त्वां तथा ते भजन्ते यथा नेश भक्तानपि॥ १०२॥

इसमें प्रथमाक्षर तथा प्रति पाँच अक्षर के बाद का अक्षर क्रमशः आठों अरों का शीर्षगत अक्षर है। इन श्लिष्टाक्षरों से 'आर्द्रदेव-सुतेनेदं' अंकन को भी श्लिष्ट किया गया है। दोनों पद्यों के सहयोग से निःसृत श्लोक इस प्रकार है—

आर्द्रदेव-सुतेनेदं, काव्यं धर्मजिनोदयम्।
रचितं हरिचन्द्रेण, परमं रसमन्दिरम्॥

४-अष्टार-चक्र-बन्ध (अष्टश्लोकात्मक)—आचार्य रुद्रट ने इस बन्ध की रचना की है। इसमें आठ श्लोकों का उपयोग हुआ है। साथ ही इन आठ श्लोकों से सात अन्य बन्धों की भी रचना होती है। प्रत्येक पद्य का आरम्भ कर्णिका से होता है तथा अर में चौदह

अक्षरों का समावेश किया जाता है। सोलहवाँ अक्षर परिधि में रहकर श्लिष्ट होता है और वहीं से परिधि में घूमते हुए अन्य अर की शिखर-सन्धि के चौदह अक्षर तथा दो श्लिष्टाक्षरों से पद्य की पूर्ति होती है। इसी पद्धति से चक्र के आठ अरों में प्रतिश्लोक की अर्धाली तथा परिधि के आठ विभागों में प्रतिश्लोक की शेष अर्धालियाँ रहती हैं। कर्णि-काक्षर की आवृत्ति आठ बार तथा प्रत्येक अर की शिखर-सन्धि में स्थित अक्षरों को दो-दो बार आवृत्ति होती है। उदाहृत पद्य इस प्रकार हैं—

दो पद्यों द्वारा निर्मित एक बन्ध

१—मारारि-चक्र-रामेभ-मुखैरासार-रंहसा।
सारारब्ध-स्तवा नित्यं तदर्तिहरण-क्षमा॥ ६॥
२—माता नतानां संघट्टः, श्रियां बाधित-संभ्रमा।
मान्याथ सीमा रामाणां, शं मे दिश्यादुमादिजा॥ ७॥
—खड्ग-बन्ध

३—मायाविनं महाहावा, रसायातं लसद्भुजा।
जातलीला-यथासारवाचं महिषमावधीः॥ ८॥ —मुसलबन्ध

४—मामभीदा शरण्या मुत्, सदैवारुक्प्रदा च धीः।
धीरा पवित्रा सन्त्रासात्, त्रासिष्ठा मातरारम॥
—धनुर्बन्ध ९॥

५—मानना-परुषं लोकदेवीं सद्रस सन्नम।
मनसा सादरं गत्वा, सर्वदा दास्यमङ्ग ताम्॥
—शर-बन्ध १०॥

६—मा मुषो राजस स्वासूंल्लोककूटेश-देवताम्।
तां शिवावाशितां सिद्धचाध्यासितां हि स्तुतां स्तुहि॥
—शूल-बन्ध ११॥

७—माहिषाख्ये रणेऽन्या नु, सा नु नानेयमत्र हि।
हिमातङ्कादिवामुञ्च, कं कम्पिनमुपप्लुतम्॥
—शक्ति-बन्ध १२॥

८—मातङ्गानङ्गविधिनाऽमुना पादं तमुद्यतम्॥
तङ्गयित्वा शिरस्यस्य, निपात्याहन्ति रंहसा॥
—हल-बन्ध १३॥

इनमें कर्णिकाक्षर 'मा' तथा अन्य अक्षर श्लिष्ट हैं। साथ ही प्रति दो चरणों के चार, आठ, बारह और सोलह संख्या के चक्रगत अक्षरों से निम्न पद्य की सृष्टि होती है—

शतानन्दापराख्येन, भट्ट-वामुक-सूनुना।
साधितं रुद्रटेनेदं, सामाजा धीमतां हितम्॥ काव्यालङ्कार-अ० ५

इस पद्य से कवि का उपनाम, कवि के पिता का नाम, कवि नाम तथा सामपाठी होने का निर्देश भी कर दिया गया है। यह कृति आश्चर्यकारक एवं पूर्ण परिश्रम-साध्य है।

क-अष्टार-चक्र-बन्ध (कविनाम-गर्भ-(‘ईश्वरशतक’ में अवतारकवि ने इस बन्ध की पूर्ति चौवन से इकसठ तक के पद्यों द्वारा उपर्युक्त पद्धति से ही की है। उसमें शक्ति-बन्ध के स्थान पर डमरु-बन्ध की योजना की है तथा सभी पद्यों के प्रथम चरण का चौथा अक्षर और द्वितीय चरण का पहला अक्षर मिलकर ‘कृतं चक्रमिदं बन्धैरवतारेण’ इस अंकन को सूचित करता है। इस प्रकार के अन्य बन्ध भी कुछ कवियों ने बनाये हैं।

अष्टादशार-चक्र-बन्ध—कुलमण्डनसूरि ने इस बन्ध की योजना की है। इसमें उपर्युक्त पद्धति का ही अनुसरण करते हुए अठारह पद्यों से अठारह अन्य बन्धों की भी रचना होती है। प्रत्येक अर में लिखित अर्धाली में क्रमशः चार, आठ, बारह और सोलह संख्या के चक्रावर्तित अठारह अक्षरों के योग से एक शार्दूलविक्रीडित-छन्द भी पृथक् रूप से निर्मित होता है जिसमें पहला अक्षर श्लिष्ट होकर उन्नीसवें अक्षर के रूप में प्रयुक्त होता है। पद्य इस प्रकार है—

१—तनुते यन्नुतिं जम्भजिद्राजी मुदिता द्रुतम्।
तं स्तुवे वीततन्द्राजि-मयं भावेन भास्वता॥
—मूसल-बन्ध २॥

२—ततयास्ते नृणां मुक्त्यै, या नीरुक्तनवे नता।
तारमामार तापास, स पाता क्षर रक्ष ताः॥
शूल-बन्ध ३॥

३—ततकष्टावलीलाव-लीलाढ्य श्रीवरा रताः।
ताररावश्रुतो वीर, रवीद्धोम सुरास्तव॥ शङ्ख-बन्ध ४॥

४—तज्ज्ञासदमलेक्ष्वाकु-विशजेयुः शर्मिस्तव।
वरेण्यानन विश्वेश, शरणं सुसुखेच्छवः॥ श्रीकरी-बन्ध ५॥

५—त्वं शमीम विशस्त्वालमवन्दत घनारव।
वध-वल्ल्यां वह्निवद् यो, वरिवर्ति स वशीवरः॥
—चामर-बन्ध ६॥

६—तरणे चिररूढामतमस्सु चरणादरः।
रसिकस्तव भूयासं, सेवनेऽनल्प-मानसः॥ हल-बन्ध ७॥

७—तत्यजेऽत्र तकाश्चण्ड-पार्श्वमिन्द्रस्तुताहस।
सर्वदोषैस्तत्क्षयाशां, शान्ताघ ददतो विशाम्॥
—भल्ल-बन्ध ८॥

दो पद्यों द्वारा निर्मित एक बन्ध

८—तरीवाचरसि ज्ञानोदार-निःशेष-भूस्पृशाम्।
शान्ति-तुष्टिकरापार-भवाब्धौ विश्ववन्दित॥ धनुर्बन्ध ९॥

९—तम्यतिक्रम्यतेऽत्यन्त-मोहदुःखमयीशितः।
तवेन सेवया वश्यं, भव्यैः स्थिरशिवस्थितः॥
—खड्ग-बन्ध १०॥

१०—तमहं विनमामीततन्द्र वीर सतां मत ।
तपो यस्त्वं व्यधा विश्व-वित्तं वीतरिपो तमः ॥
—शक्ति-बन्ध ११ ॥

११—तपःशमरमारामतर शं गुणसत्तम ।
मम गुप्ताश्रिताधीश, मरण-क्लेशहृद् दिश । छत्र-बन्ध १२।

१२—तविषे लसत्यमोहाशय चारु-रुचायशः ।
शक्राली त्वन्नतेर्ज्ञान-भासुराल्प-परा सुधा ॥
—रथपद-बन्ध १३ ॥

१३—तवीत्यवीत-साराज्ञा, प्राणिनां प्रास्तभीः शुभा ।
भाराशे शेष-भावारीन्, शिवदा तव रहंसा ॥
पूर्णकलश-बन्ध १४ ॥

१४—तत्त्वसार तरसा ना, त्वयि राज्यदधीरसा ।
साराद्भुते मोहधीरा, रज्यते वीर मोदतः ॥
—अर्धभ्रम-बन्ध १५ ॥

१५—तरसाऽस्तमोहत्वेत, तत्त्वेह प्रशमान्वित ।
तन्विमान्यवनीतात, ततानष्टान् न्यसारत ॥
—चतुर्दल-कमल-बन्ध १६ ॥

१६—ततांह्री वन्दते सानुकम्प यः सायभारतः ।
तस्य नानागुणस्यान्यो, नम्यो नो नोदितैनसः ॥
—शर-बन्ध १७ ॥

१७—तत्परः सततं शिश्रीषामि त्वां दारितांहसम् ।
सम्पदादापसंसार, रसासन्तपसं मत ॥ त्रिशूल-बन्ध १८ ॥

१८—तमानाश्रित-शर्माशु नेहमन्द दयान्वित ।
तथा त्वत्तः सुरेश त्वं, केनुबोधधियं हितः ॥ वज्र-बन्ध १९ ॥

इनमें कर्णिकाक्षर (प्रतिपद्य के प्रथम चरण का प्रथमाक्षर) 'त' अठारह बार आवृत्त हुआ है तथा प्रतिपद्य के दूसरे चरण का आठवाँ अक्षर भी तीसरे चरण के प्रथमाक्षर के रूप में श्लिष्ट है । साथ ही उपर्युक्त पद्धति से गृहीत अक्षरों द्वारा निम्नलिखित पद्य की सृष्टि होती है—

यस्तेऽष्टादश-चित्रचक्र-विमलं वीर स्तवं सश्रियं,
भक्त्यैवं कुलमण्डनोऽतत महाज्ञानातनुश्रीशुभ ।
मुक्तश्रीयुत-चन्द्रशेखरगुरु-प्राज्य-प्रसादादमुं,
तं तातावरः स शान्ततम शं भासा ततः सन्ततम् ॥
—वीरजिनस्तवन २० ॥

इस पद्यमें **स्तोत्रनाम, कविनाम,** और **गुरुनाम** का निर्देश भी कर दिया गया है।

-क-अष्टादशार-चक्र-बन्ध—विनयविजयगणि ने 'आनन्दलेख' के प्रथमाधिकार 'चित्रचमत्कार' में इस बन्ध का उदाहरण दिया है जो कि पद्य क्रमांक बारह से उन्नीस तक है। इममें दो त्रिशूल-बन्ध न देकर एक ही दिया है तथा एक त्रिशूल-बन्ध के स्थान पर 'श्रीवत्स-बन्ध' की योजना की है। अंकन के रूप में नौवें चक्र के अक्षरों से निम्न पंक्ति का उद्गम होता है–

'महोपाध्याय-श्रीकीर्तिविजयगणिगुरुभ्यो नमः।'

अन्य पद्यों में बन्धनामगत विषमता रहते हुए भी विधिगत समानता है।

द्वात्रिंशदर-चक्र-बन्ध(निष्कर्णिक)

आनन्दवर्धनाचार्य ने उपर्युक्त पद्धति में कुछ नवीनता लाते हुए इस बन्ध की रचना की है। यह बन्ध गोमूत्रिका, यमक, द्व्यक्षर आदि के सोलह पद्यों से बनता है इसमें प्रथम सोलह पद्य शिखर से नाभि तक, सोलह अक्षरों में अवतरित होते हैं तथा वे ही सोलह पद्य अन्य सोलह अरों में नाभि से शिखर तक पहुँचते हैं। परिधि की पूर्ति के लिए अन्य चार पद्यों का सहयोग लिया गया है, जिनमें प्रति तीन-तीन अक्षरों के बाद अरों के शिखर-सन्धिगत अक्षरों को श्लिष्ट के रूप में आवर्जित किया है। कर्णिका में कोई अक्षर नहीं है तथा बत्तीस अक्षरवाले पद्य के बत्तीसों अक्षरों को एक- एक चक्र में आबद्ध कर देने से बत्तीस चक्र भी बन गये हैं। कर्णिका के निकटस्थ तीसरे चक्र से तथा परिधि के निकटस्थ तीसवें चक्र से कवि ने शतक-निर्मिति का कारण और कर्तृ-परिचय के रूप में पितृनाम का एक पद्य अंकित किया है जो दोनों स्थानों पर एक ही रूपसे निकलता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार हैं–

दो पद्यों द्वारा निर्मित जाल-बन्ध

१—त्वं वादे शास्त्रसंगिन्यां, भासि वाचि दिवौकसः।
तवादेशास्त्रसंकाराज्जयन्ति वरव द्विषः॥ ८०॥

अप्रत्यभिज्ञायमक–

२—सदाव्याजवशिध्याताः, सदात्तजपशिक्षिताः।
ददास्यजस्रं शिवताः, सूदात्ताजदिशि स्थिताः॥ ८१॥

—गोमूत्रिका-बन्ध

३—हरेः स्वसारं देवि त्वा, जनताश्रित्य तत्त्वतः।
वेत्ति स्वसारं देवित्वा, योगेन क्षपिताशुभा॥ ८२॥

४—सदाप्नोति यतिर्ज्योतिस्तादृशं त्वत्प्रभावतः।
प्रभावतः समो येन, कल्पते मोहनुत्तितः॥ ८३॥

५—त्वं सद्गतिः सितापारा, परा विद्योत्तितीर्षतः।
संसारादत्त चाम्ब त्वं, सत्त्वं पासि विपत्तितः॥ ८४॥

—गूढचतुर्थपाद–

६—परमा या तपोवृत्तिरार्यायास्तां स्मृतिं जनाः ।
परमायात पोषाय, धियां शरणमाहृताः ॥ ८५ ॥

७—प्रवादिमतभेदेषु दृश्यस्ते महिमाश्रयः ॥
भान्ति त्वत्त्रिशिखस्येव शिखानामसमाश्रयः ॥ ८६ ॥

८—यच्चेष्टया तवे स्फीतमुदारवसु धामतः ।
यच्चेतो यात्यवहितमुदा रवसुधामतः ॥ गोमूत्रिका ८७ ॥

९—सुरदेशस्य ते कीर्तिर्मण्डनत्वं नयन्ति यैः ।
वरदे शस्यते धीरैर्भवती भुवि देवता ॥
—अर्धगोमूत्रिका ॥ ८८ ॥

१०—तत्त्वं वीतावततत्तुतत्त्वं ततवती ततः ।
वित्तं वित्तव वित्तत्त्वं, वीतावीतवतां वत ॥ द्व्यक्षरा ८९ ॥

क्रमांक ९ के साथ तूण-बन्ध

११—तारे शरणमुद्यन्ती, सुरेशरणमुद्यमैः ।
त्वं दोषापासिनोदग्रस्वदोषा पासि नोदने ॥
—पादगोमूत्रिका ९० ॥

१२—सुमातरक्षयालोक, रक्षयात्तमहामनाः ।
त्वं धैर्यजननी पासि, जननीतिगुणस्थितीः ॥ ९१ ॥

१३—स्थातिकल्पनदक्षैका, त्वं सामर्ग्यजुषामितः ।
सदा सरक्षसांमुख्यदानवानामसुस्थितिः ॥ रेफविवर्तिक ९२ ॥

१४—सिता संसत्सु सत्तास्ते,स्तुतेस्ते सततं सतः ।
ततास्तितैति तस्तेति, सूतिः सूतिस्ततोऽसि सा ॥
—द्व्यक्षर ९३ ॥

१५—त्वदाज्ञया जगत्सर्वं,भासितं मलनुद्यतः ।
सदा त्वया सगन्धर्वं, समिद्धमरिनुत्तितः ॥ गोमूत्रिका ९४ ॥

१६—यतो याति ततोऽत्येति, यया तां तायतां यतैः ।
माता मितोत्तमतमा, तमोऽतीतां मतिं मम ॥
—श्लोकार्धद्व्यक्षर ९५ ॥

ये ही पद्य सोलह अरों के पश्चात् पूर्वपद्धति से विपरीत लिखे जाते हैं इनमें प्रतिपद्य के प्रथम चरण के तृतीय तथा चतुर्थ चरण के छठे अक्षरों के योग से एक परिचात्मक पद्य बनता है । परिधि में निम्न-लिखित पद्य लिखे जाते हैं–

१—महत्तां त्वं श्रिता दासजनं मोहच्छिदा वस ।
यच्छुद्धत्वं गतः पापान्यन्यस्य प्रसभं जय ॥ ९६ ॥

२—त्वं साज्ञासु जगन्मातः, स्पष्टं ज्ञाता सुवर्त्मसु ।
प्रज्ञा मुख्या समुद्भासि, तत्पृथुत्वं प्रदर्शय ॥ ९७ ॥

३—हन्त्यो रुषः क्षमा एताः, सदक्षोमास्तमुन्नतः।
सतेहितः सेवते ताः, सततं यः स ते हितः ॥ ६६ ॥
४—करोषि तास्त्वमुत्खातमोहस्थाने स्थिरा मतीः।
पदं यतिः सुतपसा, लभतेऽतः सशुक्लिम ॥ १०० ॥

इन पद्यों का आरम्भ बत्तीसवें अर की परिधि से होता है तथा क्रमशः सन्ध्यक्षरों को ग्रहण करते हुए अन्तिम अर के सन्ध्यक्षर में पूर्ति होती है। प्रतिचरण में चौथा और आठवाँ अक्षर श्लिष्ट है तीसरे और तीसवें चक्र अक्षरों से यह अंकन-पद्य उपलब्ध होता है—

देव्या स्वप्नोद्गमादिष्ट—देवीशतक—संज्ञया।
देशितानुपमामाधादतो नोणसुतो नुतिम् ॥ १०१ ॥

इस पद्य से कवि ने रचना का कारण, कृतिनाम तथा अपना परिचय दिया है साथ ही परिधि के द्वितीय पद्य 'त्वं साज्ञासु' इत्यादि से अक्षरों का चयन करके वहीं एक आर्या का भी निर्माण किया है, वह इस प्रकार है—

आज्ञासु जगन्मातः, स्पष्टं ज्ञाता सुवर्त्मसु प्रज्ञा।
भासि त्वं सा मुख्या, समुत् पृथुत्वं प्रदर्शय तत् ॥ देवीशतक ९८ ॥

यह कवि की रचनागत अन्यतम विशेषता है।

चक्रबन्ध से साम्य रखनेवाले अन्य बन्ध

चित्रकाव्य के प्रणेताओं ने चक्रबन्ध से साम्य रखने वाले तथा अन्यान्य नाम-निर्देशक चक्रबन्धों का भी प्रणयन किया है जिन्हें हम मातृकाक्रम से यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

१—गूढदीपक-बन्ध—आचार्य अजितसेन ने 'अलङ्कार-चिन्तामणि' में इस बन्ध का यह लक्षण दिया है—

आदिः पादो द्वितीयो वा, तृतीयो वा चतुर्थकः।
निगूह्यते चतुर्भेदे, निगूढे गूढदीपके ॥ २-१८२ ॥

इसके अनुसार किसी भी पद्य का कोई भी चरण गूढ रहने पर यह बन्ध होता है। चतुर्थ चरण गूढ़ रखने वाले पद्य का उदाहरण देकर उसकी आलेखन पद्धति यह दिखलाई है कि-चक्र के मध्य में अष्टदल-कमल की रचना करके प्रतिदल में तीन-तीन अक्षर कर्णिका से निर्गमन करते हुए लिखे जाते हैं जिनसे तीन चरणों की पूर्ति होती है, तदनन्तर प्रतिदल के दलान्त्यभाग का एक-एक अक्षर ग्रहण कर चौथा चरण पूर्ण किया है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है—

भूमिपामरतुष्ट्यंग-माश्रितो मुदितोऽनिशम्।
असुभृत्तीव्रपीडातः, 'पातु मां मुनिसुव्रतः' ॥ २-१८३ ॥

इसमें पूर्वार्ध के ३-६-९-१२-१५ तथा उत्तरार्ध के २-५-८ संख्या वाले अक्षरों से चौथा चरण बना है तथा यहाँ कर्णिका में कोई अक्षर नहीं है।

२–द्विचतुष्क-चक्र-बन्ध—महाराज भोजदेव ने इस बन्ध का लक्षण आर्या द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

इह शिखरसन्धिमालां, बिभृयादर्धं समाश्रितैर्वर्णैः।
द्विचतुष्क-चक्रबन्धे, नेमिविधौ चापरं भ्रमयेत् ॥ स० क०

इसके अनुसार तीन चक्रों में कर्णिका-स्थान को छोड़कर चार दिशा और विदिशा में तीन-तीन अक्षर लिखे जाते हैं किन्तु पठन-पद्धति में पूर्वापेक्षा विशेषता यह है कि-पद्य का आरम्भ द्वितीय चक्र के अक्षर से होता है तथा पहले चक्र और द्वितीय चक्र के मिश्रण से दो चरण पूर्ण होते हैं। शेष दो चरणों की पूर्ति दूसरे चक्र के मिश्रण से होती है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है–

जयदेव नरेन्द्रादे, लम्बोदर विनायक।
जगदे धनचन्द्राभालङ्कितदन्त विभाय ते ॥ वहीं २।३११॥

इसमें **'ज, दे, न, न्द्रा, ल, त, वि, और य'** अक्षर श्लिष्ट होकर दो बार आवृत्त हुए हैं। यहाँ भी कर्णिका में कोई अक्षर नहीं है।

३-द्विशृङ्गाटक-बन्ध—सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने इस बन्ध का लक्षण यह दिया है:-

शृङ्गाद् ग्रन्थिं पुनः शृङ्गं, ग्रन्थिं शृङ्गं व्रजेदिति।
द्विशृङ्गाटक-बन्धेऽस्मिन्, नेमिः शेषाक्षरैर्भवेत् ॥

इसके अनुसार कर्णिका-स्थान में षट्कोण की आकृति दी गई है तथा प्रत्येक कोण की सन्धि में एक-एक अक्षर लिखा गया है, उसके बाहर दो चक्रों से षट्कोण को परिवृत करके उसमें अक्षर लिखे गये हैं। पठन करते समय प्रथम परिधिगत शृंगाग्र अक्षर से ग्रन्थि-गत अक्षर, पुनः शृंग से ग्रन्थि, इस प्रकार पहला पठन होता है। तदनन्तर द्वितीय चरण का पाँचवाँ और आठवाँ अक्षर-क्रमशः प्रथम चरण के पहले और तीसरे अक्षर को श्लिष्ट बनाता है। द्वितीय चरण का आठवाँ अक्षर ही तीसरे चरण के प्रथमाक्षर के रूप में पढ़ा जाकर ,शेषाक्षर चक्राकार में घूमते हुए तथा शृंगाग्र-स्थित अक्षरों को ग्रहण करते हुए, प्रथम चरण के प्रथमाक्षर में श्लोक की पूर्ति करते हैं। उदाहरण इस प्रकार है:–

करासंजवशे शंखगौरवस्य कलारसम्।
सन्धाय वलयां शङ्खामगौरीमेवनात्मक ॥ वहीं २।३१३॥

इसमें **'क'** और **'सं'** तीन-तीन बार तथा अन्य अक्षर दो-दो बार आवृत्त हुए हैं।

४-ब्रह्म-दीपक-बन्ध–अलङ्कार-चिन्तामणिकार ने इस बन्ध का लक्षण यह दिया है–

भ्राम्यतां त्रीणि च त्रीणि, दलेष्वष्टसु कर्णिकाम्।
एकेनैवाष्ट-कृत्वोऽपि, पूरयेद् ब्रह्मदीपके ॥ २-१७२ ॥

इसके अनुसार अष्टदल-कमल और उसके बाहर चक्र बनाकर कर्णिका में एक अक्षर लिखा जाता है तथा आठों पत्रों में तीन-तीन अक्षर रहते हैं। पठन करते समय प्रति तीन अक्षर के बाद कर्णिकाक्षर की दो बार आवृत्ति होकर सामने के दल में प्रवेश होता है। उदाहरण इस प्रकार है:–

विजित्याननमम्भोजं, निन्ये जनन-वैरिणः।
कक्षमाननयागम्यं, सुपार्श्वं नन्नमीमि तम् ॥ २-१७३ ॥

इसमें कर्णिकाक्षर 'न' की आवृत्ति आठ बार हुई है।

५-विविडित-चक्रबन्ध—'सरस्वतीकण्ठाभरण' में इस बन्ध का लक्षण यह दिया है:-

शिखरादन्यतमाद् वै, प्रतिपत्रं भ्रमति रेखयाद्यर्धम्।
नेमौ तदितरमर्धं, विविडित-चक्राभिधे बन्धे ॥

इसके अनुसार मध्यरेखा-रहित छः कोणों की रचना करके, उसके बाहर दो चक्रों की रचना की गई है। चार कोणों में चार अक्षर तथा एक अक्षर नीचे कोण के अन्तर्गत लिखा जाता है और शेष अक्षर, दो चक्रों के बीच परिधि में लिखे जाते हैं। पठन करते समय प्रथम शृंग, ग्रन्थि, तृतीय शृंग, कोणान्तर्भाग, ग्रन्थि और छठे शृंग पर स्थित अक्षरों के योग से पहला चरण पूर्ण होता है। ग्रन्थि, ग्रन्थि और प्रथम शृंग का उपयोग करके दूसरा चरण पूर्ण किया है। शेष दो चरण परिधि के अक्षरों में शृंगाग्र स्थित अक्षरों को श्लिष्ट बनाते हुए पूर्ण किये गये हैं। उदाहरण इस प्रकार है:–

सा सती जयतादत्र, सरन्ती यमितात्र सा।
सारं परं स च जयी, शमिता स्यन्दनेन सा।

इसमें 'सा' चार बार तथा स, ती, ज, य, ता, त्र, अक्षर दो-दो बार आवृत्त हुए हैं। यह विविडित चक्र देवी के आसन का प्रतीक है।

६-व्योम-बन्ध—'सरस्वतीकण्ठाभरण' में ही इस बन्ध का निम्न लक्षण दिया है:–

अष्टादशशिखरचरीं, गोमूत्रिका चतुष्पदीं पश्येत्।
यत्राद्यन्तैर्दृष्टां, स ज्ञेयो 'व्योमबन्ध' इति ॥

इसके अनुसार चार चक्रों के बीच तीन पंक्तियों में अठारह अर बनाये जाते हैं। प्रत्येक अर में तीन-तीन अक्षर रहते हैं, जिसमें एक-एक अर को छोड़ द्वितीय चक्र के अक्षरों के योग से प्रथम चरण बनता है। दूसरा चरण द्वितीय अर के, तृतीय चरण तीसरे अर के प्रथम अर से और चौथा चरण तृतीय चरण के दूसरे अर से आरम्भ करके पूर्वोक्त पद्धति से पूर्ण किया जाता है। उदाहरण इस प्रकार है:–

कमलावलिहारिविकासविशेषवहं जनकाङ्क,
ननगामिकरन्दिविसारमनारमणं जरतान्न।

तमसां बलहानिविलासवशेन वरं जनकान्त,
ननमामि चिरं सवितारमनादिमहं जगतान्न ॥ वहीं २-३१६ ॥

इसमें गोमूत्रिका के क्रम से पठन द्वारा कतिपय अक्षर श्लिष्ट होते हैं।

७-सर्वतोमुख-बन्ध—दामोदरशास्त्री ने 'चित्रबन्ध-काव्य' में इस बन्ध का लक्षण निम्नानुसार दिया हैः–

स्वेष्टं दले कर्णिकायां, विन्यस्य परितो भ्रमेत्।
कर्णिकातः कर्णिकायां, बन्धेऽत्र सर्वतोमुखे ॥

इसके अनुसार अष्टदल-कमल की आकृति में कर्णिकाक्षर से पद्य आरम्भ होकर वहीं समाप्त होता है। प्रतिचरण का दूसरा अक्षर, विदिग्, दल में तथा अन्त्याक्षर को छोड़ कर अन्य सभी अक्षर दिग्दलों में रहते हैं। उदाहरण पद्य निम्ननुसार हैः–

यागिन् विचित्ररमणीयतराऽत्र माया, या रिम्फति प्रियरिपून् जगदीक्ष्यकाया।
या धर्मरक्षणपरा भजमानगेया, यार प्रमोदय विभूतिरियं त्वदीया ॥

इसमें 'या' अक्षर कर्णिका में रहकर आठ बार आवृत्त हुआ है। पद्य में प्रयुक्त यार का अर्थ ईं, कामं ऋच्छति इति यार अर्थात् लक्ष्मीदाता किया है तथा याः लक्ष्म्याः गिरिधर यह अङ्कन रखा गया है।

८-सुदर्शन-बन्ध(१)ः—रामानुज सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार इस बन्ध की रचना श्रीसुदर्शनशास्त्री ने की है। इस चक्र में सर्वप्रथम षट्कोणयन्त्र बनाकर उसके बाहर षोडशदल-कमल की रचना की गई है, किन्तु उसके चार दिग्दलों में ही अक्षर रहते हैं। उस चक्र के बाहर एक और चक्र है, जिसके दिग्द्वारों पर अग्निज्वाला निकलने की आकृति है। उसमें एक-एक अक्षर है तथा विदिग्द्वारों पर दो-दो अक्षर और लिखे गये हैं। पूरे चक्र पर सम्मान-सूचक उत्तरीय डाला हुआ है। पठन प्रक्रिया में सर्वप्रथम पूर्वभाग के प्रथम चक्र का अक्षर उसके नीचे कमल-दल का अक्षर, षट्कोण के प्रथम कोण का मध्याक्षर तथा षट्कोण का मध्याक्षर इस क्रम से पठन होता है। तदनन्तर गतागत पद्धति का आश्रय लेकर षट्कोण में द्वितीय चरण पढ़ा जाता है और कमल के चार दलाक्षरों से उसकी पूर्ति होती है। शेष दो चरण बाह्य-चक्र में लिखे गये हैं, जिनमें चौथे चरण के अन्तिम चार चरणों का पठन चार विदिग्द्वारों के अक्षरों से होता है और वे ही अंकन भी बन जाते हैं। उदाहृत पद्य इस प्रकार हैः––

सुसहस्रामसुस्रार, फट्स्रां प्रसहितं रसम्।
सुरद्विड्दर्पमर्शश्रीदानं वन्दे सुदर्शनम् ॥

इसमें 'सु' स और स्रां, की आवृत्ति तीन बार तथा अन्य सुदर्शन आदि अक्षरों की दो बार आवृत्ति हुई है। तथा चारों दिशाओं में 'सुदर्शन' शब्द के अक्षरों की योजना भी रमणीय है।

९-सुदर्शन-बन्ध-(२)--दामोदरशास्त्री ने इस बन्ध का लक्षण इस प्रकार दिया है:-

मध्यतस्तु तिरोरीत्या, ऊर्ध्वतश्चानुलोतः ।
नेमौ च परितो गच्छेत्, बन्धे चक्रसुदर्शने ॥ चित्रबन्ध-काव्य ॥

इसके अनुसार अष्टार चक्र में चार चरण विदिक्-कोणगत अरों में निर्गम-पद्धति से लिखे जाते हैं तथा चार चरण चार दिशाओं के अरों में प्रवेश-पद्धति से सीधे लिखे जाते हैं, जिनमें कर्णिकाक्षर दो चरणों के मध्य में दो बार आवृत्त होता है—आठों अरों का कर्णिकाक्षर से संबन्ध रहता है। शेष परिधि में चार चरण लिखे जाते हैं जो प्रति अर के अग्रभागस्थ अक्षरों को आवर्जित करते हैं। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :—

१—माधव यादव याहि पर, मा हृदयाम्बुजनिभ्रमर ।
माथुरकंसविनाशकर, मातृविनोदक पापहर ॥
२—खिन्नान् कुरु रिपून् रामा, मानसेन समीहित ।
रहस्यस्वच्छमहिमा मार्गदर्पण—सम्प्रद ॥
३—रक्ष त्वमखिलाधार, रघुनाथ दयाकर ।
रमाराजित-संसार, रमणीय रमाधर ॥

इनमें कर्णिकाक्षर 'मा' आठ बार आवृत्त हुआ है, अन्य अक्षरों में नेमिगत अक्षर कहीं तीन-तीन बार तथा कहीं दो-दो बार आवृत्त हुए हैं। अतः अरों की सन्धिगत परिधि में प्रथम तीन और द्वितीय में दो अक्षरों के आलेखन क्रम को अपनाया गया है।

ढाल-बन्ध

दामोदरशास्त्री ने 'चित्रबन्ध-काव्य' में इस बन्ध का लक्षण यह दिया :—

मध्याद् गच्छेत् पुनर्मध्ये, मध्यान्मध्ये पुनस्तथा ।
इमां शैलीं कविश्रेष्ठ, ढाल-बन्धे वदेद् बुधः ॥

इसके अनुसार ढाल की आकृति में चार कर्णिका और चार दलों की रचना करके पद्य लिखा जाता है, जिसके प्रतिचरण के आद्यन्ताक्षर कर्णिका में रहते हैं। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :—

वस गुरो हृदये मम माधव, वननमस्तु पदे तव यादव ।
वदनभामयि वर्तय राघव, वद विभो कृपया जगदुद्भव ॥

इसमें 'व' अक्षर चारों कर्णिका में रहकर दो-दो बार आवृत्त होता है।

१—स्फुर (ढाल) बन्ध—इस बन्ध का अन्य उदाहरण अवतारकवि ने **'ईश्वरशतक'** में दिया है। इसकी आकृति पूर्ववत् ही है किन्तु लेखन में प्रतिकर्णिका में पाँच अक्षर, प्रतिदल में पाँच अक्षर और उसके बाहर चार कीलकों में एक-एक अक्षर रहता है।

पठन करते समय कर्णिका के पश्चात् दल और कीलक के अक्षर पढ़कर पुनः दल में स्थित अक्षरों को विपरीत पढ़ा जाता है। पद्य इस प्रकार है :—

शर्व नयः शुभो वितरणे गुणे विभो,
तिष्ठति ते श्रियेऽजर परं चिरं परजये।
तत्कृपया सुचारुरव मा क्षमावररुचा,
दर्शय सद्धिते परसुखं सुखं सुरपते ॥ ६६ ॥

इसमें भो वितरणे, ये जरपरं, चारुरवभा तथा ते सुखं' अक्षरों का लोम-विलोम पठन हुआ है।

तूण-बन्ध

आनन्दवर्धनाचार्य ने इस बन्ध का उदाहरण दिया है जो अर्धगोमूत्रिकायमक तथा पादगोमूत्रिका के पद्यों से बनाया गया है। तरकस की आकृति में नीचे के हिस्से में अर्धगोमूत्रिका के प्रथम और तृतीय चरण को लिखते जाते हैं तथा ऊपर के हिस्से में दो विभाग गोमूत्रिका-क्रम से चार चरण लिख दिये जाते हैं। पद्य इस प्रकार हैं :—

सुरदेशस्य से कीर्ति...................... ।
वरदे शस्यते धीरै..................... ॥ ८८ ॥
तारे शरणमुद्यन्ती, सुरेशरणमुद्यमैः ।
त्वं दोषापासिनोदग्रस्वदोषा पासि नोदने ॥ देवीशतक ६० ॥

इनमें कुछ अक्षरों का साम्य पाठ ही—इसकी विशेषता है।

त्रिशूल-बन्ध

रुद्रट ने 'काव्यालङ्कार' में इस बन्ध का उदाहरण दिया है। इसमें पद्य का आरम्भ दण्ड भाग से होता है, जिसमें दूसरे चरण के सात अक्षर तक लिखा जाता है। आठवाँ अक्षर त्रिशूल-सन्धि में लिखकर तीनों शूलों में लिखित दो-दो अक्षरों के गतागत-पठन से उसे चार बार श्लिष्ट बनाया जाता है। पद्य इस प्रकार है :—

मामुषो राजस स्वासूंल्लोककूटेश-देवताम् ।
तां शिवावाशितां सिद्ध्याध्यासितां हि स्तुतां स्तुहि ॥ ५-१० ॥

इसमें 'तां' अक्षर श्लिष्ट है तथा तृतीय और चतुर्थ चरण के दो-दो दो अक्षर 'शिवा-वाशि, सिद्ध्या-ध्यासि तथा हिस्तुस्तुहि' गतागत क्रम से पठित हैं।

१-त्रिशूल-बन्ध—'चित्रभूषण' में इस बन्ध का एक पद्य दिया है। उसके अनुसार तीनों शूलों में दो-दो अक्षरों के स्थान पर चार-चार अक्षर रहते हैं और जिनका एक-एक अक्षर ही गतागत रूप में पढ़ा जाता है। पहले दण्ड से मध्यशूल तक दो चरण लिखकर तीसरे चरण का आरम्भ पार्श्व के शूल से होता है तथा बाद में एक-एक अक्षर को दण्ड-सन्ध्यक्षर के साथ गतागत रूप में पढ़कर अन्य पार्श्वों में पद्य पूर्ण किया जाता है। पद्य इस प्रकार है—

सोमे वस मनस्त्वं विरमाकरण-दोषतः ।
प्रयागस्यार-करण, जर प्रर जलात्मके ॥

इसमें 'र' अक्षर दण्ड-सन्ध्यक्षर है, जो पाँच बार आवृत्त हुआ है तथा अन्य 'ज-प्र-क' अक्षर दो-दो बार आवृत्त हुए हैं।

२-त्रिशूल-बन्ध––अवतारकवि ने इस बन्ध का उदाहरण दिया है। इसमें पद्य का आरम्भ दण्ड के मध्य सन्ध्यक्षर से होकर दण्डमूल तक दो चरण पूर्ण होते हैं। तृतीय चरण और चतुर्थ चरण के तीन अक्षर तक सन्धि और पार्श्वशूलों में गतागत पठन होता है मध्यशूल के तीन अक्षरों के गतागत पठन से पद्य पूर्ण होता है। पद्य इस प्रकार है––

कार्ष्ण्येन भगवन् नास्ति, तव कण्ठच्छवेः सता ।
कालिकाकालिकालीलीलीलाका परवीरप ॥ ईश्वरशतक २४ ॥

इसमें 'का' अक्षर चार बार आवृत्त हुआ है तथा 'लिका-कालि, लाली-लीला और 'पर-रप' ये अक्षर गतागत रूप से पठित हैं––

३-त्रिशूल-बन्ध––यहीं एक अन्य उदाहरण मालिनी छन्द के अर्धपद्य से दिया है। इसमें दण्ड के मूल भाग से आरम्भ कर सन्धिस्थान के निकट तक एक चरण लिखा गया है तथा दण्ड सन्ध्यक्षर और दोनों पार्श्वों के योग से गतागत-पठन करते हुए तीसरे चरण और चौथे चरण के चार अक्षर तक पहुँचते हैं जिनमें दोनों पार्श्वशूलों में दो-दो अक्षर रहते हैं, शेष चार अक्षर मध्यशूल में लिखे जाते हैं, जिनमें कोई विशेषता नहीं रहती। दोनों चरण इस प्रकार हैं––

मयि तनुमुचितां तां दर्शयस्येदृशीं या,
रविजजविरणत्रा त्राणरक्तातिभासा ॥ ३८ का पूर्वार्ध ॥

इसमें 'र' दण्ड-सन्ध्यक्षर है तथा 'विजाजवि और णत्रा-त्राण' गतागत पठित हैं। दण्ड के मध्य में 'तां' को श्लिष्ट बनाकर त्रिशूल पकड़ने के स्थान की शोभा बढ़ा दी है।

४-त्रिशूल-बन्ध––वहीं एक अन्य उदाहरण और वंशस्थ-वृत्त से दिया है। इसमें पार्श्वशूलों में चार-चार अक्षर तता मध्यशूल में छः अक्षर रहते हैं। पार्श्वशूलगत तीन-तीन अक्षर गतागत-पद्धति से सन्ध्यक्षर को श्लिष्ट बनाकर पढ़े जाते हैं, किन्तु मध्यशूल में एक अक्षर ही श्लिष्ट होता है, अतः यह नवीन प्रकार है। उदाहरण इस प्रकार है––

सुदर्शनस्येव युधि द्विषां वधे, मतिः सुतीक्ष्णा भवतो जयत्यसौ ।
नमामि शम्भो शमिमानवाभयं, नयं भवानर्थजितं भवाततम् ॥ ८० ॥

इसमें 'न' अक्षर दण्डसन्ध्यक्षर है, तथा अन्य–'**मामिश-शमिमा**, तथा **वाभयं-यंभवा**'-गतागत-पद्धति से पठित हैं। मध्यशूल में 'त' अक्षर श्लिष्ट है।

५-त्रिशूल-बन्ध––म०म० रामावतारशर्मा ने इस बन्ध का नवीन रूप प्रस्तुत किया है, जिसमें त्रिशूल के दण्ड में मुष्टि स्थान पर पद्य के प्रथम चरण का द्वितीय अक्षर श्लिष्ट

रहकर निम्न भाग और दोनों पार्श्व में लिखे एक-एक अक्षर के साथ तीन बार आवृत्त किया है। दण्ड में तीन अक्षर तथा दण्डसन्धि में एक अक्षर श्लिष्ट रखा है। दोनों पार्श्व के शूलों में चार-चार अक्षर हैं जो मध्यशूल के एक अक्षर तथा दण्डसन्धि के साथ सम्बन्धित होकर पद्य पूर्ण करते हैं। पद्य इस प्रकार है—

कालो शूलीऽव्यलीलाद्य, पातु पापातुरान् नरान्।
भासा पाता सितापासा, भासितापातुरान् नरान्॥

इसमें प्रथम मुष्टि-सन्ध्यक्षर 'ली' तथा द्वितीय दण्ड-सन्ध्यक्षर 'तु' श्लिष्ट हैं तथा अन्त्याक्षरों की क्रमहीनावृत्ति हुई है।

दण्ड-बन्ध—'चित्रभूषण' में इस बन्ध का उदाहरण दिया है, जिसमें दण्ड के शिरोभाग से पद्य का आरम्भ होकर मध्य तक पढ़ा जाता है और वहाँ से पुनः शिरोभाग तक पहुँचने से दो चरण पूर्ण होते हैं, इसी प्रकार मध्य से नीचे तक और नीचे से मध्य तक जाने पर अन्य दो चरणों की पूर्ति होती है। पद्य इस प्रकार है—

मानमाननमानश्रीतवलंस्थस्थलं तव।
दक्षमोहस्नेहि पाहि स्नेहमोक्षदमस्थलम्॥

इसमें स्थित अक्षरों का गतागत-पद्धति से पठन हुआ है।

१-दण्ड-बन्ध—पं० रामचन्द्रमिश्र ने इस बन्ध की रचना अन्य प्रकार से की है। इसमें दण्ड के मध्य में छः ग्रन्थियाँ हैं और पद्य का पठन शिरोभाग की प्रथम ग्रन्थि से होता है तथा वहीं आकर पद्य पूर्ण होता है। मध्यग्रन्थिगत अक्षरों की श्लिष्टता है जो दण्ड के एक भाग से उतरते हुए तथा दूसरे भाग से ऊपर तक पहुँचते हुए मध्य-भाग में आवृत्त होते हैं। पद्य इस प्रकार है—

हे दण्ड के दण्डयितुर्विरोधिनो, रुन्धन्ति मार्गं जगतीतलंगता।
प्रेमावहा रुद्धगिरोऽप्यमायिनः, के के महेशांघ्रिमुपासते महे॥

इसमें 'हे के यि-रो-र-मा-ग' अक्षर श्लिष्ट होकर दो-दो बार पढ़े जाते हैं।

२-श्रीकरी (राजदण्ड) बन्ध—कुलमण्डनसूरि के अष्टादशार-चक्रबन्ध के अन्तर्गत एक पद्य से इस बन्ध की रचना की गई है। इसकी आकृति राजाओं की शोभायात्रा में ध्वज-पताका आदि अन्य वस्तुओं के साथ जो राजदण्ड रहता है, उसके समान है। इसमें पद्य का आरम्भ दण्ड के निम्न भाग से होता है। द्वितीय चरण का अन्तिम अक्षर दण्ड के शिरोभाग पर मध्य में रहता है, शिखर पर एक अक्षर तथा दण्ड के शिरोदेशस्थ भाग के आदि में दो अक्षर रहते हैं, जो श्लिष्ट होते हैं। और शेष अक्षर वहीं दोनों पार्श्व में स्थापित होते हैं। उदाहरण पद्य नीचे लिखे अनुसार है :—

तज्ज्ञा सदमलेक्ष्वाकुर्विशजेयुः शर्मिस्तव।
वरेण्यानन विश्वेश शरणं सुसुखेच्छवः॥ ७॥

इसमें 'न श सु' अक्षर श्लिष्ट हैं।

आचार्य रुद्रट के अष्टार-चक्र-बन्ध के अन्तर्गत एक पद्य से इस बन्ध की रचना की गई है। इसकी आकृति में प्रत्यञ्चा बाँधने के स्थान को शिखा की संज्ञा दी गई है, वहीं से पद्य आरम्भ करके धनुर्यष्टि में लिखा जाता है तथा द्वितीय शिखा स्थान पर एक अक्षर को श्लिष्ट बनाते हुए बाण चढ़ाने के स्थान पर पुनः एक अक्षर को दो पार्श्वों में स्थित अक्षरों के साथ श्लिष्ट बनाया जाता है। तदनन्तर शेषाक्षर प्रत्यञ्चा में होते हुए शिखा में जाकर पूर्ण होते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत बन्ध में दो शिखास्थान एवं एक प्रत्यञ्चा के मध्यस्थान में लिखित अक्षर श्लिष्ट होते हैं। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :—

मामभीदा शरण्या मुत्, सदैवारुक्प्रदा च धीः।
धीरा पवित्रा सन्त्रासात्, त्रासीष्ठा मातरारम॥

इसमें 'म' और 'धी' अक्षर श्लिष्ट हैं।

१–धनुर्बन्ध—'चित्रभूषण' में इस बन्ध का निर्माण अन्य प्रकार से दिया है। इसमें प्रत्यंचा के मध्य से तृतीय चरण और चतुर्थ चरण का भिन्न भिन्न दिशाओं में पठन होता है तया मध्याक्षर एवं दोनों शिखाओं के अक्षर श्लिष्ट होते हैं। यथा :—

वलक्षमूर्ते गौरीश, दयस्व विषमे यमे।
जयदेव महादेव, जयजन्म भयस्वयम्॥

इसमें 'व ज य' अक्षर श्लिष्ट हैं।

२-धनुर्बन्ध—दामोदरशास्त्री ने इस बन्ध का लक्षण यह दिया है :—

अधस्तात् परितो गच्छेत्तत्रैव विरमेत् पुनः।
धनुर्बन्धे क्रममिमं जानन्तु विदुषां पुनः। चित्रबन्धकाव्य।

इसके अनुसार शिखा के प्रत्यञ्चा बाँधने के स्थान पर दो अक्षरों को लोम-विलोम पढ़ा गया है तथा प्रत्यञ्चा में कोई अक्षर श्लिष्ट नहीं है। इसका उदाहरण इस पद्य द्वारा दिया है :—

तेजसा चापमाकृष्य, ससीतः सानुजः सदा।
दासरक्षार्थमागत्य, भुवि रामो विराजते॥

यहाँ 'तेज-जते लोम-विलोम पठित हैं तथा 'दा' अक्षर दो बार आवृत्त हुआ है।

३-धनुर्बन्ध—भट्ट मथुरानाथशास्त्री ने इस बन्ध का और भी सरल प्रकार प्रस्तुत किया है, जिसमें दोनों शिखाओं के अक्षर ही श्लिष्ट हैं। उदाहरण इस प्रकार है :—

दाक्षिण्य-पुण्य-विभवो, विद्वत्कुमुद-चन्द्रमाः।
माराभिरामो जयताद्, मानसिंहनृपः सदा॥ जयपुरवैभव।

यहाँ 'दा' और 'मा' अक्षर श्लिष्ट हैं।

४—धनुर्बन्ध (सबाण)—दामोदरशास्त्री ने इस बन्ध का लक्षण इस रूप में दिया है :—

अधस्तात् परितो गच्छेत्, पुनर्बाणस्य मस्तके ।
सबाणेऽत्र धनुर्बन्धे, शैली ज्ञेया विचक्षणैः ।। चित्रबन्धकाव्य ।।

इसके अनुसार पद्य का आरम्भ प्रत्यञ्चा के मध्य में स्थित बाण के मूल से होता है तथा द्वितीय अक्षर को श्लिष्ट बनाते हुए एक भाग से भ्रमण कर धनुर्यष्टि में बाण के स्थान पर पुनः एक अक्षर को श्लिष्ट बनाया जाता है और प्रत्यञ्चा के दूसरे भाग में होते हुए मध्य में आकर दूसरा चरण समाप्त होता है। शेष दो चरण बाण में लिखे जाते हैं, जिनमें पूर्वोक्त दोनों श्लिष्टाक्षरों का उपयोग होता है। यथा :—

वीर प्रधाय धनुरद्यततप्रभाव, वश्यान् शरैः कुरु रिपूनखिलाप्तमार ।
रक्षस्व धर्मत इमान्निजभक्तभाव, वन्दामहे पदपयोजमदो वयं ते ।। वहीं ।।

इसमें 'र' की तीन बार तथा 'व' की चार बार आवृत्ति हुई है।

क–धनुर्बन्ध (सबाण) — डा० रसिकबिहारी जोशी ने इसी आकृति और पद्धति के अनुरूप 'रासपञ्चाध्यायी' के एक पद्य से इस बन्ध का निर्माण किया है, जिसमें श्लिष्टाक्षरों की आवृत्ति दो-दो बार ही हुई है। यथा :—

तव कथामृतं तप्तजीवनं, कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं, भुवि गृणन्ति ते भूरिदाजनाः ।। ३।९ ।।

इसमें 'व' और 'वि' श्लिष्ट हैं।

नागपाश-बन्ध

आचार्य अजितसेन ने 'अलङ्कार-चिन्तामणि' में इस बन्ध का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

नागाकारधरे बन्धे, वर्णाः पाठ्याः कृतान्तराः ।
प्रोक्तवाक्योद्भवं श्रित्वा, नागपाशं विदुश्च तत् ।।

इसके अनुसार दो नागों के मध्य में कतिपय रेखाओं के अङ्कन से बनी हुई आकृति में प्रश्नों के उत्तर से प्राप्त पद को दोनों पार्श्व तथा मध्य में लिखा जाता है। उदाहृत प्रश्नोत्तर पद्य इस प्रकार है :—

वल्ल्या सम्बुध्यतां रम्यः, कस्तापहरमुच्यताम् ।
कीदृग् मिथ्यारुचिः पुम्भ्यो, वेश्यावीथी च कीदृशी ।। २-११५ ।।

इन प्रश्नों के उत्तर से निःसृत पद 'पल्लव=(विट), महिता, पल्लव कम्-अहिता=पल्लवकमहिता' —पद आकृति में लिखा हुआ है।

परशु-बन्ध

इस बन्ध का उदाहरण भी अजितसेन ने निम्न लक्षण द्वारा प्रस्तुत किया है :—

एकसन्धौ तु षड्वारमेकमेकं द्विरानयेत् ।

शृङ्गं शिरसि च ग्रीवां, त्रियुक्तां परशौ पठेत् ॥ अलं० चिन्ता० २-१७४॥

इसके अनुसार परशु की आकृति में दण्ड से पद्यारम्भ होता है तथा दण्ड और फलक की सन्धि में एक अक्षर, अधोभाग में एक अक्षर तथा दण्डाग्र भाग में एक अक्षर की स्थापना है। सन्धि के ऊपर ग्रीवा में तीन अक्षर और अर्धचन्द्राकृति के लोहफलक–शृङ्ग में पाँच अक्षर लिखे गये हैं। सन्धिगत अक्षर की आवृत्ति छः बार तथा आस-पास के अक्षरों की आवृत्ति एक साथ दो-दो बार हुई है। इसी प्रकार ग्रीवा के अक्षरों की भी तीन बार आवृत्ति होती है। पद्य इस प्रकार है :—

सोऽव्याच्छान्तिर्जितैर्नो नोनोनोना गगनाङ्गनाम् ।

ता तमा ना तमां तथ्यां, सभां नत्वाऽन्तमातनाम् ॥ २-१८५ ॥

इसमें **'नो-ना-ग-त-मा'** अक्षरों की आवृत्ति दर्शनीय है।

११–परशु-बन्ध—'चित्रभूषणकार' ने इस बन्ध का नवीन प्रकार उपस्थित किया है। तदनुसार दण्ड के मूल में दूसरा अक्षर श्लिष्ट रखकर तीन बार आवृत्त करते हुए आस–पास के अक्षरों के योग से आगे बढ़ते हैं तथा दण्ड के शिखर तक पहुंचकर ग्रीवा में लिखित अक्षरों को पढ़ते हुए शृङ्ग के अक्षरों से पद्य पूर्ण होता है। ग्रीवा और शृङ्ग के अक्षरों की समानता भी यहाँ चमत्कार का पोषण करती है। पद्य इस प्रकार है :—

कमश्रीमच्छमस्थाणो, यस्मिन् क्रोधश्च लोभता ।

मोहः स ससस्त्वेव नान नान नना नना ॥

इसमें **'म'** श्लिष्ट है तथा अन्त्याक्षरों की समानता स्पृहणीय है।

२–परशु-बन्ध–म० म० रामावताशर्मा ने इस बन्ध का एक अन्य रूप दिया है, जिसमें दण्ड के शिखर के भाग से पद्यारम्भ होता है और सन्धि, फलाग्र का मध्य तथा दण्ड के मूल में श्लिष्टाक्षरों की योजना की गई है। उदाहरण का पद्य इस प्रकार है :—

त्वं कालि शीलितामौलिमालिका राजिते मया ।

वितर त्वरया रम्यां, रसारब्धरयां रमाम् ॥

इसमें **'का'** अक्षर सन्धि में, **'लि'** फलाग्र–मध्य में तथा **'र'** दण्डमूल में रहकर श्लिष्ट हुए हैं।

भल्ल-बन्ध

कुलमण्डनसूरि के अष्टादशार-चक्र में इस बन्ध का उदाहरण मिलता है। तदनुसार भाले के दण्ड-मूल में एक गोल आकृति बनाकर उसके ऊर्ध्वभाग में एक अक्षर लिखा गया

है और वहीं से भ्रमण कर प्रथमाक्षर को श्लिष्ट बनाते हुए दण्ड में प्रवेश होता है। दण्ड के मध्य में एक स्थान पर द्वितीय चरण का अन्तिम अक्षर तृतीय चरण के प्रथमाक्षर के रूप में श्लिष्ट हुआ हैं तथा फलाग्र की त्रिकोणाकृति के मध्य में एक अक्षर, शिखर में एक अक्षर और आस-पास में दो-दो अक्षर लिखे गये हैं। शिखर का अक्षर दो बार तथा मध्याक्षर तीन बार आवृत्त होता है। यथा :—

तत्यजेऽत्र तकाश्चण्ड, पार्श्वमिन्द्रस्तुताहस।
सर्वदोषैस्तत्क्षयाशां, शान्ताघ ददतो विशाम्॥ ८॥

इसमें 'त' और 'स' दो-दो बार तथा 'शां' तीन बार आवृत्त हैं।

मूसल-बन्ध

आचार्य रुद्रट के अष्टादशार-चक्रबन्ध के अन्तर्गत पद्य से इस बन्ध का उदाहरण प्राप्त होता है, जिसका लक्षण दामोदरशास्त्री ने यह दिया है :—

ऊर्ध्वादधस्ततश्चोर्ध्वे, ह्यनुलोम-विलोमतः।
मध्यवर्णत्रये ज्ञेयं, बन्धेऽत्र मुसलाभिधे॥

इसके अनुसार मुसल के शिखर से एक ओर अवतरित होते हुए प्रथम चरण का अन्तिम अक्षर तथा द्वितीयचरण के आरम्भ के दो अक्षर श्लिष्ट होते हैं जो तीसरे चरण के अन्तिम अक्षर तथा चौथे चरण के प्रथमाक्षर के रूप में आवृत्त होते हैं। इसी प्रकार दूसरे चरण का अन्तिम अक्षर नीचे के भाग में रह कर तृतीय चरण के प्रथमाक्षर के रूप में श्लिष्ट बनता है। यथा :—

मायाविनं महाहावा, रसायातं लसद्भुजा।
जातलीला यथासार, वाचं महिष मा वधीः॥ ८॥

इसमें **'वा-र-सा-जा'** अक्षर दो बार पढ़े जाते हैं।

वज्र-बन्ध

जयतिलकसूरि ने 'चतुर्हारावलि—चित्रस्तव' में इस बन्ध का उदाहरण दिया है। इसकी रचना चतुष्कोण के मध्य में चतुष्कोणात्मक तिरछी रेखाओं से की है। मध्य एवं चारों कोण के अक्षर श्लिष्ट रहते हैं तथा बाहर के चतुष्कोण के दक्षिण और वाम भाग में कोई अक्षर नहीं है। उदाहरण इस प्रकार है :—

भाव्या जिना मेऽत्र भवन्तु तुल्यश्रियः सुरेनव्रजसेव्यपादाः।
दानादिधर्मान्वितधौततत्त्वोपदेशदानस्थितये स्थिराभाः॥ ३-१३॥

इसमें क्रमशः **'भा, तु, न, दा, और त'** अक्षर श्लिष्ट हैं।

शक्ति-बन्ध

आचार्य रुद्रट के अष्टार-चक्र में इस बन्ध का भी एक पद्य है। शक्ति के मध्य से पद्यारम्भ होकर नीचे की ओर अवतरित होता है तथा निम्नभाग एक अक्षर को

श्लिष्ट बनाते हुए, पुनः मध्यस्थान तक पठन होता है। इसी पद्धति से ऊपर की ओर पढ़ने से यह बन्ध पूर्ण होता है। इसमें तीन अक्षर मध्य के तथा एक-एक ऊपर नीचे के श्लिष्ट हैं। यथा :—

माहिषाख्ये रणेऽन्यानुसानुजानेयमत्र हि।
हिमातङ्का दिवामुञ्च कं कम्पनमुपप्लुतम् ॥ १२॥

इसमें 'हि' अक्षर की तीन बार तथा अन्त्याक्षरों की दो–दो बार आवृत्ति हुई है।

१–शक्ति-बन्ध—दामोदरशास्त्री ने इस बन्ध को बाण की आकृति से बनाते हुए निम्न लिखित लक्षण दिया है :—

मध्यतोऽधस्ततो मध्ये, ततश्चोपरितो भ्रमन्।
पुनर्मध्ये समाप्तिः स्याद्, बन्धेऽत्र शक्तिसंज्ञके ॥

इसके अनुसार मध्याक्षर से आरम्भ कर दक्षिण वाज में प्रवेश करते हुए वाज के मध्याक्षर को श्लिष्ट बनाते हैं फिर मध्य दण्ड में दो अक्षर लोम-विलोम पढ़कर वामवाज के चार अक्षरों से निर्गमन करते हैं तथा ऊपर के त्रिकोणाकृति फलाग्र में मध्याक्षर से प्रवेश कर शिखर अक्षर को श्लिष्ट बनाकर पुनः मध्याक्षर में पद्य पूर्ण करते हैं। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :—

काशिका सकलं रातु, तुरा राक्षस-नाशिका।
कामदा देवताधीश-शक्तिः शत्रुविमर्दिका ॥

इसमें 'का' चार बार तथा 'शि' और 'श' दो-दो बार आवृत्त हुए हैं और 'रातु-तुरा' अक्षरों का लोमविलोम पठन किया गया है।

शर-बन्ध

आचार्य रुद्रट के अष्टार-चक्र-बन्ध में इसका पद्य दिया है। शर की आकृति में नमिसाधु ने नीचे से क्रमशः 'मूल, अटनिद्वय, वाजद्वय, शर, फल, और फलाग्र' इन छः नामों द्वारा विभाग सूचन किया हैं। प्रस्तुत पद्य का आरम्भ वाज के निकट से होकर शर, फल, और फलाग्र तक पठन होता है। जिसमें फल का मध्याक्षर श्लिष्ट होकर तीन बार आवृत्त है। तदनन्तर दोनों वाज और दोनों अटनियाँ तथा मध्य-यष्टि के अक्षरों का पाठ होता है, जिनमें दोनों के मध्याक्षर श्लिष्ट हैं। पद्य इस प्रकार है :—

माननापरुषं लोकदेवीं सद्रस सन्नम।
मनसा सादरं नत्वा, सर्वदा दास्यमङ्गताम् ॥

इसमें 'स' तीन बार तथा 'सा' और 'दा' दो-दो बार आवृत्त हुए हैं। इसके आलेखन में पूर्वार्ध नीचे और उत्तरार्ध ऊपर लिखने की भी पद्धति है।

१–शर-बन्ध—चावलिरामसूरि ने इस बन्ध की रचना अन्य प्रकार से की है, जिसमें मूल से पद्यारम्भ करके क्रमशः मूल में चार शर के चार खण्डों में और शिखर पर तीन अक्षरों को श्लिष्ट बनाया है। पूर्वार्ध और उत्तरार्ध का दो भागों में पाठ करते हुए श्लिष्ट अक्षरों की पुनरावृत्ति हुई है। पद्य इस प्रकार है :—

राजराज वीर गोप, राजराज कीर्तिभद्र ।
राजराज माररोप, भोजराज मूर्तिभद्र ।।

इसमें 'राजराज र-प-ज-ज-र्तिभद्र' आवृत्त हैं।

हल-बन्ध

रुद्रट के अष्टार-चक्र में इस बन्ध का उदाहरण प्राप्त होता है। हल की आकृति में हलाग्रभाग-सीत, लगना, जुआठ और हरिश ये चार भाग हैं। पद्य का पूर्वार्ध हरिश के मूल से होकर हल के मध्य भाग और हलाग्रभाग के दोनों पार्श्व में होता हुआ मध्य में समाप्त होता है। वहीं से पुनः हरिश में होकर जुआठ में उत्तरार्ध पूर्ण होता है। पद्य इस प्रकार है :—

मातङ्गानङ्गविधिनाऽमुना पादं तमुद्यतम् ।
तङ्गयित्वा शिरस्यस्य, निपात्याहन्ति रहसा ।। १३ ।।

इसमें तं तीन बार तथा ना और 'ह' दो-दो बार क्रमशः हलमध्य, हलाग्र, और जुआठ के मध्य में रह कर श्लिष्ट हुए हैं।

१–हल-बन्ध—दामोदरशास्त्री ने इस बन्ध का अन्य प्रकार निम्न-लिखित लक्षण से प्रयुक्त किया है।

मूलात् सीतस्याग्रभागे, ततो मध्ये तु लग्नतः ।
ऊर्ध्वे युग्माटपार्श्वाभ्यां, मध्येऽन्ते हरिशस्य च ।।
भागे परिसमाप्तिः स्याद्, बन्धे त्वत्र हलाभिधे ।

इसके अनुसार हरिश, मूल, हलाग्र लगना, हलपृष्ठ, हलमध्य, हरिशमध्य, जुआठ और हरिश-शिखर इन भागों में क्रमशः भ्रमण करते हुए पद्य पूर्ण होता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है—

श्रितं हलधरं नत्वा, गत्वा श्रीरेवतीयुतम् ।
सहितं कृष्णचन्द्रेण, महितं प्रेहि शं हित ।।

इसमें हलमध्यगत 'तं' तीन बार, हलाग्र में स्थित 'त्वा' और जुआठ के मध्य में स्थित 'हि' दो-दो बार आवृत्त हुए है।

२–हल-बन्ध—श्रीधर्मसूरि ने इस बन्ध की योजना नवीन प्रकार से की है। इसमें हलपृष्ठ, हलमध्य, हरिशमूल, हलमध्य, हलाग्र, हलमध्य, हरिशमध्य-लगना, जुआठ और

हरिश इन भागों में क्रमशः भ्रमण करते हुए पद्य पूर्ण होता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है—

वितथेतर-नाराच-चरानार ततभ्रमः
मन्मानसे रघुपते धीरसाररसारधीः ॥ साहित्यरत्नाकर ६ तरङ्ग।

इसमें हलमध्य में स्थित 'त' चार बार, हरिशमध्य में स्थित 'म' दो बार तथा जुआठ और हरिश शिखर में स्थित 'र' चार बार आवृत्त हुआ है और दीर्घ रेखांकित दो स्थानों पर गतागत-पठन किया गया है।

अन्य सम्भावनाएँ—शस्त्रास्त्र-चित्र के बन्धों में देवताओं द्वारा धारण किये जाने वाले शस्त्रास्त्र और मानव द्वारा उपयोग में लिये जाने वाले शस्त्रास्त्रों के बन्धों का यह अंकन हमारे शौर्य के इतिहास का जागरूक चित्र उपस्थित करता है। इन बन्धों में चक्र-बन्धों के विविध प्रकार और उनकी पठन-पद्धतियों की प्रमुख देन है- एक ही बन्ध में अनेक बन्धों का समावेश। वनवैभवात्मक-चित्रबन्धों में बहु-चर्चित कमल-बन्धों में यह पद्धति केवल एकाधिक पद्यों के समावेश तक ही बढ़ पाई थी। अब आवश्यकता है कतिपय आधुनिक शस्त्रास्त्रों के चित्रों में बन्ध-योजना की, जिससे बन्दूक, तोप, टैंक आदि के सभी चित्रबन्ध उपस्थित हो सकें।

अन्य भाषा में प्रचलित बन्धों के आधार पर लेखक ने दो नवीन बन्धों की संस्कृत में अवतारणा की है, जिन्हें यहाँ प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा।

१—कट्टार-बन्ध—यह एक दुधारी छुरी है। इस बन्ध की रचना गुजराती में अरदेश्वर खबरदार कवि ने 'काव्य-रसिका' में की है उसी के आधार पर इस बन्ध की रचना का लक्षण इस प्रकार है—

मूलस्य शृङ्गद्वयतः क्रमेण, भ्रान्त्वा समायोज्य च सन्धिमध्ये।
श्लिष्टाक्षराण्यत्र फलाग्रमध्ये, कट्टार-बन्धं परिपूरयेज्ज्ञः॥

इसके अनुसार दो श्लोकों से निर्मित इस बन्ध में कटार के मूल, शृङ्ग का प्रथम भाग, द्वितीय भाग, कटार पकड़ने का मध्य-स्थान, फल के दोनों भाग और फल का मध्य भाग अक्षरों से अङ्कित कर बीच-बीच में सन्धि स्थानों पर श्लिष्टाक्षरों का समायोजन किया जाता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है—

कवेः कवनमद्भुतं भवति भूरि शृङ्गारितं,
निसर्ग-जनितं मुधा लसति यद्विना श्रीहतम्।
तरङ्गपरिपूरितं विजयते सरः सन्ततं,
तदेव भुवि निर्जलं लगति सर्वशोभाहतम् ॥ १ ॥

तदर्पय विना शुचं कमलकोषमासञ्चितं,
ततं मृदुमरन्दजं सुरभिसारमारान्नुतम् ।
तनौ प्रतिजनं स्फुरत् तत इवं शुचं संहरत्,
तमांस्यथ विनाशय-ज्ञननमाप्नुयाद् शोभितम् ॥ २ ॥

इसमें **रि-तं-वि-त-त** ये अक्षर सात स्थानों पर श्लिष्ट हुए हैं।

२—**पट्टिश-बन्ध**—मराठी भाषा के विट्ठल कवि ने 'रुक्मणी-स्वयम्बर' में इस बन्ध की रचना की है। तदनुसार इसका लक्षण यह है—

पूर्वादिषु प्रवेशः स्याद्, विदिक्षु च गमागमौ ।
कर्णिकायां विदिग्भागप्रान्ते श्लेषस्तु पट्टिशे ॥

इसके अनुसार चारों दिशाओं के पाँच-पाँच अक्षरों से प्रवेश और विदिशाओं के दो विभागों में प्रथम चार अक्षरों से निर्गम तथा प्रान्तभाग पर स्थित अक्षर को श्लिष्ट बनाकर दुबारा पढ़ते हुए दूसरे भाग के चार अक्षर पढ़े जाते हैं। इसमें कर्णिकाक्षर आठ बार आवृत्त होता है। उदाहरण-पद्य इस प्रकार है—

मनोऽस्ते भक्त्याऽलं जननि मननं योऽत्र विमलं,
विधत्ते तस्यालं भवति विततं किं न कुशलम् ।
क्षितौ सम्प्राप्यालं वसति निजजन्मार्जितफलं,
तथाऽऽपुष्टेः शैलं व्रजति सततं चातिसरलम् ॥ गायत्रीलहरी ६५॥

इसमें 'लं' कर्णिका में स्थित है तथा 'न त, ज, और त' की दो-दो बार आवृत्ति हुई है।

इस प्रकार और भी आकृतिगत विभिन्नताओं के आधार पर अनेक बन्धों की रचना हो सकती है।

———

[द्वितीय-अधिकरण]

५- प्राणि-चित्र

अब तक हमने देखा कि चित्र-कवि ने जीवन के लिये उपयोगी उपादानों को स्मृति में बनाये रखने के लिये उन्हें अपनी रचनाओं में ही स्थान नहीं दिया है, अपितु उन्हें वर्णों की वेषभूषा पहना कर अलंकृत करने का भी प्रयास किया है।

प्रस्तुत अधिकरण में कतिपय प्राणियों के चित्रों में भी अक्षर-विन्यास द्वारा उनकी वाङ्मयी अर्चना करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि पूर्वाचार्यों ने पशुओं की गति को लक्ष्य

में रखकर गतिचित्रों का निर्माण ही अधिक किया है, तथापि उपलब्ध प्राणियों के चित्र-बन्धों से पुरोवर्ती साहित्यकारों की प्रेरणा के लिये उनका विमर्श करना हितावह होगा।

गज-बन्ध

कृष्णकवि ने 'मन्दार-मरन्द-चम्पू' में इस बन्ध का उदाहरण दिया है। गज के गण्डस्थल, शुण्डा, मुख, प्रथमचरण, कर्ण, पृष्ठ, उदर, पुच्छ और चरणों में भ्रमण करते हुए शेष चतुर्थ चरण को पृष्ठ भाग पर लिखित अक्षरों के विलोम-पाठ से पूर्ण करते हैं। पद्य इस प्रकार है :—

राजभास्या भासमानस्वर्णकर्णस्वर्पास्वरा।
सारा पाला पातु लोला सापिकस्वनभासरा॥ बन्धबिन्दु ७॥

इसमें क्रमशः **'रा-भा-स्व-र्ण-रा-पा-ला,** वर्णों की श्लिष्टता एवं लोम-विलोम पाठ दर्शनीय है।

१-गज-बन्ध—दामोदर शास्त्री ने इस बन्ध का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

विन्यस्येष्टं स्वेष्टतश्च, द्वितीयेष्टात् पदे पदे।
पुनरिष्टं गृहीत्वैव, गच्छेत् पुच्छे कविप्रियः॥
एवं न्यासक्रमो ज्ञेयो, गजबन्धेऽत्र नूतने।

इसके अनुसार गज की आकृति में शुण्डाग्र, कर्ण, तथा पीठ पर चरणों की पंक्ति में श्लिष्टाक्षर रखकर पद्य के दो चरण लिखे जाते हैं। तत्पश्चात् श्लिष्टाक्षरों से आरम्भकर चारों चरणों में पद्य के अन्य चार चरण अङ्कित किये जाते हैं तथा अन्तिम दो पदों में प्रथम केवल श्लिष्टाक्षर और अन्त में पुच्छ के अक्षरों का पठन करते हैं। उदाहृत पद्य इस प्रकार हैः—

श्रीमद्गौरीमनोराग, गिरिजाध्यानसाधन।
गणनाथ सदासेव्य, जार्गति देहि मानसे॥
नमामो विघ्नहर्तारं नय शत्रुन् रसातले।
श्रीगजानन नतया त्वं कल्याणं कुरु सर्वदा॥

इसमें **'श्रीगजानन'** अक्षर श्लिष्ट हैं।

गो-बन्ध

दामोदरशास्त्री ने इस बन्ध का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

उपर्यधश्च पादान्ते, पुच्छतश्च मुखावधि।
एवं रसपदैर्ज्ञेयो, गोबन्धो धीर नूतनः॥

इसके अनुसार वृषभ की पीठ पर बीच में लिखे अक्षरों के पठन से पद्य के चार

चरण बनते हैं। पाँचवाँ चरण पुच्छ में तथा छठा चरण ष्ठ पर लिखे चार मध्याक्षरों को श्लिष्ट बनाते हुए मुख में पूर्ण होता है। यथा :—

रोषतो रोमतुष्टिः स्याद्, रोषतो रोमपीडनम् ।
गच्छन्ति गतिमिष्टास्तामितस्ते मिहिरात्परम् ॥
वसन्ति प्रतिधामानि, रोम रोम भवामिह ॥

इसमें '**रो-रो-ग-मि**' अक्षरों की तीन-तीन बार आवृत्ति होती है।

नाग-बन्ध

विद्यानाथ ने इस बन्ध का उदाहरण निम्न-लक्षण-पद्यों से प्रस्तुत किया है :—

रेखाभ्यां चतुरस्राणि, चतुष्कोष्ठानि कल्पयेत् ।
रेखाद्वयान्तराले स्याद्यथा कोष्ठे गृहाष्टकम् ॥ १ ॥
विदिक्षु कुण्डलीकुर्यात्, तद्रेखाग्रैर्यथाक्रमम् ।
दिग्रेखाग्राणि बाह्यानि, योजयेद् दिक्त्रयैर्मिथः ॥ २ ॥
एकत्र तु फणापुच्छमेलनं कल्पपेत् तथा ।
अन्तराण्यक्षयी कुर्यात्, सन्दंशाः स्युर्यथा मिथः ॥ ३ ॥
वर्णावृत्तिस्थलान्यत्र, कोष्ठकोणानि षोडश ।
सन्दंशानां चतुष्कं च, कण्ठश्चेत्येकविंशतिः ॥ ४ ॥
आवृत्तिर्युग्मवर्णानां, नेतरेषामिह क्वचित् ।
अकेशानदशब्रह्मवर्णाः पादचतुष्कगोः ॥ ५ ॥
आवर्तेरन्नैर्ऋतादिकुण्डलेन प्रदक्षिणम् ।
यथैवं स्यात् तथा वर्णान्, फणातो विन्यसेत् क्रमात् ॥ ६ ॥
त्रिंशदष्टाविंशतिश्च, षड्विंशतिरनुक्रमात् ।
वेष्टनत्रितये वर्णाः, समाप्तिस्तु गलाक्षरे ॥ ७ ॥

एवमेतन्निधायान्तः संगृहीतं महात्ममिः—

विदिक्स्थले कुण्डलिनं स्वमङ्गं, स्वेन त्रिरावेष्ट्य विभङ्गिभङ्गम् ।
क्षिप्त्वा गले पुच्छमहेः स्थितस्य, पाठ्यः फणातः फणिबन्ध एषः ॥ ८ ॥
—प्रतापरुद्रयशोभूषण, टीका-रत्नापण ।

इनके अनुसार इस बन्ध में अनेक स्थानों पर दो-दो वर्णों में श्लिष्टता होती है जिसका निर्देश कृष्णकवि ने 'मन्दार-मरन्दचम्पू' के बन्ध-बिन्दु में ३ से ९ तक के पद्यों में भी दिया है।

इस प्रकार फणा और पुच्छ के मेलन स्थान से पद्यारम्भ करके रेखा के आधार पर भ्रमण करते हुए सन्धिस्थलों पर श्लिष्ट पाठ द्वारा पद्य पूर्ण होता है। उदाहृत पद्य इस प्रकार है :—

ओजस्ये रुद्रदेवे विभवति महिमत्याजितान्यप्रतापे,
विद्यावर्येऽभिनेतर्यु रु हरिचरितं विश्वविस्तारभाजि ।
वैरिव्राता भजन्ते वनमतिमलिनख्यातयो देहविद्धा,
वन्यैरध्वन्यवारिक्षतिमतिविविधैर्जन्तुभिः स्थानभाजः ।। वहीं ८ ।।

इसमें इक्कीस स्थानों पर सन्धिस्थल हैं जिनमें निहित अक्षर श्लिष्ट होकर आवृत्त हुए हैं ।

क-नाग-बन्ध (साङ्क)—कृष्णकवि ने 'मन्दार-मरन्द-चम्पू' में इसका उदाहरण दिया है । आलेखनपद्धति पूर्ववत् ही है । यथा :—

श्रीरामो हर्म्यधामा सततसुमहिमश्रीनतो ज्ञप्रभूतः,
सुग्रीवप्रीतये तत् सहजमयममुं भालसत्सायकेन ।
पायान्मां भूभृदीशो वनमिह मिहिरप्रातबाधव्यभावे,
तस्यायन्नाशया या मम शमधिसुखो दीनितस्याधिधारा ।।

इसमें **'श्रीहयग्रीवेश पाहि'** यह अंकन प्रस्तुत किया है ।

१- नाग-बन्ध—श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध के अन्तर्गत 'रासपञ्चध्यायी'[१] में इस बन्ध के सात रूपों का निर्माण डा० रसिकबिहारी जोशी ने किया है । तदनुसार इस बन्ध में नाग की आकृति कुण्डली मार कर फणा ऊंचे किये हुए है । नाग के कण्ठ से पद्य आरम्भ करके दूसरे अक्षर कण्ठगत श्लिष्टाक्षर को आवर्जित कर फणा के शिरोभाग के आवर्त में पढ़ा जाता है । तृतीय चरण का दूसरा अक्षर पुनः कण्ठगत श्लिष्टाक्षर को ग्रहण करते हुए द्वितीय पार्श्व में पूर्ण होता है तथा चतुर्थ चरण का प्रथमाक्षर पुनः कण्ठगत श्लिष्टाक्षर से आरम्भ होकर फणा के ऊपर के आवर्त में दूसरे चरण के छठे और नौवें अक्षरों को श्लिष्ट बनाते हुए पूर्ण होता है । पद्य इस प्रकार है :—

व्रजजनार्तिहन् वीरयोषितां, निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत् किंकरीः स्म नो, जलरुहाननं चारु दर्शय ।।
श्रीमद्भागवत—१० स्कं० ३ अ० ६ श्लोक

इसमें **'ज'** की दो बार तथा **'य'** और **'न'** की दो-दो बार आवृत्ति हुई है ।

२- नाग-बन्ध—वहीं इसके अग्रिम पद्य से इस बन्ध का उदाहरण दिया है । यह आकृति दूसरे प्रकार की है । इसमें चार स्थानों पर लम्बी आकृति में सर्प कुण्डली मार कर फणा उठाये हुए है । फणा के निम्न भाग से पद्यारम्भ करते हुए क्रमशः नीचे पुच्छ तक पहुँचा जाता है । इसमें तीसरे चरण का प्रथमाक्षर इसी के तीसरे अक्षर के रूप में तथा

३- द्रष्टव्य—श्रीरासपञ्चाध्यायी सांस्कृतिक अध्ययन, का परिशिष्ट

चौथे चरण का पहला अक्षर इसी के सातवें अक्षर के रूप में शिलष्ट होता है। पद्य इस प्रकार है :—

प्रणत-देहिनां पाप-कर्शनं, तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्।
फणिफणार्पितं त्वत्पदाम्बुजं, कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्॥ ७॥

इसमें 'फ' और 'कृ' शिलष्ट हैं।

३- नाग-बन्ध—वहीं अन्य पद्य से नवीन आकृति से युक्त इस बन्ध का उदाहरण दिया है। इसमें सर्प के कण्ठ में केवल एक अक्षर को शिलष्ट बनाकर नीचे के भाग में दो पंक्तियाँ लिखकर पद्य पूर्ण किया है। यथा :—

मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया, बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।
विधिकरीरिमा वीरमुह्यतीरधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः॥ ८॥

इसमें 'म' शिलष्ट है।

४- नाग-बन्ध—वहीं अन्य पद्य से एक अन्य सर्प-जाति की आकृति में इस बन्ध की रचना की है। इसमें फणा के अन्तर्गत दो नेत्रों में दो अक्षरों की स्थापना की जाती है और वहीं एक नेत्र से पद्यारम्भ कर कण्ठ में एक शिलष्टाक्षर का पठन करते हुए पूरी फणा में भ्रमण होता है। द्वितीय चरण का दूसरा अक्षर पुनः कण्ठगत शिलष्टाक्षर को ग्रहण कर वहीं तीसरे अक्षर को शिलष्ट बनाते हुए द्वितीय कुण्डली के एक पार्श्व में उतर कर पूर्ण होता है। जिसमें अन्तिम अक्षर शिलष्ट है। पद्य का तृतीय चरण पुनः द्वितीय नेत्र के अक्षर से आरम्भ होकर कण्ठ के दोनों शिलष्टाक्षरों को ग्रहण करते हुए कुण्डली के दूसरे पार्श्व में उतर कर अन्तिमाक्षर को शिलष्टाक्षर से समन्वित करके पूर्ण होता है तथा चौथा चरण पुच्छभाग में अङ्कित है। यथा :—

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्यतेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः, कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि॥ १६॥

इसमें 'ति, वि और ताः अक्षर शिलष्ट हैं।

५—नाग-बन्ध—वहीं अन्य पद्य से इस बन्ध की रचना की गई है। इसमें फणाकृति के मध्य में एक अक्षर है तथा वहीं दो वृत्तों में अक्षरांकन किया गया है। पद्यारम्भ मध्याक्षर से होकर कण्ठ में द्वितीयाक्षर को शिलष्ट बनाते हुए बाहर के वृत्त में भ्रमण होता है जो द्वितीय चरण का तृतीय अक्षर कण्ठगत शिलष्टाक्षर को ग्रहण कर अन्दर के वृत्त में भ्रमण करते हुए चतुर्थ चरण के तृतीयाक्षर को पुनः कण्ठगत शिलष्टाक्षर से समन्वित करते हैं, और नीचे पुच्छ भाग में पद्य पूर्ण होता है। यथा :—

प्रणत कामदं पद्मजार्चितं, धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपंकजं शन्तमं च ते, रमण नस्तनेष्वर्पयाधिहन्॥ १३॥

यहां 'ण' अक्षर का तीन बार आवृत्ति हुई है।

६—नाग-बन्ध—वहीं अन्य पद्य से इस बन्ध की रचना की गई है। इसमें पुच्छ से पद्यारम्भ करके कण्ठ में एक अक्षर को श्लिष्ट बनाते हुए मुखभाग के अर्धवृत्त में द्वितीय चरण पूर्ण किया है जिसका अन्तिम अक्षर भाल-प्रदेश में रह कर चौथे चरण के अन्त्याक्षर से श्लिष्ट बनता है। तृतीय चरण दूसरी ओर के अर्धवृत्त में होकर कण्ठगत श्लिष्टाक्षर से मध्य में प्रवेश कर भाल-प्रदेश में पूर्ण होता है। यथा :—

सुरतवर्धनं शोकनाशनं, स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां, वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥ १०-३१-१४॥

इसमें 'त' की दो स्थानों पर दो-दो बार आवृत्ति हुई है।

७—नाग-बन्ध—वहीं अन्य पद्य से इस बन्ध की रचना की गई है। इसमें सर्प की मध्य कुण्डली में एक अक्षर श्लिष्ट है तथा फणा के अधोभाग से पुच्छ तक पद्य लिखा जाता है। यथा :—

अटति यद् भवानह्नि काननं, त्रुटियुगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते, जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशम्॥ १०-३१-१४॥

इसमें 'टि' अक्षर दो बार आवृत्त हुआ है।

मत्स्य-बन्ध

श्रीधर्मसूरि ने 'साहित्यरत्नाकर' में इस बन्ध का उदाहरण दिया है। इसमें मछली की पूँछ के एक भाग से पद्य आरम्भ होकर उसी भाग से मुख तक पहुँचता है, जिसमें पर, कण्ठ स्थान और मुख में श्लिष्टाक्षर है तथा पुनः मुखभाग से चलकर पुच्छ के द्वितीय भाग में पद्य पूर्ण होता है जिसमें मुख, कण्ठ और पर के अक्षर श्लिष्ट हैं। यथा :—

राघवाग्निभियाभिन्ना मधुसीमधुविन्दत।
सदप्यजीवनवती परवीर चतूरभूत्॥ शब्दालङ्कार तरंग ६॥

इसमें 'भि-म-धु-त-व-र अक्षर श्लिष्ट हैं।

वाजि-बन्ध

दामोदरशास्त्री ने इस बन्ध का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

मुखस्कन्धांघ्रिपुच्छेषु, स्वेष्टं विन्यस्य धीप्रियः।
सन्धिं प्रत्यनुलोम्नाऽत्र, विलोम्ना चाक्षरद्वये॥
श्लिष्टैः शेषप्रपूर्तिः स्याद्, वाजिबन्धेऽत्र नूतने। चित्रबन्धकाव्य॥

इसके अनुसार अश्व की आकृति में मुख, स्कन्ध, चारों चरण और पुच्छ में अक्षरों का विन्यास कर सन्धि स्थानों में श्लिष्टाक्षरों की योजना की जाती है। उदाहरण इस पद्य से दिया है :—

श्याम ध्वान्तं दहसि मम शं ह्यश्वमेधे शमाक,
मेऽश्वस्तीव्रं ददतु शमलं मेधितं श्यामकर्णः।

मेऽलं मत्या विभवमनिशं रातु चादर्य-विश्व,
शं नित्यं मे प्रणय नवमे श्यामकर्णोऽश्वमेधे ।।

इसमें '**श्याम-म-श्व-मे-शं**' तथा **श्यामकर्णोऽश्वमेधे**' ये अक्षर श्लिष्ट हैं। चतुर्थ चरण के अन्तिम सात अक्षर क्रमशः मुख, स्कन्ध, चारों चरण और पुच्छ के अन्तिम अक्षर से निःसृत हैं तथा अश्व के पैर और पुच्छ की सन्धियों में क्रमशः–**श्वमे-मेश्व, लमे-मेलं, निशं-शंनि**—ये अक्षर लोम-विलोम पठित हैं।

अन्य सम्भावनाएँ :—

प्राणि-चित्रों के बन्ध निर्माण में सम्भवतः अधिक उत्साह-प्रदर्शन नहीं हो पाया है। उसका एक कारण यह हो सकता है कि बन्धकार अपनी अभिरुचि के अनुसार प्राणियों की आकृति में किसी प्रकार का परिवर्तन करना उचित नहीं मानता, जैसा कि अन्य आकृतियों में लघु-दीर्घता अथवा पत्रसंख्या के परिवर्तन द्वारा किया गया है। दूसरा यह कि साहित्यकार कल्पना के क्षेत्र में विचरण करना ही अधिक रुचिकर मानता है, ऐसी स्थिति में प्राणियों की निश्चित आकृतियों में बँधना उसे अच्छा प्रतीत नहीं हुआ हो ! तथापि चित्रकवि मौन नहीं रहा है, इसे हम प्रस्तुत प्राणि-चित्रों से तथा अन्य भाषाओं में प्रस्तुत किये जाने वाले प्राणियों के चित्रवाले बन्धों से आँक सकेंगे। साथ ही गतिचित्रों में गजगति, गरुड़गति, गोमूत्रिका और हयगति आदि में चमत्कारातिशय मानकर भी इस ओर लक्ष्य कम दिया गया है।

नागबन्धों का विस्तार इस अधिकरण में अवश्य ही दर्शनीय है। विद्यानाथ द्वारा प्रस्तुत नागबन्ध अन्य सामान्य बन्धों की अपेक्षा पर्याप्त श्रमसाध्य है। कृष्णकवि ने शिखरिणी छन्द में भी नागबन्ध का पद्य दिया है और वहीं नाग के अन्य प्रकारों के आधार पर चित्र-बन्ध बनाने का संकेत भी किया है। नागों की अनेक जातियां हैं उनमें से कतिपय आकृतियों के बंध का निर्देश डा० जोशी ने किया है। यद्यपि उनमें श्लिष्टाक्षरों की विशिष्टता जितनी चाहिये उतनी नहीं है, तथापि वे भविष्य के बन्धकारों के लिये पथ-प्रदर्शक अवश्य है। ऐसे ही एक बन्ध का निर्माण लेखक ने भी किया है जिसे यहाँ प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा।

१—नागशिशु-बन्ध—गुजराती में महासुखभाई चुनिलाल द्वारा रचित इस बन्ध के आधार पर संस्कृत में निर्मित इस बंध का लक्षण इस प्रकार है :—

चतुष्कं सर्पबालानां, विदिक्षु लिखितं भवेत्।
उदरे च तथा केन्द्रे, श्लिष्टाक्षर-निवेशनम् ।।
पुच्छादरम्य वदनं, यावत् पाठं समापयेत्।
स्यादयं सर्पबालाख्यो, बन्धः परमसुन्दरः ।।

इसके अनुसार चार नागशिशुओं को चार विदिशाओं में लिखकर प्रत्येक के उदर

स्थान पर आवर्त्त देकर श्लिष्टाक्षर की योजना की जाती है तथा चारों नागशिशुओं के मुखाग्रभाग पर कर्णिकारूप केन्द्र में दो श्लिष्टाक्षर लिखे जाते हैं। तथा :—

क्षितौ भासमानं मतौ चासमानं, यशः श्रीवितानं लसज्ज्ञानतीर्थम्।
प्रणम्यं मुनीन्द्रैः प्रशस्यं कवीन्द्रैर्नितान्तं दरिद्रैरपीप्स्यं स्वतीर्थम् ॥ १ ॥
सदा भक्तपालं तपोभिर्विशालं, हरन्मोहजालं जनानां सुतीर्थम्।
गुरुं तं महान्तं सदानौमि शान्तं, कुबुद्धेः कृतान्तं यतिं कृष्णतीर्थम् ॥ २॥

इनमें 'तीर्थम्' शब्द केन्द्र में स्थित है, जो चार-बार आवृत्त हुआ है तथा **न, न्द्रै, लं** और **शं**, अक्षर नागशिशुओं के कुण्डलस्थान में श्लिष्ट होकर तीन-तीन बार आवृत्त हुए हैं।

२—**द्विमुख-सर्पबन्ध**— हिन्दी में 'प्रवीण-सागर' ग्रंथ में प्रदर्शित बन्ध के आधार पर इस बन्ध की रचना हम 'ईश्वर-शतक' के निम्न पद्य से कर सकते हैं। इसमें सर्प के दो मुख होते हैं तथा बीच में आवर्तन रहते हैं, जिसमें एक पद्य लिख देने पर लोम-विलोम-पाठ से दूसरे पद्य की सृष्टि होती है। यथा :—

दानासन्ना पवित्रानुतजनितरणत्रा रिपुत्वे न जेया,
माराभिख्यासचर्याविरतकृदरमद्यापि दक्षापराका।
शापाकृत्यायनत्रावनमनजनिमुक्तारगत्यानपाया,
यासा रम्यागदत्वा शिवतनुरमदत्वाति हृत्तापरासा ॥ ६८ ॥

इसी पद्य को अन्त से आदि तक पढ़ने पर द्वितीय छन्द निम्न रूप में बनता है :—

सारापत्ताहृतित्वादमरनुतवशित्वादगम्यारसा या,
या पानत्यागरक्ता मुनिजनमनवत्रा नयत्याकृपाशा।
कारापक्षादपि द्यामरदकृतरविर्या च सख्याभिरामा,
या जेनत्वे पुरि त्राणरतनिजततुत्राविपन्ना सनादा ॥ ईश्वरशतक ६९ ॥

———

[तृतीय अधिकरण]

६—प्रकीर्ण-चित्र

पूर्वोक्त चित्रबन्धों के क्रम में जिन बन्धों का समावेश नहीं किया जा सकता था, उन्हें प्रस्तुत अधिकरण में वर्णानुक्रम से उपस्थित कर रहे हैं। इन बन्धों में कतिपय बन्ध गृह-सामग्री से सम्बध है और कुछ क्रीड़ा के उपकरणों से। कुछ यान-सम्बन्धी विशेषताओं से पूर्ण हैं तो कुछ में वाद्य आदि के रूपों का समावेश है। सामान्यतः इन बन्धों के समीक्षण

से यह प्रतीत होता है कि—चित्रकवि जीवन के लिये उपयोगी सार्वजनीन उपादानों के प्रति भी उदासीन नहीं है तथा वह छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी सभी वस्तुओंको अपने साहित्य के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहता है। उदाहरणार्थ कुछ बन्ध इस प्रकार हैं:—

अर्धभ्रम-बन्ध

आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में दुष्कर अलङ्कारों का विवेचन करते हुए अर्धभ्रम का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

प्राहुरर्धभ्रमं नाम, श्लोकार्धभ्रमणं यदि। ३।८०।

इसके अनुसार जिसमें बन्धाकार-लिखित श्लोकपाद का अर्धभाग से अर्थात् अनुलोम और प्रतिलोम पाठ में केवल अनुलोम-पाठ से भ्रमण द्वारा पादोत्थान होता है, उसे 'अर्ध-भ्रम' कहते हैं। जैसे—

मनोभवतवानीकं, नोदयाय न मानिनी।
भयादमेयामा मा वा, वयमेनोमया नत ॥ ३।८१ ॥

इस पद्य के चारों चरणों को क्रम से आठ कोष्ठकवाली चार पंक्तियों में लिखकर चारों चरणों के प्रथम और अन्तिम अक्षरों के पढने से पहला चरण पूर्ण होगा। फिर उन्हीं चार चरणों के द्वितीयाक्षर और उपान्त्य चार अक्षरों के पढ़ने से दूसरा चरण पूर्ण होगा इसी तरह तृतीय और चतुर्थ पाद भी पूर्ण किये जायेगें।

१—अर्धभ्रम (गूढपश्चार्ध)—इस 'अर्धभ्रम' के समन्तभद्राचार्य-प्रणीत 'स्तुति विद्या' नामक ग्रंथ में कुछ अन्य उदाहरण भी प्राप्त होते है, जिनमें 'गूढ-पश्चार्ध अर्धभ्रम, गूढ-द्वितीय पाद-अर्धभ्रम, गूढ-तृतीय पाद-अर्धभ्रम और गूढ-चतुर्थ पाद-अर्धभ्रम' का संग्रह है। 'गूढपश्चार्ध' से कवि का तात्पर्य है कि—कहे गये पद्य का पश्चार्ध भाग पूर्वार्ध भाग में भी गुप्त हो। उदाहरण इस प्रकार है—

धिया ये श्रितयेतार्त्या, यानुपायान् वरानतः।
ये पापा यातपारा ये, श्रियायातानतन्वत ॥ ३ ॥

यहाँ उत्तरार्ध के अक्षरों का गुम्फन पूर्वार्ध में भी होने से 'गूढ-पश्चार्ध' कहा गया है, तथा यह 'अर्धभ्रम'-पद्धति से भी पढ़ा जाता है। अतः 'अर्धभ्रम' भी कहलाता है।

अग्नि-पुराण में अर्धभ्रम को बन्धचित्रों के आठ भेदों में माना है[1] जबकि भोज ने गतिचित्रों में ही इसको स्थान दिया है।[2]

१—गोमूत्रिकार्ध-भ्रमणं सर्वतोभद्रमम्बुजम् ॥४३।३६॥ अग्निपुराण

२—सरस्वतीकण्ठाभरण-पृ० २८० तथा 'श्रीकृष्णब्रह्मपरकाल स्वामी' ने 'अलङ्कारमणिहार' के शब्दालङ्कार-सर में गूढपाद-चित्र के चार भेद बताते हुए इसका लक्षण यह दिखलाया है—

अन्य पादगता वर्णा, गूढाः पादान्तरेषु चेत्।
चित्रं तद्गूढपादाख्यं, चतुर्थाद्यादिगूहनम् ॥

२३१६ संख्यक उदाहरण के पश्चात्, अलङ्कारमणिहार

अष्टकोण-बन्ध

भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने 'जयपुर-वैभव' में इस बन्ध का उदाहरण दिया है, जिस में एक चतुष्कोण सीधा और एक तिरछा, इन दोनों के योग से बने अष्टकोण में कोण-रेखा पर दो अक्षर, मध्य के नीचे रेखा में चार अक्षर और पुनः अन्य कोणरेखा पर दो अक्षर, इस क्रम से प्रथम पद्य पूर्ण होता है। द्वितीय आवृत्ति में पद्य की पूर्ति वाली रेखा के मध्य-कोण के ऊपर दो अक्षर, उसके नीचे रेखा में पूर्वाङ्कित एक अक्षर, विदिक् कोणान्तर्गत दो अक्षर और पुनः मध्यकोण के नीचे की रेखा में पूर्वाङ्कित एक अक्षर इस क्रम से पाठ करने पर दूसरा पद्य पूर्ण होता है। यथा—

लोकानां भव्य-दानाय, यज्ञानां प्रसवाय च। समिद्ध-घनपूर्ण-श्रीर्भासते मानभूपतिः॥
अपि भूमौ च नाके च यः सदा गणनातिगः। विभवायत-धर्मिष्ठः स नः पूरयते श्रियम्॥

इसमें **'भू-ना-दा-ना-वा-द्ध-पू'** ये अक्षर श्लिष्ट होकर दो-दो बार आवृत्त हुए हैं।

उलूखल-बन्ध

दामोदर शास्त्री ने चित्रबन्ध-काव्य में इस बन्ध का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

मध्यकोणीय-कोष्ठेषु, स्वेष्टं विन्यस्य सर्वतः। भ्रमेन्निम्नत ऊर्ध्वन्तु, मध्ये ह्यूर्ध्वादुलूखले॥

इसके अनुसार ऊखल की आकृति में मुखभाग पर दो कोण और मध्य में, इसी प्रकार इसके निम्न भाग में तथा मध्यकर्णिका में अक्षरों की श्लिष्टता है। ऊखल के मध्य में छः रेखाएँ हैं जो षड्दल के समान हैं। उदाहरण पद्य इस प्रकार हैं :—

सदा व्रज जयं बाल, लक्ष्मण श्रीधरप्रिय।
यदुवीर खरक्षार, रम्यतामु मुरैः कुध॥
धरताद् रेवतीशाय, यत्नेनारीन् सदा ग्रस।
मुरलीधर सन्ध्येय, जन्तुसन्नष्ट हृद्भय॥ २॥

इनमें 'य' कर्णिकाक्षर है, जो छः बार आवृत्त है तथा **स-ल-रि-ध-मु-ज'** अक्षर२ श्लिष्ट हैं। इन्हीं श्लिष्टाक्षरों के योग से **'जय मुसलधर'** इन इष्टाक्षरों का अङ्कन भी है।

कमण्डलु-बन्ध

दामोदर शास्त्री ने इस बन्ध का लक्षण निम्न प्रकार से दिया है :—

स्वेष्टं कोष्ठेषु विन्यस्य, मध्यतः परितः सरेत्।
अधोऽधस्तान्मुखे चैव, नव्यबन्धे कमण्डलौ॥ चित्रबन्धकाव्य॥

इसके अनुसार कमण्डलु के मध्य पार्श्व में स्थित श्लिष्टाक्षर से पद्यारम्भ होकर मुखभाग और द्वितीय पार्श्व की ओर होता हुआ निम्न भाग में पहुँचता है। तथा पुनः प्रथम-चरण के प्रथमाक्षर को श्लिष्ट बनाकर तृतीय चरण उसी पार्श्व के निम्न भाग में स्थित अक्षर को ग्रहण कर मध्य से होते हुआ मुख के अक्षर में पद्य पूर्ण होता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है :—

अम्भोजज जगत्काश, शम्प्रदेया मुदा मम ।
अधुना शङ्करारामं, मदं नोऽज जनान् व्रज ॥

इसमें **'अज शमज'** ये अक्षर श्लिष्ट हैं ।

कांस्यताल-बन्ध

'पद्यामृत-सरोवर' में इस बन्ध का उदाहरण दिया है । इसमें दो कांस्यतालों में ऊपरी भाग, मध्यभाग और निम्नभाग के अक्षर श्लिष्ट हैं तथा दोनों तालों के बीच में द्वितीय-चरण लिखकर उसी को चतुर्थ चरण के रूप में विपरीत पढ़ा जाता है । उदाहरण पद्य इस प्रकार है :—

जराजयामरमहिमाहितारव रागयाः ।
रमा रता न च नगयागराव रता हिमा ॥

इसमें **ज-म-हि-र-न-ग-रा-व-र-ता** अक्षर श्लिष्ट हैं ।

गवाक्ष-बन्ध

श्रीकृष्णपरकाल स्वामी ने 'अलङ्कार-मणिहार' में इस बन्ध का लक्षण दिया है:—

उपर्युपरि कोष्ठानि, भवेयुर्नव मध्यतः । तिर्यक् कोष्ठान्यपि तथा, भवेयुर्मध्यतो नव ।।
उभयोरनयोः पार्श्वद्वये, कोष्ठान्यनुक्रमात् । सप्त पञ्च तथा त्रीणि, निष्पद्येरन् यथा तथा ।।
तुल्यप्रमाणा विलिखेत्, तिर्यगूर्ध्वञ्च रेखिकाः । एकं त्रीन् पञ्च सप्ताथ,नव सप्त च पञ्च च ।।
त्रीनेकं चेति पद्यस्य, वर्णास्तिर्यगनुक्रमात् । ऊर्ध्वमध्यमवीथीस्थ-वर्णैः प्रमिलितैः क्रमात् ।।
स्वोद्देश्यकविकाव्यादि-नाम्नामुद्धृतिरिष्यते । गवाक्षो नाम बन्धोऽयं, सरलः कवि-सम्मतः ।।

इसके अनुसार एक, तीन, पाँच, सात, नौ, सात, पाँच, तीन, एक—इस क्रम से कोष्ठकों की रचना कर प्रत्येक में एक-एक अक्षर की स्थापना कर यथाक्रम पाठ किया जाता है। पद्य इस प्रकार है—

कृतोष्णाभविनिर्यद्रुचिमदविकसनर्माणि कलये ।
विनतजनादरणकृतं फणिगिरितिलकं हरिं ध्येयम् ॥ २३७६ ॥

इसमें 'कृष्णार्यकविकृतिरिम्' यह अंकन निविष्ट है । इस बन्ध की विशेषता यह है कि जैसे किसी भवन की खिड़की से प्रमुख वस्तु दृष्टिगोचर हो जाती है, उसी प्रकार इसमें भी इष्टाक्षरों की योजना स्पष्ट दिखाई देती है ।

गोमूत्रिका-बन्ध

भोज ने इस बन्ध का लक्षण इस प्रकार दिया है—

गतिरुच्चावचा यत्र, मार्गे मूत्रस्य गोरिव ।
गोमूत्रिकेति तत्प्राहुर्दुष्करं चित्रवेदिनः ॥ स० क० २।११५॥

इसके अनुसार चलते हुए वृषभ के मूत्रपात से जिस प्रकार भूमि पर बहुकोणयुक्त

ऊपर-नीचे रेखाएँ बन जाती हैं, उसी प्रकार की रेखाकृति से 'गोमूत्रिका-बन्ध' बनता है। यह गोमूत्रिका चित्र प्रभेद ग्रतिदुष्कर माना गया है।

इस बन्ध के प्रमुख तीन भेद होते हैं–१–पादगोमूत्रिका, २–ग्रर्धगोमूत्रिका, ३-श्लोक-गोमूत्रिका। इसके पठन का प्रकार यह है कि पहले उत्तरार्ध का पहला ग्रक्षर पढ़े, फिर, पूर्वार्ध का दूसरा ग्रक्षर पढ़े, ग्रनन्तर उत्तरार्ध का तीसरा अक्षर, फिर पूर्वार्ध का चौथा ग्रक्षर पढ़े, इसी क्रम से पढ़ते जाने पर पूर्वार्ध के प्रथमाक्षर के बाद द्वितीयार्ध का द्वितीयाक्षर पढ़े फिर प्रथमार्ध का तृतीयाक्षर तदनन्तर द्वितीयार्ध का चतुर्थ ग्रक्षर पढ़े, इसी प्रकार ऊर्ध्वाधःस्थ कोणाक्षरों के पढ़ने से उत्तरार्ध भी निकल ग्रायेगा। जिस उदाहरण में समवर्णों की एक रूपता हो वहाँ पूर्वार्ध के प्रथमाक्षर से तथा जिस उदाहरण में विषम वर्णों की एकरूपता हो वहाँ उत्तरार्ध के प्रथमाक्षर से पढ़ना चहिये।

'सरस्वती कण्ठाभरण' में भोज ने उपर्युक्त तीन भेदों को ग्रौर भी विशद करते हुए क्रमशः पादगोमूत्रिका के दो भेद किये हैं। जिनमें १–प्रथम ग्रौर तृतीय चरण से उपक्रम किया जाता है ग्रोर द्वितीय तथा चतुर्थ पाद का सन्दंश होता है। फलतः प्रथम ग्रौर द्वितीय चरण का तथा तृतीय ग्रौर चतुर्थ चरण का परस्पर उन्मेषण होकर पूर्ण पद्य बनता है। इसमें विषम चरणों से उपक्रम और समचरणों का सन्दंश होता है जब कि द्वितीय पादगोमूत्रिका में सम चरणों से अर्थात् द्वितीय ग्रौर चतुर्थ से उपक्रम तथा विषम चरणों का ग्रर्थात् प्रथम और तृतीय चरणों का संन्दंश होता है। इस प्रकार प्रथम-'ग्रयुग्मपादगोमूत्रिका' तथा द्वितीय 'युग्मपादगोमूत्रिका' कहलाती है। इसी पादगोमूत्रिका का एक तीसरा स्वरूप 'समसंस्कृतपाद-गोमूत्रिका' नाम से भी प्रस्तुत किया गया है जिसमें संस्कृत और एक ग्रन्य भाषा की समता से बने हुए पद्य के द्वारा पादगोमूत्रिका की पूर्ति की जाती है। क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैः—

१—ग्रयुग्मतःपादगोमूत्रिका-बन्ध–इस बन्ध में पद्य के चारों चरणों को चार पंक्तियों में लिखा जाता है जिनमें समसंख्या वाले ग्रक्षर पहली पंक्ति के नीचे मध्यकोष्ठकों में लिखे जाते है जो द्वितीय चरण के भी समसंख्यक अक्षरों की पूर्ति करते हैं। इसी प्रकार तृतीय ग्रौर चतुर्थ चरण के मध्यकोष्ठकों में भी इन चरणों के समसंख्या बाले ग्रक्षर लिखे जाएँगे। सात-सात कोष्ठकों की तीन पंक्तियों में मध्य पंक्ति के कोष्ठकों में दो-दो ग्रक्षर लिखे जाते हैं। सरस्वती कण्ठाभरण में उदाहरण पद्य इस प्रकार हैः—

कांक्षन्पुलोमतनयास्तनपीडितानि, वक्षःस्थलोत्थितरयांचन-पीडितानि।
पायादपायभयतां नमुचिप्रहारी, मायामपास्य भवतोऽम्बुमुचां प्रसारी॥ २।३२४॥

इसमें प्रथम ग्रौर तृतीय चरण के समाक्षरों की समानता दर्शनीय है।

२—युग्मतः पादगोमूत्रिका-बन्ध—इस बन्ध में पद्य को पूर्ववत् लिखा जाता है किन्तु यहाँ प्रथम ग्रौर द्वितीय चरण के तथा तृतीय ग्रौर चतुर्थ चरण के विषम संख्या वाले ग्रक्षरों में समानता रहती है। वहीं उदाहरण पद्य इस प्रकार दिया है—

यहाँ प्रथम और द्वितीय चरण में तथा तृतीय और चतुर्थ चरण में विषम संख्या वाले अक्षरों की समानता है।

३—**समसंस्कृत-पादगोमूत्रिका-बन्ध**—इसके आलेखन में कोई विचित्रता नहीं है। अतः इसका उदाहरण 'सरस्वती कण्ठाभरण' के द्वितीय परिच्छेद का ३३५ वाँ पद्य वहीं देखा जा सकता है।

१२—**अर्धगोमूत्रिका-बन्ध**—आचार्य दण्डी के 'काव्यादर्श' में इस बन्ध का लक्षण इस प्रकार है—

वर्णानामेकरूपत्वं यत्त्वेकान्तरमर्धयोः।
गोमूत्रिकेति तत्प्राहुर्दुष्करं तद्विदो यथा ॥ ३।७८॥

इसके अनुसार जिसमें ऊर्ध्वाधः क्रम से लिखे गये वर्णों में एक वर्णव्यवहित समाना-करता पाई जाय, उसे चित्र काव्य के विशेषज्ञ विद्वान् 'अर्धगोमूत्रिका' कहते हैं। इस अर्ध श्लोक गोमूत्रिका के तीन भेदों की चर्चा भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में करते हुए स्पष्ट किया है कि जहाँ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के समसंख्यावाले अक्षरों में समानता हो, वहाँ 'अयुग्मार्धगोमूत्रिका' तथा 'जहाँ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के विषम संख्यावाले अक्षरों में समानता हो, वहाँ 'युग्मार्धगोमूत्रिका' कहलायेगी। इसी प्रकार 'जहाँ एक अर्धगोमूत्रिका के पद्य से द्वितीय पद्य की सृष्टि हो, उसे 'अर्धगोमूत्रिका-प्रस्तार' कहते हैं। क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं—

**१-अयुग्मार्धगोमूत्रिका-बन्ध—अजरामशुभाचारबलिशीलविनोचिता।
भुजंगमनिभासारकलिकालजनोचिता ॥
काव्यादर्श, टीका पृ० २५३ ॥**

इसमें समसंख्या वाले अक्षरों में समानता है।

**२-युग्मार्धगामूत्रिका-बन्ध—मदनो मदिराक्षीणामपाङ्गास्त्रो जयेदयम्।
मदनो यदि तत्क्षीणमनङ्गायाञ्जलिं ददे ॥ काव्यादर्श ३।७९ ॥**

इसमें समाक्षरों का साम्य है।

**३-अर्धगोमूत्रिका-प्रस्तार—नमो दिवसपूराय, सुतामरसभासिने।
नतभव्यारिदाराय, सुसारलयभाविने ॥ स० क० २।३३६ ॥**

इसमें ३-५-७ और ११-१३-१५ संख्या वाले अक्षर कोष्ठकों में लिखे जाते हैं, तथा १-९ और १६ संख्या वाले अक्षर आदि और अन्त में मध्य में एक रेखा खींचकर लिखे जाते हैं। इस प्रकार पाँच पंक्तियों में यह पद्य लिखा जाता है जिसके पूर्वार्ध ओर उत्तरार्ध का गोमूत्रिकाक्रम से पठन करने पर निम्न पद्य निकल आता है—

**मतदिव्यासदाराय सुसामलसभासिने।
नमो भवारिपूराय सुताररय भाविने ॥ वहीं ॥**

श्लोक गोमूत्रिका-बन्ध—

इस बन्ध में पूरा पद्य अपने ही समान छन्द वाले अन्य पद्य के मिश्रण से लिखा जाता है तथा बारह कोष्ठकों में अक्षर न्यास करके अर्धगोमूत्रिकोवत क्रम से पढ़ने पर दो-दो पद्य निकल आते हैं। उदाहरण पद्य इस प्रकार है—

पायाद्वश्चन्द्रधारी सकलसुरशिरोलीढपादारविन्दो,
देव्या रुद्धाङ्गभागः पुरदनुजदवस्त्यानसंविन्निदानम्।
कन्दर्पक्षोदपक्षः सरससुरवधूमण्डलीगीतगर्वो,
दैत्याधीशान्धकेनानतचरणनखः शंकरो भव्यभाव्यः॥

इस पद्य के प्रतिचरण के समसंख्या वाले अक्षर और निम्नलिखित द्वितीय पद्य के प्रतिचरणगत समसंख्या वाले अक्षर समानता वाले हैं—

देयान्नश्चण्डधामा सलिलहरकरो रूढकन्दारविन्दो,
देहे रुग्भंगरागः सुरमनुजदमं त्यागसम्पन्निधानम्।
मन्दं दिक्क्षोभदश्रीः सदसदरवधूखण्डनागीरगम्यो,
ऽदैत्येधी बन्ध-हानावततरसनमः शम्परो दिव्यसेयः॥
—उदा० २।३२८ स० क०॥

इसमें समसंख्यक अक्षर दोनों पद्यों के प्रतिचरण में समान हैं।

२—विपरीतश्लोक गोमूत्रिका-बन्ध—इस बन्ध में प्रथम पद्य के नीचे द्वितीय पद्य विपरीत क्रम से लिखा जाता है और बाद में गोमूत्रिका क्रम से परस्पर उल्लेख किया जाता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है।

विनायकं दानसुगन्धिवस्त्रं, स्मिताननं मन्दचरं क्रियासु।
नमामि विघ्नावलिहारिसारं, सतीसुतं शंकरवल्लभं च॥ २।३२९॥

इस पद्य के चौथे चरण से प्रथम चरण के अन्त्याक्षर तक नीचे लिखा हुआ पद्य विपरीत क्रम से लिखा जाता है—

चलल्लतारव्यशमं सुभासं, संसार-हारं बहुविप्रमान्यम्।
सुधाकरं चन्द्रमसंनतोऽस्मि, सवर्णगर्भं नवकम्बुनाढ्यम्॥स० क० २।३३०।

इसमें प्रथम पद्य के समसंख्या वाले अक्षरों से विपरीत क्रम से समानता रखते हैं।

३-भिन्नच्छन्दोगोमूत्रिका-बन्ध—इस बन्ध में प्रथम पद्य अन्य छन्द का होता है और द्वितीयपद्य अन्य छन्द का।। किन्तु दोनों पद्यों के समसंख्यावाले अक्षरों में समानता रहती है। उदाहरण के लिये सरस्वतीकण्ठाभरण के निम्न पद्य द्रष्टव्य हैं :-

नमत चन्द्रकलामयमण्डनं, नगसुताभुजसंगतकन्धरम्।
हरमभाग्यरदं स्तवसादरं, समितिरावणशासनविक्रमम्॥ २।३३१॥

द्वितीय पद्य—

कामदं चण्डकत्रं मदार्मदिनी, नागदन्ताज्यजय्यं गदाकबुं रम्
धीरशोभाभरव्यस्तकंसासुरं, नौमि नारायणस्थासमं विभ्रभम् ।।
२-३६२ ।।

इसमें समसंख्या वाले अक्षरों में समानता है तथा प्रथम पद्य में द्रुतविलम्बित छन्द है और द्वितीय पद्य में स्रग्विणी छन्द है, फिर भी दोनों के समाक्षरों में समानता का निर्वाह चित्रकर है।

४-संस्कृत-प्राकृतश्लोकगोमूत्रिका-बन्ध—इस बन्ध में प्रथम पत्र संस्कृतभाषा का और द्वितीय पद्य प्राकृत भाषा का है फिर भी दोनों पद्यों के समसंख्यक अक्षरों का पूरे पद्य में साम्य निर्वाह किया गया है। यथा—

स्कन्दो रुन्दर्धिमिष्टां वितरतु सरलो दारितारातिवर्गं,
सस्पन्दो मन्दसज्जो भवभयकलने संगरे केलिकारी।
संदोहोल्लाघलासी जन इह बलिहा चण्डताभूरखर्वा,
देवौजोराजदेहे महिमनि निरतो विक्रमाडम्बरेण ।। २।३३३ ।।

द्वितीय प्राकृतपद्य—

चन्दो कन्दप्पमित्तं विहरणसहलो हारितारापबन्धो,
सच्छन्दो वन्दणिज्जो कुवलयदलनो संकरे मोलिकारी।
कन्दोदोल्लासलासी जअइ सिवसिहामण्डनीभूदखण्डो,
देन्ता जोण्हा जलोहो विहि अणिअरई विब्भभाणं बलेण ।।
—स० क० २।३३४ ।।

इसमें समसंख्यक अक्षर समानता वाले हैं।

५—गोमूत्रिका धेनुबन्ध—भोज ने इस बन्ध का न्यास एवं पठन क्रम इस प्रकार बतलाया है—

चतुर्णामपि पादानां, क्रमेण व्युत्क्रमेण च—
इयं गोमूत्रिकाधेनुर्वैपरीत्यवशेन च ।।

इसके अनुसार क्रमशः चरणों का न्यास करके १-२, १-३, १-४, ४-१, ४-२, ४-३ इस प्रकार चरणों का परस्पर मेल करने से छः प्रकार के नवीन पद्य बन जाते हैं और उनमें गोमूत्रिका के क्रम का भी निर्वाह होता है। इन्हीं छः भेदों के क्रम और व्युत्क्रम को पुनः परस्पर मेल न करने से कुल छत्तीस नवीन पद्यों की सृष्टि हो सकती है और उनमें भी गोमूत्रिका के क्रम का निर्वाह रहता है, जो आश्चर्य कारक है। उदाहृत पद्य इस प्रकार है :—

मम स्फुरतु चिद्गतः सततचिन्त्यरक्षामतिः,
समस्तरविचित्रितस्तुतरुचिः स्मरक्षामकृत् ।
समद्धिरतचिन्तितः कृतिविचित्र-रत्यामयो,
नमस्करण-चिह्नितस्मितरुचिर्हरः सामरः ॥ २।३३८ ॥

इन के अतिरिक्त भी भोज ने शतधेनु आदि के चित्रपद्य दिये हैं जिनमें एक पद्य से अनेक पद्यों की सृष्टि होती है, उन्हें छन्दोगत चित्रालङ्कार का विषय मानकर हमने छन्दों के विवेचन में संगृहीत किया है।

चतुष्पद (चौकी) बन्ध—दामोदर शास्त्री ने इस बन्ध का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

मध्यतः कोणमागच्छेन्नेमौ कोणात्तु मस्तके ।
अनुलोम-विलोमभ्यां, बन्धे त्वत्र चतुष्पदे ॥ चित्रबन्ध-काव्य पृ० २२॥

इसके अनुसार मध्य से कोण और परिधि में घूम कर पुनः मध्य तक आये। इस प्रकार चारों ओर भ्रमण करते हुए मध्य और विदिग्भागस्थ रेखागत अक्षरों के विलोम पाठ से पद्य पूर्ण होता है। यथा :—

सेवाप्रसन्नहृदये जगदाप्तवासे, सेवाऽऽप्तभक्तजनमानसकुंजवासे ।
सेवाञ्जनम्भवतु नो रमयात्र वासे, सेवाऽत्र भातु जगदर्थसदा प्रवासे ॥

इसमें 'से' मध्य में स्थित है तथा 'वा' चारों रेखाओं में लिखित है।

छिद्र-बन्ध—हरिदास सिद्धान्तवागीश ने 'काव्यकौमुदी' की चौदहवीं कला में इस बन्ध का सूत्रात्मक लक्षण इस प्रकार दिया है :-

छिद्रेष्वच्छिद्रेषु च विन्यस्तवर्णैर्द्विविधवाक्ये छिद्रबन्धः ।

तथा वहीं स्पष्टार्थ लिखते हुए यह समझाया है कि 'एक बिना छिद्रवाला पत्र' नीचे रखा जाय तथा दूसरे पत्र में कुछ-कुछ दूरी पर आठ छिद्र बनाकर उस पत्र को पूर्वपत्र के ऊपर रख देवें। तदनन्तर ऊपर के पत्र पर छिद्रों में एक-एक अक्षर लिखें तथा छिद्रों के निकट स्थानों में भी एक-एक अक्षर लिखे जिनके योग से एक पद्य बन जाय और ऊपर के पत्र को हटाने पर छिद्राक्षरो से कोई अन्य वाक्य बने वह 'छिद्र-बन्ध' कहलाता है। उदाहरण पद्य 'रुक्मिणीहरण-काव्य' में इस प्रकार दिया है :-

१—यह गोमूत्रिका-बन्ध ही अग्नि पुराण में 'जालबन्ध' कहा गया है तथा इसी गोमूत्रिका की पद्धति से चित्रकवियों ने सामान्य आकृति-परिवर्तन के आधार पर अनेक प्रकार के नवीन चित्रकाव्यों की रचना की है। इस प्रकार गोमूत्रिका की यह पद्धति अन्य चित्रालङ्कारों के लिये परम उपादेय है।

ते शरप्राशजातङ्काः, षोढा लक्ष्यसदो नतान् ।
एतान् रणे चलानाधुः, सञ्ज्ञा मानपतीन् न कान् ॥

इसमें विषम-संख्यक अक्षरों से निःसृतः बंगला भाषा का वाक्य—**तेरशत षोलसन ए रचना समापन**'–नीचे के पत्र में लिखा हुआ प्राप्त होता है।

डमरु-बन्ध–अवतारकवि ने 'ईश्वर-शतक' में इस बन्ध की रचना की है। डमरु के मध्य में दो अक्षरों का लोम-विलोम पठन होता है तथा ऊपर-नीचे के दोनों दलों में शेष अक्षर लिखे जाते हैं। पद्य इस प्रकार है :—

सा विडम्बकतां नीत्वाऽऽप्तवती क्रूरतां विभो ।
विसारे कुरुते कालसेना दोषं मयि स्थिरा ॥ ईश्वरशतक ६० ॥

इसमें अक्षर '**सा वि-विसा**' लोम-विलोम पठित हैं।

१–डमरुबन्ध—दामोदर शास्त्री ने इस बन्ध का लक्षण यह बतलाया है :—

मध्यात्तिर्यक् कोणे नेमौ कोणान्मध्ये पुनर्विलोम्ना च ।
एवं भ्रमन् सरेत् तु तत्रैवात्र प्रबन्धे डमर्वाख्ये ॥

इसके अनुसार मध्य से तिरछे जाकर कोण, नेमि, कोण और मध्य में भ्रमण करते हुए विलोम पाठ कर कोण तक पहुँचते हैं। इस प्रकार इसमें मध्य और चार कोणगत अक्षरों की श्लिष्टता तथा चार विदिग् रेखाक्षरों का लोम-विलोम पाठ होता है। यथा—

ततत्त्वतम श्रितशङ्कर हे जगदीश सदग्रिममत्यमत,
तमत्यममग्रिद सर्वसहो भजतां मुदितः क्षरजन्त्वरत ।
तरन्त्वज रक्ष समुद्यतमानस सत्यबलभ्रम सत्यरत,
तरत्यसमभ्रल कोटिशिवादिसुरम्य सुनम्य मतत्त्वतत ॥

इसमें मध्याक्षर 'त है, जो आठ बार आवृत्त हुआ है तथा रेखाङ्कित अक्षर लोम-विलोम पढ़े गये हैं। साथ ही **स, क्ष, ल,** और **म,** अक्षर चारों कोण में श्लिष्ट हैं।

तालवृन्त-बन्ध (व्यञ्जन)

अजितसेन ने 'अलङ्कार-चिन्तामणि' में इस बन्ध का लक्षण यह दिया है—

चतुष्कबन्धसन्धौ तु भ्रामयेदाद्यवृन्तयोः ।
द्वे चैकं वृन्तमध्ये वा, तालवृन्त-प्रबन्धके ॥ २-१६८ ॥

इसके अनुसार ताडपत्र के पंखे की आकृति में दण्ड के नीचे के भाग से पद्यारम्भ होता है। मध्य में चतुष्कोण आकार के योजक-स्थान में तीन-तीन अक्षरों को लिख कर उसमें मध्य के दो अक्षरों को श्लिष्ट बनाते हैं। पद्य का अन्तिम भाग पंखे के गोल आकार में तथा चतुष्कोण में होकर दण्ड समाप्त होता है। उदाहरण पद्य इस प्रकार है—

जिन त्वयि जना भान्ति, सदा सति नुतिप्रियाः ।
शीलजालमताः सर्वेऽतो नः पाहि सदाऽमल ॥ २-१६९ ॥

इसमें 'स-ति-ल-द' अक्षर श्लिष्ट हैं।

निःसाल-बन्ध

वहीं इस बन्ध का लक्षण इस प्रकार दिया है—

प्रतियन्त्रं चतुष्कं द्वे, द्वे चोर्ध्वाधोऽन्तरे तथा।
मध्येऽप्येकं लिखित्वैवं, निःसालं बन्धमुन्नयेत् ॥ २-१६६ ॥

इसके अनुसार दो सीधी रेखाओं के बीच में दो तिरछी रेखाएँ खींचकर चार कोण और मध्य में एक अक्षर को श्लिष्ट बनाया जाता है। शेष दो-दो अक्षर इनके मध्य में लिखे जाते हैं तथा एक-एक अक्षर मध्याक्षर के ऊपर और नीचे लिखा हुआ है। यथा—

महानन्द दयादाद, नतराज जरान्तक।
जनानन्द दमाधार, रक्ष माममभाक्षकम् ॥ २-१७१ ॥

इसमें '**म-द-न-त-रा-ज-र-क्ष-मा-**' ये अक्षर श्लिष्ट हैं

मन्थान-जाति-बन्ध

जिनवल्लभसूरि ने इस बन्ध का उदाहरण प्रश्नों के उत्तर में प्राप्त अक्षरों से दिया है। मथनी के आकार में एक मध्याक्षर और आस-पास में चार दल हैं। उदाहरण इस प्रकार है—

हरिरतिरमा यूयं कान् किं कुरुध्वमदोऽक्षरं,
किमपि वदति भ्रजे गीतश्रियाऽपि च कीदृशा।
जिनमतजुषां का स्यादस्मिन् कियच्चिरमङ्गनां,
गतशुभधियां वा स्यात् कुत्राभियोगविधायिनाम् ॥ प्रश्नशत १०॥

इन प्रश्नों के उत्तर से प्राप्त **यानताम, समतानया, विभुता सदा दासता भुवि'** अक्षरों को क्रमशः दो-दो अक्षर दलों में तथा एक अक्षर 'ता' कर्णिका में लिखा जाता है।

१—**मन्थान-जाति-बन्ध**—वहीं मथनी के चार दलों में एक-एक अक्षर की स्थापना करने की दृष्टि से एक और प्रश्न का पद्य दिया है। यथा—

केनोद्वहन्ति दयितं विरहे तरुण्यः, प्राणैः श्रिया च सहितः परिपृच्छतीदम्।
तार्क्ष्यस्य का नतिपदं सुखमत्र कीदृङ्, किं कुर्वतान्यवनितां किमकारि
कान्ता ॥ ३२ ॥

इन प्रश्नों के उत्तर से प्राप्त '**मनसा, सानम, विनता, तानवि, नमता, असावि, और मनसा, विनता**' अक्षरों को क्रमशः एक-एक अक्षर चार दल और एक कर्णिका में लिखने से इस बन्ध की रचना होती है। यहाँ कर्णिकाक्षर '**न**' है।

मुरज-बन्ध

स्वामी समन्तभद्र ने इस बन्ध की योजना की है तथा अजितसेन ने 'अलङ्कार-चिन्तामणि' में इसका न्यास-प्रकार यह दिखलाया है—

पूर्वार्धमूर्ध्वं पंक्तौ तु, लिखत्वार्धं परं ततः।
एकान्तरितमूर्ध्वाधो, मुरजं निगदेत् कविः॥ स्तुतिविद्या २-१४६॥

इसके अनुसार मुरज की आकृति में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध को लिखकर तिरछी रेखाएँ खींची जाती है जिनके कोण के निकट अक्षर अङ्कित किये जाते हैं। विशेषता यह है कि पूर्वार्ध के विषमाक्षरों को उत्तरार्ध के समसंख्यावाले अक्षरों के साथ तथा उत्तरार्ध के विषमाक्षरों को पूर्वार्ध के साथ रेखाक्रम से मिलाकर पढ़ने से भी पद्य की पूर्ति हो जाती है। यथा—

श्रीमज्जिनपदाभ्याशं, प्रतिपद्यागसां जये।
कामस्थानप्रदानेशं, स्तुतिविद्यां प्रसाधये॥ १॥

इसमें समसंख्यावाले पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के अक्षरों में समानता है। यही पद्य चार चरणों की चार पक्तियाँ बना कर भी मुरजाकृति में लिखा जाता है।

उपर्युक्त पद्धति के प्रायः चौआलिस अन्य पद्य इस पुस्तक में उपलब्ध होते हैं। अतः जिनमें विशेषता है उनका निर्देश यहाँ किया जारहा है।

१–मुरज-बन्ध (गुप्तक्रिय)-वहीं इस बन्ध के पठन-प्रकार में कुछ नवीनता लाकर यह रूप प्रस्तुत किया है। इसमें श्लोक के चारों पदों को चार पक्तियों में लिख कर प्रथमाक्षर को तृतीयपाद के द्वितीय अक्षर के साथ और तृतीय पाद के प्रथमाक्षर को प्रथम पाद के द्वितीयाक्षर के साथ मिला कर पढ़ना चाहिये यह क्रम पाद को समाप्ति तक चलता है। इसी प्रकार द्वितीय पाद के प्रथमाक्षर को चतुर्थपाद के द्वितीयाक्षर के साथ और चतुर्थपाद के प्रथमाक्षर को द्वितीय पाद द्वितीयाक्षर के साथ मिला कर पढ़ना चाहिये। यह क्रम भी पाद की समाप्ति तक चालू रहता है। यथा—

दिव्यैर्ध्वनिसितच्छत्र-चामरैर्दुन्दुभिस्वनैः।
दिव्यैर्विनिर्मितस्तोत्र–श्रमदर्दुरिभिर्जनैः॥ ६॥

इसमें अक्षरों का पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में साम्य है तथा प्रथम चरण के प्रथम शब्द में दिवि+ऐः = गतवान् यह सन्धि करके क्रिया को गुप्त रखा गया है।

२–मुरज-बन्ध (अनन्तर पाद)–वहीं एक बन्ध की योजना में पूर्वापेक्षा यह विशेषता रखी गई है कि 'श्लोक का एक चरण अपने उत्तरवर्ती चरण के साथ मुरजबन्ध को लिये हुए है'। जब कि पूर्व उदाहरणों में प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ का अक्षर-साम्य रहता था। यथा—

अभिषिक्तः सुरैर्लोकैस्त्रिभिर्भक्तः परैर्न कैः।
वासुपूज्य मयीशेशस्त्वं सुपूज्यः कवीदृशः॥ ४८॥

इसमें समसंख्यक पहले और दूसरे तथा तीसरे और चौथे चरण के अक्षरों में साम्य है।

३–मुरज-बन्ध (यथेष्टैकाक्षरान्तरित)—वहीं इस बन्ध की योजना में पूर्वापेक्षा यह नवीनता है कि इष्टाक्षर एक-एक अक्षर के अन्तर से पद्य के चारों चरणों में समानरूप से प्रयुक्त हुआ है। यथा—

क्रमतामक्रमं क्षेमं, धीमतामर्च्यमश्रमम्।
श्रीमद्विमलमर्चेमं, वामकामं नम क्षमम्॥ ५०॥

इसमें प्रत्यक्षर के अन्तर से इष्टाक्षर 'म' की संयोजना हुई है। वसुनन्द्याचार्य ने 'स्तुतिविद्या' की संस्कृत टीका में इन बन्धों के लक्षणों का निर्देश किया हैं, जिसके आधार पर 'अलङ्कारचिन्तामणि' में भी लक्षणों की रचना की गई है।

४-मुरज-बन्ध (एकाक्षर)—भोजराज ने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में इस बन्ध का नवीन प्रकार दिखलाते हुए यह लक्षण दिया है—

श्लोकस्यैतस्य पादेषु, लिखितेषु चतुर्ष्वपि।
त्रिमृदङ्गकरीह स्याच्चतुरेकाक्षरावली॥ २-११३॥

इसमें प्रथम-पादस्थ अक्षर लेकर चतुर्थ पादस्थ अक्षर तक एक जातीय चार-चार अक्षरों को मिलाने से मुरज की आकृति में लिखित तीन मुरजों में प्रत्येक के दोनों पार्श्व और ऊपर-नीचे के भागों में आठ समानाक्षरों की योजना होती है। यथा—

सुराननत्वानन हाननष्टये, पुनस्स्तुवेऽनर्धघनप्लवाननम्।
मनस्यनूनव्यसनप्रधूननं, स काननस्थाननदीननर्दनम्॥ २-३२१॥

इसमें 'न' अक्षर की आवृत्ति दर्शनीय है।

५—मुरज-प्रस्तार—वहीं इस बन्ध का लक्षण यह दिया है—

क्रमेणैवास्य पादेषु प्रसृतेषु, चतुर्ष्वपि।
तुर्यान्मुरजमार्गेण,श्लोकोऽयमुपजायते॥ २ ११४॥

इसके अनुसार चारों चरणों को अन्तर्निहित मुरजों में पंक्तिबद्ध लिखा जाता है तथा चौथे चरण के प्रथमाक्षर से आरम्भ कर जिस मार्ग से मुरजाकृति मिलती है वहाँ के अक्षरों का चयन करने पर अन्य श्लोक की उत्पत्ति होती है। यथा—

मूलपद्य:—तालसारप्रभा राका, तारकापतिदंशिता।
मारधामरमाधीता, वलयामास सागरम्॥ ३२३॥

इस पद्य से निम्नलिखित द्वितीय पद्य उत्पन्न होता है—

वरकारप्रदं धीरं, तारधामा समासिका।
सालता मालाया माऽऽप, ताराभाऽति रसागता॥ ३२३॥

इसमें बन्ध की दृष्टि से 'माप' के स्थान पर 'मप' पाठ होना चाहिये, क्योंकि, मूलपद्य के तीसरे चरण में 'धाम' पाठ है।

६- **मुरज-बन्ध**—डा० रसिकविहारी जोशी ने 'श्रीमद्भागवत' के निम्नलिखित पद्य से इस बन्ध की रचना की है। इसमें पद्य का आरम्भ सन्धिस्थल से होता है, जिसमें मध्याक्षर श्लिष्ट है तथा पद्य का प्रथम चरण मध्यवृत्त के ऊपरी भाग में, द्वितीय चरण एक पार्श्व में, तृतीय चरण दूसरे पार्श्व में और चौथा चरण मध्यवृत्त के निम्न भाग में रहता है। पद्य इस प्रकार है :—

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः, श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते
॥ १०।३१।१ ॥

इसमें '**य-यि**' अक्षर श्लिष्ट हैं।

७- **मुरज-बन्ध**—वहीं एक अन्य पद्य से आलेखन-प्रकार में भेद करते हुए निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है :—

विषजलाप्ययात् कालराक्षसाद्, वर्षमारुताद् वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥ वहीं ३ ॥

इसमें श्लिष्टाक्षर '**ष**' है जो दो स्थानों पर दो-दो बार आवृत्त हुआ है। यहाँ पद्य का प्रथम चरण मध्यवृत्त के ऊपरी भाग में, द्वितीय चरण उसी के अग्रिम पार्श्व में, तृतीय चरण मध्यवृत्त के निम्न भाग में तथा चौथा चरण अन्य पार्श्व में लिखा हुआ है। पूर्व पद्य में लेखन का क्रम विषम था, जबकि यहाँ यथाक्रम आलेखन किया गया है, जो पूर्वापेक्षा नवीन है।

८-**मृदंग-बन्ध**—वहीं इस नाम से आकृतिगत भेद दिखलाते हुए अन्य उदाहरण भी दिया है इसमें मृदङ्ग के चर्म के बीच में कर्णिकारूप एक अक्षर लिखकर उसके आस-पास वृत्ताकार में प्रथमचरण के अन्य अक्षर लिखें हैं। द्वितीय चरण का प्रथमाक्षर कर्णिकाक्षर से श्लिष्ट होकर मध्य भाग के ऊपर रहता है। वहीं तृतीय चरण का पहला अक्षर भी अंकित है और इस चरण का द्वितीय अक्षर चर्म के बीच कर्णिका में रह कर चौथे चरण के द्वितीय अक्षर को श्लिष्ट बनाता है। तीसरे चरण के अन्याक्षर चर्म के वृत्ताकार में और चतुर्थ चरण के अन्याक्षर मध्यभाग के नीचे लिखे गये है। यथा :—

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये, सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥ वहीं ४ ॥

इसमें '**न**' और '**ख**' श्लिष्ट हैं।

यान-बन्ध (शिबिका-बन्ध)

आचार्य अजितसेन ने इस बन्ध का लक्षण यह दिया है :—

शृङ्गाग्र-द्व्यूर्ध्वभागेषु, चतुरश्चतुरो लिखेत् ।
प्रवेशनिर्गमे चापि, यान-बन्धे प्रियावहे ।। अलं०चि०-२-१७६ ।।

इसके अनुसार पालकी की आकृति में शृङ्गाग्रभाग से पद्यारम्भ होकर ऊपर के बांस में घूमते हुए दूसरे शृङ्गाग्र तक पहुँचता है तथा वहीं से चार अक्षरों का विलोम-पाठ करते हुए नीचे के भाग में लिखे अक्षरों को पढ़कर प्रथमशृङ्ग के चार अक्षरों के विलोम-पाठ से पद्य पूर्ण होता है । उदाहरण पद्य इस प्रकार है :—

घनसार–तिरस्कारी, कायगन्धः सुधीरधीः ।
धीरधीसुनुतोऽव्यान्नः, सोऽजितः सुरसानघः ।। २-१७७ ।।

इसमें प्रथम और द्वितीय चरण के क्रमशः आदि और अन्त के चार-चार अक्षरों का विलोम-पाठ हुआ है ।

१- शिबिका-बन्ध–दामोदरशास्त्री ने इस बन्ध की रचना अन्य प्रकार से बतलाते हुए न्यास-प्रकार यह दिखलाया है :—

मञ्च-मण्डप-वैतान-स्तम्भ-वेश-समन्वितः ।
'शिबिका-बन्ध' इत्युक्तो, लिपेस्तत्र चमत्कृतिः ।।

इसके अनुसार मण्डप के एक पार्श्व से पद्यारम्भ होता है जिसमें द्वितीय अक्षर वंश में, तृतीय अक्षर प्रथमाक्षर के रूप में तथा अन्य अक्षर वितान में होकर पूर्वोक्त प्रकार से मण्डप के दूसरे भाग में अवतरण करते हैं । इसी प्रकार मञ्च के दोनों कोण पर भी अक्षर श्लिष्ट हैं । यथा :—

महामनास्तोषधनो जनाऽव, वने वसन्नीशरतो विभाति ।
तिरस्कृतिं सत्कृतिमत्र सेन, न मन्यते तं वयमानमाम ।।

—चित्रबन्धकाव्य पृ० २३ ।।

इसमें **'म-व-ति-न'** ये अक्षर श्लिष्ट हैं ।

२- शिबिका-बन्ध–भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने इस बन्ध की रचना पर्याप्त नवीनता से की है । इसमें वंश में चार स्थानों पर चतुर्दल कमल की भाँति मध्याक्षर को श्लिष्ट रखते हुए पाठ हुआ है तथा वंश से नीचे उतरने के स्थानों पर वंशसन्ध्यक्षर को श्लिष्ट बनाकर अवतरण किया है और मञ्चाधार में भी कोणस्थानों पर दो-दो अक्षरों की श्लिष्टता है । यथा :—

भास्वद्वंशावतंसं गुणगणगणनातङ्कतङ्कतङ्कं,
सापत्सापत्नपङ्क्तौ सकलकविकलाविश्रमास्थानभूमिम् ।

सक्षेमं पालयन्तं विपुलजयपुरीमुल्लसद् भूरिभागां,

साधून् सम्मोदयन्तं हयवदनहरिर्मानसिंहं विपुष्यात् ॥ जयपुरवैभव ॥

इसमें 'सं-ए-त-प-क-वि-ल-य-य-पु' ये अक्षर श्लिष्ट हैं तथा द्वितीय चतुर्दल में भ्रमण-पद्धति का उपयोग हुआ है।

श्रीफल-बन्ध

भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने इसबन्ध की रचना की है। इसमें श्रीफल के शिखर और निम्न भाग पर एक-एक अक्षर श्लिष्ट रहता है जो प्रथम और तृतीय चरण के आदि में और द्वितीय तथा चतुर्थ चरण के अन्त्य में श्लिष्ट होते हैं। यथा:—

राकेशसुन्दरमुखः, सुधोपम-वचश्च यः।

यः सताममृतं सूते, तद्गुणाढ्या वसुन्धरा ॥ जयपुरवैभव ॥

इसमें 'रा' और 'यः' अक्षर श्लिष्ट हैं।

शृङ्खला-बन्ध

जिनवल्लभसूरि ने इस बन्ध का उदाहरण दिया है। कतिपय प्रश्नों के उत्तर से प्राप्त अक्षरों को शृङ्खला की आकृति में इस प्रकार लिखा जाता है कि जिसमें एक वाक्य के एक-एक अक्षर को छोड़ कर अग्रिम अक्षरों के ग्रहण से पृथक्-पृथक् उत्तर बन जाते हैं। यथा :—

ब्रूते ब्रह्मस्मरौ के रणशिरसि जिताः केन जेत्राह विद्वान्

उद्यानं स्यान्न कीदृग् जलधिजलमहो कीदृशं स्यान्न गम्यम् ?

को मां वक्त्याह कृष्णः क्व सति पटुवचः स्याद्रुतः केन वृद्धिः,

त्याज्यं कीदृक् तडागं नतिमति लघुका किं करोत्युत्कटं किम् ॥

—प्रश्नशत ६ ॥

इन प्रश्नों के उत्तर में क्रमशः– वी, वीराः, राक्षा, क्षावि : क्ष+अवि :, विनु, नुदः नुद् + अ :, दति, तिपा और अपापम्– प्राप्त इन शब्दों का सामूहिक वाक्य– **वीराक्षा विनुदति पापम्**–शृङ्खला में अङ्कित किया गया है।

सर्वतोभद्र-बन्ध

आचार्य दण्डी ने इस बन्ध का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

तदिष्टं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः ॥ काव्यादर्श-३।८० ॥

इसके अनुसार जिसमें अनुलोम और प्रतिलोम उभयविध भ्रमण से पादोत्थान हो जाता हो, उसे 'सर्वतोभद्र' कहते हैं। इस बन्ध की रचना चौंसठ कोष्टक-आठ-आठ कोष्ठक की आठ पंक्तियों के चतुष्कोण से होती है। जिसमें चारों चरण के ३२ अक्षर चार पंक्तियों में और पांचवीं पंक्ति से आठवीं पंक्ति तक विपरीत क्रम से अर्थात् चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय और प्रथम चरण के रूप में लिखे जाते हैं। इसकी विशेषता यह है कि पद्य पठन के लिये वाम-भाग से दक्षिण भाग की ओर अथवा दक्षिण-भाग से वामभाग की तरफ

ऊपर से नीचे अथवा नीचे से ऊपर उल्टा या सीधा किसी तरह आवर्तन करने पर श्लोक के चरण निकलते जाते हैं।

सामायामा माया मासा, मारानायायानारामा।
यानावारारावानाया, मायारामा मारायामा ॥ ३।८१ ॥

१- **सप्तान्य-चित्रसमन्वितसर्वतोभद्र-बन्ध**--समन्तभद्राचार्य ने 'सर्वतोभद्र' का एक पद्य दिया है जिसमें अन्य सात प्रकार के चित्रालङ्कारों का भी समावेश है। यथा :—

पारावाररवारापारा क्षमात्र क्षमाक्षरा।
वामानाममनामावारक्ष मर्द्धर्द्धमक्षर ॥ स्तुतिविद्या ८४ ॥

इस पद्य में **अन, अव, रक्ष,** इन अनेक क्रियाओं के होने से १- बहुक्रियापद', द्वितीय पद में क्षमाक्ष-क्षमाक्ष की आवृत्ति होने से २- 'द्वितीयपादमध्ययमक, तालुस्थानीय इवर्ण च वर्ण य, श अक्षरों के न होने से ३- 'अतालुव्यजञ्न,' केवल अवर्ण स्वर के होने से ४- 'अवर्णस्वर', प्रथम, तृतीय और चतुर्थ पाद में द्वितीय पाद के गुप्त होने से ५- 'गूढद्वितीय पाद,' क्रम और विपरीत क्रम से पढ़े जाने के कारण ६- गतप्रत्यागत', अर्धभ्रम रूप होने ७- 'अर्धभ्रम' तथा सब तरफ से एक समान पढ़े जाने के कारण ८- 'सर्वतोभद्र', नामक आठ चित्रालङ्कार है।

३ -**'सर्वतोभद्र-बन्ध (अष्टदलमलबन्धगर्भ)**-'चित्रभूषरण' में 'सर्वतोभद्र-बन्ध' का यह नवीन प्रकार दिया है। इसकी रचना तेईस-तेईस ऊर्ध्वाधः कोष्ठकों से की गई है किन्तु यह क्रम बीच की नौ पंक्तियों में नहीं रखा गया है, वहाँ आठवीं एवं सोलहवीं पंक्ति में आठ-आठ कोष्ठक तथा शेष सात पंक्तियों में सात-सात कोष्ठक रखे गये हैं। इस प्रकार सभी कोष्ठकों की संख्या चार सौ बावन हो जाती है। बीच में नौ पंक्तियों के कोष्टकों से बचे हुए स्थान पर एक अष्टदल-कमलबन्ध की रचना की गई है, जो सकर्णिक है। इसके आलेखन क्रम में भी नवीन मार्ग अपनाया गया है। जिसमें चारों दिक्कोणों में षोदशाक्षरी छन्द की चार पंक्तियां है। जिसके दो-दो अक्षरों से तिरछे आठ-आठ कोष्ठकों की पूर्ति की गई है। तथा नौवीं पंक्ति में क्रमशः नौ और पन्द्रह कोष्ठकों में दो-दो अक्षरों की स्थापना से अन्य दो तिरछी रेखाएँ पूर्ण की गई हैं। इस प्रकार पूर्वादि चारों दिशाओं में दो-दो कोण युक्त दल निकल आये हैं। जिनमें दो रेखाओं के संयोगस्थल के कोष्ठाक्षरों की श्लिष्टता है। कमलबन्ध में मध्याक्षर हैं। तथा प्रति-दल में दस-दस अक्षर हैं। पद्य का आरम्भ दल से होता है। उदाहरण में चार कोणों की चार पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

हरेः कथा श्रुतौ रुचिः शुचिः पुनः पुरे सदा,
क्षतो बको जिताः कृतः सदा रिपुस्त्वया तथा।
रमा श्रियं शिवा धियं सदाशिवः सुखं तथा,
स्थिरा मतिः सदा नये तवेश वो भवो नवो ॥

इसके अतिरिक्त नौ और पन्द्रह संख्यावाली पंक्तियों में चारों ओर निम्न पंक्तियाँ लिखी जाती हैं :—

शिवप्रसाद एष ते शुचिः शुभं करोतु ते यशः शरन्निशापते प्रकोशभं समं सदा ॥
शचीपतिः शिवं शिवः प्रभो कृपाकटाक्षतः सतां युतिः सदा तथा त्वया रिपूकृपाकरी ॥
सदा शिव प्रिया सदास्तु ते तथा विभो दिवे दिने सदा मुदा समं सतां हिता जगज्जनाः ।
सदास्तु ते दृढा मतिः रतो महद् गुणे सदा महा बुधा यथा तथा ददात्वरं वरं परम् ॥
परस्परं गृहे गृहे गृणन्ति वै तवैव निर्मलम् जनाः सदा शिवे ततः परम् दिने-दिने ॥
नवो नवो महोद्भवो महीपते विराजते ॥

इस प्रकार इन पंक्तियो से एक सौ आठ कोष्ठकों की पूर्ति में दो-दो अक्षर रखे जाते हैं तथा चार दिक्कोणों में मध्य और अन्त के आठ कोष्ठकों में निहित तथा चारों दिशाओं की तिर्यग् रेखाओं के चार मध्य कोष्ठकों में निहित बारह अक्षरों की पुनरावृत्ति से एक सौ बीस युग्माक्षरों से उपर्युक्त पन्द्रह पंक्तियों का संग्रह होता है। इन्हीं में ऊपर की प्रथम पंक्ति के एक, नौ, पन्द्रह तथा तेईस और नीचे की पंक्ति के तेईस, पन्द्रह, नौ और एक संख्यावाले कोष्ठकों के शब्दों को मिलाने से सोलहवीं पंक्ति :—'हरेः कृपाकटाक्षतो रमा सदा गृहे स्थिरा' बन जायगी, जो कि अन्तिम चौथे पद्य की पूर्ति में सहायक होगी।[1]

मध्य के कमल-बन्ध का पद्य इस प्रकार है—

श्रीकण्ठश्चक्रपाणिः शरनगसुमनाज्याज निर्यस्यदारा,
मर्त्यामर्त्यालयापानयगदगदितोद्यद्य शोग्लौरनीचः ।
दाहासक्ताशयं सद्धृदनुगमिव यो निर्विकारं निनेज,
वस्तुं शस्तोन्मनस्कोऽत्र च जगति वै देहि देहीति येति ॥

इसमें 'ग' अक्षर कर्णिका में स्थित है तथा कर्णिकाक्षर का पठन दिग्दलों के साथ ही होता है। इस सर्वतो-भद्र-बन्ध में मध्य-कोष्ठकों को कम करके एक 'एकाक्षर सकर्णिक-अष्टदल कमल-बन्ध' की भी रचना करके चित्रकवि ने एक नवीन दिशा की ओर संकेत किया है।[1]

इसी सर्वतोभद्र-बन्ध से समानता रखने वाले अन्य बन्धों के आचार्यों, ने भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं, जिनमें प्रतिकोष्ठक-कवित्व, कामधेनु,-बन्ध, असंख्यपद-बन्ध एवं सागर-बन्ध आदि महत्वपूर्ण हैं।

अन्य सम्भावनाएँ

प्रकीर्ण-चित्र की इयत्ता नहीं है। प्रत्येक मानव के मस्तिष्क में जो कल्पनाओं का

१– यहाँ श्लोकों में कहीं-कहीं सन्धि-दोष एवं कहीं यतिभंग आदि दोष हैं, किन्तु रचनाचातुर्य को विशेष मान कर प्राप्त साहित्य का विवेचन किया गया है।

अनन्त भाण्डार है, उसके रत्नों की सीमा क्या हो सकती है ? हमारे जीवन की अनन्त आवश्यकताओं की पूर्ति में मूर्तिरूप जो विविध वस्तुएँ हैं वे सभी इस विभाग में कवि-कल्पना से प्रसूत हो सकती हैं। आधुनिक युग के साहजिक उपकरणों में भी चित्रकवि अपने शब्दरत्नों को सुजटित करने के लिये प्रयत्नशील है तथा अनेक नवीन चित्रबन्ध प्रस्तुत भी हो रहे हैं। लेखक ने इस ओर सामान्य प्रयास निम्न रूप में किया है :—

१– **उपनेत्र-बन्ध**—इस बन्ध की रचना में अक्षर-विन्यास की विधि निम्नलक्षण पर आधारित है :—

कर्णयष्ठ्या समारभ्य मध्यदर्पणयुग्मके।
भ्रामयन् कर्णयष्ठ्यन्तमुपनेत्रं प्रकल्पयेत् ॥

इसके अनुसार कर्णवेष्टनी, दर्पणवृत्तसन्धि, दर्पणवृत्त, नासिकास्थान, द्वितीय दर्पण-वृत्त, दर्पणवृत्तसन्धि और द्वितीय कर्णवेष्टनी में पद्य के दो चरण लिखे जाते हैं तथा आरम्भ, मध्य और अन्त के अक्षरों को श्लिष्ट बना कर दर्पण-वृत्तों के निम्न भाग से शेष दो चरण पढ़े जाते हैं। यथा :—

कालिका ज्ञानकलिकां कालिमारहितांशिकाम्।
काशिका-वासिनी राकाकारां कुर्यात् स्वपालिका ॥ चि० चं० ॥

इसमें 'कालि-लिका' ओर का श्लिष्ट हैं।

२–**कुण्डली-बन्ध** उपर्युक्त पद्य को ही इस बन्ध में विन्यस्त करने के लिये अधो-लिखित लक्षण को आधार माना है :—

आरभ्य मध्यात् क्रमतः पठित्वा, समापयेन्मध्यगताक्षरेण।
केन्द्राक्षरश्लेषविलासशीलो, विराजते कुण्डलि-बन्ध एषः ॥

इसके अनुसार मध्य से पद्यारम्भ कर बाहर भावों भ्रमण करते हुए केन्द्रस्थान-एक चार-सात और दस-में श्लिष्ट पाठ द्वारा मध्याक्षर में पद्य पूर्ण किया जाता है। उदाहरण पद्य उपर्युक्त ही है जिसमें प्रतिचरण के आरम्भ और अन्त के दो-दो अक्षर श्लिष्ट हैं।

३–**पुष्प-बन्ध**—उपर्युक्त पद्धति से ही पद्य को पुष्पाकृति में लिख देने से इस बन्ध का निर्माण हो जाता है।

४–**शिबिका-बन्ध**—भट्ट मथुरानाथशास्त्री के शिबिका-बन्ध से इसमें सामान्य परि-वर्तन करके नवीनरूप निर्मित किया है। इसका न्यास-प्रकार निम्नलिखित है :—

आदिमध्यावसानेषु, वंशे श्लिष्टान् पुरा पठन्।
स्तम्भद्वये मण्डपाध : शिबिकायां ततो व्रजेत् ॥

इसके अनुसार शिबिका के बाँस में दोनों सन्धिस्थान तथा मध्य के तीन स्थानों पर गतो-गत पद्धति से पठन करते हुए तो चरणों की पूर्ति की जाती है। तदनन्तर दोनों

पार्श्वगत स्तम्भों के सन्धिस्थान से अवतरण कर मञ्च के अधोभागों में श्लोक के शेष दो चरण लिखे जाते हैं। यथा :—

अनन्ता भक्तास्ते भवभयभरान्मुक्तिमयिताः,
मयि क्षीणे पुण्ये कलिकलकलत्कारविकले।
भरं कृत्वा मातः सपदि परिपूर्णामथ कृपां,
रसायामानन्दं वितर तरसा वेदजननि ॥ गायत्रीलहरी ८६ ॥

इसमें भ, भ, मयि, क, र,प, त' अक्षर श्लिष्ट हैं।

५–श्रीफल-बन्ध––इस बन्ध का लक्षण इस प्रकार है :—

कूर्चाद् शिखां पुनः कूर्चात्, शिखां भागद्वये व्रजेत्।
आदिमध्यावसानेषु, श्लिष्टान् कृत्वा श्रियः फले ॥

इसके अनुसार श्रीफल के कूर्च (दाढ़ी) से शिखा तक ऊपर के भाग में तथा पुनः कूर्च से शिखा तक चार चरण लिखे जाते हैं, जिनमें कूर्च, शिखा और मध्य के अक्षर श्लिष्ट होते हैं। यथा :—

रमन्ते योगीन्द्रा जितषडरयो ब्रह्मणि चिरं,
रटन्ति त्वन्मन्त्रं व्यपगत-तमस्तोमहृदयाः।
रसद्द्रव्या भव्या भुवि विभवन्तोऽजनिषत,
तपस्त्यागैर्हीनं कुरु परिवृतं मामपि मया ॥

इसमें प्रतिचरण के आद्यन्ताक्षर श्लिष्ट हैं।

अन्य चित्रालङ्कार

हेमचन्द्राचार्य ने काव्यानुशासन में चित्रालङ्कारों के भेदों में 'दुर्वचक-चित्र' नामक अलंकार की भी गणना की है तथा इन्हीं के अनुयायी वाग्भट ने भी उनका समर्थन किया है। तदनुसार दुर्वचक-चित्र में एसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है जिनका उच्चारण अति कठिन हो। यथा–

नांष्ट्रास्वाष्ट्रारिराष्ट्रे न, भ्राष्ट्रैर्नार्दंष्ट्रिणो जनाः।
धार्तराष्ट्राः सुराष्ट्रे न महाराष्ट्रे तु नोष्ट्रिणः ॥

यहाँ 'ष्ट्र' अक्षर की अधिकता के कारण जो उच्चारण की कठिनाई होती है, वहीं 'दुर्वचक-चित्र' है। हेमचन्द्र ने टिप्पण में सूचित किया है कि–दुर्वचक, दुःश्रव और दुर्बोध होने पर भी वे क्रीड़ा में विरुद्ध नहीं होते हैं। इसी प्रकार दुर्बोध-चित्र का अन्य उदाहरण यह हो सकता है—

१–काव्यानुशासन-हेमचन्द्र ३।२७ टिप्पण।

वाश्चारेड्घ्वजधृग घृतोड्वधिपतिः कुघ्रेऽज जानिर्गणेड्
गौराडारुडरः सरेडुतरग्रैवेयक भ्राडरम् ।
उड्वीव्र् ुड नरकास्थिधृक्त्रिदिगिभेडाद्राजि नाच्छच्छविः,
स स्तादम्बुमदम्बुदालिगलहृग् देवा मुदे वो मृडः ॥ बृहद्ज्योतिरार्णव

'संस्कृतरत्नाकर' पत्र में यह पद्य हजारीलाल शास्त्री (रोहतक-पँजाब निवासी) की टीका के साथ भी प्रकाशित है। इसकी टीका से ज्ञात होता है कि यह अत्यन्त दुर्बोध पद्य है अतः इसे 'दुर्बोधचित्र' अलङ्कार माना गया हैं।[1]

चित्रालङ्कार : मूल्याङ्कन एवं उपलब्धि

कला सत्य, शिव और सुन्दर की आत्मा है तथा वह भावराज्य की अधिष्ठात्री देवी है। साहित्य और कला का समन्वय सनातन है तथा इनकी पारस्परिक आवश्यकताएँ प्रतिक्षण बनी रहती हैं। साहित्य में रस, गुण, रीति और अलङ्कार आदि जैसे सर्वांगीण शोभा में सहायक हैं वैसे ही यह सब सामग्री चित्र कला में अक्षुण्णरूप से प्राप्त होकर कला के अभिनव सौन्दर्य की अभिवृद्धि करती है। साहित्य भी चित्रकला से बराबर सहायता लेता आया है। चित्राभास अथवा प्रतीकात्मक सोद्देश्यता से कला मूल्यवान् बनती है। चित्रण की कुशलता ही कला का आदर्श है। कविता वर्णमय चित्र है। जो स्वर्गीय भावपूर्ण सङ्गीत गाया करती है। यही कारण है कि कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता रहती है जो झङ्कार में चित्र और चित्र में झङ्कार भरती रहे। 'चित्रालङ्कार' इस अंश की परिपूर्ति में एक मञ्जुल प्रयास है।

चित्रालङ्कार को विद्वानों ने 'चमत्कृति-मूलक' अलङ्कार माना है। आत्मा की चमत्कृतिपूर्ण स्थिति का नाम आनन्दानुभूति है। जब पाठक काव्य पढ़ता है अथवा सुनता है तो किसी भाव, स्वर अथवा वचन-विन्यास के वैचित्र्य के कारण उसे आनन्दोपलब्धि होती है। उस आनन्द की तीव्रानुभूति की व्यवस्था का नाम ही चमत्कृति है। यह चमत्कृति वर्ण-विन्यास की विशेषता, पदसंयोजना की आश्चर्यकारिता तथा वाक्य-विच्छित्ति की अनुपमता से पल्लवित और पुष्पित होती है। वैज्ञानिक तथ्यों का भी यही उल्लेख मिलता है कि—"सामाजिक महत्त्व के लिए आकर्षित करो अथवा आकृष्ट बनो। जैसे आकर्षण-विधान के बिना अणुओं से व्यक्त पिण्डों का अविर्भाव नहीं हो सकता, वैसे ही मानव जीवन की विशद अभिव्यक्ति भी विना आकर्षण के असम्भव है। जैसे संगीत में तानों, खटकों और मुरकियों का प्रयोग चमत्कार के लिए हुआ है वैसे ही वर्णयोजना, शब्द-गुम्फ, वाक्य-विन्यास आदि के द्वारा शब्दालङ्कारों में चमत्कृति-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से चित्रालङ्कार की सृष्टि हुई है।

चित्रालङ्कार के माध्यम से पुरस्कृत शब्दचित्र काव्यरसिकों को सूक्ष्म-सौन्दर्य की

१—संस्कृतरत्नाकर—दिल्ली, वर्ष ५, अङ्क ११ नवम्बर १९६३

प्रतीति कराने में सहायक होते हैं। सूक्ष्म मानसिक तारतम्य का संकेत देने के लिए ही वर्ण-चित्र, स्थानचित्र, स्वरचित्र, आकारचित्र, गतिचित्र, आदि का अभिर्भाव हुआ है। साहित्य में श्रव्य और दृश्य दोनों विधानों की एकत्र पूर्ति चित्रालङ्कार का कार्य है। इन चित्रों में कुछ 'विद्धचित्र' होंगे जो भावों के अनुरूप ही आकृति को अभिव्यक्त करेंगे तो कुछ चित्र 'अविद्धचित्र' होंगे जिनमें आकृति और रचना दोनों में कल्पना का प्राचुर्य होगा और कुछ 'रसचित्र' भी मिलेंगे जो भावकल्पना एवं रसके अनुरूप ही आकृति को अंकित कर आनन्दानुभूति में सहायक बनेंगे।

चित्रालङ्कार के लक्षण-विकास की पर्यालोचना से ज्ञात होता है। कि दण्डी से आज तक के विभिन्न आचार्यों ने इसके विकास में पूरा मनोयोग दिया है। दण्डी ने यद्यपि 'चित्र,' अलङ्कार का स्वतन्त्र उल्लेख तो नहीं किया किन्तु उनके द्वारा अर्धभ्रम, सर्वतो-भद्र आदि का निर्देशन हुआ है वह इस दिशा में संकेतक अवश्य था। अग्निपुराण में अनेक चित्रबन्धों और अन्य चित्रप्रक्रियाओं का लक्षण दिया गया, वह इस अलङ्कार की व्यापकता-का पुष्ट प्रमाण है किन्तु वहाँ उदाहरणों के न होने से वास्तविकता पर पहुँचने में कठिनाई उपस्थित रही। रुद्रट ने चित्रालङ्कार को शब्दालङ्कार में स्पष्ट स्थान देकर तथा उसके अनेक लक्षण उदाहरण प्रस्तुत करके इसके मार्ग को प्रशस्त कर दिया। भोज ने इस के वर्गीकरण एवं विवेचन में मनोयोग दिया और विभिन्न भेदप्रदर्शन द्वारा अग्रिम विचारकों के लिए द्वार खोल दिये। परिणामतः, स्वर, स्थान, वर्ण, गति, प्रहेलिका च्युत, गूढ, प्रश्नोत्तर, समस्या एवं अन्यान्य चित्रालङ्कारों का विस्तार हुआ। साथ ही आकार-चित्रों के भी समयानुकूल नवीन रूप निर्मित होते रहे, जिन्हें यहाँ मंगलमय, वनवैभवात्मक, आभरण, शस्त्रास्त्र, प्राणी एवं प्रकीर्ण चित्रों के विभाजन द्वारा छः रूपों में प्रस्तुत किया है। ये आकार चित्र पूरे संस्कृत-साहित्य के लक्ष्य-लक्षण ग्रन्थों के आधार पर प्राचीन एवम् नवीन के भेदभाव से मुक्त वर्णानुक्रम से प्रतिनिधिरूप में सङ्कलित किये गए हैं। इनके साथ ही अन्य सम्भावनाओं के आश्रय से कतिपय बन्धों को भी पुरस्कृत किया गया है।

चित्रालङ्कार का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है और वह प्रतिपद गतिमान् भी है, इसलिए समग्र-सङ्कलन कथमपि सम्भव नहीं था।। अतः 'यावच्छक्य एवं आवश्यक' इन दो बातों पर अधिक लक्ष्य रखते हुए विमर्श किया है। इन प्रकारों को देखने से चित्रालङ्कार की व्यापकता का ज्ञान सहज सम्भव हो जाता है।

ऐतिहासिक पर्यालोचन

चित्रमयी भाषा का प्रयोग भी हमें वैदिक काल से ही उपलब्ध होता है। स्वर और व्यञ्जन के स्थान-नियमन का प्रयोग यद्यपि उपलब्ध नहीं होता है किन्तु गति-चित्र का उद्गम तो वैदिक संहितापाठ के पश्चाद् विकृति पाठों में किए जाने वाले विभिन्न क्रम-विवर्तनों से ही हुआ होगा, यह कहा जा सकता है। यह पाठ-क्रम -विकृति की परम्परा

अत्यन्त प्राचीन है। मन्त्रों को यथावत् स्मृति में रखने के लिए किया गया प्रयास विकृति के नाम से बोधित होता है। ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार मुनि व्याडि ही सर्व प्रथम विकृतिकार हैं।[1] उनके द्वारा प्रदर्शित लक्षणों को ध्यान में रखकर शिक्षाकारों ने उनका पर्याप्त प्रसार किया और वैसे विकृतिपूर्ण पाठों का फल सामान्य पाठ से द्विगुणित, त्रिगुणित होता है ऐसा कहकर जनसमुदाय को आकृष्ट किया। इन विकृतियों के–जटा, माला, दण्ड, रेखा, रथ, ध्वज, शिखा और धन ये आठ प्रकार होते हैं। ये केवल क्रम का ही आश्रय लेकर प्रचलित हुए हैं।[2] जबकि क्रम के मुख्य पाँच प्रकार-अनुक्रम, उत्क्रम, व्युत्क्रम, अभिक्रम, और संक्रम-आदि होते हैं तथा इसके आद्य, मध्य और अन्त्य भेद से प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार होते हैं। इनमें क्रम से प्रमुख पाँच उदाहरण इस प्रकार हैं–'अग्निमीडे' यह है अनुक्रम। ईडे ईडे–यह उत्क्रम है। ईडेऽग्निम्–यह व्युत्क्रम है। अग्निमग्निम्-यह अभिक्रम है। तथा अग्निमीडे-यह है संक्रम। इनमें आद्यक्रम उत्तर क्रम का स्पर्श करके अन्त्यपद से युक्त होता हैं। मध्यक्रम, पूर्वक्रम और उत्तरक्रम का स्पर्श करके पूर्वोत्तर पद से युक्त होता है। तथा अन्त्यक्रम पूर्वक्रम का स्पर्श करते हुए पूर्वपद से युक्त रहता है। प्रहेलिका, च्युत, गूढ, और प्रश्नोत्तर चित्र के प्रकार भी निम्नलिखित मन्त्रों से सुलभ हो जाते हैं।

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।
किं स्विद्धिदमस्य भेषजं किं वा वपनं महत्॥

उपर्युक्त मन्त्र में प्रहेलिकाभेदों का समावेश हो जाता है। तथा –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥३।१।१॥

इस मुण्डकोपनिषद् के मन्त्र में गूढता के दर्शन होते हैं। प्रश्न के और कूट के तो अनेक मन्त्र मिलते हैं जिनमें कई प्रकारों के दर्शन होते हैं।

इसी प्रकार आकार-चित्रों की भूमिका भी वेदमंत्रों में उपलब्ध हो जाती है। आवृत्ति के प्रकारों तथा एक समान वर्णों की पुनः पुनः स्थापना से चित्र-बन्धों की रचना होती है। तदनुसार कुछ मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

१–स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

२–वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्यस्कम्भसर्जनीस्थो वरुणस्य ऋतसदन्यसि वरुणस्य ऋतसदनमसि वरुणस्य ऋतसदनमासीद॥

१—मुनिर्व्याडिस्तु भगवान्, सर्वशाखीयलक्ष्यकृत्॥ ऋग्वेदीयजटालक्षण

२—अनुक्रमश्चोत्क्रमश्च व्युत्क्रमोऽभिक्रमस्तथा।
संक्रमश्चेति पञ्चैते, जटायां कथिताः क्रमाः ॥४॥ वहीं

उपर्युक्त मन्त्रों में प्रयुक्त आवृत्त पदों को बन्धाकृति में निविष्ट करने पर प्रथम मन्त्र से स्वस्तिक बन्ध और चतुर्दल कमल-बन्ध की रचना हो सकती है। द्वितीय मन्त्र से सकर्णिक पंचदल कमल-बन्ध बन जाता है। इसी प्रकार 'द्वादशदलकमल बन्ध' तथा 'चामर-बन्ध' की योजना की जा सकती है किन्तु ऐसा कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं है। ऐसे मन्त्रों का सङ्कलन हम पृथक् करने के पक्ष में हैं।

वाल्मीकिरामायण के सुन्दरकाण्ड में पंचम सर्ग में प्रायः सत्ताईस पद्य अन्त्यानुप्रास के उदाहरण रूप हैं जिन के द्वारा कमलबन्ध रचना सुगम हो जाती है। महाभारत में ऐसे अनेक पद्य हैं जिनकी कूटता के कारण चित्रालंकार के भेदों की पुष्टि होती है। यथा—

१—केशवं पतितं दृष्ट्वा, द्रोणो हर्षमुपागतः।
रुदन्ति कौरवाः सर्वे, हा हा केशव केशव॥

२—पतिदेवरता ज्येष्ठे पतिदेवरताऽनुजे।
इतरेषु च पाञ्चाल्यास्त्रितयं त्रितयं त्रिषु॥

प्रथम पद्य में क–शब्द का जल अर्थ चमत्कारकारी है जबकि द्वितीय पद्य में चतुर्थ चरण को तीन में तीन तीन की उक्ति से प्रहेलिका का स्वरूप प्राप्त होता है।

महाकाव्यों में चित्राङ्कार का प्रयोग सर्व प्रथम भारवि (सातवीं शती का प्रारम्भ) ने किया है। किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें सर्ग में-एकाक्षर पाद, गोमुत्रिका, एकव्यञ्जनपद्य, प्रतिलोमानुलोमपाद, प्रतिलोमानुलोमश्लोक, सर्वतोभद्र' अर्धभ्रमक, निरोष्ठ्य, गूढचतुर्थपाद, अर्थत्रयवाची आदि का प्रयोग हुआ है जो पूर्ण विकास का प्रतीक है। इसके पश्चात् माघ-कवि ने चित्रालंकारों को और बढ़ाते हुए शिशुपालवध के उन्नीसवें सर्ग में मुरजबन्ध, द्वयक्षर पद्य, प्रतिलोमानुलोमैकार्थ, अतालव्य, और चक्रबन्ध की योजना भारवि की अपेक्षा अधिक की है। इसके अनन्तर तो महाकाव्यों के किसी एक सर्ग में चित्रालङ्कार के समावेश की एक प्रणाली ही बन गई थी जिसे हम आज तक उत्तरोत्तर विकसित होती हुई देखते हैं। इसी प्रकार स्तोत्र-साहित्य में समन्तभद्राचार्य ने (२-३ शती के स्तुतिविद्या) जिनशतक मेंग ति-चित्रों के, आनन्दवर्धन (नौवीं शती) के देवीशतक में चित्रबन्धों के अनेक उदाहरण मिलते हैं और वह परम्परा आज भी प्रचलित है। कतिपय विशिष्ट ग्रन्थों में चित्रालङ्कार के अनेक रूप प्रयुक्त हुए हैं जिनमें से कतिपय ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

१-किरातार्जुनीय	भारवि	७वीं शती का आरम्भ	१५वाँ सर्ग
२-शिशुपालवध	माघ	७वीं शती का अन्त	१९वाँ सर्ग
३-कफ्फणाभ्युदय	शिवस्वामी	८५८ ई०	१८ व १९वाँ सर्ग
४-धर्मशर्माभ्युदय	हरिचन्द्र	१९०० ई	१९वाँ सर्ग
५-हरविजय	रत्नाकर	९५०"	अनेक सर्ग
६-सुरथोत्सव	सोमेश्वर	११७९	१०वां सर्ग
७-यादवाभ्युदय	वेदान्तदेशिक	१२२५ ई	६ठा सर्ग

८-नरनारायणानन्द	वस्तुपाल	१२५२	१४वाँ सर्ग
९-लक्ष्मीसहस्र	वेङ्कटाध्वरी		२२वाँ स्तबक
१०-कंसवध	मोहनभट्ट		३०वाँ चित्र सर्ग
११-दिग्विजयमहाकाव्य			७वाँ सर्ग
१२-रुक्मिणीहरण	हरिदास	१९००	१५वाँ सर्ग
१३-जयपुरवैभव	मथुरानाथ	"	अभिनन्दनवीथी

स्वतन्त्रकाव्य

१-चित्रबन्ध-काव्य	दामोदरशास्त्री'	
२-चित्रकाव्यकौतुक	रामरूप पाठक	
३-चित्रमञ्जूषा	गङ्गाधरकवि	नागपुर युनिवर्सिटि लायब्रेरी सीरियल नं० ६७४।१०६८ सब्जैक्ट जी ११
४-चित्रबन्धरामायण	वेंकटेश्वरकवि	सरस्वती महल, तञ्जौर
५-बन्धकौमुदी	श्री नरसिंह	नागपुर युनि.ला. १२२६।१थ७३ जी १२
६-सारस्वतशतक	श्री श्रीजीवन्यायतीर्थ	कलकत्ता विश्वविद्यालय
७-जिनशतक स्तुतिविद्या	समन्तभद्राचार्य	वीरसेवामन्दिर, दिल्ली
८-पद्यामृत-सरोवर		

स्त्रोत्रकाव्य

१-ईश्वर शतक	अवतार कवि	काव्यमाला ६ गुच्छ
२-विज्ञप्ति-त्रिवेणी	जयसागर उपाध्याय	
३-स्तुतिकुसुमाञ्जलि	जगद्धर	चौखम्बा सं० सी० वाराणसी
४-श्रीविष्णुचरितामृत	स्वामी लक्ष्मण शास्त्री	
५-नाम-विलास	साहिब कौल काश्मीरी	अड्यार लायब्रेरी, मद्रास
६-प्रश्न-शतक	जिनवल्लभ	
७-रासपञ्चाध्यायी	सम्पादक डा. रसिकबिहारी जोशी	
८-देवीशतक	आनन्दवर्धनाचार्य	
९-पञ्चजिनहारबन्धस्तव	श्री कुलमण्डल सूरि	
१०-गायत्री-लहरी	डा० रुद्रदेव त्रिपाठी, साहित्यसंवर्धन संस्थान मन्दसौर म० प्र०	

११-चन्दप्रभस्वामिस्तवन आदि ।

सप्तम आलोक

[प्रथम अधिकरण]

शब्दालङ्कार के अन्य भेद और उनकी मीमांसा

पूर्व विवेचित शब्दालङ्कारों के छः एवं अन्यान्य उपभेदों की सुदीर्घ परम्परा के अतिरिक्त भी कुछ आचार्यों ने नवीन भेद तथा उपभेदों की चर्चा की है, जिनमें अग्नि-पुराणकार प्रमुख है। यद्यपि वहां किसी विशेष कारण के और विशिष्ट प्रक्रिया के बिना ही उनका उल्लेख है तथापि अग्रिम आचार्यों के मार्ग-दर्शन के लिये उनका बड़ा महत्त्व है। श्रीभोज ने इस दिशा में एक व्यवस्थित पद्धति अपनाई और यथासम्भव शब्दालङ्कार के क्षेत्र में जिन-जिन महत्त्वपूर्ण उपादानों की अपेक्षा रहती थी, उन सबको संकलित कर शब्दालङ्कारों के रूप में स्थापित किया। इतना ही नहीं, एक व्यवस्था उन्होंने और बनाई कि 'शब्द, अर्थ और उभयविध अलङ्कारों में शब्दालङ्कार प्रथम-प्रतिसन्धेय होने के कारण शरीर स्थानीय अर्थात् बाह्य अलङ्कार है और अर्थालङ्कार पश्चादनुसन्धेय होने से आभ्यन्तर है।'

अतः शब्दालङ्कार को प्राथमिकता देकर सर्वप्रथम उसकी जातियों का निर्देश किया है। रामसिंह ने स्पष्ट किया है कि 'शब्दालङ्कारजातयः शब्दालङ्कार-सामान्यानि' इस दृष्टि से जाति का तात्पर्य है - सामान्य। ये जातियाँ चौबीस हैं किन्तु हमने पूर्वापर-विमर्श को ध्यान में रखकर अनुप्रास, यमकादि छः शब्दालङ्कारों का विस्तृत विवेचन पहले किया है। यहाँ शेष अलङ्कारों का सामान्य परिचय दे रहे हैं, जो इस प्रकार है—

१- जाति—संस्कृत-प्राकृतादि भाषाओं के औचित्य को ध्यान में रखकर की जाने वाली रचना में 'जाति' नामक शब्दालङ्कार होता है। तथा इसके '१- शुद्धा, २- साधारणी, ३- मिश्रा, ४- सङ्कीर्णा, ५- अनन्यगामिनी और ६- अपभ्रष्टा, ये छः भेद होते है। इनमें शुद्धा के ६ उपभेद और साधारणी के ५७ उपभेद विशेष हैं।

२- गति—यहाँ गति से तात्पर्य है पठन-पद्धति अथवा एक पद से अन्य पद की ओर सञ्चरण। अर्थात् पद्यादि के पठन के समय ह्रस्व-दीर्घ-द्रुत-विलम्बित आदि की प्रक्रियाओं में किसी निश्चित क्रम का अनुसरण करना। इसके १- द्रुता, २- विलम्बिता, ३- मध्या, ४- द्रुतविलम्बिता, ५- द्रुतमध्या और ६- मध्या ये छः भेद होते है और यह १- पद्य, २- गद्य, तथा ३- मिश्ररूप में वाणी का अलङ्कार मानी गई है।

३- **रीति**—दण्डी से प्रारम्भ होकर सर्वत्र प्रसार को प्राप्त वैदर्भी आदि से यह अभिन्न है ।

४- **वृत्ति**—जो भरतादि सम्मत नाट्यवृत्तियाँ हैं वे ही यहाँ शब्दालङ्कार मानी गई हैं । चित्त का वर्णन अर्थात् चित्त में भावातिरेक का उत्पादन इसका कार्य है । इसके १- कैशिकी, २- आरभटी, ३- सात्त्वती, ४- मध्यमारभटी, ५- मध्यम कैशिकी और ६- मध्यमसात्त्वती नामक ६ भेद हैं ।

५- **छाया**—अग्निपुराण में यह सर्वप्रथम शब्दालङ्कार है । वहीं इसके १-लोकोक्ति, २- छेकोक्ति, ३- अर्भकोक्ति और ४- मत्तोक्ति ऐसे चार भेद किये है, जिनमें भोज ने १- उन्मत्तोक्ति और २- प्रौढोक्ति नामक दो भेद और बढ़ाकर छः भेद दिखलाये है ।[1]

३- **मुद्रा**—यह भी अग्निपुराण में द्वितीय शब्दालङ्कार है । मुद-हर्ष-प्रदायी होने से इसे मुद्रा कहते है । इसके १- पद, २- वाक्य, ३- विभक्ति, ४- वचन, ५- समुच्चय और ६- संवृति नामक ६ भेद होते हैं ।

७- **उक्ति**—अग्निपुराण स्वीकृत इसके ६ भेदों में १- विधि, २- निषेध, ३- नियम ४- अनियम, ५- विकल्प तथा ६- परिसंख्या की गणना है । भोज ने अनियम के स्थान पर 'अधिकार' को स्थान दिया है ।

८- **युक्ति**—परस्पर प्रयुज्यमान शब्द अथवा अर्थ की योजना को युक्ति कहते हैं । इसके १- पद, २- पदार्थ, ३- वाक्य, ४- वाक्यार्थ, ६- प्रकरण और प्रपञ्च ये ६ भेद अग्निपुराण ने दिये हैं । भोज ने प्रपञ्च के स्थान पर 'प्रबन्ध' माना है ।

९- **भणिति**—यह सर्वप्रथम भोज द्वारा ही प्रस्तुत हुआ है । यह उक्ति के प्रकार-विशेष पर आधारित है । इसके १-सम्भव, २- असम्भव, ३-विशेष, ४- संवृति, ५- आश्चर्य और ६- कल्पनाभणिति नामक ६ भेद किये हैं ।

१०- **गुम्फना**—अग्निपुराण में शब्दार्थ के क्रम को ध्यान में रखकर की जाने वाली रचना में इस अलङ्कार की स्थिति मानी है । और १- शब्दसाम्यकृता, २- अर्थसाम्य-कृता और ३- स्वाभाविकक्रमकृता ऐसे तीन भेद भी दिये हैं, जबकि भोज ने १- पर्यायकृता २- पदकृता और ३- वाक्यकृता ऐसे तीन प्रकार और बढ़ाकर ६ की संख्या पूर्ण की है ।

११- **शय्या**—अग्निपुराण में मुद्रा को ही शय्या का नाम दिया है किन्तु भोज इसे स्वतन्त्र अलङ्कार मानते हैं तथा इसके १- प्रक्रान्तघटना, २- अप्रक्रान्तघटना, ३- अति-

---

१- रामसिंह ने—'लोक में बिम्ब-प्रतिबिम्ब की चमत्कारिता के आधार पर अनुकरण को ही छाया कहा है ।'

क्रान्तघटना, ४- पदघटना, ५- वाक्यघटना और ६- प्रकीर्णघटना नामक ६ भेदों का निर्देश करते हैं।

१२- **पठिति**—अर्थविशेष के लिए काकुस्वर, पदच्छेद, अभिनय और क्रान्ति के द्वारा की जाने वाली पाठ-प्रक्रिया को भोज ने 'पठिति' कहा है। इसके १- काकु, २- स्वर, ३- पदच्छेद, ४- पदभेद, ५- अभिनय और ६- क्रान्ति नामक ६ भेद किये हैं। यहीं रामसिंह ने —'एकार्थप्राप्ति के आधार पर अन्यार्थ प्राप्ति के लिये किये जाने वाले उच्चारण - विशेष अथवा पद्धति-विशेष को पठिति कहा है। यहीं भोज ने अन्य आचार्यों का स्मरण करते हुए 'पद, पदार्थ और भाषा आदि के द्वारा पूर्वोक्त सूक्त के अन्यथाकरण को पठिति मानने की सूचना भी दी है।' रुय्यक, राजशेखर आदि ने भी इस पर भिन्न २ दृष्टि से विचार किया है।[1]

१३- **वाकोवाक्य**—अग्निपुराण में 'उक्ति-प्रत्युक्ति' वाले वाक्य को वाकोवाक्य कहा है। भोज–'बहुत व्यक्तियों के समुदाय में दो वस्तुओं की इच्छित उक्ति-प्रत्युक्ति को वाकोवाक्य मानते हैं। अग्निपुराण में १- अप्रश्नऋजु, २- प्रश्नपूर्वक ऋजु, ३-भङ्गिमापूर्वक वक्रोकित और ४- काकुवक्रोकि ऐसे चार भेद किये हैं जबकि भोज— १ ऋजूक्ति, २- वक्रोक्ति, ३- वैयात्योक्ति, ४- गूढोक्ति, ५- प्रश्नोत्तरोक्ति और ६- चित्रोक्ति ऐसे ६ भेद मानते हैं।

१४- **अध्येय**—जिसकी विधि और निषेध में व्युत्पत्ति ही कारण हो, उसे 'अध्येय' कहते हैं। भोज ने इसके भी ६ भेद क्रमशः १- काव्य, २- शास्त्र, ३- इतिहास, ४- काव्य-शास्त्र, ५- काव्येतिहास और ६- शास्त्रेतिहास माने हैं।

१५- **श्रव्य**—केवल श्रवण सुखदायी काव्य ही श्रव्य है। इसके भोज ने १- आशीः २- नान्दी, ३- नमस्कार, ४- वस्तुनिर्देश, ५- आक्षिप्तिका तथा ६- ध्रुवा नामक ६ भेद किये हैं।

१६- **प्रेक्षण (दृश्यकाव्य)**—आङ्गिक प्रयोग-सम्पाद्य, वाचिकादि क्रिया से रहित तथा नर्तकों द्वारा अभिहित रचना को 'प्रेक्षण' कहते हैं। इसके १-लास्य, २-ताण्डव, ३-छलिक, ४-सम्पा, ५-हल्लीसक और ६-रास ऐसे ६ भेद होते हैं।

१७- **अभिनेय**—भोज ने 'अभिनेय' को शब्दालङ्कार का चौबीसवाँ भेद बताकर १- आङ्गिक, २- वाचिक, ३- सात्त्विक ४- आहार्य, ५- सामान्य और ६- चित्र, ऐसे ६ भेद किये हैं।

१८- **क्रम**—रुय्यक ने इस अलङ्कार को स्वीकार किया है, जिसे हमने क्रियानुप्रास और कारकानुप्रास में स्थान दिया है। भोज ने इसको उभयालङ्कार माना है।

१- द्रष्टव्य—साहित्यमीमांसा—रुय्यक तथा काव्यमीमांसा—राजशेखरादि।

१९- दीपक—रुय्यक ने वहीं 'दीपक' को भी शब्दालङ्कार ही माना है तथा उसमें तर्क दिया है कि 'यद्यपि यह उपमागर्भित है फिर भी इसमें शब्द-निवेश की प्रधानता रहने से इसे शब्दालङ्कार मानना चाहिये ।'[1] किन्तु यह सर्वत्र अर्थालङ्कार ही में मान्य है । केवल भोज ने इसे उभयालङ्कार में परिगणित किया है ।

[द्वितीय अधिकरण]

छन्द : एक शब्दालङ्कार

शब्दालङ्कार की वृद्धि में कविवरों ने जो-जो अभिनव-प्रयोग किये, उनमें छन्दों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है । वैसे काव्य की वास्तविक उद्भूति छन्द के ही आधार पर मुखरित होती रही है । 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इस वाक्य में भी यही तत्त्व निहित है । भाव कैसे भी हों, गीतिमत्ता के आवरण से पुरस्कृत करने पर वे हृदयग्राही बन जाते हैं । गीतिमत्ता छन्द की आधारभित्ति है । किसी कवि ने गान-सरस्वती की प्रशंसा में गंगा और सरस्वती को भी न्यून कहा गया है ।[2]

छन्द की व्युत्पत्ति 'छादनाद् छन्द इत्याहुः' की जाती है छाद्यते, छन्द्यते वाऽनेनेति छन्दः यह व्युत्पत्ति निरुक्तकार ने की है तथा व्याकरण चन्द्यतेऽनेनेति छन्दः यह व्युत्पत्ति करता है, और अर्थ हैं आनन्दकारी आच्छादनकारी, अभिप्राय-वाहक ऋजुमार्ग आदि । छन्द एक प्रकार का रागमय सांचा है, जिसमें बिठाये गये शब्द अभिनव-माधुरी से ओतप्रोत हो जाते हैं वर्ण और शब्द के वैचित्र्य से धूप-छाँव का रूप धारण कर छन्द अन्तर और बाहर में झङ्कृत होता रहता है । कवि और चित्रकार इसी झंकृत रेखा और वर्णमाला के वरमाल्य से भावों को बाँध-२ कर रूप में रस और रस में रूप प्रदान करते हैं । आचार्य दण्डी का कथन है कि — वह छन्दःसम्बन्धीः विद्या गम्भीर काव्य-सागर में डुबकी लगाने वालों के लिये नौका के समान हैं । संस्कृत-साहित्य में कुछ ऐसे छन्द हैं जिनमें अनुप्रास आदि कतिपय शब्दालङ्कार अनिवार्य रहते हैं जैसे—भुजंग-प्रयात, पञ्चचामर, अश्वघाटी आदि ।

इनके अतिरिक्त भी अनेक रसप्रवाही छन्द ऐसे हैं जिनमें शब्दालंकार का सहयोग नहीं रहे, तो वे नितान्त शुष्क एवं अनुचित प्रतीत होते हैं । यही कारण है कि उत्तर काल

१- कविभिर्दीपकं प्रोक्तमन्यत्राप्यनुषञ्जनम् । अस्योपमागर्भित्वेऽपि शब्दनिवेशकेशनिबन्धनं शब्दत्वम् । साहित्यमीमांसा ।

२- यथा नयति कैलासं न गङ्गा न सरस्वती । तथा नयति कैलासं नगं गान-सरस्वती ।।

के छन्दों में अन्त्यानुप्रास-जिसे तुक कहा जाता है-आवश्यक हो गया है। कवित्व एवं गीति-काव्यों में यह प्रणाली अत्यधिकरूप से प्रयुक्त हुई है।

इसके अतिरिक्त विविध आवर्तनों की मनमोहक-प्रणाली और श्रवण-माधुरी से मिश्रित छन्दगत योजनाओं ने यमक जैसे शब्दालङ्कार के सभी-प्रभेदों को प्रभावित करते हुए अनेक नवीन मार्गों का संकेत भी दिया है, जिसके आधार पर उत्तर काल के आचार्यों में भी इसका आश्रय अनिवार्य माना जाने लगा। ऊपर दिखलाये गये उदाहरणों में सर्प की गति और घोड़े की दौड़ को लक्ष्य में रखकर की गई शब्द-योजना अवश्य ही हृदय-ग्राही बन गई हैं। और यह भी स्पष्ट है कि शब्दालङ्कार के विनियोग से उक्त छन्दों की स्वाभाविक गेयता और रागात्मकता पल्लवित हो उठी है। सम्भवतः छन्द के इन्हीं गुणों पर आकृष्ट होकर महिमभट्ट ने' 'व्यक्तिविवेक' के द्वितीय विमर्श में स्पष्ट कहा है कि—**छन्दसोऽपि शब्दालङ्कारत्वम्'** तथा वहीं' द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य' इस पद की चर्चा करते हुए विवेचन किया है कि—' छन्द का उद्देश्य है—' श्रव्यता' अर्थात् श्रुतिसुखदता, कानों को प्रिय लगना। उसी के आधार पर परिपक्व कान वाले श्रोताओं ने वसन्ततिलका आदि वृत्त के अन्त में गुरु अक्षर लाने का नियम नहीं माना है। इसीलिये हमने यमक और अनुप्रास आदि (शब्दालंकारों) के समान ही छन्द को भी शब्द का अलंकार माना है[1]।

वस्तुतः इस ओर अन्य आचार्यों ने ध्यान ही नहीं दिया है। अन्यथा, भावग्रथन के लिये कवि मात्रा और लय के सहयोग से वर्णों को विविधरूप में प्रस्तुत करते हुए भी छन्द में वर्णसाम्य, वर्णमैत्री, शब्दशय्या, अन्त्यानुप्रास आदि की ओर सदा जागरूक रहा है। अतः महिमभट्ट की इस उक्ति को अवश्य ही महत्त्व मिलना चाहिये।

राजशेखर ने बारह काव्यार्थ योनियों का निर्देश करते हुए श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणादि के भावों को' उचितसंयोग, योक्तृसंयोग, उत्पाद्यसंयोग तथा संयोगविकार' के द्वारा काव्यगुम्फन का मार्ग दिखलाया है[2]। इसी प्रणाली को आधार मानकर साहित्य-कारों ने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है। आदिकाव्य—' वाल्मीकिरामायण' की कथा को उपजीव्य मानकर नवीन छन्दों के परिवेश में उतार कर कवियों ने 'रामायण' के विविध ग्रन्थ प्रस्तुत किये हैं, जिनमें कथा के अतिरिक्त अन्य शब्दालङ्कार-जन्य चमत्कारों का भी पूर्ण उपयोग हुआ है।

इसी प्रकार 'महाभारत' की कथाओं के आधार पर तथा अन्य पुराणों की कथा-सम्पत्ति के सहारे ही संस्कृत-साहित्य का विशाल भवन खड़ा है।

१...तस्यः छन्दसः श्रव्यतामात्रलक्षणत्वात् - तदपेक्षयैव वसन्ततिलकादाविव गुर्वन्ततानियमस्य सकर्णकैरत्राप्यनादृतत्वात्। अतएव यमकानुप्रासयोरिव वृत्तस्यापि शब्दालङ्कारत्वमुपगतस्माभिः। व्यक्तिविवेक. पृ० २३५।

२--द्रष्टव्य—'कविरहस्य में अष्टमाध्याय का प्रारम्भ'। काव्यमीमांसा।

छन्दों के आधार पर सूत्ररूप में कथित विचारों का विस्तृत-छन्दों में परिष्कार करने की पद्धति वैदिक काल से चली आई है। स्तुति-साहित्य में यह प्रवृत्ति और भी अधिक विस्तृत हुई और एक ही देव की स्तुति अनेक छन्दों में करने का मार्ग खुल गया। इधर लेखन एवं मुद्रण-सामग्री के अभाव में ग्रन्थ को कण्ठस्थ रखने की आवश्यकता ने छन्दो-बन्ध को पूर्ण प्रोत्साहन दियां। फलतः व्याकरण के सूत्र और उदाहरण, शब्दों का संग्रह, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि सभी विषय छन्दों में उतरे और गद्य काव्यों को भी छन्दों में उतारने का आर्ष-पुरुषार्थ हुआ। आज तो गद्य साहित्य की तुलना में छन्दोनिबद्ध साहित्य ही अधिक है।

कवित्व का अर्थ ही छन्दोमयी वाणी में बोलना समझा जाता है। मध्यकाल में उपासना के बल पर आशुकवित्व प्राप्त करके विद्वानों का राजसभाओं में पहुँचना और अपनी प्रतिभा से धारावाहिक उदात्त काव्य का निर्माण करना नितान्त अनुशंसनीय रहा है।

रूपदेव कृत 'स्तवमाला' में जिन नवीन-नवीन छन्दों की उद्‌भावना करते हुए शब्दालंकार से परिपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत हुए हैं, वे वस्तुतः छन्द और अनुप्रास-यमकादि शब्दालंकारों का तादात्म्य सिद्ध करते है। जैसे :—

१- सम्मदजनक, २- सौरीभटचर, ३- गुरुमध्या, ४- चञ्चल, ५- अलोला तथा हरविजय महाकाव्य के, ६- नन्दिमुखी, विश्वगुणादर्श का ७-शुभकामी, श्री चक्राक्षर-नक्षत्र-माला में प्रयुक्त ८-चञ्चला आदि अपनी आन्दोलन-माधुरी से श्रोता और वक्ता के हृदय में जो आनन्द उत्पन्न करते हैं वह शब्दालङ्कार के बिना सर्वथा नीरस नहीं बनेगा तो और क्या होगा ?

इसी कारण 'छन्दोरचना' में माधवराव पटवर्धन ने छन्दोगत आवर्तनों का विभाग दिखलाते हुए १–हरावर्तनी (पंचमात्रात्मक), २–भृङ्गावर्तनी (षण्मात्रात्मक) ३–अग्न्यावर्तनी (सप्तमात्रात्मक) तथा ४–पद्‌मावर्तनी (अष्टमात्रात्मक) आदि बार-बार के आवर्तनों से उत्पन्न श्रुतिसुखदता के पोषक छन्दों का विभाजन किया है। ऐसे छन्दों में भुजंगप्रयात, अमृतध्वनि, और अश्वघाटी आदि हरावर्तनी में, प्रमाणिका, पंच-चामर,समानिका, चञ्चला और शुभकामी आदि भृङ्गावर्तनी में, मधुमती, हलमुखी, मञ्जुघोषा और शशिकला आदि अग्न्यावर्तनी में तथा विद्युल्लेखा, प्रमिताक्षरा, विद्युन्माला, तोटक. दोधक आदि पद्‌मावर्तनी में संस्कृत साहित्य के सुपरिचित छन्द हैं [1]।

छन्दो-विधान और चित्रालङ्कार—अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों की छटा को उभराने में तो छन्दों का सहयोग रहा ही है चित्रकाव्य की सृष्टि में भी छन्दों का पर्याप्त सहयोग रहा है, तदर्थ तत्सम्बन्धी कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

१—द्रष्टव्य-छन्दोरचना, पृ० ११० से २०६ ॥

एक छन्द से उसी के समान द्वितीय छन्द का निर्माण--आचार्य रुद्रट ने काव्यालङ्कार के पाँचवे अध्याय में अनुलोम, विलोम और विपर्यस्ताक्षर पाठ द्वारा एक श्लोक से उसी छन्द में दूसरे छन्द की उत्पत्ति का उदाहरण इस प्रकार दिया है:-

समरणमहितोया यास्तनामारिपाता, वनरतिसरमाया वानरा मापसारम् ।
अमरततवरालीमानमासाद्य नेद्रू, रणमहिमतताशा धीरभावे सिराते ॥ २२ ॥

इस श्लोक में एक अक्षर के व्यवधान से और दो-दो के विपर्यस्त पाठ से यह श्लोक निकलता है:-

सरमण हिमतोयापास्तमानारितापा, वरनतिरसमावा यानमारा परं सा ।
अरमत बत रामालीन सामाद्य दूने, रमण हितमताधी शारवे भासितेरा ॥ २३ ॥

इस पद्य में **सम, महि पाता** आदि अक्षरों का विपर्यस्त पाठ हुआ है । तथा छन्द में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है ।

एक छन्द से दूसरा भिन्न छन्द निर्माण–पद्यामृतसरोवर के चित्राख्यान-तरङ्ग में स्तुति-विपर्यय के लिए तीन-तीन अक्षरों को छोड़कर पढ़ने से द्वितीय पद्य की उत्पत्ति करने वाले पद्य का उदाहरण इस प्रकार दिया है:-

विश्वस्य हेतुरमरैर्बहु गीयसे त्वं, विश्वम्भरेशवशिवे त्रिगुणात्ममूर्ते ।
चिद्व्योमतोऽपि परमां प्रथमं वदन्ति त्वां योगिनः स्तुतिपदाः प्रणिधान-
—दृष्ट्या ॥

यह वसन्ततिलका छन्द में निर्मित दुर्गास्तुति का पद्य है। इसमें प्रतिचरण के क्रमशः छः, सात और आठ संख्यावाले अक्षरों को न्यून कर देने से इन्द्रवज्रा छन्द में शिवस्तुति का निम्न पद्य बन जाता है ।

विश्वस्य हेतुर्बहुगीयसे त्वं, विश्वम्भरेश त्रिगुणात्ममूर्ते ।
चिद्व्योमतोऽपि प्रथमं वदन्ति, त्वां योगिनस्तु प्रणिधानदृष्ट्या ॥

एक छन्द से दो अन्य भिन्न छन्द निर्माण–अमरचन्द्र ने 'काव्यकल्पलता' में वृत्तचित्र का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसमें एक पद्य से तीन पद्य बनते हैं:-

नतनाकिमौलिमणिमण्डली विभाभर भासुरांघ्रिसरसीरुहानना ।
तव शर्मणे भवतु भारती भृशं दृढजाड्यखण्डन-दिनेशमाततिः ॥
—पृ० १०४ ॥

यह मञ्जुभाषिणी छन्द में निर्मित है । इसके प्रतिचरण से दो दो आद्याक्षरों को कम कर देने से रथोद्धता छन्द का निम्न पद्य बनता है—

नाकिमौलिमणिमण्डलीविभा-भासुरांघ्रिसरसीरुहानना ।
शर्मणे भवतु भारती भृशं, जाड्यखण्डनदिनेशमाततिः ॥

तथा प्रतिचरण के अन्त में दो-दो अक्षरों का त्याग किया जाए तो वह नन्दिनी-वृत्त का पद्य होगा। यदि आदि और अन्त्य के प्रतिचरणगत दो-दो अक्षरों का त्याग किया किया जाए तो भद्रिकावृत्त का पद्य बन जायगा[1]।

एक छन्द से पाँच पद्य रचना—स्वामिमहेश्वरानन्द सरस्वती ने 'कामधेनु' के रूप में एक पद्य दिया है, जिसमें क्रम से दो, व्युत्क्रम से दो तथा अन्य अक्षर त्याग द्वारा एक आर्या की उत्पत्ति होती है। यथा :–

यो गंगामुददीधरद्रसमसौ पुष्णाति तीर्थेश्वरो,
हारं रूपमुपर्यधः परमिदं धत्तेऽग्रणीर्देवता।
दीव्यद्गौरगुणाभ्रसिन्धुरमराधीशार्चितांघ्रिः सुमा,
मांगल्यंतनुतां शिवान्वितततनुः सर्वज्ञ शक्तिः श्रिया ॥ ३५ ॥
(आशीर्वचन पद्य, चित्रकाव्यकौतुक पृ० ६ ॥)

इस पद्य के कतिपय अक्षरों का चयन करके निम्न दो अनुष्टुप् पद्यों का निर्माण इस प्रकार किया है:–

गंगारसमसौ धत्तेऽग्रणीर्गौरगुणामरा। ईशार्चितांघ्रिर्मंगल्यं तनुतां तनुतां शिवा ॥१॥
तीर्थेश्वरो रूपमुपर्यधो धत्तेऽग्रदेवता। अभ्रसिन्धुमराधीशार्चितांघ्रिस्तनुतां शिवा ॥ २ ॥

इसमें पद्य के चरणों से क्रमशः अक्षर चयन हुआ है। जबकि नीचे लिखे पद्यों में व्युत्क्रम अक्षर-चयन हुआ है—

सर्वज्ञशक्तिस्तनुतां मांगल्यं रामदेवता ॥ धत्ते परं रूपहारमसौ रसमदीधरत् ॥१॥
श्रिया शक्तिवितनुतां, मां सुमा गौरदेवता। धत्ते परमिदं रूपं हारं पुष्णात्यसौ रसम् ॥ २॥

तथा आर्या-छन्द की उत्पत्ति निम्न प्रकार से की है।

गंगामुद् रसहारं रूपं धत्तेऽग्रणीर्दीव्यत्।
गौरगुणाधीशार्चिस्तनुतां वितनुर्ज्ञशक्तिः श्रीः ॥ १ ॥

एक पद्य से विविध छन्दों में इक्कीस पद्यों की रचना—पट्टवर्धन महादेवभट्ट ने 'कवीन्द्रचन्द्रोदय' में एक पद्य से विविध छन्दों में इक्कीस पद्यों की रचना करने के लिए इस पद्य को प्रस्तुत किया है :–

मोदस्वारं धरायां प्रविततसुयशाः सर्वसम्पत्तिर्भूः।
श्रीमान् धीमान् गुणाढ्यः परजितविषयः कौतुकी साहसी त्वाम्।

१—विस्तारभय से यहाँ और अग्रिम विवेचन में प्रत्येक छन्द से निष्पन्न पद्यों के उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं।

नित्यं प्रीतः प्रसन्नस्त्रिपुरहरगतिः शर्मदः शौर्यवृत्ति–
शिवत्रैः स्तोत्रैः पवित्रैः सुकृतकृतमतिर्वत्सरान् भूरिशः सन् ॥

इस पद्य के प्रत्येक चरण के ५-६-७-८ अक्षरों को छोड़कर पढ़ने से मन्दाक्रान्ता छन्द का पद्य इस प्रकार बन जाता है:–

मोदस्वारं वितत-सुयशाः सर्वम्पत्तिधूर्भूः,
श्रीमान् धीमान् रजितविषयः कोतुकी साहसी त्वाम् ।
नित्यं प्रीतः पुरहरगतिः शर्मदः शौर्यवृत्ति–
शिवत्रैः स्त्रोत्रैः कृतकृतमति र्वत्सरान् भूरिशः सन् ॥

इसका अर्थ भी इसी तरह बदल जाता है तथा क्रमशः शालिनी, भ्रमर-विलसित आदि इक्कीस वृत्तों के इक्कीस पद्य पृथक्-पृथक् अर्थवाले कतिपय अक्षरत्याग द्वारा निकलते हैं अतः यह एक नवीन प्रकार है।

एक पद्य के यतिविच्छेद से सौ पद्यों की रचना-सरस्वतीकण्ठभरण में राजा भोज ने एक ही पद्य के यतिविच्छेद से सौ पद्यों की रचना का निर्देश किया है–

'वन्द्या देवी पर्वतपुत्री नित्यं मधुमधुरकमलवदना पुरन्ध्रयधिदेवता,
देवैः स्तुत्या किन्नरगेया भक्त्या वरचरितमहिषमथनी जगत्त्रयनायिका ।
सिद्धैर्ध्येया केसरियाना काम्या रणचतुररसिकहृदया त्रिलोचनवल्लभा,
धीरैः पूज्या दर्पणपाणिर्नूनं गुणनिलयलटभललिता सतीषु धुरन्धरा ॥

यह यतिविच्छेदिनी श्लोकधेनु कहलाती है तथा छन्दोभेद से सौ अन्य श्लोकरूपी बछड़ों को जन्म देती है उदाहरण के लिए निम्न पद्य दर्शनीय है[1] :–

वन्द्या देवी नित्यं, देवैः स्तुत्या भक्त्या ।
सिद्धैर्ध्येया काम्या, धीरैः पूज्या नूनम् ॥

यह 'जाति' छन्द प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ यति के ग्रहण से बना है।

पर्वतपुत्री मधुमधुरकमलवदना, किन्नरगेया वरचरितमहिषमथनी ।
केसरियाना रणचतुररसिकहृदया, दर्पणपाणिर्गुणनिलयलटभललिता ॥

यह सुप्रतिष्ठा छन्द का भेद है। इसी प्रकार गायत्री, उष्णिक् आदि छन्दों में अन्य पद्य बनते हैं।

१—यतिविच्छेदिनी ह्येषा श्लोकधेनुरनुत्तमा ।
छन्दोभेदाच्छतमियं प्रसूते श्लोकतर्णकान् ॥ स०क० २ परि० ११७ ॥

एक पद्य के पद विच्छेद से सहस्त्र पद्यों की रचना—पदविच्छेद करने से एक हजार श्लोकों को विविध छन्दों में प्रसूत करने वाली सहस्त्रधेनु की रचना सुधाकलशनामक छन्द के निम्न पद्य में हुई है[1]:-

नखमुखमणिकण्ठचिकुरैर्गतिभिः सहसा स्मितेन ललितेषु दृशा,
मणिशशिपद्मकम्बुचमराः करिणः सुतनोः सुधा च हसिता हरिणाः ।
फणिगणसिद्धिसाध्यदयिता न समाः सकलास्त्वया च स्वभुवच्छलिताः,
तव बलदर्परूपविजिता नितरां विबुधाश्चिराय चतुरैश्चरितैः ॥

इस छन्द के प्रत्येक पाद में छः पदों का विधान है। इन छः पदों से तीन-तीन पद लेकर पढ़ने से सत्रह अक्षरों की जाति बनती है और उसमें प्रस्तार रचनाक्रम से एक सहस्त्र पद्य बन जाने का संकेत किया है।

एक पद्य के पद-विच्छेद से दस हजार पद्यों की रचना—इसी प्रकार अयुतधेनु का पद्य केवल क्रियाओं के द्वारा निर्मित इस प्रकार है:—

क्रिये जयसि जृम्भसे सृजसि जायसे त्रायसे,
स्तुषे मृषसि मृष्यसे हृषसि पीयसे प्रीयसे ।
स्तुषे मृडसि होडसे कुटसि गल्भसे क्लीबसे,
ह्लुषे हरसि रज्यसे रजसि राजसे भ्राजसे ॥ ३४१ ॥

यह भी पदविच्छेदिनी धेनु सम्बोधन के अनुगामी चार पदों को ग्रहण करके देखने पर ग्यारह अक्षरों वाली जाति बनती है और फिर प्रस्तारभेद के द्वारा दस हजार श्लोकों को जन्म देती है[2]।

एक पद्य के विभिन्न विच्छेदों से तीन लाख साठ हजार तथा दस लाख पद्यों की रचना—सम्बोधन के पदों की संयोजना से बने निम्नलिखित स्रग्धरा छन्द वाले पद्य से तीन लाख साठ हजार अन्य नवीन पद्यों की प्राप्ति होती है—

दुर्गे भद्रेऽप्सुभद्रेऽदिति सुरभिदिते सैंहिके गौरिपद्मे ।
नित्ये हृद्ये वरेण्ये कलिकमलिकले कालिके चण्डि चण्डे ।
धन्ये पुण्ये शरण्ये शचि शबरि शिवे भैरवे राज्ञि सन्ध्ये ।
छाये माये मनोज्ञेऽवनि जननि जये मंगले धेहि शं नः ॥ ३४२ ॥

और अन्त्यपदभेद, संभ्रम, द्विरुक्ति आदि प्रक्रियाओं के आधार पर यही पद्य दस

१—पदविच्छेदिनी ह्येषा श्लोकधेनुरनुत्तमा ।
छन्दोभेदाद्दशशतं प्रसूते श्लोकतर्णकान् ॥ वहीं । तथा उपर्युक्त पद्यों की टीका रामसिंह पृष्ठ २९०

२—एषा तु पदविच्छेदिन्येव धेनुः क्रियापदे ।
सम्बोधनाग्रैर्दृष्टास्माभिः श्लोकायुतप्रसूः ॥ वहीं । ११९

लाख पद्यों का जनक भी माना गया है[1]। इसी को प्रयुतधेनु भी कहते हैं।[1]

एक पद्य से करोड़ तथा साढ़े तीन करोड़ पद्यों की रचना—कोटिधेनु के प्रस्तुत पद्य से साढ़े तीन करोड़ पद्यों की सृष्टि तथा सम्भ्रम, द्विरुक्ति आदि प्रक्रियाओं से दस करोड़ पद्यों का उद्गम अवश्य ही आश्चर्य का विषय है[2]—

स्थूलं दत्से सूक्ष्मं धत्से भुवि भवसि रभसि रमसे रमे दिवि मोदसे,
छिन्त्से बाढं भिन्त्से रुषि मिषसि धनुषि मनुषे जये पुरि जृम्भसे।
स्वल्पं शेषे कल्पं प्रेषेऽचिति चरसि यशसि यतसे चले युधि गल्भसे,
ब्रूषे वामं श्रूषे कामं हृदि विशसि वचसि सचसे रुचे दृशि दृष्यसे॥

दो पद्यों से असंख्य पद्यों की रचना—और चरम-परिणति के रूप में कामधेनु का निम्न उदाहरण दिया है:—

या गीः शी श्रीर्धीः स्त्री ह्रीर्भीर्जूर्मूः स्तूः सूर्धूः पूर्भूः,
स्रुक्स्त्रग्युग्भुग्रुक् शुक् तृट् द्विट् युत् कृत् चिद्विन्मुग्दिग्द्यूः॥ ३४४॥
कृद् दृक्वामा मृत्कृद्भामा मुत्क्षुत्कामा द्वार्द्यौर्गौः।
सामायामा वेधावेधानाधातेत्वं येनौः॥ ३४५॥

इन पद्यों के पदों को क्रम और व्युत्क्रम से ग्रहण करने पर बृहतीजाति से आरम्भ करके प्रतिजाति के पाद में जो विकल्प होते हैं उनके द्वारा उत्तरोत्तर संयोग होने पर परार्ध-परार्ध पद्यों की सृष्टि होती है। इतना ही नहीं, उक्त, अनुक्त चित्रों के सभी भेदों को एकाक्षरादि छन्दों के भेद, गति एवं बन्ध के भेद से यह कामधेनु जन्म देती है। ये अक्षर मन्त्रमय हैं। इनमें ओंकार और 'नमः' पद जोड़कर जप करने से सर्वकामसिद्धि होती है[3]।

१—सम्बोधनैरियं धेनुः, क्लृप्ता सैकक्रियापदैः।
लक्षत्रयं सहस्राणि, षष्टिश्लोकान् प्रसूयते॥१२०॥
एषान्त्यपदभेदेन सम्भ्रमादि-द्विरुक्तिभिः।
यावद् बोधं पुनः सूते, प्रयुतश्लोकतर्णकान्॥ वहीं १२१॥

२—सम्बोधनैर्द्वितीयान्तैः सप्तम्यन्तैः, क्रियापदे।
श्लोककोटिरियं तिस्रः, सार्धा धेनुः प्रसूयते॥ १२२॥
यदा तु सम्भ्रमादिभ्यो भवन्त्यस्या द्विरुक्तयः।
स्थूलादिना तदा चैषां दशकोटीः प्रसूयते॥१२३॥

३—पदग्राह्ययथालाभं कामधेनुरियं तु नः।
परार्धानां परार्धानि प्रसूते श्लोकतर्णकान्॥ १२४॥
एकाक्षरादिच्छन्दोभिर्गतिबन्धादिभेदतः।
उक्तानुक्तानि चित्राणि सर्वाण्येषा प्रसूयते॥ १२५॥
सकृदुच्चारणे चास्या गच्छत्येका विनाडिका।
तत्षष्ट्या नाडिका ताभिः षष्ट्याहोरात्रमृच्छति॥ १२६॥
प्रणवादिनमोन्तानि पदान्यस्या जपन्ति ये।
सर्वभाषासु वाक्तेषामविच्छिन्ना प्रवर्तते॥ १२७॥ इत्यादि, सरस्वतीकण्ठाभरण

उपर्युक्त बन्धों के लेखन की पद्धति गोमूत्रिका के लेखन के समान है। वैसे चित्रभूषण में प्रायः सभी पद्य कोष्ठकों में ही लिखे हुए प्राप्त होते हैं[1]।

कामधेनु बन्ध—के नाम से एक 'देवीस्तोत्र' चित्रभूषण में प्राप्त होता है। इसमें सोलह पद्य मन्दाक्रान्ता छन्द में बने हुए हैं। प्रत्येक चरण के चार चार खण्ड बनाकर एक एक खण्ड को १६×१६=२५६ कोष्ठकों में लिखा जाता है। फिर पढ़ने पर अनेकविध पद्यों की सृष्टि होती है। स्तोत्र का आदिम पद्य यह हैः—

उद्यद्भासां प्रहसितमुखीं बालचन्द्रं दधानां
भक्तौघानां प्रविततकरैर्दर्शयन्तीं सुसिद्धिम्।
सिद्धैर्ध्येयां विमलमतिभिर्योगिगम्यां भवानीं,
वन्दे नित्यं सुरतरुतले विन्ध्यपृष्ठे निषण्णाम्॥ १॥

और अन्तिम पद्य इस प्रकार हैः—

सेवे बालां भजति सुमुखीं शम्भुशक्तिं सुशान्तां,
सर्पाभूषां शमितदुरितां शस्त्रशस्यां यशस्याम्।
शृंगाराढ्यां शशिनतमुखीं शस्यमानां शरण्यां,
शान्ताराति शमदमपुरां शीलनीयां शिवाय॥ १६॥[2]

वस्तुतः यह स्तोत्र छन्दों के निर्माण में एक प्रकार की सावधानी के कारण ही कुछ पदों को कुछ विशिष्ट पद्धति से पढ़ने पर नवीन पद्यों को जन्म देता है। अतः हम इसे भी छन्दों के माध्यम से उद्भूत शाब्दिक-चमत्कार ही मानेंगे। इसी प्रकार आधुनिक कवि दामोदर ने अपने 'चित्र बन्धकाव्य' में एक 'असंख्यपदबन्ध' दिया है वह छन्द और आलेखन-पद्धति में सर्वथा कामधेनुबन्ध के अनुकरण पर ही निर्मित है।

कुछ आचार्यों ने छन्दों के नाम से ही 'चित्रबन्ध' बनाये हैं। ऐसे छब्बीस चित्र हमें 'चित्रभूषण' में प्राप्त हैं। किन्तु उनका मूलस्रोत उपलब्ध न होने से पूरे पद्यों का ज्ञान दुरूह बन गया है। ये छन्द निम्नलिखित हैः—

१—श्री, २—स्त्री, ३—मृगी, ४—पंक्तिः, ५—कन्या, ६—शशिवदना, ७—मधुमती, ८—हलमुखी, ९—प्रमाणिका, १०—शुद्धविराडितम्, ११—उपेन्द्रवज्रा, १२—वंशस्थ, १३—वसन्ततिलका, १४—चर्चरीकावली, १५—मणिगणनिकरा, १६—पंचचामरम्,

---

१—परिशिष्ट में कुछ आकृतियां दी गई हैं।
२—यह स्त्रोत्र पूरे चित्र में लिखित परिशिष्ट में मुद्रित है अतः यहाँ आद्यन्त सूचन ही किया है। परिशिष्ट में पृथक् पूरा स्तोत्र भी दिया है।

१७—(?)[1], १८—कुटकम्, १९—शार्दूलविक्रीडितम्, २०—मत्तेभविक्रीडितम्, २१—चम्पकमाला, २२—महास्रग्धरा, २३—मत्तक्रीडा, २४ (?)[2], २५—क्रौञ्चपदाख्यम् और २६—अभिवादम्।

इन वृत्तबन्धों में से कुछ बन्धों के उदाहरण इस प्रकार हैं :—

१—**श्री—छन्द (त्रिकोण-बन्ध)** एक अक्षर के इस छन्द के तीन चरण त्रिकोण के अन्तर्गत तीन कोष्ठकों में लिखे हैं उन्हीं में चौथा अक्षर श्लिष्ट है जिसे इस प्रकार बीच में रखा गया है कि वह नीचे लिखे दोनों अक्षरों के साथ पढ़ने पर पूर्ण पद्य हो जाता है। यथा :—

हो, मे। भा, मे ॥ १ ॥

इसमें 'मे' अक्षर श्लिष्ट है।

२—स्त्री-छन्द (षट्कोष्ठक-बन्ध)—दो अक्षर के इस छन्द के तीन चरणों को छः कोष्ठकों में लिखा है और दो अक्षर श्लिष्ट हैं जिन्हें ऊपर के दो कोष्ठकों के अक्षरों के विपरीत पठन से प्राप्त करते हैं। यथा :—

सा मा, मा सा। पायाद् देवी ॥ २ ॥

इसमें **सा** और **मा** अक्षर श्लिष्ट हैं।

३—**मृगी-छन्द (अष्टदलकमल-बन्ध)**—तीन अक्षर (रगण) से बने इस छन्द के तीन चरणों को आठ दल और एक कर्णिका में लिखा है। पठनक्रम में दिग्दलों से प्रवेश करते समय कर्णिकाक्षर को सम्मिलित किया जाता है। यथा :—

देवमामेव वा। पावयास्थावरम् ॥ ३ ॥

इसमें कर्णिकाक्षर '**व**' है तथा वह चार बार आवृत्त हुआ है।

४—**कन्या-छन्द (चतुष्पदीबन्ध)**—चार अक्षरों से बने इस छन्द के तीन चरणों को चतुष्कोण, मध्यरेखा और चार कोण के बाहर गोल आकृति में लिखा है। कोणगत चार अक्षर श्लिष्ट होकर दो बार आवृत्त होते हैं। यथा :—

पायादायासाप्तं दृप्तम्। भामेवामे याक्षस्तक्षः ॥ ४ ॥

इसमें '**या प्तं मे** और **क्षः**' अक्षर श्लिष्ट हैं।

५—**शशिवदना-छन्द निष्कर्णिक (षड्दलकमल-बन्ध)**—छः अक्षर के इस छन्द के तीन चरण छः बाह्य पत्रों में तथा छः अन्तर्दलों में लिखे गये हैं। बाह्यपत्रों में दो-दो अक्षर हैं। प्रथम आवृत्ति में बाह्यपत्रगत अक्षरों का पठन करके अन्तःपत्रगत छः अक्षरों में एक-एक अक्षर को श्लिष्ट बनाकर दो बार पढ़ा जाता है। यथा :—

भयकृतिहर्त्री, मदनगतत्त्वा। मदवसुवर्त्मा दमदवसुस्था ॥ ५ ॥

१-२—इन संख्या वाले छन्दों के चित्र तो मिलते हैं किन्तु छन्दों के नाम नहीं लिखे हैं।

इसमें **'मद-वस'** अक्षर श्लिष्ट हैं।

६–**प्रमाणिका-छन्द (निष्कर्णिक-अष्टदलकमल-बन्ध)**—आठ अक्षरों से निर्मित इस छन्द के तीन चरणों को आठ बाह्य-पत्र और आठ अन्त:पत्रों में लिखा गया है। पहले बाह्यपत्र के दो-दो अक्षरों के साथ अन्त:पत्र के एक-एक अक्षर का भी पाठ होता है तथा अन्त में अन्त:पत्र के अक्षरों को एक साथ पढ़ा जाता है। यथा :—

सदा शिवार्थ्यते चला रमा पुनस्तनुक्षरण।
क्षता रसा कथं मया, शितेरसा कथं मया ॥ ६ ॥

इसमें 'क्ष, र, शि, ते, कथं' अक्षर अन्त:पत्रों में अंकित रहकर श्लिष्ट हुए हैं।

७–**उपेन्द्रवज्रा-छन्द (वृक्ष-बन्ध)**—इस छन्द में तीन चरणों को ऊपर से नीचे की ओर उतरते हुए क्रमशः एक, तीन, दो, चार, छः, चार और एक कोष्ठकों से बने वृक्ष में लिखा है। चौथा चरण वृक्ष के शिखर से नीचे उतरते हुए विषम संख्या की शाखा-मूल, विषम शाखा और शिखर में स्थित अक्षरों से पूर्ण होता है। यथा :—

वर्यात्म जीवातुतनुः सुवर्णा, गौरीदया चित्तकलापतायाः।
हृद्विष्टरामर्त्यफला समासा, सा मामपर्णाऽवतु चिद्विलासा ॥ ७ ॥

इसमें **'सा मामपर्णाऽवतु चिद्विलासा'** अक्षर श्लिष्ट हैं तथा उपर्युक्त सभी बन्ध **'गूढचतुर्थपाद'** के उदाहरण भी कहे जा सकते हैं।

इनके अतिरिक्त विविध छन्दों को आधार मानकर लिखी गई स्तुतियाँ और अन्यान्य विषयों के ग्रन्थ भी शब्दालङ्कार की वृद्धि में पूर्ण सहायक हुए हैं क्योंकि उनमें छन्दों को लक्ष्य में रखकर ही पद्य रचनाएँ हुई हैं।

मूल्याङ्कन और उपलब्धि

शब्दालङ्कारों के इन अनतिप्रसिद्ध भेदों में अग्निपुराण और भोज ने ही अधिक मनोयोग दिया है। यदि अग्निपुराण को संग्रह ग्रन्थ ही मान लिया जाय तो उसके निर्मिति-काल से पूर्व ऐसे शब्दालङ्कारों का प्रचलन अवश्य रहा होगा, जो कि कालक्रम से रस और ध्वनि की पर्याप्त प्रभावशालिता एवं जनमानस की तात्कालिक अभिरुचि के कारण ह्रास को प्राप्त हो गये। भोज के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे संख्यावृद्धि और भेदोपभेद के सम्बन्ध में हठवादी प्रतीत होते हैं किन्तु यह बात केवल शब्दालङ्कारों के सम्बन्ध में ही हो, तब ऐसा कहा जाना उचित है, किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित अर्थालङ्कार और उभयालङ्कारों के विवेचन में भी उतना ही विस्तार और सूक्ष्म भेदोपभेदों का विवेचन किया गया है। अतः भोज ने जो भी शब्दालङ्कारों का विमर्श दिया है वह स्वाभाविक है हठप्रतिपादित नहीं। इतना ही नहीं, भोज ने जिन चौबीस शब्दार्थोभयालङ्कारों को अर्थालङ्कारों से पृथक् निकाल कर दिखलाया है, वे अवश्य ही अपने क्षेत्र में परिपूर्ण हैं। शब्दालङ्कारों की इन विविध प्रक्रियाओं का स्वारस्य अर्थालङ्कारों में भी आदर का पात्र हुआ है जिसे हम एकावली, माला आदि में स्पष्ट देख सकते हैं। इसी प्रकार छन्द को

शब्दालङ्कार में स्थान देकर महिमभट्ट ने नवीनदिशा की ओर संकेत किया है। छन्द के माध्यम से कवि की अन्तर्वाणी मुखरित होकर अनेक रूपों में बह निकलती है यह पूर्व-विवेचन से स्पष्ट लक्षित होता है।

छन्द को ही शब्दालङ्कार के अन्यतम भेद चित्रालङ्कार की परिसीमा में आबद्ध कर उत्तरकाल के कवियों ने नवीन-नवीन प्रयोग किये हैं इसका दिग्दर्शन भी हमने यहां करते हुए संक्षेप में दिखलाया है कि किस प्रकार पदयोजनागत चातुर्य के द्वारा एक ही छन्द से अनेक छन्दों का निर्माण करते हुए एक नवीन चित्र-पद्धति को पुरस्कृत किया गया है। इसी प्रकार केवल छन्द को लक्ष्य में रख कर किया गया चित्रबन्धों का निर्माण भी इस दिशा में अपना पूर्ण महत्त्व रखता है।

इस प्रकार शब्दालङ्कारों के उपर्युक्त अनतिप्रसिद्ध भेद तथा छन्द का शब्दालङ्कारत्व शब्दालङ्कार की अभिवृद्धि में सराहनीय है।

उप-संहार

[तृतीय अधिकरण]

शब्दालङ्कारों का परवर्ती भाषा-साहित्य पर प्रभाव

इस प्रकार शब्दालङ्कार के विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गों पर विचार करते हुए संस्कृत-साहित्य के अनेक लक्षण और लक्ष्यग्रन्थों के विमर्श से यह देखा है कि अलङ्कार-साहित्य में अर्थालङ्कार के समान ही शब्दालङ्कार भी अत्यन्त व्यापकता को प्राप्त हुए हैं। यही नहीं, शब्दालङ्कार के सम्बन्ध में ध्वनिवादी, रसवादी और गुण, रीति, वक्रोक्ति आदि विविध वादों के पोषकों द्वारा पद-पद पर वैमत्य उपस्थित किये जाने पर भी वे अपने क्षेत्र में पर्याप्त प्रचार-प्रसार को प्राप्त हुए हैं। इसी-प्रकार शब्दालङ्कारों का परवर्ती अन्यान्य भाषाओं के साहित्य पर भी पूर्ण प्रभाव पड़ा है जिसके परिणाम स्वरूप बहुत से नये-नये रूप-प्रतिरूप भी उनके प्रस्तुत किये गये हैं।

यद्यपि कुछ अंशों में संस्कृत की अपनी क्षमताएँ हैं,मर्यादाएँ हैं और विशेषताएँ हैं, जिनकी समता अन्य भारतीय भाषाएँ हीं नहीं वैदेशिक भाषाएँ भी नहीं कर सकतीं। संस्कृत में दण्डी ने दशकुमारचरित का एक उच्छ्‌वास पूरा ओष्ठ्यवर्णों के बिना पूरा किया। शूर्पणखा की नाक कट जाने पर उसके द्वारा रावण के समक्ष की गई शिकायत को माध्यम बना कर पूरा काव्य निरनुनासिक चम्पू के रूप में लिखा गया। एक अक्षर के प्रयोगों से ही पूरा स्रग्धरा जैसा दीर्घवृत्त बनाया गया। एक अनुष्टुप् के बत्तीस अक्षरों

से विविध गतियों द्वारा पूरी रामायण को एक सौ अट्ठाइस पद्यों की उदभावना कर के कहा गया। एक पद-आठ अक्षर के आठ लाख अर्थों की योजना कर दिखाई गई। पूरे के पूरे ग्रन्थों को एक साथ सात-सात कथाओं का निर्वाह करते हुए पूर्ण किया गया। लोम-विलोमपठन से दो कथाओंको पुरस्कृत किया गया और एक-एक अक्षर के अनेकार्थ तथा क्रियाओं कीव्यवस्था की गई। यह सब विश्व की किसी भी भाषा में कैसे सम्भव हो सकता है?

यही कारण है कि परवर्ती भाषासाहित्य में श्लेष के व्याकरणगत सूक्ष्मतावाले भेद और अन्य महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओं से सम्बद्ध शब्दालङ्कार के भेदों का उपयोग नहीं हो पाया है तथापि जो अनुकरण या अनुरणन हुआ है वह भी अपनी स्थिति में पूर्ण प्रशस्य है, परिप्रेक्षणीय है। जिसका संक्षेप में निदर्शन इस प्रकार है—

: क : प्राकृतादिभाषा-साहित्य और शब्दालङ्कार

यद्यपि विद्वानों में यह निर्णय नहीं हो पाया है कि संस्कृत और प्राकृत भाषा में कौन सी भाषा प्रथम है? तथापि धार्मिक धारणा और वेदों की भाषा के आधार पर संस्कृत का प्रभाव अवश्य पड़ा है। इसी दृष्टि से हम शब्दालङ्कार का इन भाषाओं पर क्या प्रभाव पड़ा और उसमें कैसी प्रगति हुई इस सम्बन्ध में संक्षिप्त विवेचन करेंगे। प्राकृत साहित्य के प्राचीन महाकाव्य सेतुबन्ध में प्रवरसेन (५ वीं शती) ने रामकथा का वर्णन करते हुए अनुप्रास, यमक और श्लेष को मुख्यता दी है। सन् ८५८ में जयसिंह सूरि ने धर्म्मोपदेशमाला विवरण की रचना की। ये अलङ्कारशास्त्र के पण्डित थे। अतः इस ग्रन्थ में उन्होंने अनुप्रासादि के अतिरिक्त चित्रकाव्य के भेदों में आये हुए प्रश्नोत्तार, पादपूर्ति, वक्रोक्ति, गृढोक्ति आदि के भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं. और पुष्पचूला की कथा में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची और मागधी भाषा में मध्योत्तर, बहिरुत्तर, एकालापक, गतप्रत्यागत नामक प्रश्नोत्तरों का प्रयोग किया है। यथा—

कां पाति न्यायतो राजा विश्वसा बोध्यते कथम्।
टवर्गे पंचमे को वा राजा केन विराजते॥
धरणेंदो कं धारेह केण व रोगेण दोव्बला होंति।
केणव रायह सेमान, पडिवयणं कुंजरेणेति॥

यहां संस्कृत और प्राकृत दोनों का एक ही उत्तर 'कुंजरेण' कहा गया है तदनुसार १ कुं पृथिवीं, २-जरेण—वृद्धेन, ३-ण, ४-कुंजरेण, ५-कुं, ६-जरेण वृद्धावस्थया, ७-कुंजरेण इसी प्रकार जिनेश्वर सूरि के शिष्य घनेश्वर सूरि(सन् १०३८)ने 'सुर-सुन्दरी-चरिय' लिखा, जिसमें क्रीडा विनोद के अवसर पर प्रश्नोत्तर-चित्र का उपयोग किया गया है। संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत में एक और सौविध्य है कि यहाँ जो प्राकृत शब्द होता है उसके संस्कृत रूप दो तीन प्रकार के हो सकते हैं जिससे अर्थ में अनेकरूपता आ जाती है। यथा अनेक प्रश्नों का एक उत्तर ससंक देने पर ससं-का संस्कृतरूप शशं और सशं होता है। हेमचन्द्र (१२ शती के आरम्भ में) ने द्वयाश्रय काव्य की रचना की। जिस में कुमारपाल का चरित्र

और सिद्धहेमव्याकरण के नियमों का ज्ञापन किया है और उसी के द्वितीय भाग में प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची और अपभ्रंश के व्याकरण का समन्वय श्लेष अलङ्कार की पूर्ति करता है। यथाः—

यहां कुमरपाल के वर्णन के साथ ही युष्मद् शब्द की प्रथमा के एक वचन और बहुवचन के रूपों का समन्वय किया गया है। इसी प्रकार की एक अन्य कृति वररुचिके प्राकृतप्रकाश और त्रिविक्रम के प्राकृतव्याकरण के विषयों को स्पष्ट करने के लिये सिरिचिंधकाव्य की रचना कृष्णलीलाशुक कवि सार्वभौम ने भी की है। इस कवि का दूसरा नाम गोविन्दाभिषेक भी है इसकी रचना कवि केवल ६ सर्ग तक ही कर पाया था तथा शेष चार सर्गों की रचना इसके टीकाकार दुर्गाप्रसाद यति ने की है। जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य देवचन्द्रसूरि (सन् १२७०) ने 'सुदंसणाचरिय' की रचना में अध्ययनशाला से पढ़कर आई हुई अपनी राजकन्याओं से कूट प्रश्न किये हैं जो गूढचित्र के उदाहरण हैं। सुमतिसूरि (१४ वीं शती) ने 'जिनदत्ताख्यानद्वय' तथा रत्नशेखर सूरि के शिष्य हेमचन्द्र (सन् १३७१) ने 'सिरिवालकहा' की रचना की है इनमें प्रहेलिकाओं तथा समस्यापूर्तियों को प्रश्रय मिला है। जयवल्लभ द्वारा संगृहीत 'वज्जालग्गं' में अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों का पर्याप्त विकास दिखाई देता है। यथा—

कह सा न संभलिज्जइ, जा सा निसास सोसिसासरीरा।
आसासिज्जइं सासो जाव न सा सा समप्पन्ति ॥ ४०२ ॥

यहाँ मूल भाव को अनुप्रास और यमक की टेक से व्यक्त किया है। श्रीकण्ठ नामक कवि की केवल यमक को महत्त्व देकर लिखी गई 'सौरिचरिय' रचना यमककाव्य से पूर्णतः प्रभावित है। प्रत्येक गाथा में कृष्णचरित्र का चित्रण करते हुए यमक का आश्रय लिया गया है। यथा —

रअरुइरंगं ताणं घेत्तूण व अंगणंमि रंगंताणं।
चुंबइ माआमहिआ बल-कण्हाणं मुहाई माआमहिआ ॥

यहां धूलि में धूसरित अंग वाले आंगन में रेंगते हुए बलदेव और कृष्ण को उठा कर पूजनीय माता उन्हें चूमने लगीं और वह माया के वश में हो गई, यह वर्णन बड़े ही प्रासादिक ढंग से हुआ है तथा पादान्त यमक की योजना भी उत्तम हुई है। वहीं एक अन्य पद्य इस प्रकार दिया है—

जो णिच्चो राअंतो रमावई सोणिगव्वचोराअंतो।
णह बहु बद्धो वतो सद्दो व्व ठिइच्चुओ अबद्धो संतो ॥

यहाँ जो कृष्ण नित्य शोभा को प्राप्त होते हुए, गायों के दूध की चोरी करते हुए व्रज-वनिता यशोदा के द्वारा ओखली में बाँध दिए गए थे फिर भी वे शान्त रहे, मर्यादा से च्युत शब्द की भाँति वे अबद्ध ही रहे। इसमें पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के अन्त्ययमक का निर्वाह है।

चित्र काव्य का भी प्रभाव इस भाषा के साहित्य पर पड़ा है जिसे हम स्तोत्र-साहित्य में नन्दिषेण (छठीशती के निकट) विरचित 'अजियसंतिथय' की गाथाओं से प्राप्त करते हैं:— जिनमें रथपद, तालवृन्त, भृङ्गार, व्यजन, स्वस्तिक,मत्स्युयुगल, दर्पण, श्रीवत्स, वापिका, दीपिका,मङ्गलकलश, शरावसम्पुट, तिलकरत्न,भद्रासन, नागपाश, धूपदानी, रत्नमाला,चतुर्दीपिका, मन्थान, कुम्भ, गदा, मयूरकला, अश्व, मयूर, हल, अष्टारचक्र, मुकुट,वीणा, नरधनुष, वृक्ष, ध्वज, शिखर, त्रिशूल, चामर,सिंहासन, चतुर्गुच्छ, कल्पतरु, अष्टदलकमल, मशाल,नागफणा, कमलकलिका और व्यजन बन्धों की योजना हुई है।[1]

इसी प्रकार जयचन्द्र सूरि के 'पण्हगब्भ पंचपरमिट्ठिथवण' में १—शृंखला जाति और त्रिगत, २—पंचकृत्वोगति, ३—चतुःकृत्वोगति, ४—गतागत एवं द्विर्गत तथा ५—अष्टदल कमलबन्ध की योजना की गई है।[2] इनके अतिरिक्त निम्नलिखित स्तुतियां भी शब्दालंकार और चित्रालंकार की पुष्टि करती है।—१—मन्त्रगर्भ श्रीपार्श्वजिनस्तवन-रत्नकीर्ति सूरि २—मन्त्रगर्भपार्श्वप्रभुस्तवन-कमलप्रभाचार्य, ३—मन्त्रयन्त्रादिगर्भित श्रीस्तम्भन—पार्श्वजिन-स्तवन-पूर्ण-कलशगणि, ५—नवग्रहस्वरूपगर्भ श्रीपार्श्वजिनस्तवन-अज्ञात कर्तृक, ६-अष्टभाषामय सीमन्धर-जिनस्तवन-जिनहर्ष, ७—अष्टभाषामय सम्यक्त्वरास, संघकलश ८—प्राकृत-चित्राक्षराछन्द में मागधी, शौरसेनी, पैशाची, चूलिकापैशाची, अपभ्रंशिका और संस्कृत आदि षड्भाषामय गौडीपार्श्वनाथ चित्रस्तवन,[3]—धर्मवर्धन, ९—पार्श्वस्तोत्र-संस्कृत प्राकृत भाषामय-समयसुंदर,[4] १०—तीर्थंकर २४गुरुनामगर्भ पार्श्वस्तवन, ११—इर्यापथिकी विधि-गर्भित पार्श्वस्तवन, १२—संस्कृतप्राकृतमय पार्श्वनाथ स्तवन, १३—अल्पत्वबहुत्वविचार-गर्भित प्राकृतस्तोत्र तथा १४—यमकबद्ध प्राकृतस्तोत्र, १५—संस्कृत भाषा भिन्न पूर्वार्धोत्तरार्धं श्रीजिनस्तवन-धर्मघोष सूरि ओहाण-बन्ध (आभाणकगर्भं) जिनस्तोत्र-पूर्वाचार्य, १७—संस्कृत-प्राकृतमय श्रीवीरस्तव-धनपाल, १८-संस्कृतप्राकृतमय आदिदेवस्तवन-रामचन्द्रसूरि, १९—महामन्त्र गर्भित अजित-शान्तिस्तव-धर्मघोष, २०—नवग्रहश्लेषरूप पार्श्वनाथ लघुस्तव जिनप्रभसूरि, २१ मन्त्र-भेषजादिगर्भित युगादिदेवस्तवशुभसुन्दरगणि, २२—पंचकल्याणक कलितंकविंशतिस्थानगर्भित श्रीमल्लिजिनस्तवन, २३—भोज्यादिनामगर्भ जिनस्तवन तथा २४—रसवतीचित्र-वर्धमानस्तव।

:'ख : हिन्दी भाषा-साहित्य और शब्दालङ्कार

संस्कृत साहित्य के पश्चात् प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं के साहित्य में

१—मुनिधुरन्धरविजय जी ने इन बन्धों की योजना की है तथा लेखक ने इसके व्यवस्थापन-संशोधन में आवश्यक सहयोग भी दिया है। पुस्तक प्रकाशनाधीन है।

३-धर्मवर्धन ग्रन्थावली—बीकानेर

४-समयसुन्दरकृतिकुसुमाञ्जलि—सम्पादक श्री नाहटा बन्धु—बीकानेर प्रकाशन

शब्दालंकार को उतना पोषण अवश्य ही नहीं मिल पाया, क्योंकि धार्मिक उपदेशों को जन-साधारण तक पहुंचाना ही इस भाषा के विकास का आदि कारण रहा है किन्तु हिन्दी-साहित्य ने परम्परागत और साक्षात् दोनों रूपों में संस्कृत के दाय को उपलब्ध किया है, फलतः इस में शब्दालंकार की सम्पत्ति पर्याप्त उपादेय संकलित हो सकी है। मनस्वी साहित्यकारों ने जहां हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत किया, वहीं इसके निधान की अभिवृद्धि में देश-विदेश की साहित्य-सम्पदा का पूरा उपयोग किया है। हिन्दी-साहित्य में अलंकार-विवेचन का प्रारम्भ केशव (सन् १६०६) से माना जाता है तथा इसके परवर्ती आचार्यों के काल को रीतिकाल की संज्ञा दी गई है। रीतिकाल के आचार्यों ने अधिकांश में संस्कृत ग्रन्थों के लक्षणों को यथावत् अनूदित करते हुए स्वरचित उदाहरणों को समन्वित किया है किन्तु कुछ आचार्यों ने भेद-विभेद में अवश्य ही विकास किया है।

शब्दालंकार के लिये केशव की 'कविप्रिया'[1] में अनुप्रास और पुनरुक्तवदाभास को छोड़कर यमक चित्र आदि का ग्रहण हुआ है। जसवन्तसिंह ने 'भाषाभूषण'[2] में केवल अनुप्रास को ही शब्दालङ्कार माना है तथा उसमें यमक को यमकानुप्रास कह कर अन्तर्हित कर लिया है। देव कवि का 'शब्द-रसायन'[3] अनुप्रास, यमक और चित्रालंकार के विकास में अच्छा योग देता है। देव ने अनुप्रास को रसपूर तथा यमक को रसरीति का सहायक कहा है। अनुप्रास और यमक ही देव की दृष्टि में चित्रकाव्य के जनक हैं जो उचित ही है।* किन्तु एकान्त चित्रात्मकता के वे पक्षपाती न थे। यमक का 'सिंहावलोकन' नामक भेद सर्वप्रथम देव ने ही किया है। किन्तु इसका लक्षण भिखारीदास ने दिया है तदनुसार-जहाँ चरणान्त का वर्ण दूसरे चरण के आरम्भ में यमक बनाये तो वहां सिंहावलोकन यमक होता है।* भिखारीदास ने 'काव्य-निर्णय'[4] के बीस और इक्कीसवें उल्लास में शब्दालंकार और चित्रालंकार का वर्णन किया है। इनमें छः शब्दालंकार और इक्कीस चित्रालंकार हैं। अनुप्रास को गुणों का विभूषण, अन्त्यानुप्रास के 'तुक' नामक भेद और उसके उत्तम, मध्यम और अधम भेद, विरोधाभास और मुद्रा को शब्दालङ्कार में स्थान तथा चित्रालङ्कार के लेखिनी चित्र आदि भेद दर्शनीय हैं। रसरूप का 'तुलसीभूषण'[5] और रसिकगोविन्द का 'रसिकगोविन्द[6]-आनन्दघन' शब्दालंकार के छः भेदों को मानता है। संस्कृत के अनुसार हिन्दी में भी केवल चित्रालंकार पर कतिपय रचनाएँ हुई हैं, जिनमें प्रथम रचना बलवान सिंह : (सन् १८३२) की 'चित्र-चन्द्रिका'[7] है। जिसमें शब्दचित्र, अर्थचित्र और संकरचित्रों का वर्णन है। शब्दचित्र में-वर्ण, स्थान, स्वर, पद्माकार, गति, आकारबन्ध और गुणबन्ध चित्र हैं। अर्थचित्र में–एकाक्षरादि, प्रहेलिका, सूक्ष्म गूढोत्तर, अपह्नुति, श्लेष और यमक

---

* :क: अनुप्रास रसपूर। (ख) अनुप्रास अरु यमक कहि, है सनाथ रसरीति।
:ग: अनुप्रास ओ यमक ये चित्रकाव्य के मूल। शब्दरसायन। देव पृ ८४-८५

* चरन अन्त अरु आदि के जमक कुण्डलित होय॥
सिंह विलोकेत है वह मुक्तकपदग्रस सोय॥ —काव्यनिर्णय-भिखारीदास पृ ५५५

हैं। तथा संकरचित्र में पदार्थ सांकर्य और यमक की गणना की है। चित्रालंकार के रूपों को समझाने के लिए गद्यमयी टीका का आश्रय भी लिया गया है। चित्रालंकारों में जीवन की विविधता की छाप स्पष्ट है। जिनमें—मयूर, कदली, मुष्टि, त्रिपदी, चटाई, अग्निकुंड, द्विदण्डछत्र, चौपड़, कामधेनु और अनेक भाषात्मक गुण-बन्ध की रचना, संस्कृत के क्षेत्र से नवीन है। इसी प्रकार ईश्वर कवि (सन् १८३३) ने चित्रचमत्कृत कौमुदी की रचना द्वारा इस अंश की पूर्ति की है। चित्र को श्रौती और दृष्टिगत दो भेदों में बांट दिया है तथा दृष्टिगत भेदों में गणपति बन्ध, मूषक बन्ध, नन्दी और गज बन्ध आदि नवीन हैं। अमीरदास : (सन् १८३४) : में श्रीकृष्ण साहित्य सुधासिन्धु[1] में पांच शब्दालंकारों का विवेचन किया है जिनमें चित्रालंकार का एक भेद 'घड़ी बन्ध' नवीन है। गोकुल कवि (१८६६) का 'चित्रकलाधर'[10] पैंतालीस चित्रालङ्कारों का विवरण प्रस्तुत करता है, जिनमें चन्द्रोदय, बाग, अरण्य, दुर्ग, मुकुट, और सितार आदि बन्ध नवीन हैं। अयोध्याप्रसाद वाजपेयी का चित्रकाव्य,[11] हरि कवि की 'चित्रचन्द्रिका,[12] आचार्य श्रीपति का 'कविकुल-कल्पद्रुम,[13] रसिक सुमति का 'अलंकार चन्द्रोदय[14], श्रीधरकवि का 'चित्र काव्य,[15]' रूप-साहि का 'रूपविलास[16], 'जनराज कृत 'कवितारस विनोद[17], मान कवि भट्ट का 'दलेल-प्रकाश[18], 'रणधीरसिंह का काव्यरत्नाकर[19]' लछिराम का 'रामचन्द्रभूषण[20]' बिहारीलाल भट्ट का 'साहित्य-सागर[21]', शब्दालंकार औरविशेषतः चित्रालङ्कार के लिये महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। साहित्य सागर में बंदूक-बन्ध और व्याध-बन्ध की योजना नवीन है। साथ ही चित्रकाव्य के अन्तर्गत नाम, लक्षण और रूप के आधार पर किया गया विवेचन मननीय है। अज्ञातकर्तृक चित्रकाव्य[22], अमृतराय का चित्रविलास[23], जगत्सिंह की चित्र-मीमांसा[24] अथवा चित्रकाव्य और प्रभानाथ के प्रवीण सागर[25] में चित्रालंकार के अनेक रूपों के दर्शन होते हैं, जिन के अनुसार हिन्दी-साहित्य में संस्कृत के शब्दालंकारों का प्रभाव पूर्णतः विकसित हुआ है और अपनी समसामयिक अन्य भाषाओं के साहित्यकारों को भी प्रेरित किया है। आज भी यह धारा अपने क्षेत्र को विविधरूपों में अभिषिक्त करती हुई लक्षण और लक्ष्यग्रन्थों के रूप में प्रतिफलित हो रही है, जो शब्दालङ्कार की व्यापकता का प्रमाण है।

: ग : मराठी भाषा-साहित्य और शब्दालङ्कार

मराठी भाषा का साहित्य अलङ्कार शास्त्र के विकास में संस्कृत, हिन्दी और अन्य भाषाओं के स्वतन्त्र चिन्तन से परिपुष्ट है। इस भाषा के अनेक कवि तो संस्कृत के भी प्रौढ कवि रहे हैं अतः उनकी रचनाओं में शब्दालङ्कार का विकास बड़े ही मनोयोग से हुआ है। सन्त ज्ञानेश्वर ने अनुप्रास और यमक का प्रयोग अपने अभंग पदों में अत्यन्त ही रमणीयता से किया है। मुक्तेश्वर, तुकाराम और रामदास की रचनाओं में भी शब्दालङ्कार के प्रमुख भेदों का दर्शन होता है किन्तु इन्हीं के काल में हुए वीडकर विट्ठल कवि

१—द्रष्टव्य-श्रीकृष्ण साहित्यसुधासिन्धु—अमीरदास पृ १६६ :

की रचना 'रुक्मिणीस्वयम्बर' में सर्वप्रथम चित्रालङ्कार का प्रवेश हुआ। यह काल सत्रहवीं शती का था। इसके अतिरिक्त इसी कवि ने अपनी अन्य रचना सीतास्वयम्बर और विद्वज्जीवन में भी चित्रकाव्यरचनाकौशल को प्रदर्शित किया है। इसी कविने कूट काव्य और संस्कृत छन्दों को अपने पद्यों का आधार बनाया था। इनके रुक्मिणीस्वयंबर में 'द्वादशदलकमल, पट्टिश, व्यजन, चामर, माला, अष्टदल, वापी, धर्नुबाण, अश्व और उष्ट्र, चक्र, द्विचक्र, सर्प, वृक्ष आदि बन्धों की रचना है। यद्यपि ये बन्ध संस्कृत की प्रौढता एवं अक्षरगत क्लिष्टता में सरल हैं किन्तु अपनी नवीनता के कारण अवश्य ही सराहनीय हैं। इनके पश्चात् एक अन्य कवि ने 'षण्मासिचा वायदा' में कूट और प्रहेलिकाओं की रचना की है। मोरोपन्त-मयूरपन्त ने इस दिशा में बहुत साहित्य की सृष्टि की है। 'परन्तु रामायण' आदि अनेक चित्रकाव्य इनके संस्कृत और मराठी में प्रसिद्ध हैं। इनके काव्य-संग्रह 'केकावली' में यमक के अनेक प्रकारों का प्रयोग हुआ है जिनमें नवाक्षरी यमक, सप्ताक्षरीयमक और पुष्पयमक की योजना नवीन है। इसी प्रकार पालन्दे, गोडबोले, बजाबा बालाजी नेने आदि कवियों ने भी शब्दालङ्कार और चित्रालङ्कार को माध्यम मानकर रचना की है तदर्थ सैरन्ध्री नाटक, मराठी पद्यरचना, पाण्डुरंग स्तोत्र, रत्नमाला आदि ग्रंथ मननीय हैं। आज भी यह प्रक्रिया कवियों द्वारा आद्दत है और यत्र-तत्र प्रस्फुट रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं में देखने को मिल जाती हैं।

: घ : गुजराती भाषा-साहित्य और शब्दालङ्कार

गुजराती भाषा में शब्दालङ्कारों का प्रयोग अति प्राचीन काल से हो रहा है। आरम्भ में यह भाषा अपभ्रंश के अति निकट थी तथा उस समय इसमें जो रचनाएँ होती थीं वे प्राचीन गुजराती के नाम से व्यवहृत होती थीं। उत्तर काल में जैन धर्म के प्रचार हेतु इसमें अनेक स्तोत्र एवं अनुवादों का कार्य हुआ जिससे भाषा का अभिनव रूप निखरने लगा। उन्नीसवीं शती के आरम्भ से इसकी रचनाओं में प्रौढता के साथ ही शब्दालङ्कार के विविधरूपों के भी दर्शन होते हैं। शब्दालङ्कार के दोनों पक्ष काव्यशास्त्रीय एवं काव्यमय रूपों में संस्कृत की छाया यथावत् उपलब्ध होती है किन्तु चित्रालङ्कारों में कवि दलपतराम (सन् १८२० से १८६८) का दलपत-काव्य, राजचन्द्र सन् १८६७ से १६०० की 'प्रेम प्रार्थना' अरदेशरखबरदार (सन् १८८१ से १६५५) की काव्यरसिका, महासुखभाई चुन्निलाल (सन् १६००) की 'काव्य-सरिता' तथा डाह्याभाई झवेरी, नारायण मोतीलाल भट्ट आदि कवियों ने नवीन प्रयास किये हैं। यद्यपि इनके द्वारा चित्रालङ्कारों में-कपाट, चौकी, दर्पण, समुद्र, कटार, नवकांकरी, अकाराक्षरात्मक नाग, मणिमाल चौसर, हौज, पवनचक्की, कूर्माकारनागपाश, पताका, केतकी, नागशिशु आदि बन्ध नवीन पद्धति से पुरस्कृत हुए हैं। तथापि इन बन्धों में हिन्दी के चित्रबन्धों का प्रभाव अवश्य है। इन नवीन बन्धों में निम्न बन्ध दर्शनीय है—चौकी (२ प्रकार), नवकांकरी अथवा हौज, अक्षराकृति नाग, चक्की, चौसर मणिमाल, स्वस्तिक, कूर्माकर नागपाश आदि।

इन बन्धों की योजनाओं में कवियों ने अपने मतिवैभव का पूरा उपयोग किया है। तथा भाषागत सारल्य के कारण भावों को भी उत्तम पद्धति से पुरस्कृत किया है। अन्य जैन कवियों—साधुओं ने गुप्त क्रिया, प्रहेलिका और अन्य गूढ़-चित्र के प्रकारों का भी अपनी रचनाओं में उपयोग किया है। संस्कृत छन्दों का प्रयोग भी गुजराती साहित्य में आदरणीय रहा है जिससे अन्य शब्दालङ्कारों के प्रयोग में भी न्यूनता नहीं आई है।

: ङ : उडिया भाषा-साहित्य और शब्दालङ्कार

उडिया भाषा में शब्दालङ्कार-साहित्य का विकास कई नवीन उद्भूतियों को लेकर हुआ है। ई० सन् १६३७-१७०० में धुनसर नरेश धनञ्जय भञ्ज ने रामायण पर कई काल्पनिक काव्य लिखे हैं। जिनमें शब्दालङ्कार का अच्छा विकास दृष्टिगोचर होता है। इनके पश्चात् दीनकृष्णदास द्वितीय मुकुन्ददेव (१६५१-१६८६) और दिव्यसिंहदेव (१६८६-१७०३ ई०) दोनों समसामयिक थे। इनके द्वारा राधाकृष्ण पर लिखा हुआ 'रसकल्लोल' काव्य है जिसकी प्रत्येक पंक्ति प्रथमाक्षर 'क' से आरम्भ होती है। अलङ्कार-केलि' भी इनका अन्यतम ग्रंथ है। इस पृष्ठ-भूमि पर ई० स० १६८५ में उत्पन्न धनंजय-भंज के पौत्र श्री उपेन्द्र भंज : मृत्यु (सन् १७२५) का कार्य अत्यन्त सराहनीय है। इन्होंने अपने पितामह से प्रभावित होकर 'वैदेहीश-विलास' काव्य लिखा जिसकी प्रत्येक पंक्ति 'ब' से आरम्भ होती है। छन्द (सर्ग) में बाईस अथवा बत्तीस आदि वकारादि संख्यक पद भी हैं। दीनकृष्ण के रसकलोल की समानता में 'कलाकउलुक' नामक काव्य लिखा जिसका आदि अन्त दोनों नामके समान 'क' से हैं। अवानरस-तरंग में इकारादि कोई मात्रा भी नहीं है। 'सुभद्रापरिणय' इनका ग्रंथ सकारादि पदों से निर्मित है। सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण ग्रंथ इनका 'कोटिब्रह्माण्डसुन्दरी' है। यह १५ पदों का एक सर्ग है। इसमें प्रत्येक पद के प्रत्येक पाद के समग्र अक्षरों को पढ़ने से वर्षा ऋतु का वर्णन चिन्तादेशाक्ष राग में होता है। आदि के एक अक्षर को छोड कर पढ़ने से शीतऋतु का वर्णन काफी-कामोद राग में होता है और आदि के दो अक्षर छोडकर पढ़ने से ग्रीष्मऋतु का वर्णन मालव-वराडी राग में होता हैं। प्राचीन उडिया साहित्य के कवि सम्राट् उपेन्द्रभंज ने ४२ ग्रंथ लिखे हैं। इनमें उत्तम कवि के वे सभी लक्षण विद्यमान थे जिनका वर्णन राजशेखर ने आठ भागों में, रचना, शब्द, अर्थ, अलङ्कार, भक्ति, रस, मार्ग और शास्त्रार्थ—किया है। इनकी रचना सर्वविध शृंखला, सर्वविध यमक, एक, दो, तीन और सर्वव्यंजन वर्गमय पद रचना, छन्द-अक्षर, स्वराक्षर, श, ष, स इन तीन ऊष्माक्षरों में, कण्ठ्यादि स्थान वर्ग में, सर्वस्वर वर्ण में, मात्राहीन व्यंजन वर्ण में पशुओं की गतियों में एवं मेषयुद्ध पद्धति में निर्मित हुई हैं। चित्रकाव्य के सभी लक्षण इनकी रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। इनका अलङ्कार ग्रंथ 'रसपंचक' भी है। जिसके पांच परिच्छेदों में र-स-पं-च-क—इन पांचों अक्षरों का आदि प्रयोग हुआ है। सत्रहवीं शती के मध्य भाग तक—मधुसूदन कवि ने नलचरित, भीमाधीवर ने कपटपाशा, सदाशिव ने विचित्र हरिवंश और गोपलीला तथा शिशु ईश्वरदास ने नल-

रामचरित लिखे हैं। इनमें शब्दालङ्कार और चित्र काव्य के सभी प्रकार प्रविष्ट हैं। 'चित्रबन्ध-काव्योदय' चित्र काव्य का एक अच्छा उदाहरण है। उपेन्द्रभंज ने कोष ग्रंथ भी लिखा, जिसका नाम 'गीताभिधान' है। इसमें कान्त, खान्त आदि अन्त्याक्षर का नियम पालित हुआ है।

(च) अन्य भाषा-साहित्य और शब्दालङ्कार—

भारत की अन्य भाषाओं में भी ललित पद-रचना और शब्दमैत्री के प्रति पूर्ण अनुराग परिलक्षित होता है। राजस्थानी में अनुप्रास को 'बयण-सगाई' नाम से सम्बोधित किया जाता है जो हिन्दी साहित्य की प्राथमिक भाषा है। फारसी में तुक और लहजे के साथ शब्दों का रोचक गुम्फन ही उसकी कविता का प्राण माना गया है। कन्नड-भाषा में श्री विजयनृपतुंग ने दण्डी के काव्यादर्श के आधार पर 'कविराजमार्ग' की रचना सन् ८१५ से ८७७ में की थी तथा यह दरबारी कवि था। अतः इसकी रचना में शब्दालङ्कार का निरूपण उत्तम हुआ है। मलयालम की मणिप्रवाल शैली में भी शब्दालङ्कार के तत्त्व विद्यमान हैं। तेलुगु में भट्टमूर्ति ने 'हरिश्चन्द्र नलोपाख्यानमु' नामक दो अर्थ वाले काव्य की रचना की है। पिंगलिसूरिन्ना का 'कलापूर्णोदयमु' काव्य अद्भुतकाव्य है। तथा विन्नकोट पेछन्न के 'काव्यालङ्कारचूडामणि' में चित्रकाव्य आदि की रचनाएं हैं। सिरिभूवलय नामक एक दिगम्बर जैन द्वारा लिखित काव्य में तो चित्रकाव्य की इतनी प्रचुरता है कि उसके पठन में विविध गतियों का आधार लेकर अठारह भाषाओं में रचित साहित्य की उपलब्धि होती है। नेपाली में राजीवलोचन ने कूट कविताएं लिखी हैं जो वहाँ अत्यन्त प्रिय हैं। बंगला भाषा में भी शब्दालङ्कारों का प्रयोग पर्याप्त प्रभावशाली मिलता है। अंग्रेजी साहित्य में स्पेन्सर और टेनिसन ने अनुप्रास-बद्ध रचनाओं में प्रसिद्धि प्राप्त की है। इस दृष्टि से शब्दालङ्कारों का परवर्ती भाषा साहित्य पर पूर्ण प्रभाव है और वह आज भी गतिमान् बना हुआ है।

दिव्ये संस्कृत-साहित्ये, शब्दालङ्कार-शोधनम्।
रुद्रदेवेन विहितं, तदस्तु विदुषां मुदे॥

श्लोकाङ्क अष्टारचक्रबन्धरूप पुष्पिका—

रम्यो ग्रन्थिहरस्तपः सुविनदद्भद्रप्रभाक्रुद्वसु-
मानाथोदितचित्ररत्नविदरं खेदेऽपि यः पोष्यते।
काव्यं गुम्फति मौनमानविषजिद् दैवेन वा दर्शना-
न्तश्चारुप्रभरुक् स मोदविदितः स्तान्नः प्रणम्यः स्वयम्॥ १॥

इस पद्य के प्रतिचरणगत १-३-६-८-१२-१४-१७ और १९ संख्यावाले अक्षरों के चक्राकार में पठन से अङ्कित निम्न पद्य निकलता है—

रमाकान्तसुतेनायं, ग्रन्थो गुरुकृपोदयः।
रचितो रुद्रदेवेन, परमामोदरञ्जितः॥ २॥

॥ श्रीरस्तु॥

[३३० पृष्ठ में सूचित]

सहस्त्रदल-कमलबन्ध के पद्य

प्रदलदशशताम्भोजगर्भितः श्रीअरनाथ–स्तवः

[कर्ता–ज्ञानविमलवाचकशिष्यश्रीवल्लभगणी]

असुरनिर्जरबन्धुरशेखर–प्रचुरभव्यरजोभिरयंजिरम् ।
क्रमरजं शिरसा सरसं वरं, जितरमेश्वरमेदुरशंकरम् ॥ १ ॥
प्रवरवर्णर-सागरचन्दिर, जठररागरसाविरसंगर ।
सुचिरकृन्नरभीतरभद्रर, कुरु रमाम्भरमामरहत्पर ॥ २ ॥
प्रवरपार्थरदन्तुरभूधर, भिदुरतुल्यरसासरकंकर ।
कुनरकाकरदादरकस्वर, विदुरजेसरभक्तरमुत्कर ॥ ३ ॥
मुहिरगर्वरदुर्धरसिन्धुर, विशरणाकरसिंहरहोगरम् ।
चतुरनंजरसाऽधरमं स्मर, शिवरमं वर-संवर-बुद्धिरम् ॥ ४ ॥
सुहीरसच्चीर-विहारमीवर-प्रतारसाधारणाकारबादर ।
जनौरनिर्म्मेरणधोरणीस्फिरं, मनोरमं स्वारषतोरतक्षर ॥ ५ ॥
डमरतस्करभीभरभीभर-प्रहरणा विरहः किरताद्दरम् ।
सुकरतार्णरदस्वरधीधरः, प्रसरकीर्तिरजाहरनिर्द्दरः ॥ ६ ॥
वकारहिंसीरविशारणं गिर, उदार-सम्भारसुधीरकेकरः ।
अमारमन्दारसमीरकन्धर-प्रकार आचारविदारनीवरः ॥ ७ ॥
विभोरमोमोरमगोरगोचर, विकारसंहारकरोरडिंगरः ।
जहार कण्ठीरववारसत्तरः, सवीरकः स्मेरमुखोरसातिरम् ॥ ८ ॥
भ्रमरवृत्तिरनन्तरमक्षरं, वितर मे ह्यरणः सुरकिन्नर ।
इषिरवागरभद्ररचत्वरः कमरतामरसाक्षि-रमाधरः ॥ ९ ॥
चटरविघ्नरवैरिरसाहरः स्वतरसास्वरणं करताद् गरः ।
सुनर अ।दरसः स्मरतादरः, सविरलः सरलस्वरणस्तरः ॥ १० ॥
सुवरणं चरतः किरतः करं, प्रहरतः करणं धरतः सुरम् ।
व्रतरतश्चरमाशरणांगरः, सुनुरकं सुरतादुरगादरः ॥ ११ ॥
धीरैरमारिरमृतं रमामरं, सभ्यैरभाणि रसनं रतान्तरम् ।
उच्चैरभीतिरनगारशिशिरः पातूरनूतिरनपूरघृष्टिरम् ॥ १२ ॥
अररचिन्त्यरणं जरणं भर, मररहश्चर आतरपार्वरः ।
न धरणं शरणं वरताध्दुरः सुखरयोऽमर दोभरतम्मरः ॥ १३ ॥

चकोरभट्टारकपौरयोः पुरः, शमारवाहारमदौरधर्धरः ।
कवेरकान्तारसुवारणस्थिरः, कवौरकालूरविदारसायुरः ॥ १४ ॥
विन्नैरमानैरसितैरकारि-रमत्यनाकैरहतेररुद्भिरः ।
देवैरसानैरसनैरसंहरः लक्ष्मीररौधारकुटेरसोध्वरः ॥ १५ ॥
ववार लक्ष्मीररतीरघश्चरः समोरकण्डूसुधोरकट्वरः ।
सुधारभृत्पूरतुषारदीप्तिरः, सुनारशौण्डीरकुटीरतुष्टिरः ॥ १६ ॥
भव्यैरगोभिरहितैरयुतेरकह्वरं, हीनैरधीभिरमितैरकरैरदुर्मुरः ।
सुस्वैरमाररमणैरजितैरकार्यरं, पुष्टैरनूतिरगदैरनरीरतैः पुरः ॥ १७ ॥
कठरकदरभंगै रम्यसारंग-सारं, मठरविसरनाशं रण्डभारण्डचारम् ।
भ्रमरनिकरपूज्यं रंगकारंगपारं, चकरक्रदरसन्धारक्तमारं सुतारम् ॥ १८ ॥
विजरनकरसंधारं जितारक्षशूरः प्रपुरजदरहोभारक्षकैरज्यमेर ।
यतिरदितिरहंकारक्षितेरक्षधार-मकरमुदिरघुश्रीरट्टसंरम्भभारः ॥ १९ ॥
नाथैरनुत्तरनरैरतिहारसत्त्वरभद्रैरदैररहरैरमलैरधाशरः ।
देवैरवस्कररहैरवहारकूत्कर-नष्टैरपाविरसिकैरदरैरवल्लरः ॥ २० ॥
रवरभिमरनाशं रंजनारन्तिभूर-हमुरदधरबाढं रंकनारंगमौर ।
प्रखरमिहिरकान्तैरन्धकारक्षयोर-समररिपुरनिष्टारक्षसोरम्भवूर ॥ २१ ॥
विदारहर्तारमकारशांकरं, विहारकर्तारमशारभास्वरम् ।
बभार चित्ते रमणीरसानरः, ककारकन्तारकधारकेतुरः ॥ २२ ॥
तनुरवररवित्तैरर्कसेरस्तदार-प्रसुरतिमुरविष्टे रंहतेरत्नतेर ।
प्रवरभृदररेमारत्यमेरम्यवेर-नवरजतरणैरैरंककारण्डजेरः ॥ २३ ॥
पूज्यैर घोरैरमदैरजेतरं, नेतारमायोरनयैरपांसुरम् ।
धर्तारमंहेरगसोरषं त्वरं, पातारमस्तेरकलेर मुष्करम् ॥ २४ ॥
अवरहसरघांगारव्यवारण्डरोरं, वृषरवणरसालौरम्यलेरंकदूरम् ।
गुरुरवलरधृत्योरंगनोरश्मिदोर-मिरिरशिथिरबुद्धि रक्षताद् रव्यगूरः ॥ २५ ॥
कारोरनातेरधृतेरदोषरदारोरवारोरजनीरभीरुरम् ।
सद्दोरनर्तेरमृतेरनम्बरः सन्नोररिष्टेरभृतेरकर्करः ॥ २६ ॥
सृमरमुदिरसेरोरवंधेरत्खिवीरं, ननरनिगरणाश्रेरब्जपेरम्बगारम् ।
सुमरविकरटीतेरस्तजारण्डयारः मधुरनविरलक्ष्वेरध्वदेरस्त्रपेरः ॥ २७ ॥
लोकैरशोभिरपनैरखिखिरः पूतैरमातिरतरेरकदैरधस्मरः ।
सुश्रीरनेमिरनतैरसुधेरतोमरः प्रष्ठैरदुःखरजकैरवनैरमत्सरः ॥ २८ ॥
अकरणिररस्योरस्तु कारण्डकोर-बधिरविखुरणाघ्रोरुववारंगतोरः ।
रुचिरखदिरदीप्तेरर्घ्यरौरर्तिहार-स्वररवृदरपल्लूरस्यवैरंगपूरः ॥ २९ ॥
यक्ष्यैरवोत्कारपवैरमव्यरः सत्कारभूनीरनयेरगत्वरः ।
सभ्यैरधीशैरधनैरपक्मरः कष्टैरनन्तैरदशैरकक्षुरः ।, ३० ॥

गुरुरनपरघाकं रंघदीरप्यपारः, खलुरचयरतीसारक्षकारण्यवीरः ।
विमरणपरमात्मारब्जनीरन्ध्रकोर घनरससुरभिर्नेरब्जदृग्रत्ननूरः ॥ ३१ ॥
संसारदुस्तरसुनारधितारकानुरध्वन्यैरपातिरसितैरहसैरखर्परः ।
सिद्धैरगाय रमतीरसितैरहोऽध्वरः ख्यातैरदातिरशतेरगतीरकूबरः ॥३२ ॥
अविरतमरतुष्टोरस्कतोरर्हदीरः प्रचुरयविरजंकारम्भभूरर्ज्जसोरः ।
यतिरकुचररासेरस्ववैरप्रजोरः स्तिमिरखिदिरतम्यारन्विडारक्षितारः ॥ ३३ ॥
वृन्दारकागरजिनोरसमौरकर्बुरः, प्राज्ञैरसारिरदमौरशरैरनिर्वरः ।
भव्यैरमालिरभसैरनिभैरजर्जर-दुर्वारकंकरविदैरजितैरसंस्तरः ॥ ३४ ॥
प्रचुरचतुरवित्ता रक्षवैरंगकारः, श्रुतरघविरहद्योरम्रशारण्यसोरः ।
अनरणिरिररिष्टेरंगरेरंघजूरः, पटुरकृतिरराकारक्षपूरम्यखोर ॥ ३५ ॥
पपरप्रकरणा वेरर्धपूरण्यभेर-जितरवपरपुष्टारध्वधीरंगधेर ।
सुनुरशिखरदत्योरर्घ्यघोरप्रभोर-कनिरतवरधर्तारः कपारव्यदोरः ॥ ३६ ॥
सोऽकारयद्वरकहारकदारजीवरः सम्मेर मण्यरणतेरपवारकार्षिरः ।
नेतार आशिरपमारय आरवन्त्यर-मर्होरप्रत्युरसनौरलसूरशाबरः ॥ ३७ ॥
मंजूरनश्वरससोरकिशोरभास्वरः कर्पूरहृत्करगुणोरघकारमेधिरः ।
सेष्वारदीनरघनैरविशारदागर- प्राग्भारविड्डुरवियुग्रदनौरमन्धरः ।३८ ॥
बुद्धैरबोधरतिसूरशनैरनघर-नम्रै रसूतिरयमेरदरैरदुर्धरः ।
सेव्यैरकच्चरवरैरमलैरसेश्वरः दुर्वारसंसरणसारसुपारणोद्धुरः[1] ॥ ३९ ।
कविरमसुरसंस्कारः पदारप्रभारः, प्रसुर उदरभूसीरः कुटारः कुबेरः
चतुरकदरकेदारप्रगूरद्विचार. शबरविधुरशृंगार प्ररोरंग्यहोरः ॥ ४० ॥
प्रस्फारसंसरणमीरधिनीरमित्वरनोद्धारपुष्करसुसूरविदारजित्वरः ।
सुश्रीरकं तुरस कौरपकौरशान्त्वर : शान्तोरयोनिररते रहते रघूसरः । ४१ ॥
विजर विकर शुस्त्रेरं न सारं डडार गमिरटगरगान्धारप्रहेर स्वपोरः ।
बिदिरविदरदण्डारस्वसूरज्ज्यंदीर- प्रवर पदरविन्दोरं वसूरन्ध्यसूरः ।४२॥
हृष्टैरकान्तिरमहैरजदैरवामरः, कान्तैरसोषिरचयैरमधेरमुदगर ।
काश्मीरजाच्चिरकुबेरकवेरपीवरः, निश्चोरकः करचनोरलघूरभंगुरः ॥ ४३ ।
बन्धूरनागरकभैरवचोरडस्फर, कज्जूं रवाशुरविसारखद्वरकर्परः ।
विड्डारशार्वरमसूरनिकारशाकरः साधून् ररक्ष रजतीरपनोरदर्वरः ॥ ४४
मृदरनिकरहारीरन्ध्रहैरक्षदारः शिबिरभिदिरकृद्गौरः प्रजीरः प्रवीर :
बवरवमरवित्तीरम्भतीरम्मदारः पटुरसिलररुत्क्रूरक्षपारक्कुरारः ॥ ४५ ॥
शर्म्मारिरन्तुररणोरमतेरभर्भरः खेतेरमम्मरनुतेरगतेरवत्सरः ।
धीस्थूरकर्वरभजेरजजेरनातुरन्यक्कारहारनरपारप्रतारणाधर ॥ ४६ ।

१—प्रस्तुत पद्य का चतुर्थ चरण मूलप्रति में लुप्त है, जिसकी पूर्ति लेखक ने की है ।

लक्ष्मीरबीभरदभीरतवेरटेतरः साधूरकर्णरगुरोरहरेरदुष्करः ।
सद्योरसूत्करमनोरथवारभूभुरः सद्धीरजर्जरसवारतुरेरगह्वरः ॥४७ ॥
वन्दारवो निरयदारव आररासरः कं चारवोधरणधारण एरवंजरः ।
श्रीसारसासरणिसूरणसारणासिरः विस्तारकोगिरणचूरणजारतत्परः ॥४८ ॥
पुस्फोरकातिरदनारतमेरमन्दिरः रन्तेरतूबरचकोरनिशारमप्यरः
रेहारयो हरय आरसवारकासरः कंसेरवोयरकशूरणनीरवित्फरः ॥४६ ॥
किर्म्मीरचंकुरनुगौरवकेरडस्वरः काण्डीरयोद्धूरवतारततारभास्करः ।
कह्लारदृष्टिरनवीरनुदारधित्वरः, कासारसर्जरगतीरजनीरमन्दरः ॥५०॥
सनिरपुरनगर्होरं फसूरं ननार, जयिरकररलोकैरर्कतोरन्निधीरः ।
पदिरविदिरतप्रारम्भदोरंग्रगीरं, विहरणिमरणीमीरर्कसूरप्रटारः ॥ ५१ ॥
स्थिविरमुनिरधीवारंगटन् रंगखोरः सरिरजकरदीप्तोरंकुचोरप्रघोरः ।
चमरजितिरखज्जूरः सुसौरम्यकारः सुपरमपरमेष्ठीरम्बतारः पपीरः ॥५२ ॥
सत्पूरशर्करविभूरकडारवासरं, भण्डीरकिंकरकटीरगभीरकः किरः ।
वापीरचारुरणतीरपटीरसुन्दर-कोटीरपुष्परथहेर सहोरकुंजरः ॥ ५३ ॥
प्रसरसुपरबाणैरन्ददारप्रखोर; सुगिरयशरभर्तारः पटीरः स्वनेरः ।
कनिरसनरवृद्धेरज्यैधीरम्म्यगौरः पतिरचिकुरसाधोरर्बसंरग्यलारः ॥५४॥

इत्थं देवेन्द्रसंघप्रणतनरपतिह्लाददस्तीर्थनाथो,
भद्रं दद्यादरः सोऽभिमतधृतिततिप्राप्तिदः प्राप्तमुक्तिः ।
ख्यातः श्रीवाचकज्ञानविमलसुगुरूणां प्रसादाद्धि यस्य,
चक्रे श्रीवल्लभेन प्रदलदशशताम्भोजगर्भस्तवोऽयम् ॥ ५५ ॥

परिशिष्ट क्र० २

[४२६ पृष्ठ में सूचित]

कामधेनु-बन्धान्तर्गत देवीस्तोत्र के पद्य

उद्यद्भासां प्रहसितमुखीं बालचन्द्रं दधानां
भक्तौधानां प्रविततकरैर्दर्शयन्तीं सुसिद्धिम् ।
सिद्धैर्ध्येयां विमलमतिभिर्योगिगम्यां भवानीं,
वन्दे नित्यं सुरतरुतले विन्ध्यपृष्ठे निषण्णाम् ॥ १ ॥

विद्वन्मान्यां विमलरुचिरां पूरयन्तीं समस्तं
पुण्यैर्लभ्यां सुकृतिरचितैर्मोक्षसिद्धिं प्रसिद्धाम् ।
भक्तैः प्रेम्णा विविधचरणैः सेवितानां सुरेशीं,
संसाराब्धौ सुरुचिररमणीं भक्तवन्द्यां प्रपद्ये ॥ २ ॥

विद्युत्कीर्ति गिरिशसुखदां सौख्यसिन्धुं निजानां,
मायां शम्भोर्भृकुटिलसितैर्भक्तसंघैकपालाम् ।
संयच्छन्तीं हृदयदयितां कार्यसिद्धि जनानां,
देवीमम्बां शशिरुचिमुखीं भावयेऽहं कृतार्थः ॥ ३ ॥
हर्म्याग्रस्थां जलधररुचिं कुन्ददन्तां प्रसन्नां,
कामापूरां श्रुतिपरिगतैर्नेत्रकोणैः प्रकामम् ।
ब्रह्मेन्द्राद्यैः पदकमलगैर्भक्तवर्यैः सुसेव्यां,
हास्यप्रौढ़ां निजहृदि भजे मुक्तिसिध्द्यै प्रयत्नात् ॥ ४ ॥
विश्वाधारां गिरिशरमणीं मन्दहासां, सुभासां,
मुक्ताभूषां ललितरचितैः सम्प्रसादैः सुतुष्टाम् ।
चामुण्डां तां सुरपतिनुतां सौख्यदोग्ध्रीं भजेऽहं,
विश्वावासां विपदि सुलभां भावगम्यां भवानीम् ॥ ५ ॥
शुम्भारातिं शरणकरुणां सिंहवाहां सुहावां,
दुर्गादेवीं प्रकृतिरमणीं लोकरम्यां सुरम्याम् ।
कामारातेर्विमलहृदये धारयेऽहं विदग्धां,
विश्वाभूषां कृपितहृदयां स्वर्णवर्णमापर्णाम् ॥ ६ ॥
सौन्दर्याब्धिं रुचिरवसनां चन्द्रकान्ति लसन्तीं,
श्रीविश्वेशीं शशधरमुखीं शान्तियुक्तां सुशीलाम्
श्यामाँ वामां शमलशमनी पूजयेऽहं पवित्रां,
मध्यक्षामां क्षमिजनमुखीं क्षान्तदोषामशेषाम् ॥ ७ ॥
कामक्षान्तां कृपणसुखदां कीर्तियुक्तां कलाढ्यां,
कष्टाराध्यां कलुषशमनीं कान्तिकान्तां सुकान्ताम् ।
केयूराढ्यां कलय कमलां कल्मषघ्नीं कलिघ्नीं,
कल्पद्रुस्थां कमलमृदुलां कामाकामः कदाचित् ॥ ८ ॥
वामापांगां वचनसुभगां वाक्यबोधिं सुवाक्यां,
वामांगस्थां विपुलजघनां वामवामां वदान्याम् ।
वेद्यीदानीं वदनसदनां वेदवाक्यैर्वरिष्ठां,
विघ्नच्छेत्त्रीं वलयकलितां विश्ववन्द्यां वयस्याम् ॥ ९ ॥
प्रेम्णा नित्यं प्रणवनिलयां प्राणिहृत्स्थां प्रमाणां,
प्रत्यग्देवीं प्रणववशतः प्रस्फुरन्तीं प्रपश्ये ।
प्राणिव्राते प्रणतमतिभिः प्रीणितां तां प्रसन्नां,
प्राणायामैः प्रशमितमलां प्रार्थनीयां प्रशस्याम् ॥ १० ॥
चन्द्रापीडां चतुरचषकां चारुरूपां विचित्रां,
चीर्णैः पुण्यैश्चपलनयनां चिन्तयेऽहं सुचापाम् ।

चंचद्भासां चतुररचितां चन्द्रवेगां प्रचण्डां,
चारुस्नेहैश्चरमसुखदां चारुनेत्रां सुचारुम् ॥ ११ ॥
जायां शम्भोर्जनिभयहरां जीवजीवां जनस्थां,
जाने नित्यं जनितकरुणां जीवयन्तीं जयन्तीम् ।
जीमूताभ्यां जगति विततां जातजीवां जनित्रीं,
जातानन्दां जघनविपुलां जह्नुजातां जपामि ॥ १२ ॥
देवाराध्यां दुरितशमनीं दर्शनीयां नमस्ये,
दीप्तांशुस्थां दिनकरकरैर्दीपयन्तीं द्विषन्तीम् ।
दोर्भिर्युक्तां दमितदुरितां दोषशोषां दयाढ्यां,
दीनत्राणां दशनविशदां दानगम्यां दयालुम् ॥ १३ ।
गीतैर्गम्यां गतिजितगजीं गोपनीयां गरिष्ठां,
गानप्रीतां गमय रुचिरां गीयमानां गुणाढ्याम् ।
गुर्वीं गुण्यां त्रिगुणजननीं गीर्णगर्वां सुगर्वां,
गीर्वाणेशीं गगनविमलां गेयकीर्तिं गणेशीम् ॥ १४ ॥
हालामत्तां हरिणनयनां नौमि नित्यं नवीनां,
नासामुक्तां नरसुरनुतां नायकां तां नगस्थाम् ।
नागैर्भान्तीं नगपतिसुतां नम्रतुष्टां न दुष्टां,
नाकज्ञातां नमनतुषितां नन्दयन्तीं नमस्याम् ॥ १५ ॥
सेवे बालां भजति सुमुखीं शम्भुशक्तिं सुशान्तां,
सर्पाभूषां शमितदुरितां शास्त्रशस्यां यशस्याम् ।
शृंगाराढ्यां शशिनतमुखीं शस्यमानां शरण्यां,
शान्ताराति शमदमपरां शीलनीयां शिवाय ॥ १६ ॥

(सिन्धया ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, उज्जैन से प्राप्त
हस्तलिखित "चित्र-भूषण" नामक प्रति से उद्धृत ।)

———

परिशष्ट-३

प्रमुख सहायक-ग्रन्थ

:कः हस्तलिखितग्रन्थ

ग्रन्थ नाम	स्थान
१—अरनाथ-स्तव	भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
२—कूट-प्रपंचकाव्य	सिन्धिया ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, उज्जैन
३—चन्द्रप्रभ-स्वामिस्तवन	मुनि पुण्यविजयजी का भण्डार, अहमदाबाद
४—चित्रबन्ध-रामायण	सरस्वती महल लाइब्रेरी, तंजौर
५—चित्रभूषण	सिन्धिया ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, उज्जैन
६—चित्र-रत्नाकर	ओरियण्टल लाइब्रेरी, मद्रास
७—चित्रालङ्कार-चन्द्रिका	रुद्रदेव त्रिपाठी, स्वकीयसंग्रह
८—नामविलासकाव्य	अड्यार लायब्रेरी, मद्रास
९—पद्यामृत-सरोवर	सिन्धिया ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, उज्जैन
१०—शाङ्‌र्गधरपद्धति	ओरियण्टल लायब्रेरी, मद्रास
११—साहित्य-रत्नाकर	ओरियण्टल लायब्रेरी, मद्रास

:खः मुद्रित-ग्रन्थ

अलङ्कारः

ग्रन्थ नाम	लेखक, प्रकाशक अथवा प्रकाशन-स्थान
१—अलंकार-कौतुक	श्रीहरिशास्त्री दाधीच, जयपुर
२—अलंकार-कौस्तुभ	कलकत्ता-प्रकाशन
३—अलंकार-चिन्तामणि	सखाराम नेमचन्द्र, सोलापुर
४—अलंकार-तिलक	ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मैसूर
५—अलंकारमणिहार	ओरियण्टल रिसर्च इस्टीट्यूट, मैसूर
६—अलंकारमहोदधि	गायक वाड ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बडौदा
७—अलंकार-मुक्तावली	श्री चावलिरामसूरि, मद्रास
८—अलंकार-रत्नाकर	
९—अलंकार-शेखर	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
१०—अलंकार-सर्वस्व	निर्णय सागर प्रेस-बम्बई
११—अलंकारोदाहरण	संगृहीत
१२—एकावली	
१३—औचित्यविचार चर्चा	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
१४—कविकण्ठाभरण	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
१५—कविकल्पलता	,, ,,
१६—कवीन्द्र-चन्द्रोदय	महादेव पट्टवर्धन भट्ट, बम्बई
१७—काव्यकल्पलतावृत्ति	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी

१८—काव्यकौमुदी	हरिदास सिद्धान्त वागीश, कलकत्ता
१९—काव्यप्रकाश	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
२०—काव्यमीमांसा	गायकवाड ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा
२१—काव्यादर्श-दण्डी	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
२२ काव्यानुशासन-हेमचन्द्र	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
२३—काव्यानुशासन-वाग्भट	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
२४—काव्यालंकार-भामह	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
२५—काव्यालंकार-रुद्रट	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
२६—काव्यालंकारसार	गायकवाड ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा
२७—काव्यालंकारसारसंग्रह	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
२८—काव्यालंकारसूत्र	सम्पादक, आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली–वि० वि० प्रकाशन
२९—काव्यालोक	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
३०—चन्द्रालोक	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
३१—चमत्कार-चन्द्रिका	श्री प्रभात शास्त्री, दारागंज, प्रयाग
३२—चित्रकाव्यकौतुक	मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी
३३—चित्रबन्धकाव्य	पंडित दामोदर मिश्र
३४—चित्रोपहार	संन्यासी संस्कृत कालेज, वाराणसी
३५—छन्दोरचना	बम्बई मुद्रणालय, बम्बई
३६—ध्वन्यालोक	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
३७—नाट्यशास्त्र	गायकवाड़ ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बडौदा
३८—प्रतापरुद्रयशोभूषण	
३९—मन्दारमरन्दचम्पू	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
४०— रसगंगाधर	” ” ”
४१—वक्रोक्तिजीवित	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
४२—वाग्भटालंकार	खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई
४३—विदग्धमुखमण्डन	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
४४—व्यक्तिविवेक	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
४५—शिशुप्रबोधकाव्यालंकार	गायकवाड ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा
४६—शृङ्गारप्रकाश	सम्पादक–डा० वि० राघवन्
४७—सरस्वतीकण्ठाभरण	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
४८—साहित्यदर्पण	” ”
४९—साहित्यशास्त्र भाग १, २	संपादक–बलदेव उपाध्याय, वाराणसी

परिशिष्ट-३

काव्यादि-ग्रन्थ

१—किरातार्जुनीय	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
२—जयपुरवैभव	मंजुकवितानिकुंज, जयपुर
३—धर्मशर्माभ्युदय	भारतीय विद्या भवन, बम्बई
४—नरनारायणानन्द	भारतीय विद्या भवन, बम्बई
५—नैषधीयचरित	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
६—यादवाभ्युदयमहाकाव्य	ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मैसूर
७—रघुवंश	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
८—रावणवध-भट्टिकाव्य	,, ,,
९—रासपंचाध्यायी	सं० डा० रसिकबिहारी जोशी, दिल्ली
१०—रुक्मिणीहरण-महाकाव्य	हरिदास सिद्धान्तवागीश, कलकत्ता
११—विज्ञप्तित्रिवेणी	जैन आत्मानन्द सभा, बम्बई
१२—शिशुपालवध महाकाव्य	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
१३—सीतारावणसंवाद-झरी	विभिन्न तीन ग्रन्थ, ओ० रि० इ०, मैसूर
१४—सुभाषितरत्नभाण्डागार	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

पुराण और वेद ग्रन्थ

१—अग्निपुराण	साहित्यदर्पण परिशिष्ट भाग-बम्बई
२—विष्णुधर्मोत्तर पुराण	गायकवाड ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा
३—शिवपुराण	गीता प्रेस, गोरखपुर
४—ऋग्वेदसंहिता	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
५—यजुर्वेदसंहिता तथा रुद्राष्टाध्यायी,	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

स्तोत्र-ग्रन्थ

१—अजियसंति-थय-प्रतिक्रमण सूत्र,	जैन साहित्यविकासमण्डल, बम्बई ५६
२—अम्लानपंकजमालास्तोत्र	केकावली, नागपूर
३—ईश्वरशतक	काव्यामाला गुच्छ-६, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
४—गायत्रीलहरी	दशपुर साहित्य संवर्धन संस्थान, मन्दसौर
५—चतुर्विंशतिका चतुर्हारावली	जैनस्तोत्र रत्नाकर, महेसाना, गुजरात
६—चलच्छृंखलागर्भितपार्श्वनाथस्तोत्र	समयसुन्दरगणि, बम्बई
७—चित्रबन्धस्तोत्र	सिद्धान्तसारादिसंग्रहान्तर्गत, बम्बई
८—चित्रबन्धाष्टक	पत्रदूतम् काव्य के अन्तर्गत, मन्दसौर
९—जिनस्तवन चतुर्विंशतिका	जैनस्तोत्रसमुच्चय, बम्बई
१०—पंचजिनहारबन्धस्तव	ऋषभदेव केसरीमल जैन पेढ़ी, रतलाम

११—प्रश्नशतक	जैन स्तोत्र रत्नाकर, भाग २, महेसाना, गुजरात
१२—महावीरजिनस्तवन	जैनस्तोत्रसमुच्चय, बम्बई
१३—युगादिजिनस्तवन	जैनस्तोत्रसमुच्चय, बम्बई
१४—लक्ष्मीसहस्रकाव्य	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
१५—वीरजिनस्तवन	जैनस्तोत्रसमुच्चय, बम्बई
१६—स्तवमाला	काव्यमाला-निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
१७—स्तुतिकुसुमाञ्जली	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
१८—स्तुतिविद्या जिनशतक	सम्पादक पन्नालाल जैन, सागर

:ग: स्वतन्त्र संकलन:—

१—श्रीकरमलकरशास्त्री भू०पू० अध्यापक राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, इन्दौर
२—श्रीगिरधारीलालजी शास्त्री भू०पू० अध्यापक-गोवर्धन सं० महाविद्यालय, नाथद्वारा
३—चित्तौड़गढ़ :राजस्थान: दुर्गस्थित त्रिमूर्ति मन्दिर के शिलालेख से
४—बाबूलाल जैन भू०पू० अध्यापक-हुकमचन्द जैन सं० महाविद्यालय, इन्दौर
५—श्रीरामचन्द्रजी मिश्र भू०पू० प्राचार्य-गोवर्धन सं० महाविद्यालय, नाथद्वारा
६—म०म० श्री रामावतार शर्मा (श्री कान्तजी शर्मा के सौजन्य से) वाराणसी
७—श्रीलक्ष्मीनारायण शास्त्री भू०पू० प्राध्यापक-महाराजा संस्कृत कालेज, उदयपुर
८—लोधपुर :गुजरात: के जैन मन्दिर में उत्कीर्ण शतदल कमल बन्ध
९—श्री सुदर्शन शास्त्री पंचनद वासी के स्वतन्त्र मुद्रित ३ चित्र बन्ध
१०—श्री महेश्वर तर्कालङ्कार-खड्गबन्ध
११—श्रीरामस्वरूप पाठक—चक्रबन्ध-साङ्क, पुस्तक के अतिरिक्त
१२—स्वामी महेश्वरानन्दजी महाराज-छन्दोमय चित्र
१३—श्रीदेवीप्रसादजी चक्रवर्ती

———

चित्र-बन्ध-फलकावली

वर्ण-विन्यासरुचिरां, गत्याकारादिचित्रिताम् ।
चित्रां चिनुत धीमन्तश्चित्रालङ्कार-पद्धतिम् ॥

चित्रबन्ध-फलकों के सम्बन्ध में—

प्रस्तुत प्रबन्ध में चर्चित विभिन्न चित्र-बन्धों का आयाम अतिविस्तृत है, जिनका यथावत् प्रकाशन सुलभ नहीं था, अतः यहाँ विविध पद्धति-सूचक प्रतिनिधि चित्र-बन्धों का सङ्कलन करते हुए १४० चित्रों को स्थान दिया है। पूर्व सूचनानुसार पठन-पद्धति–निर्देश के अतिरिक्त यहाँ प्रत्येक फलक पर शीर्षक से पूर्व चित्र-क्रमाङ्क और नाम के पश्चात् एक ही पद्धति के अन्य चित्र आने पर चापबन्धनी में उसकी संख्या तथा अन्त में प्रस्तुत ग्रन्थ के जिस पृष्ठ में उस बन्ध का विवेचन किया गया है, उसकी संख्या का निर्देश किया गया है।

प्रथम और द्वितीय परिशिष्ट में सहस्रदल-कमल-बन्ध और कामधेनु–बन्ध के जिन पद्यों के मूल में आद्यन्त अंश का ही सूचन किया था, उनका पूरा पाठ दिया गया है।

चित्रकाव्याभिशंसनमभ्यर्थना च

वाचां विन्यासवैचित्र्यं व्यञ्जयन्ती विपश्चिताम् ।
चिरं चित्रीयतां चित्तं, चित्रकाव्यस्य पद्धतिः ॥ १ ॥

एकत्र येऽद्भुतरसाप्लुतमञ्जुदृश्यं,
श्रव्यं च काव्यमवलोकयितुं लषन्ति ।
अन्तर्निलीनबहुचित्रकवित्वपूर्णां,
ते चित्रपद्धतिमिमां परिशीलयन्तु ॥ २ ॥

नहि कनकपरीक्षाऽऽस्वादगन्धादिभिः स्या-
दपि तु भवति नित्यं घर्षणच्छेदनाद्यैः ।
सुमतिरपि तथैव प्रत्यहं रास–लास–
प्रहसनपरिलीनाऽप्यत्र चित्रे परीक्ष्या ॥ ३ ॥

घृष्टं घृष्टं वितरति सदा चन्दनं चारुगन्धं,
शाणोल्लीढो मणिरपि भवेत् कान्तिमान् मूल्यवांश्च ।
शस्त्रं योद्धुर्भवति निशितं युद्धमध्ये प्रयोगाद्
बुद्धिस्तद्वज्जडिमहृतये चित्रकाव्येऽत्र शोध्या ॥ ४ ।

गैर्वाण्याश्चिररक्षणाय मनसा बद्धादरा धीधना-
स्त्यक्त्वा मोहमवाप्तपुस्तकधनं संरक्ष्यतां यत्नतः ।
तस्मिन् माऽस्तु मतिः कदापि विरसा क्लिष्टत्वदृष्ट्या वृथा,
क्लिष्टं ग्रावहृदो न किं सृतिमिता गङ्गा जगत्पावनी ॥ ५ ॥

क्लिष्टं क्लिष्टमितीह यन्निगदितं लोकाननाद् श्रूयते,
किं वा वाञ्छितसिद्धये प्रतिपदं सारल्यमेवेष्यते ।
भ्रान्तास्ते न विदन्ति यद्धि कठिनादिक्षो रसं निःसृतं,
नीत्वैवाखिलमिष्टवस्तुरचनं सञ्जायते भूतले ॥ ६ ॥

संस्कृतं संस्कृतेर्मूलं, विद्याः शाखाश्च पल्लवाः ।
काव्य–नाटच–प्रकारा ये, चित्रकाव्यं तु तत्फलम् ॥ ७ ॥

पीयतां परममोदनिर्भरां, चित्रकाव्यगतमाधुरीं बुधाः ।
संस्कृतेश्च परमोज्ज्वलं यशो, भूतले निरतमेव चीयताम् ॥ ८ ॥

—डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

(१) गति-चित्र-बन्ध

१– गतप्रत्यागत-गतिचित्र, पृ० २२७

वा	र	णा	ग	ग	भी	रा	सा
का	रि	ता	रि	व	धा	से	ना

२–तदक्षरगत-गतिचित्र, पृ० २२७

नि	शि	ता	सि	र	तो	भी	को	न्ये	ज	ते	म	र	णा	रु	चा

३–श्लोकान्तर-गतिचित्र, पृ० २२८

वा	ह	ना	ज	नि	मा	ना	से	सा	रा	जा	व	न	मा	त	तः
म	त्त	सा	र	ग	रा	जे	भे	भा	री	हा	व	ज्ज	न	ध्व	नि

४–रथपद-गतिचित्र, पृ० २२९

इ	ती	क्षि	ता	सु	रै	श्व	क्रे
या	य	मा	म	म	मा	य	या
मा	हि	ष	पा	तु	वो	गौ	री
सा	य	ता	सि	सि	ता	य	सा

५–तुरगपद-पाठचित्र, पृ० २२९

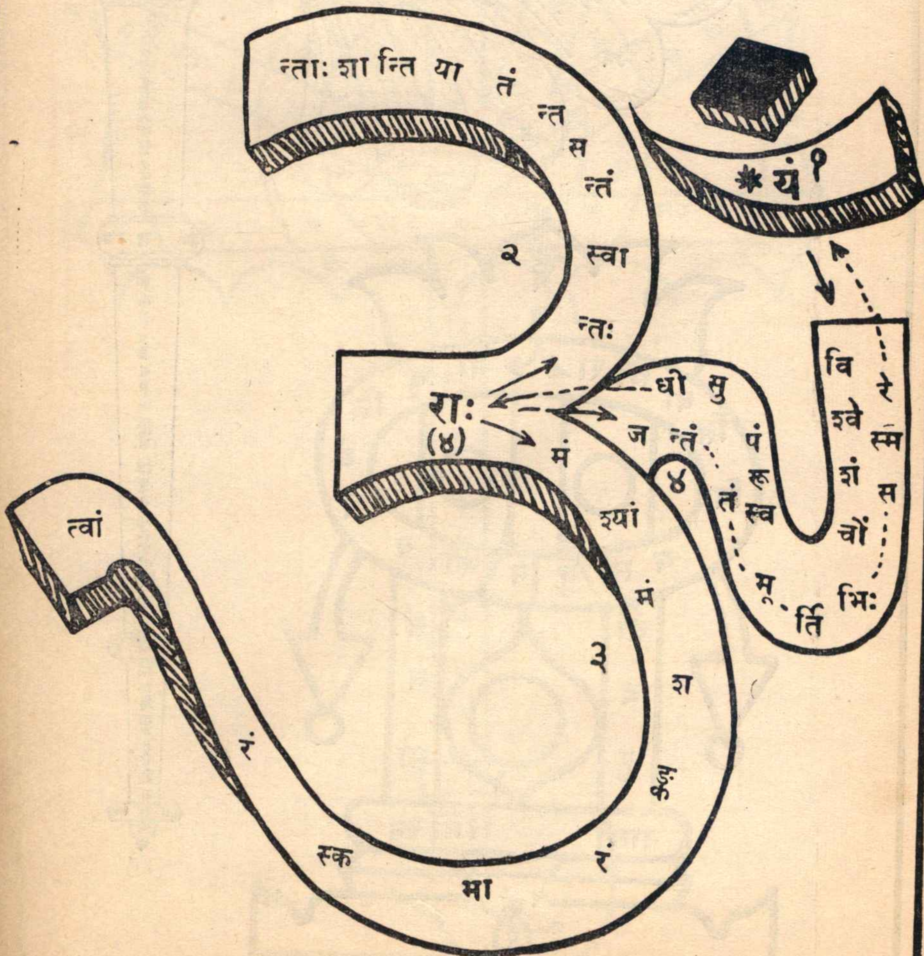
मे १	ना ३०	लो ९	लो २०	लो ३	ना २४	ना ११	लो २६
लो १६	ना १९	ना २	ना २९	ना १०	लो २७	लो ४	लो २३
ना ३१	लो ८	ना १७	लो १४	लो २१	ना ६	लो २५	ना १२
ली १८	लो १५	लो ३२	ना ७	ना २८	ना १३	ना २२	लो ५

ये	ना	ना	धी	ना	वा	धी	रा
ना	धी	वा	रा	धी	रा	रा	जन्
किं	ना	नां	शं	ना	कं	शं	ते
ना	श	ङ्क	न्ते	शं	ते	ते	जः

६–गजपद-पाठचित्र, पृ० २३१

[२] मङ्गलमय-चित्र-बन्ध

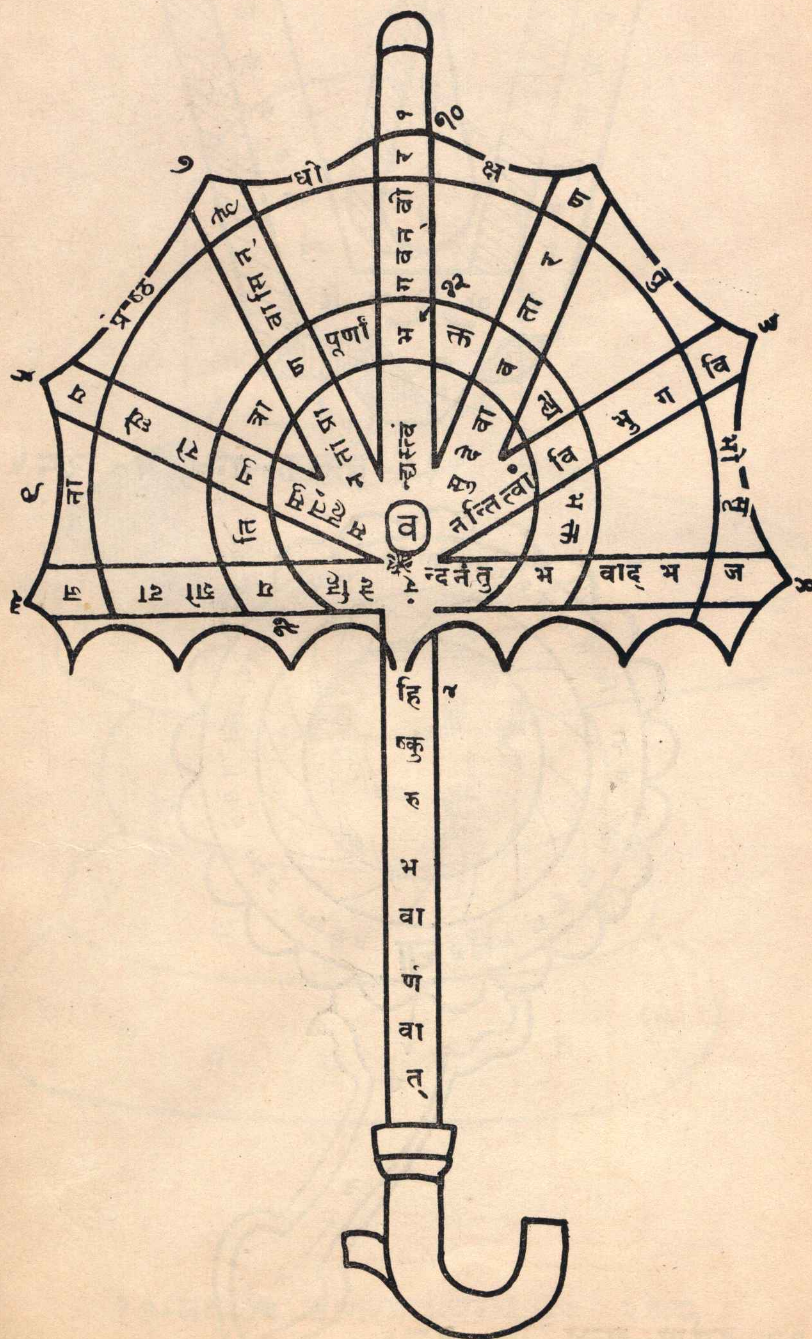
७–ओङ्कार-बन्ध, पृ० २७६



९-चामर-बन्ध, पृ० २८०

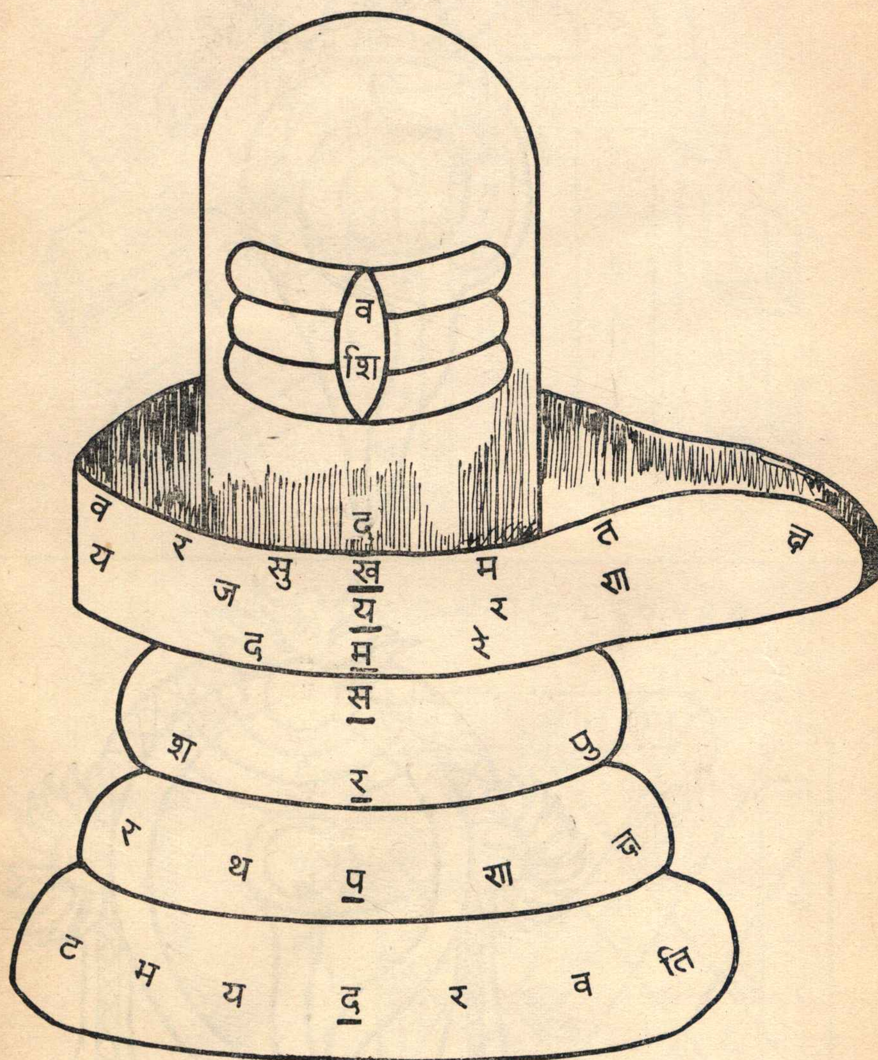
८—आसन-बन्ध, पृ० २७७

१०-छत्र-बन्ध, पृ० २८५



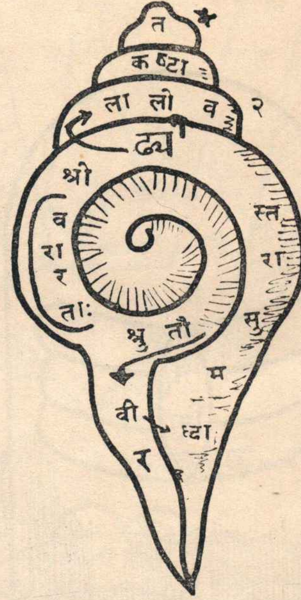
११-तिलक-बन्ध, पृ० २८५

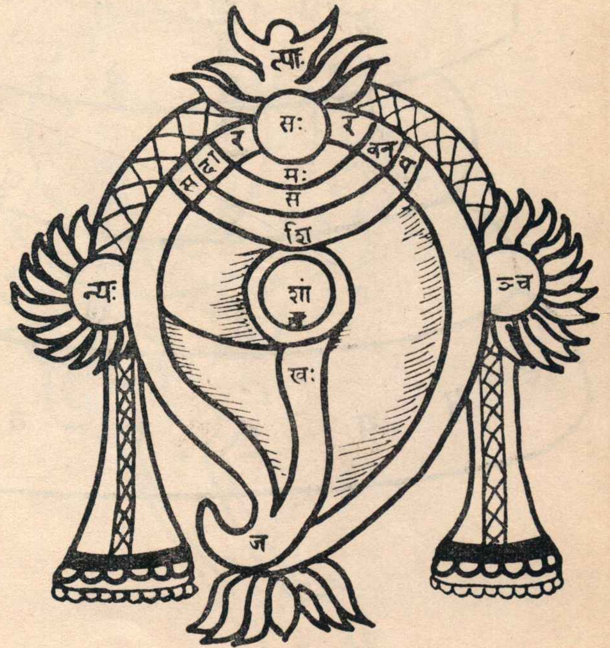
१२-दर्पण-बन्ध, पृ० २८६



१३-महादेव-जागेश्वर-बन्ध, पृ० २८८

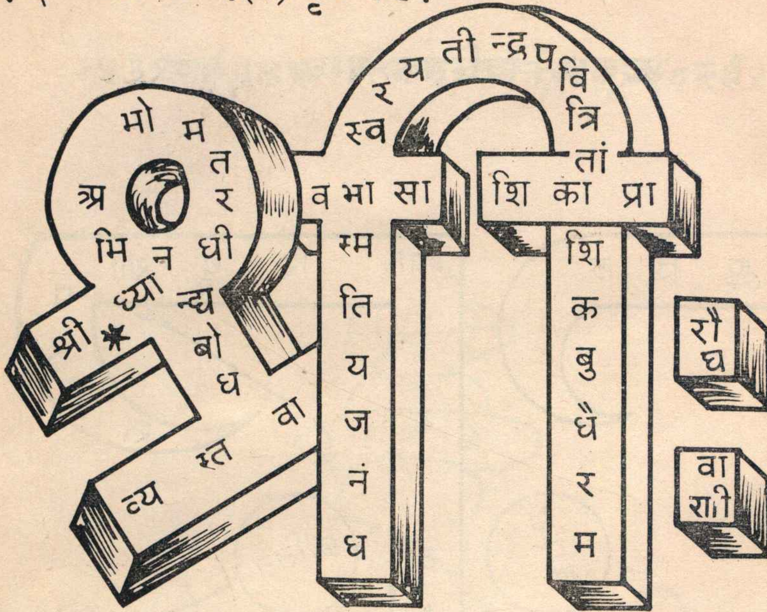
१४-शङ्ख-बन्ध, पृ० २८६



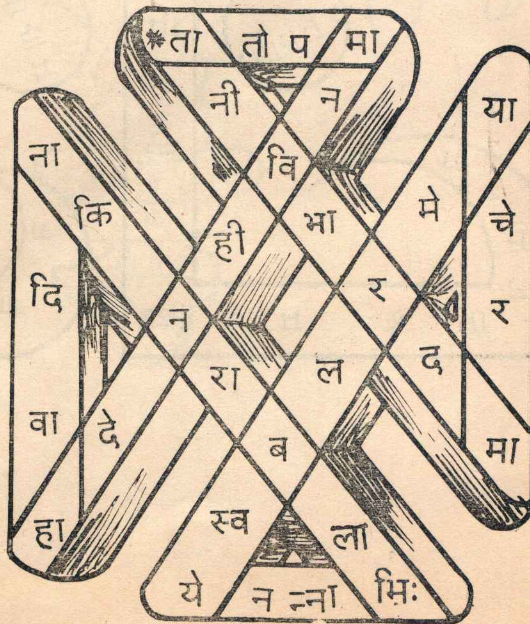


१५-पाञ्चजन्य (शङ्ख) बन्ध, पृ० २९०

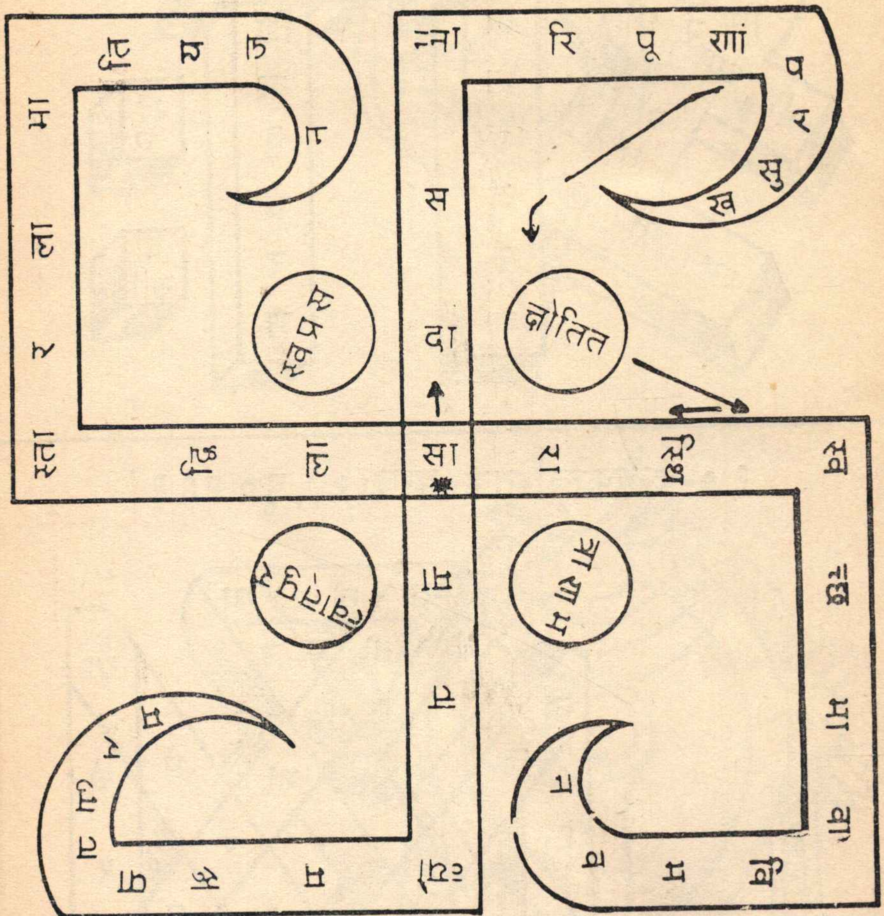
१६-'श्रीः'-बन्ध,(१) पृ० २६१



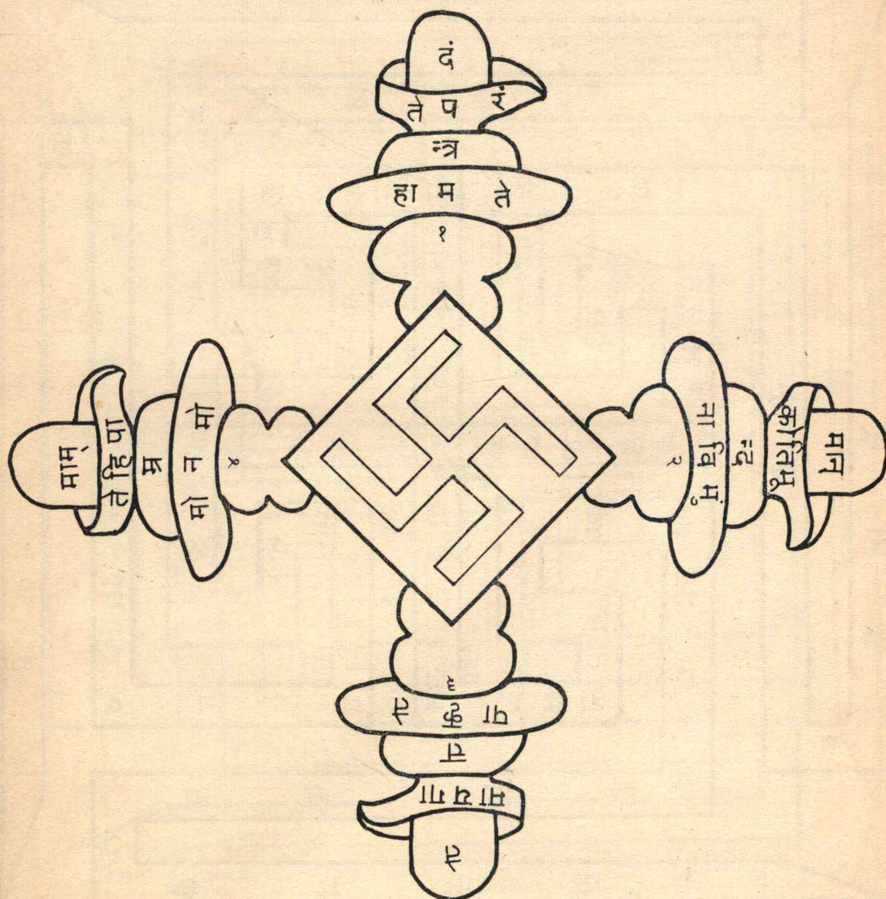
१७-बन्धूकस्वस्तिक-बन्ध,(२), पृ० २६३



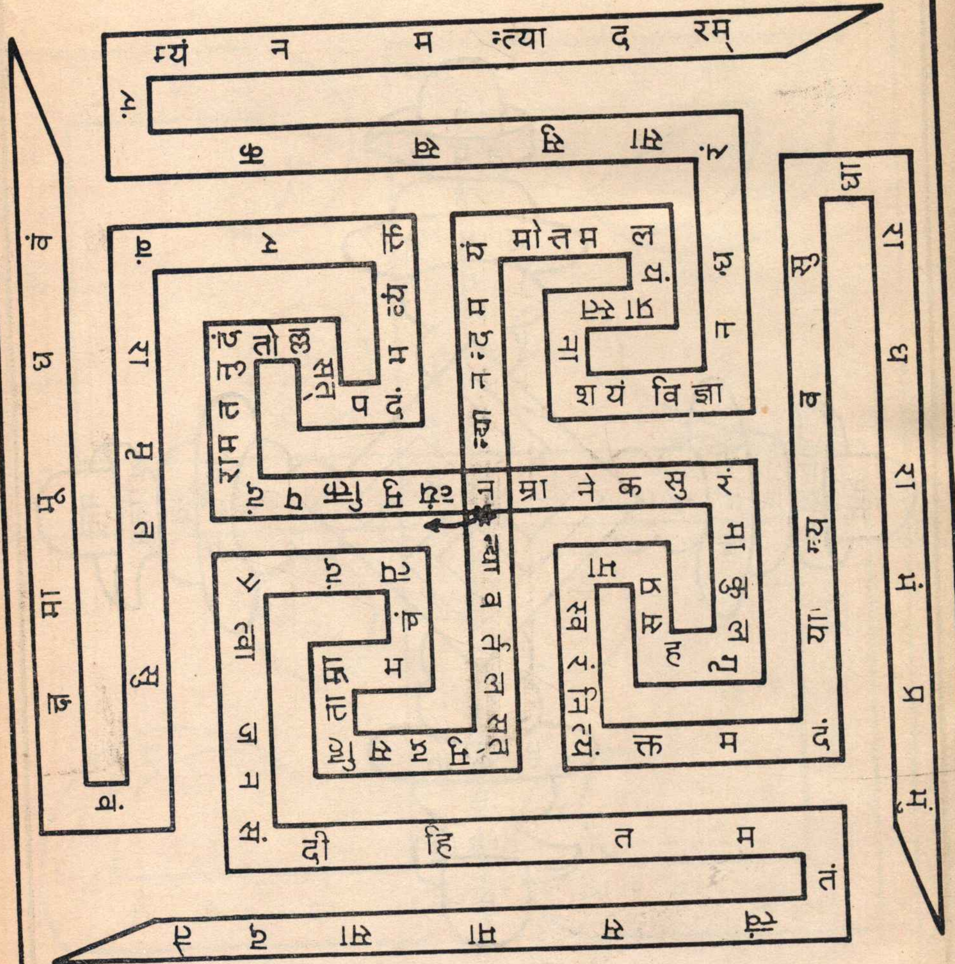
१८-भद्रकावर्त-स्वस्तिक-बन्ध,(४), पृ०२६४



१९-चतुर्महादेव-स्वस्तिक-बन्ध,(५), पृ०२९४

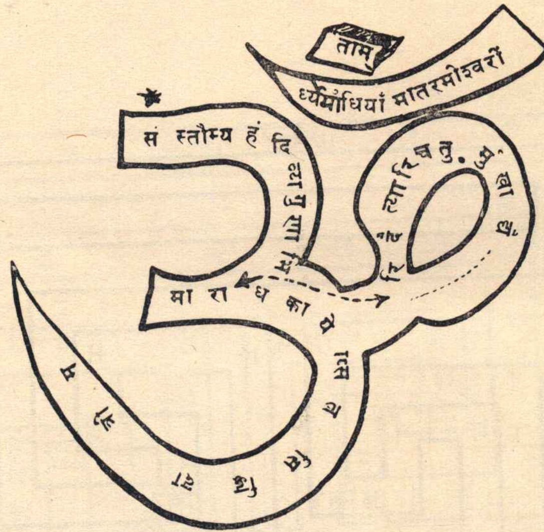


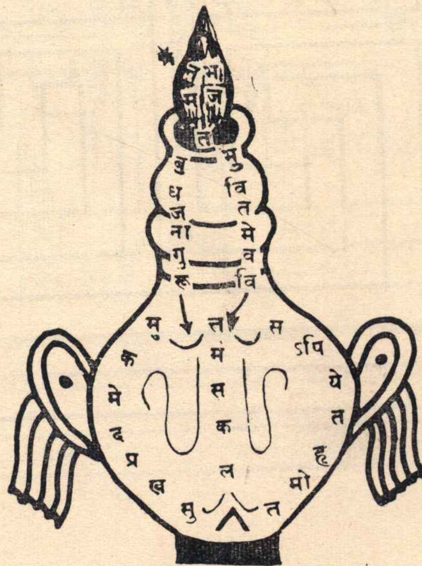
२०-नन्द्यावर्त-स्वस्तिक-बन्ध, (६), पृ० २६६



२१-नन्दिकावर्त-स्वस्तिक-बन्ध, (७), पृ० २६७

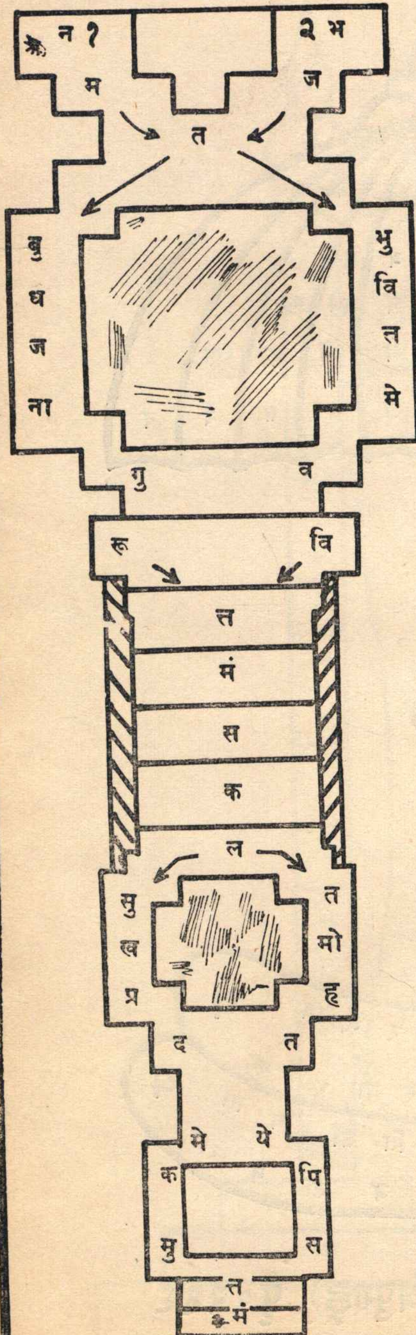
२३ - ओङ्कार-बन्ध, (१) पृ० २९६

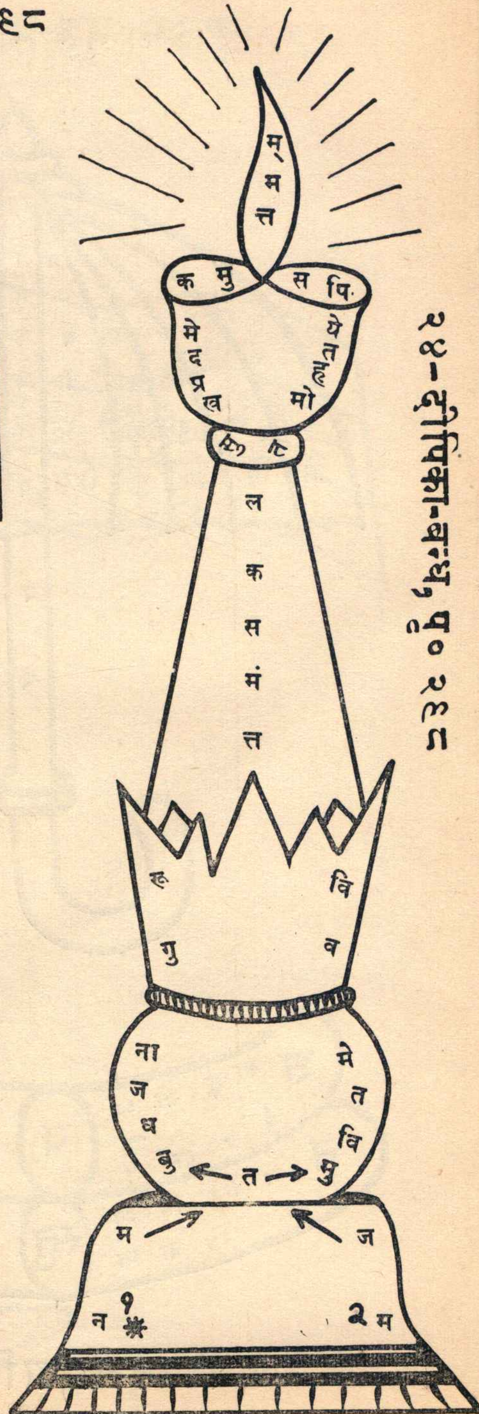




२२ - कलश-बन्ध, पृ० २९८

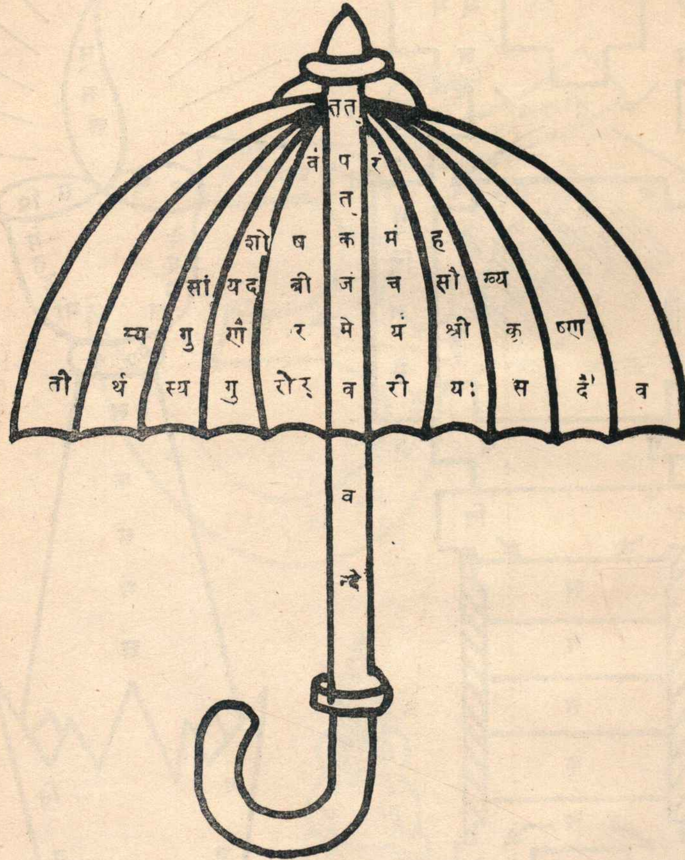
२५-वापिका-बन्ध, पृ० २६८

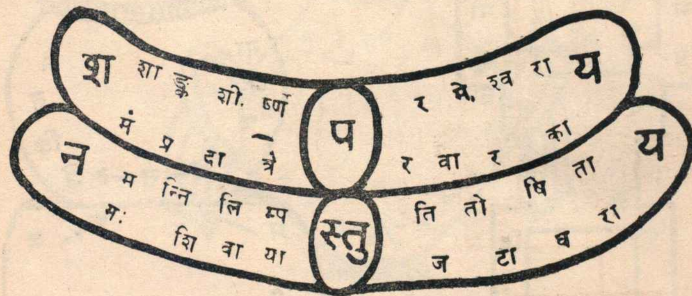




२४-दीपिका-बन्ध, पृ० २६८

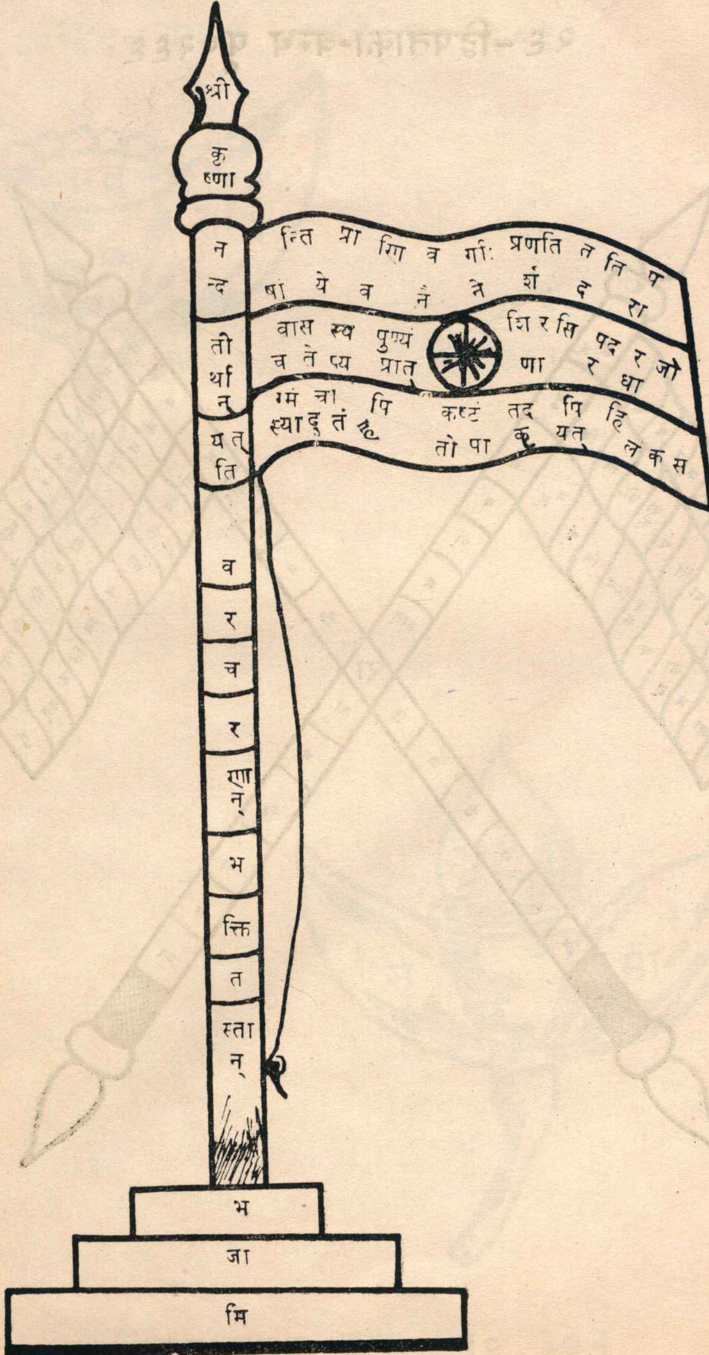
२६-छत्र-बन्ध, पृ० २६८





२७-तिलक-बन्ध (त्रिपुण्ड्र), पृ० २६६

२८-ध्वज (भारतराष्ट्र)-बन्ध पृ०२६६



२६-द्विपताका-बन्ध पृ०२६६

[३] वनवैभवात्मक-चित्र-बन्ध ३१

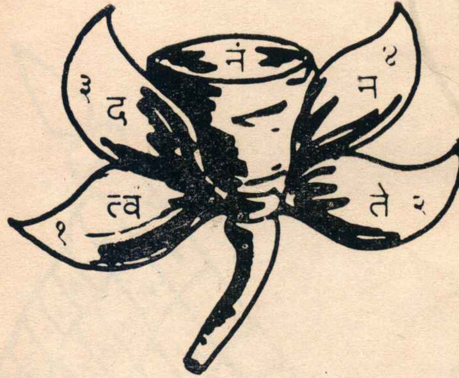
३०-द्विदल-कमल - बन्ध, पृ० ३०१

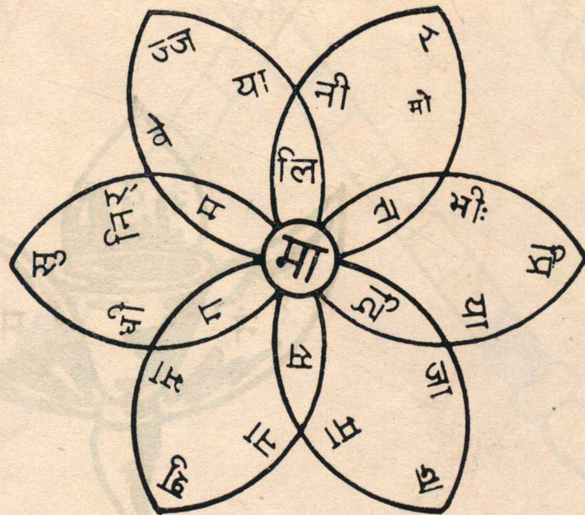




३१-त्रिदल-कमल-बन्ध, पृ० ३०२

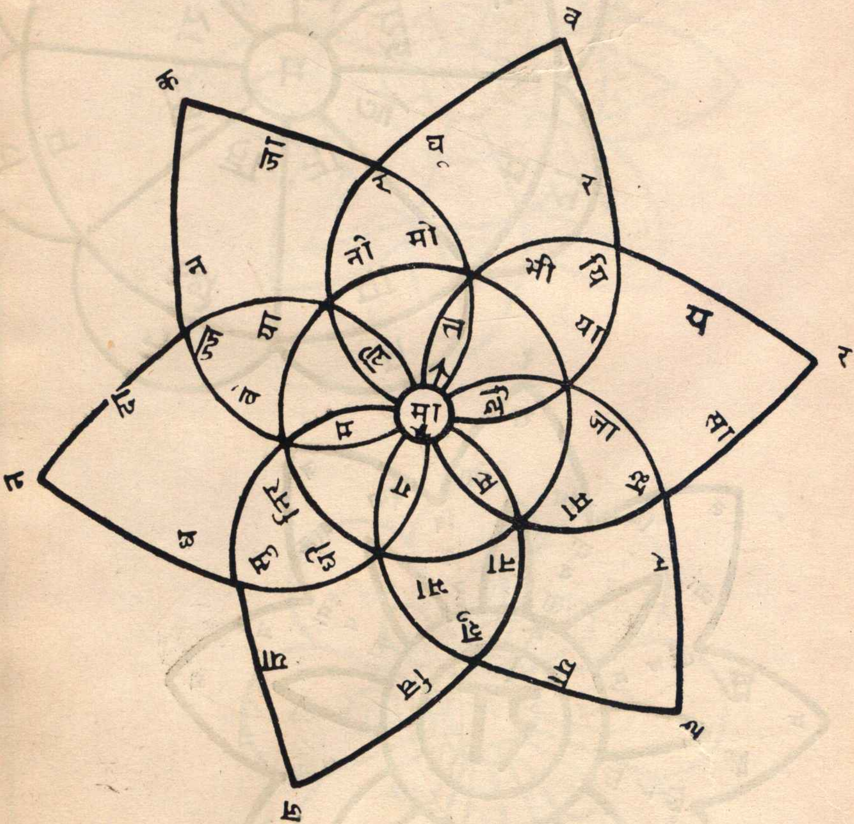
३२-चतुर्दल-कमल-बन्ध, पृ० ३०२



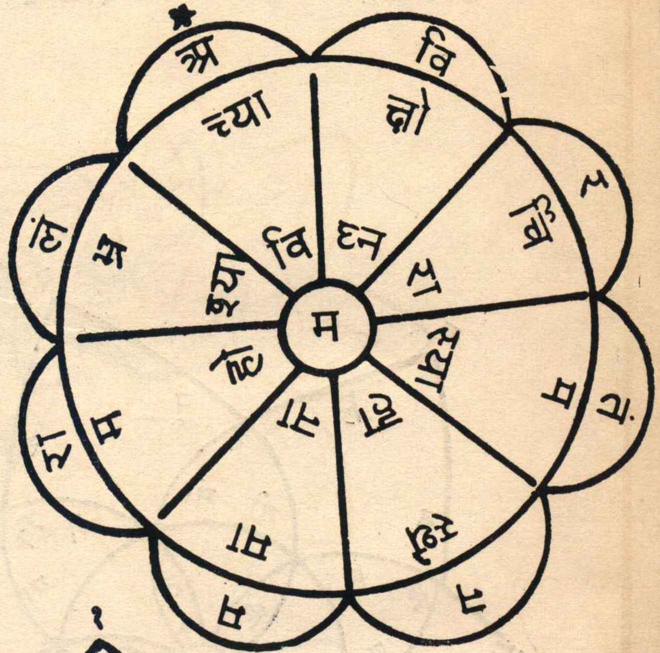


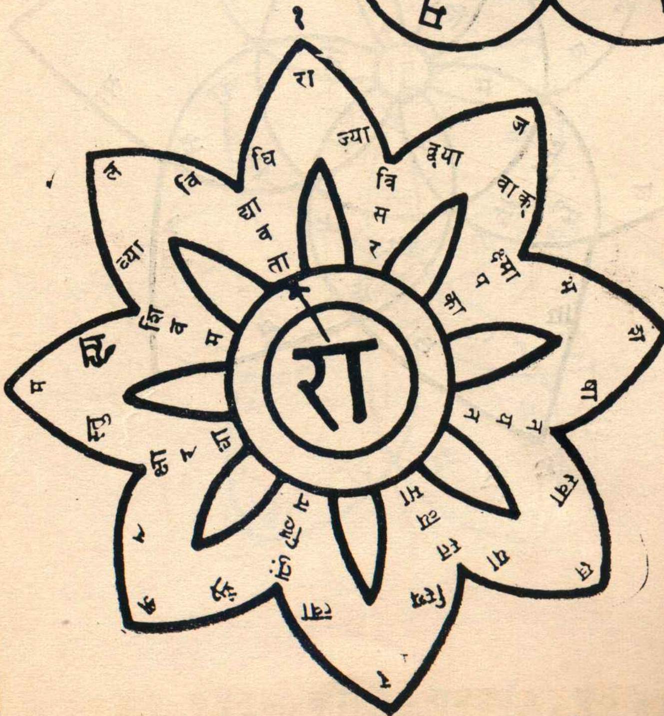
३३-षड्दल-कमल-बन्ध (१), पृ० ३०५

३४-षड्दल-कमल-बन्ध (३), पृ० ३०६



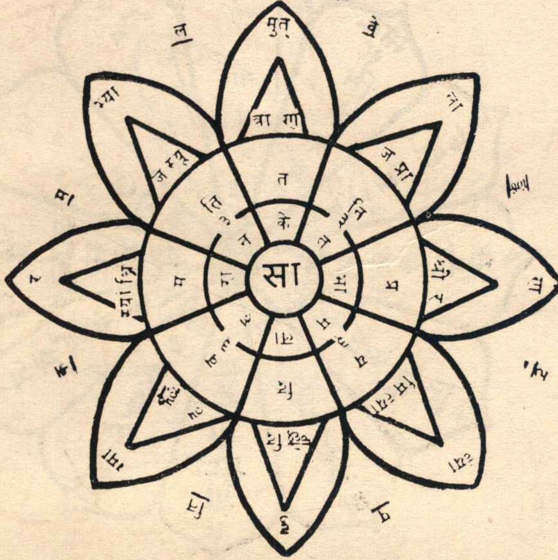
३५-अष्टदल-कमल-बन्ध (११), पृ० ३१०

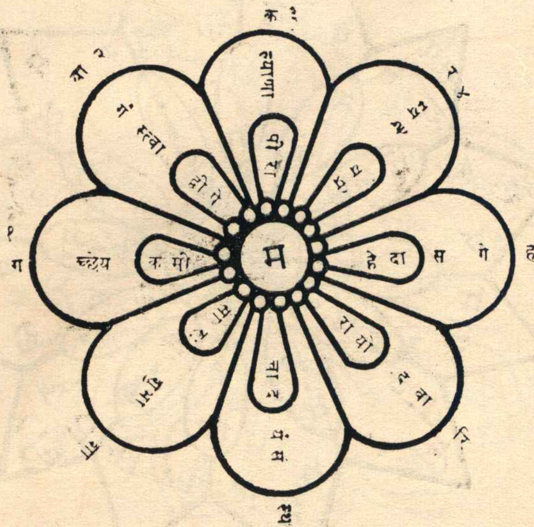




३६-अष्टदल-कमल-बन्ध (१२), पृ० ३१०

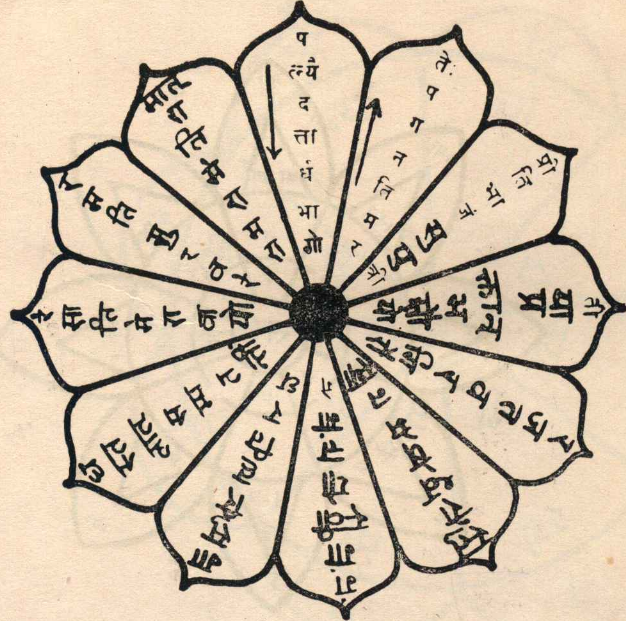
३७-अष्टदल-कमल - बन्ध (१३), पृ० ३११

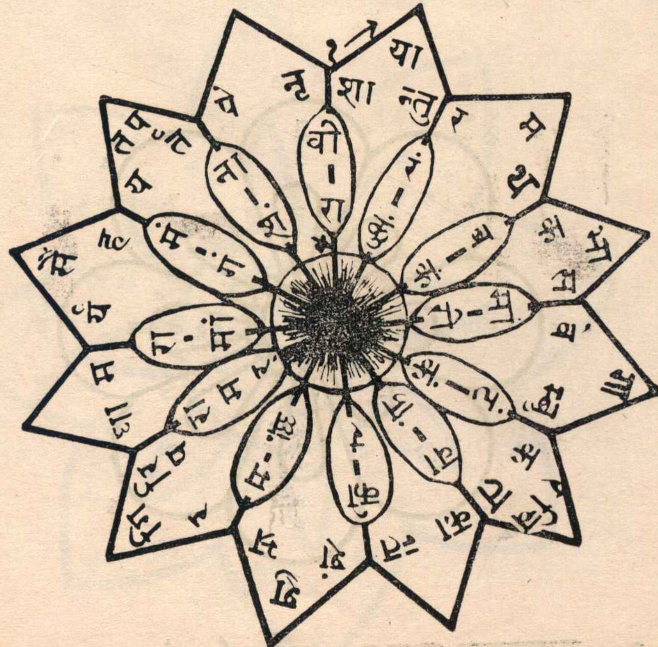




३८-अष्टदल-कमल - बन्ध (१६), पृ० ३१२

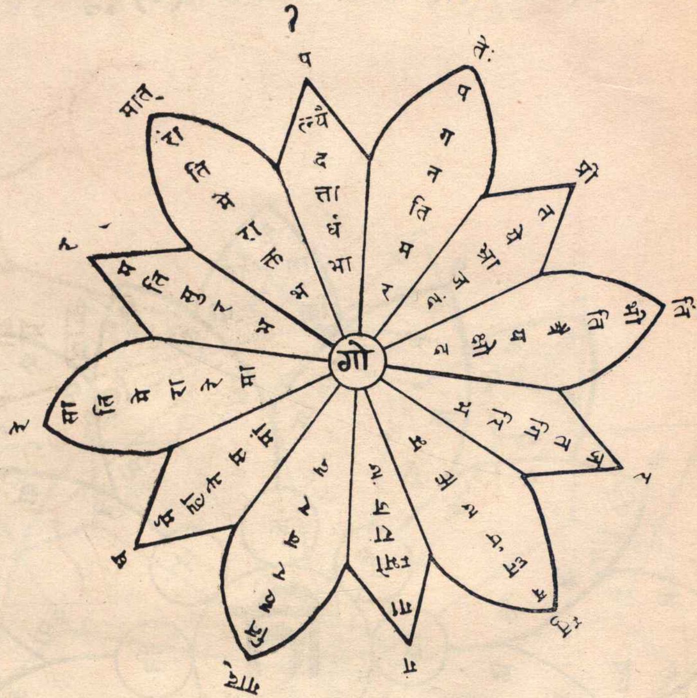
३९-द्वादशदल-कमल-बन्ध (१), पृ० ३१५

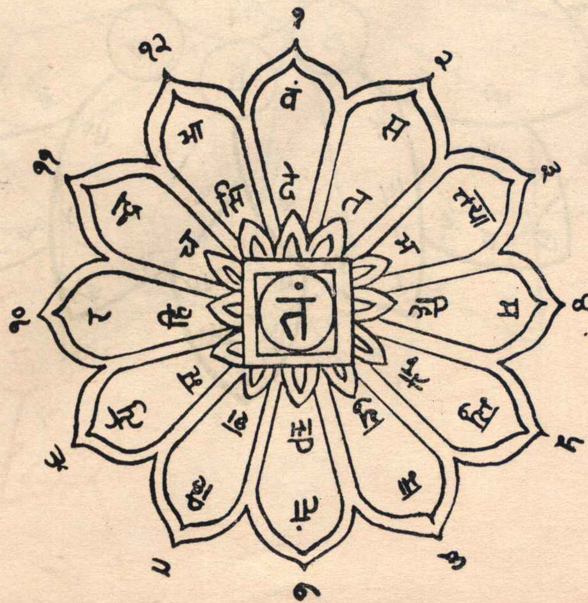




४०-द्वादशदल-कमल-बन्ध (२), पृ० ३१५

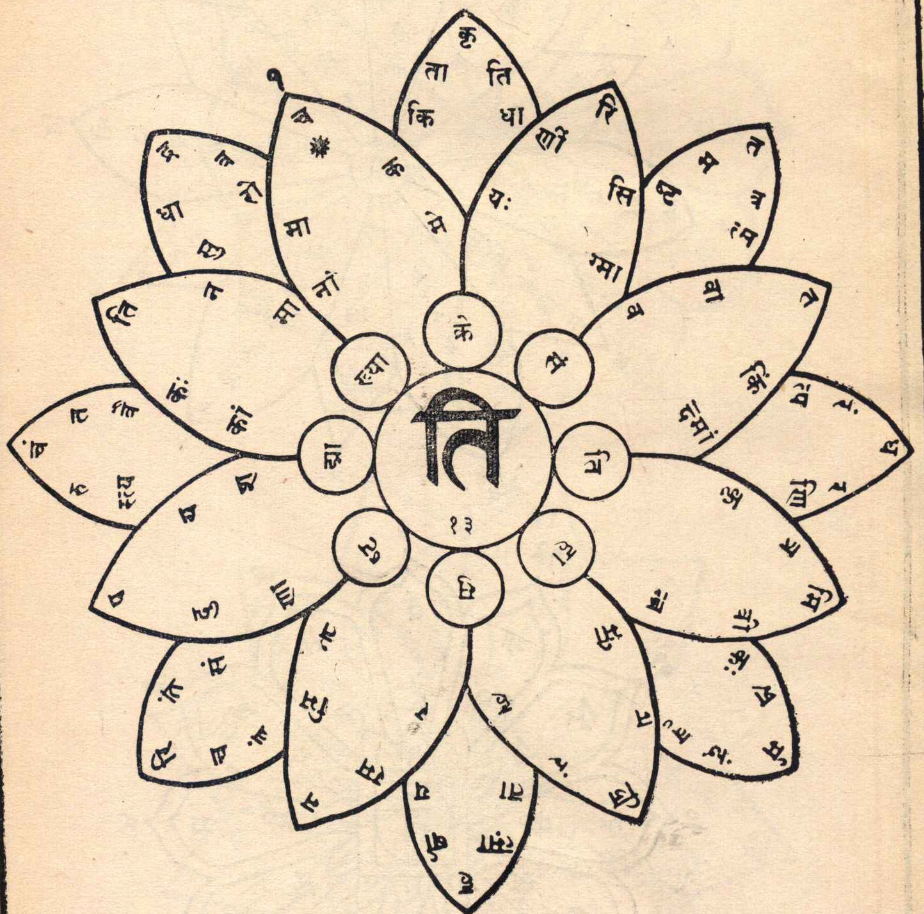
४१-द्वादशदल-कमल-बन्ध (३), पृ० ३१६



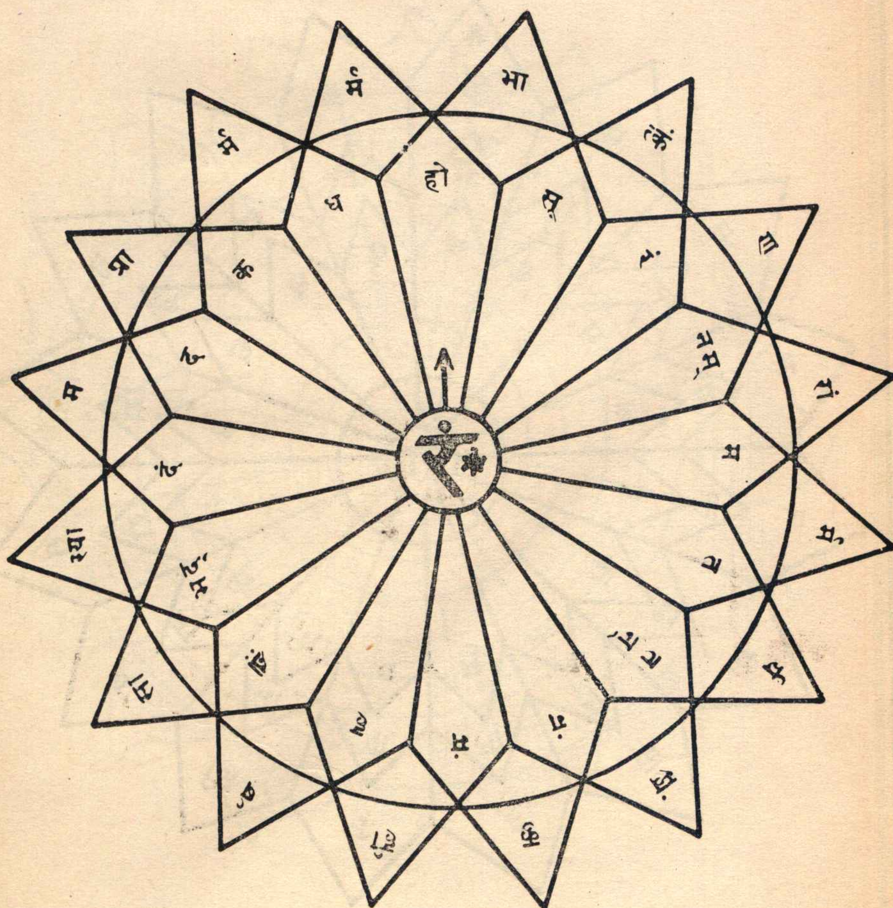


४२-द्वादशदल-कमल-बन्ध (५) पृ० ३१६

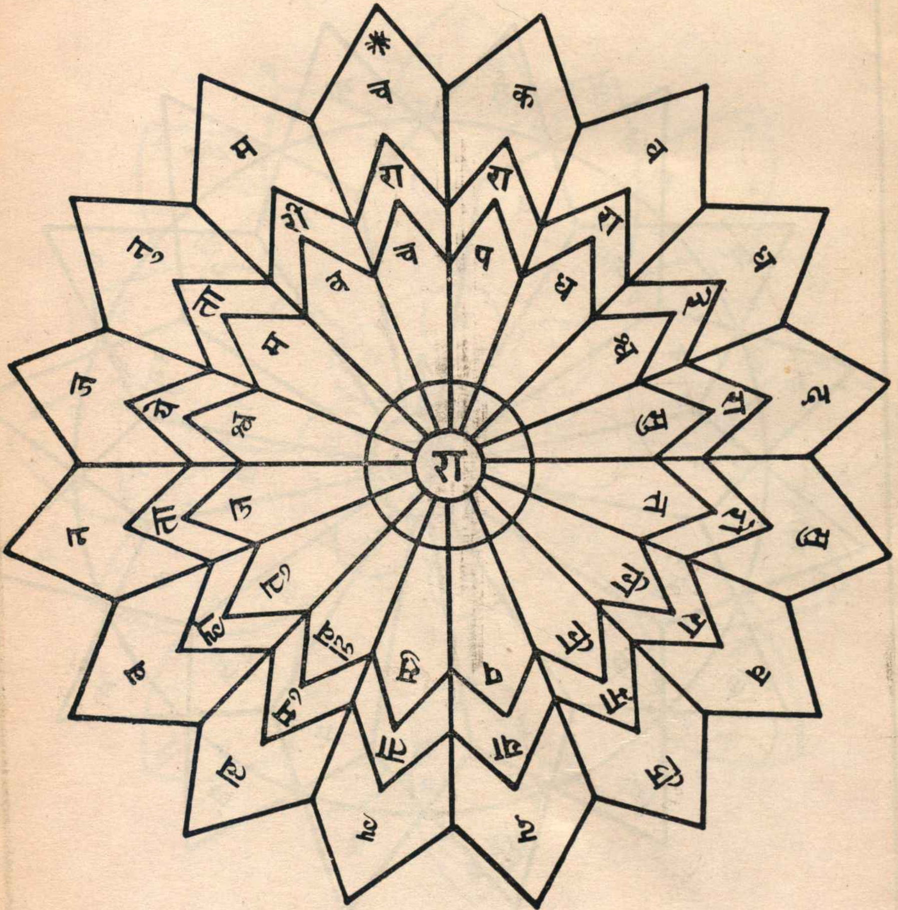
४३-षोडशदल-कमल-बन्ध (४) पृ० ३१८



४४-षोडशदल-कमल-बन्ध (५), पृ० ३१७



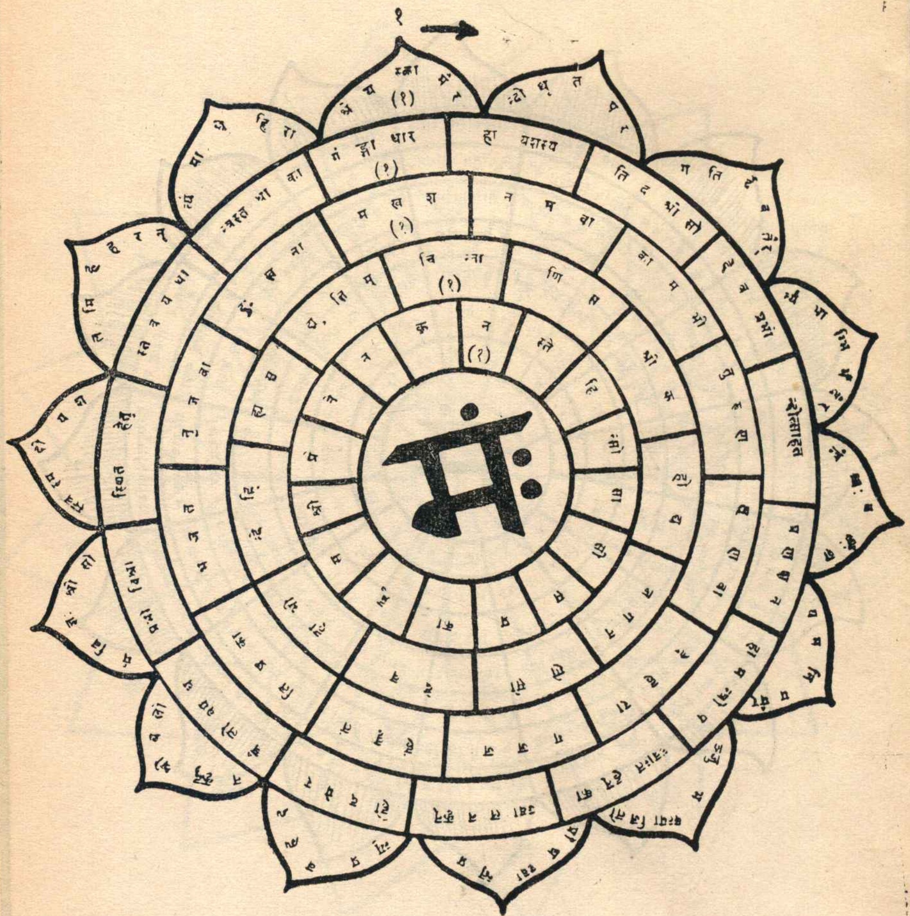
४५-षोडशदल-कमल-बन्ध (६), पृ० ३२०



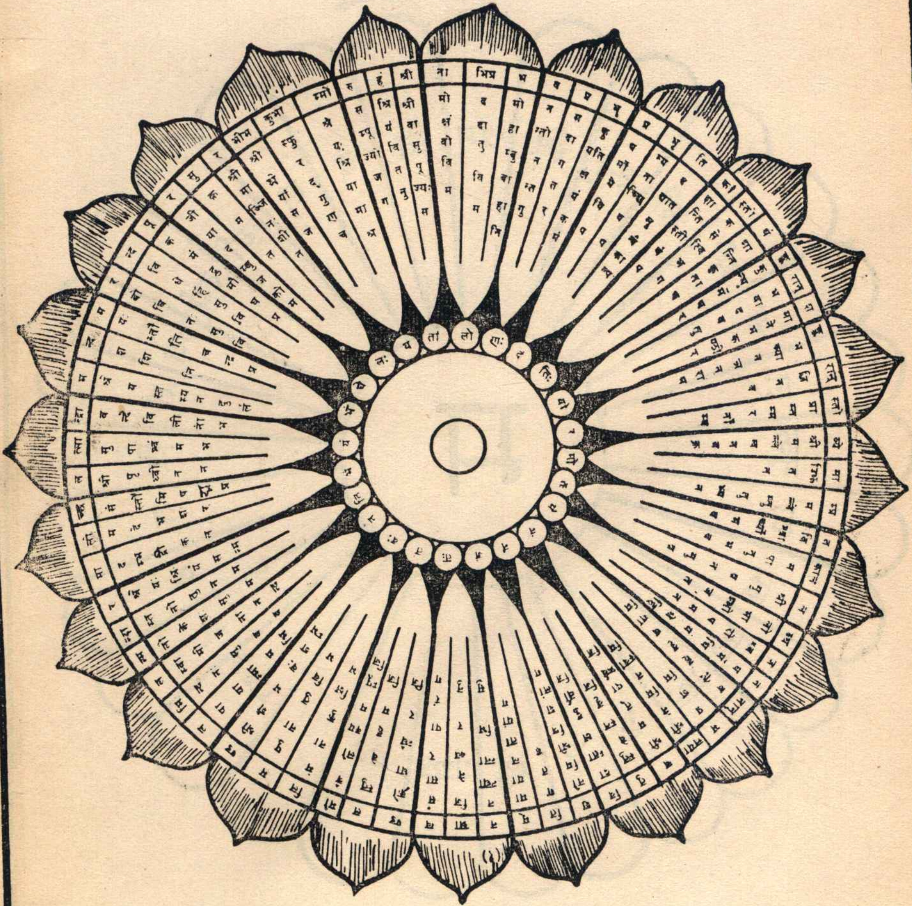
४६-षोडशदल-कमल-बन्ध (६), पृ० ३२१

(सप्तावरणमय)

४७-षोडशदल-कमल-बन्ध (१०), पृ० ३२२
(विषमपत्र-पञ्चावरणमय)

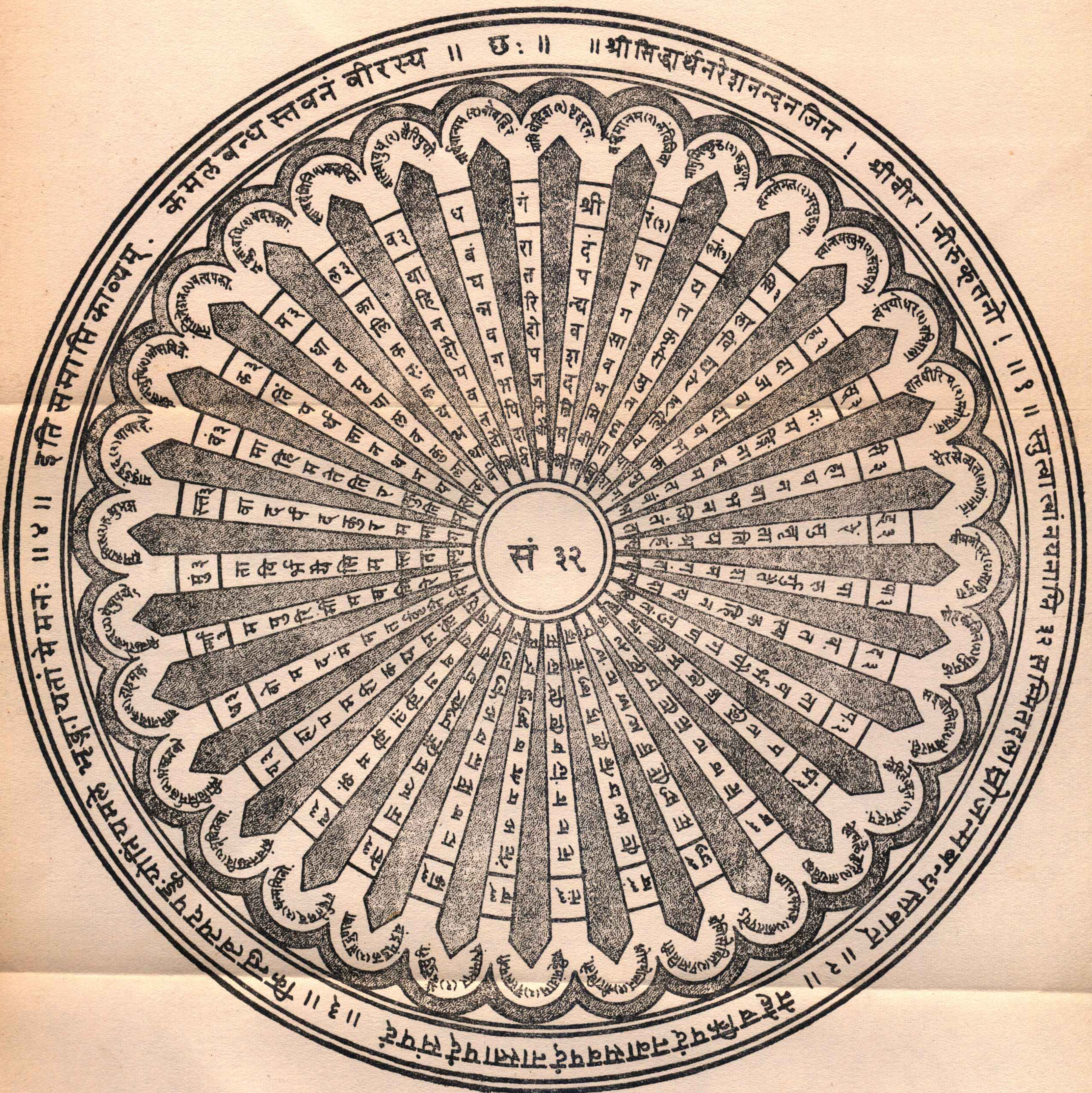


४८-चतुर्विंशतिदल-कमल-बन्ध-(१), पृ० ३२४



४६-त्रिंशद्दल-कमल-बन्ध, पृ० ३२५

५०—द्वात्रिंशद्दल-कमल-बन्ध, पृ० ३२६



चित्रालङ्कार-चन्द्रिका' के अनुमार 'द्वात्रिंशद्दल-कमल-बन्ध' का लक्षण इस प्रकार है—

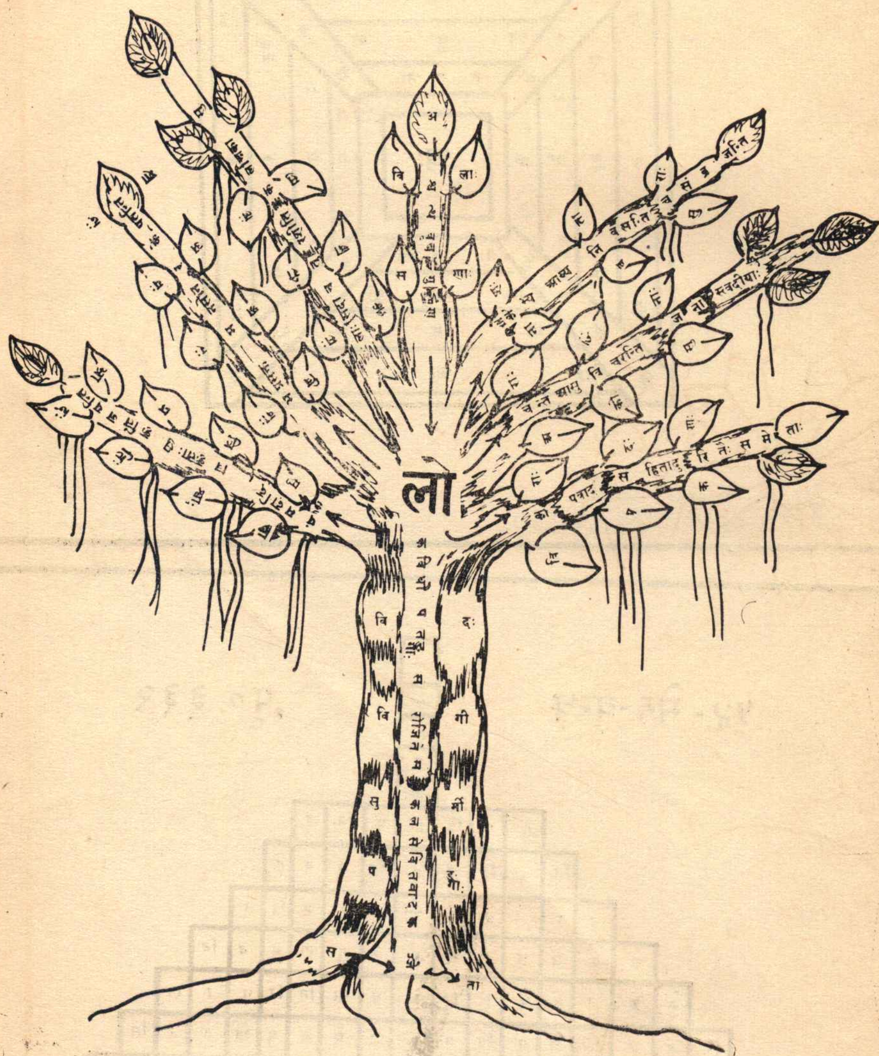
कर्णिकातः समारभ्य चरणद्वयपूरणम् । दलान्त्यभागसम्पूर्तिः प्रवेशश्चाग्रिमे भवेत् ॥१॥
तृतीय चरणाद् भूयः कर्णिकारम्भ इष्यते । चतुर्थान्त्याक्षरस्तस्य द्वितीयान्त्येन श्लिष्यते ॥२॥
कवि-काव्यादिनामानि पद्ये परिधिगे पठेत् । एवं षोडशपद्यैः स्याद् द्वात्रिंशद्दल-पङ्कजम् ॥३॥

५३-सरो-बन्ध, पृ० ३३१

५४-मेरु-बन्ध, पृ० ३३२

											[illegible]														
											[illegible]														
											[illegible]														
											[illegible]														
											[illegible]														
								स	प	दि	[illegible]	घु	नि	ज											
							ति	र	ति	ग	[illegible]	ति	स	म	ट										
						[illegible]	व	त	व	न	[illegible]	क	थ	म	रि	त									
					स	क	ल	श	र	ण	[illegible]	त	गु	ण	भ	व	वि								
				कु	ज	ज	न	भ	र	ण	[illegible]	ध	सि	गि	रि	ध	र	ण							
			लि	त	ल	लि	त्त	सु	वि	म	[illegible]	श	म	ल	मु	वि	त	र	सि						
		त	म	र	म	म	र	र	ति	प	[illegible]	न	क	क	र	क	म	ल	मु	ल					
	त्रि	र	ह	म	पि	पि	ब	सि	सु	कु	[illegible]	ज	ज	ग	ति	सु	ग	ति	द	दु	रि				
रि	पु	भ	ज	न	सु	र	ज	न	सु	ख	[illegible]	ज	न	य	सि	मु	द	मि	ह	इ	र	सि			
न	व	भ	य	वि	न	श	न	सु	हृ	द	य	[illegible]	द	न	रि	पु	द	ल	द	ल	न	म	द	न	

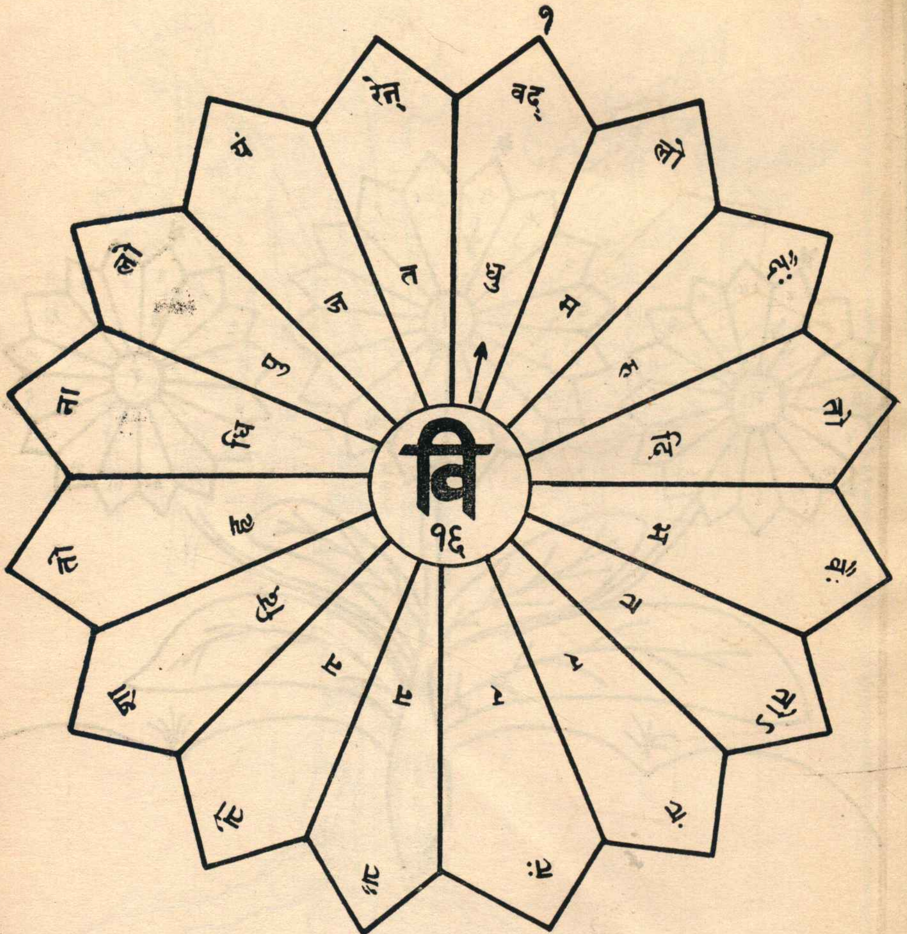
५५- वृक्ष-बन्ध(१),पृ० ३३४



५६-वृक्ष-बन्ध त्रिपुष्पात्मकं (२) पृ० ३३५



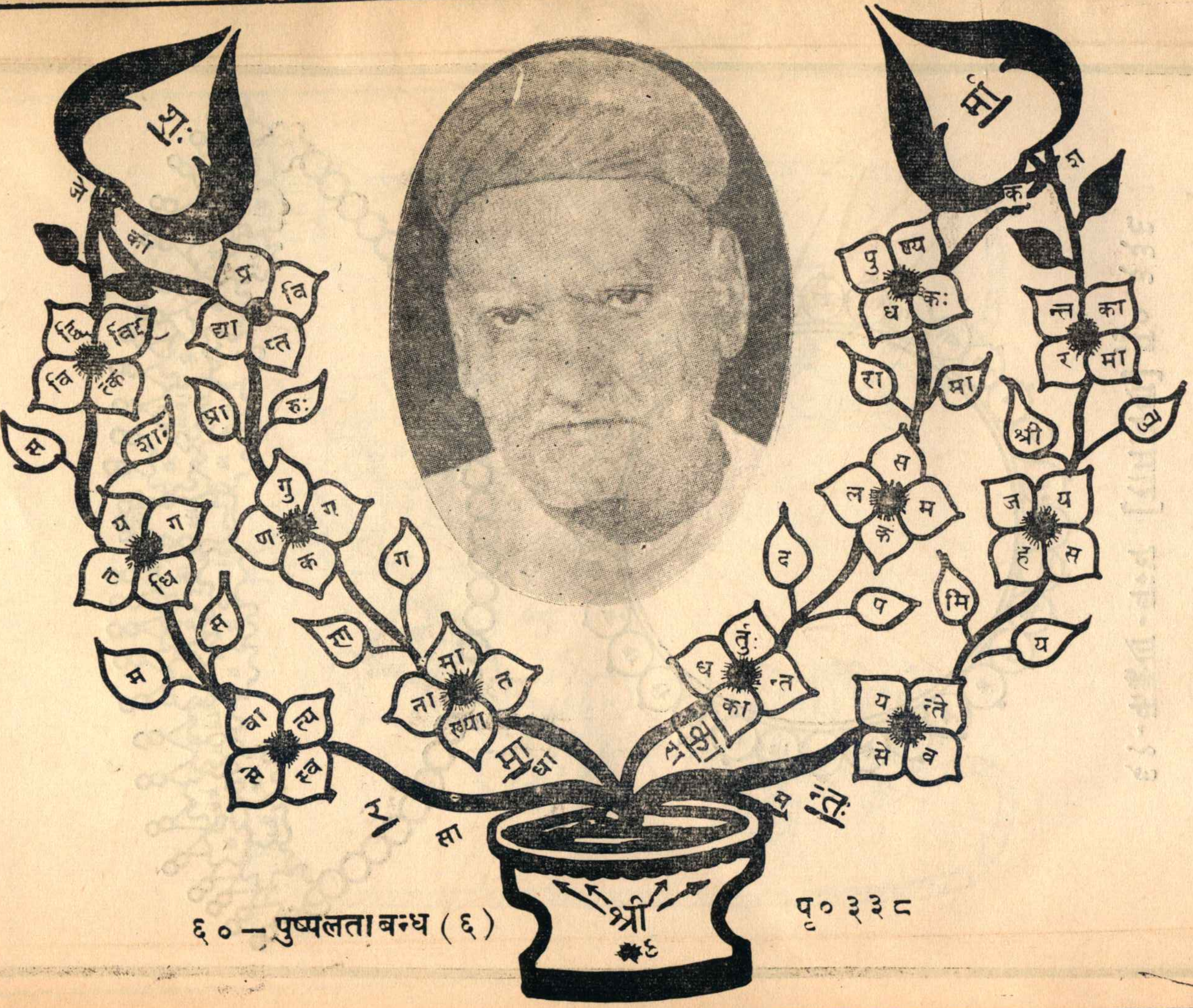
५७-षोडशदल-कमल-बन्ध (३), पृ० ३३६



५८-विंशतिदल-कमल-बन्ध (४), पृ० ३३७
(गायत्रीस्तुतिरूप)

५६-कदली-बन्ध (५). पृ०३३७

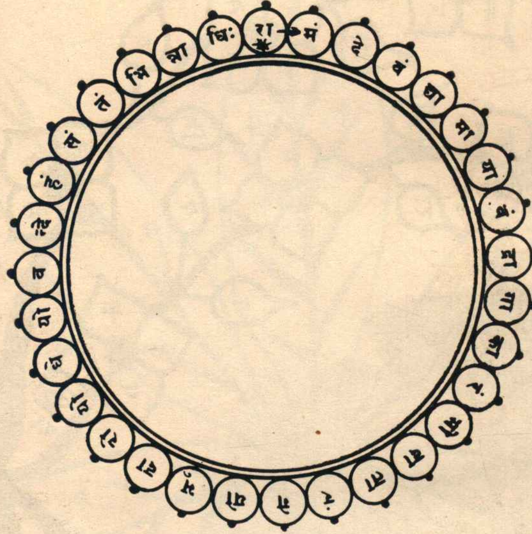


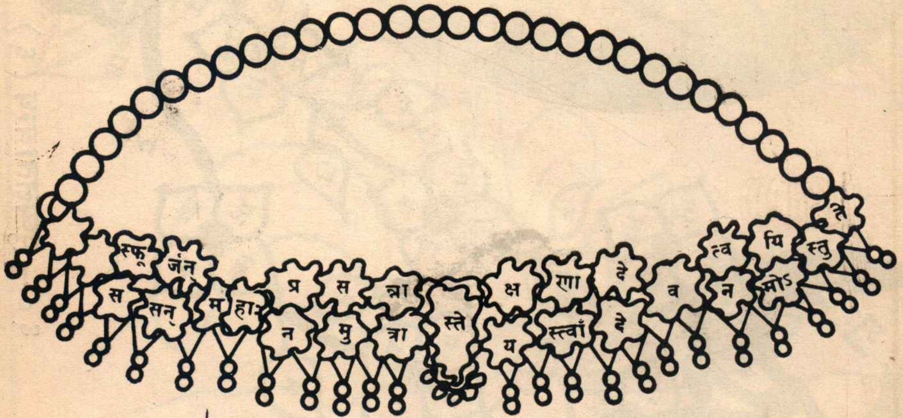


६०—पुष्पलताबन्ध (६) पृ० ३३८

[४] आभरणात्मक-चित्र-बन्ध १८

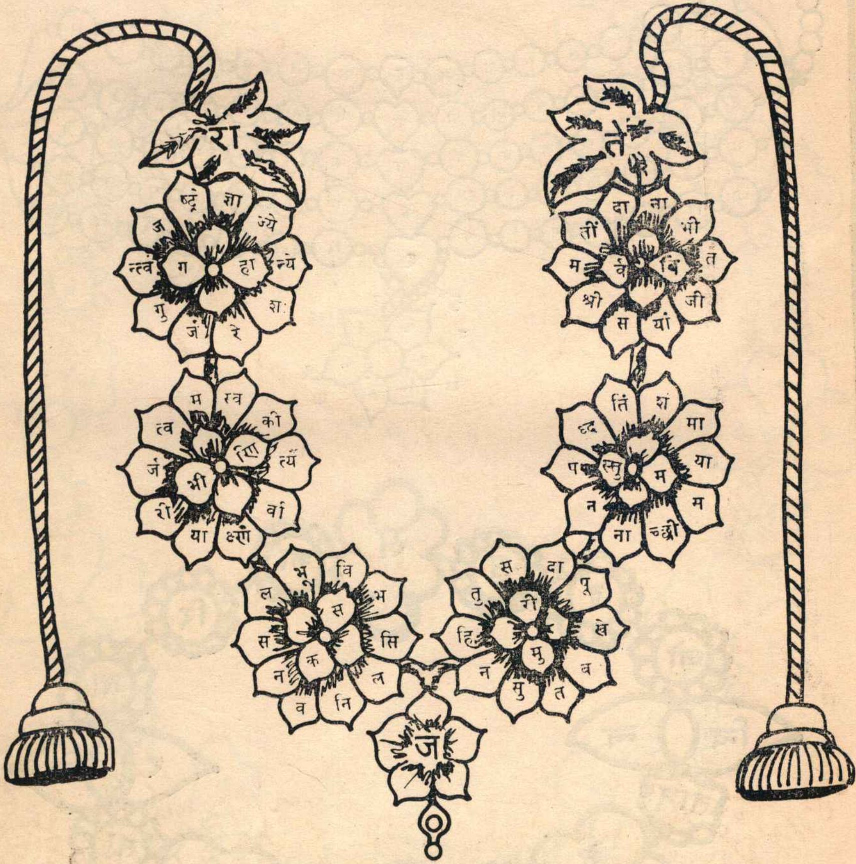
६१-कङ्कण-बन्ध [रामायण] पृ० ३३६





६२-काञ्ची-बन्ध, पृ० ३४१

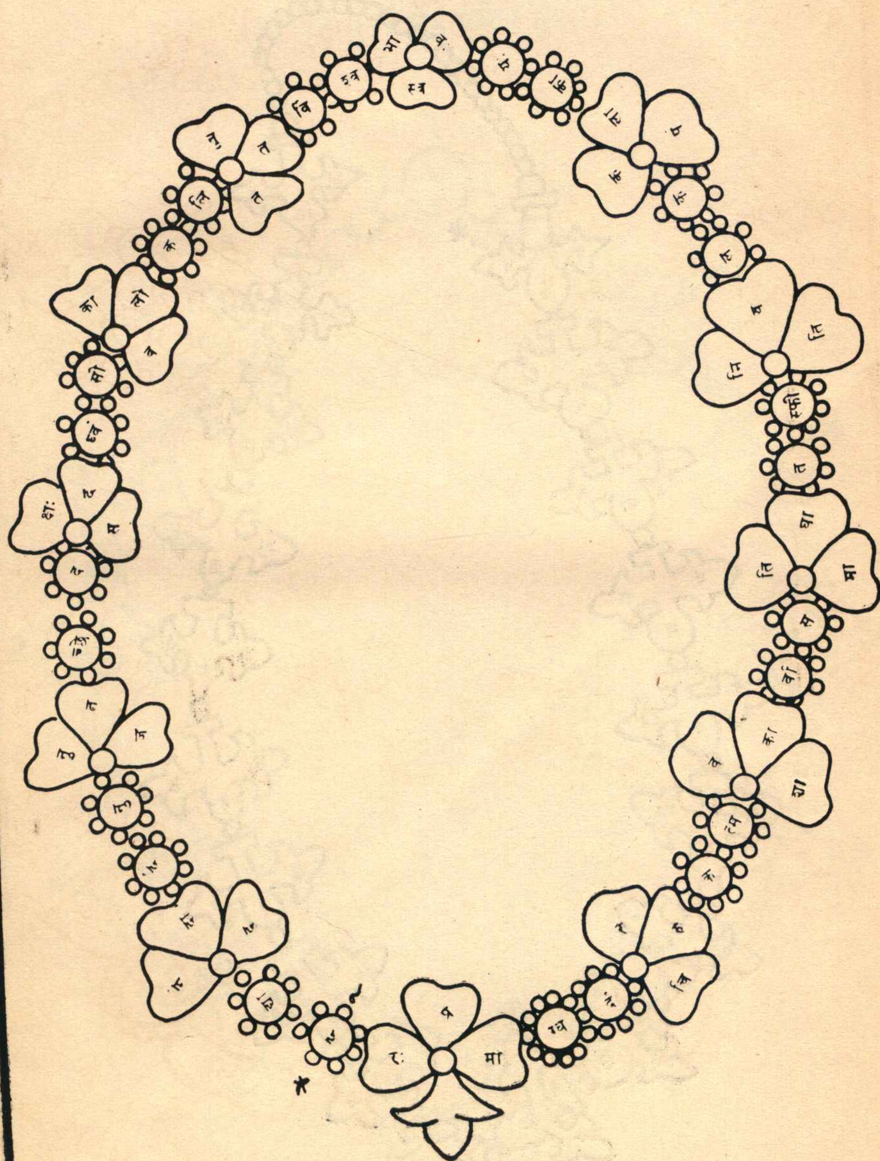
६३-हार-बन्ध [नवरत्न, साङ्क], पृ० ३४२



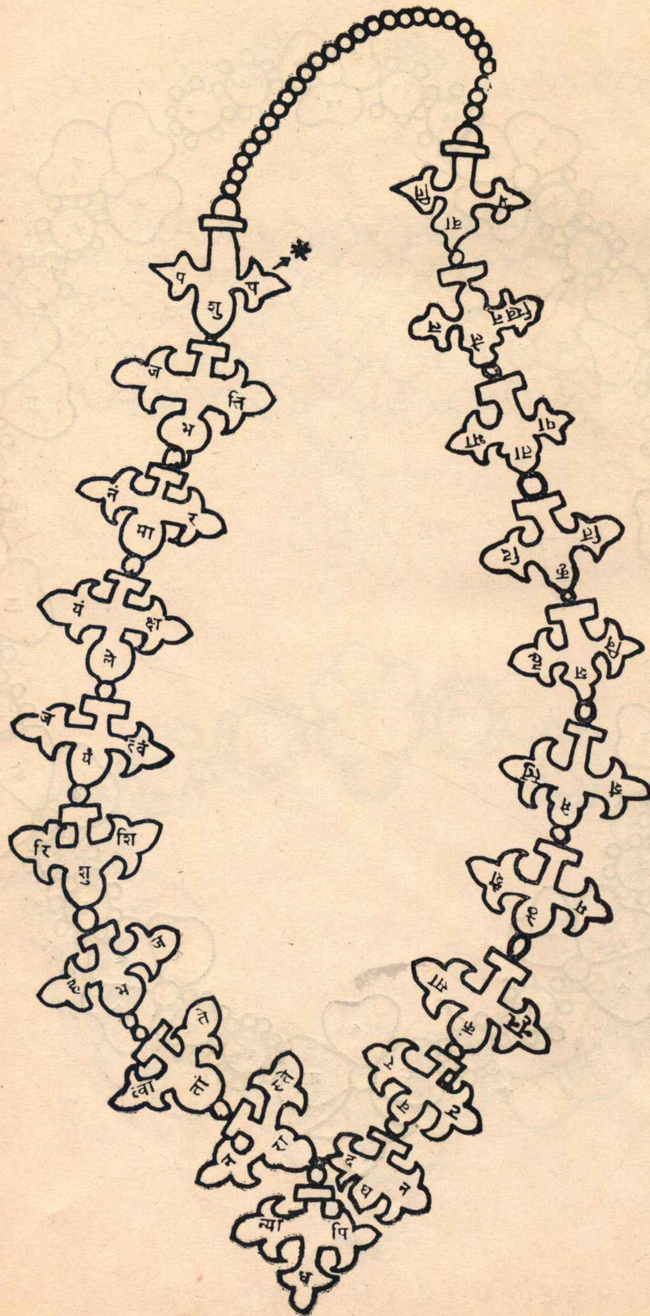
६४-हार-बन्ध (४), पृ० ३४३

६५-हार-बन्ध (७), पृ० ३४४

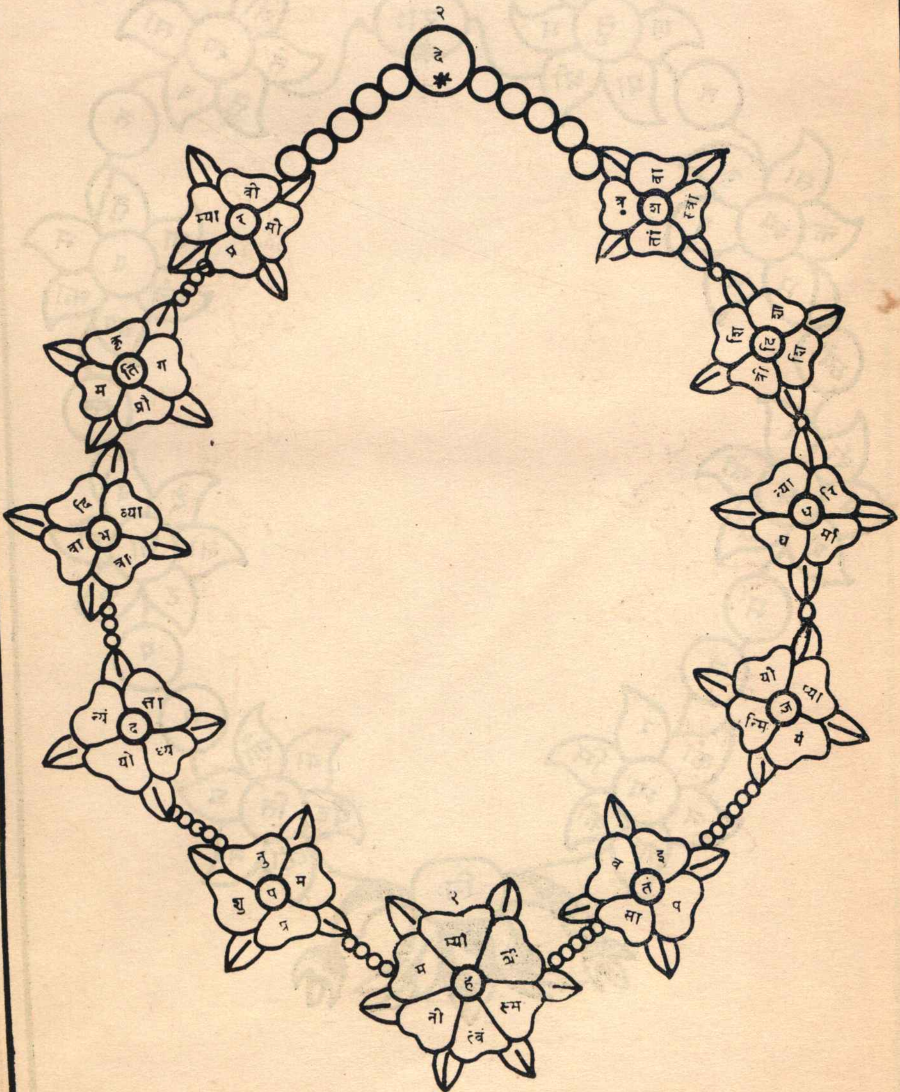
६६-हार-बन्ध (११), पृ० ३४५
(मणि स्वर्णपुष्पमिश्रित)



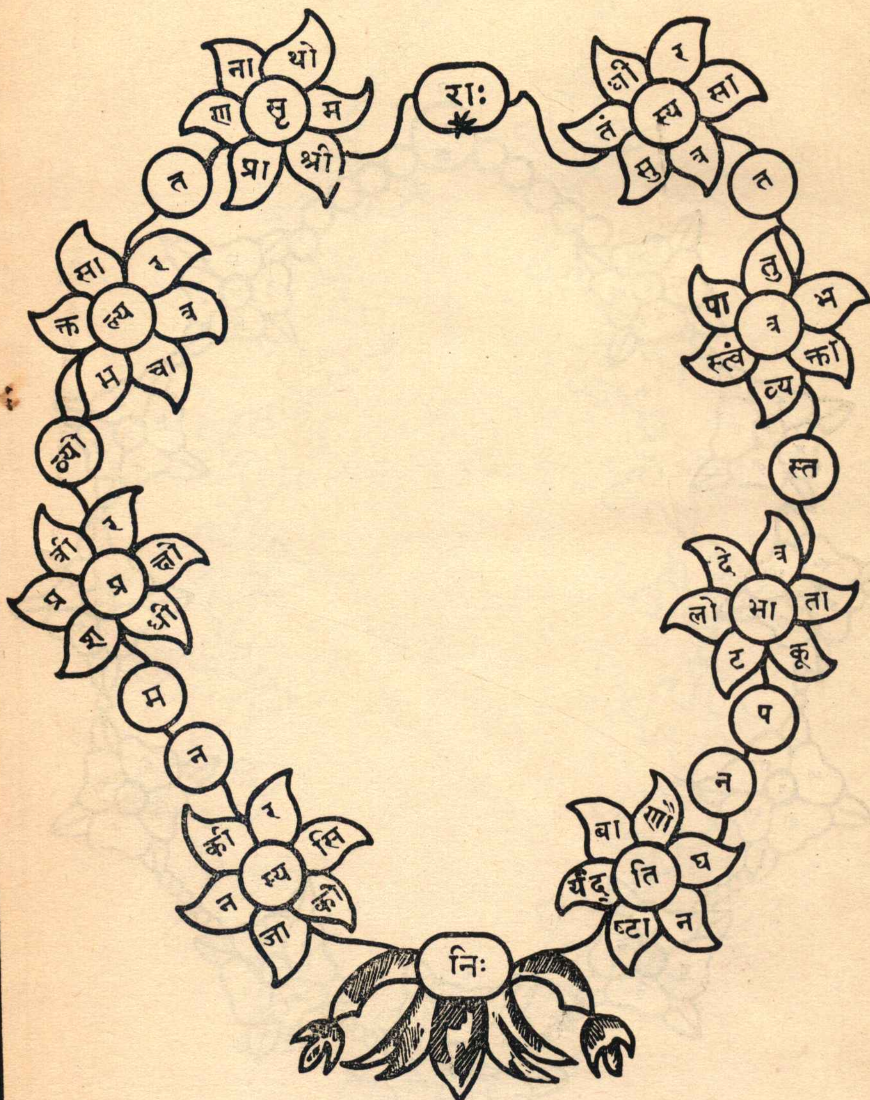
६७-हार-प्रेममाला (१२) बन्ध, पृ० ३४६

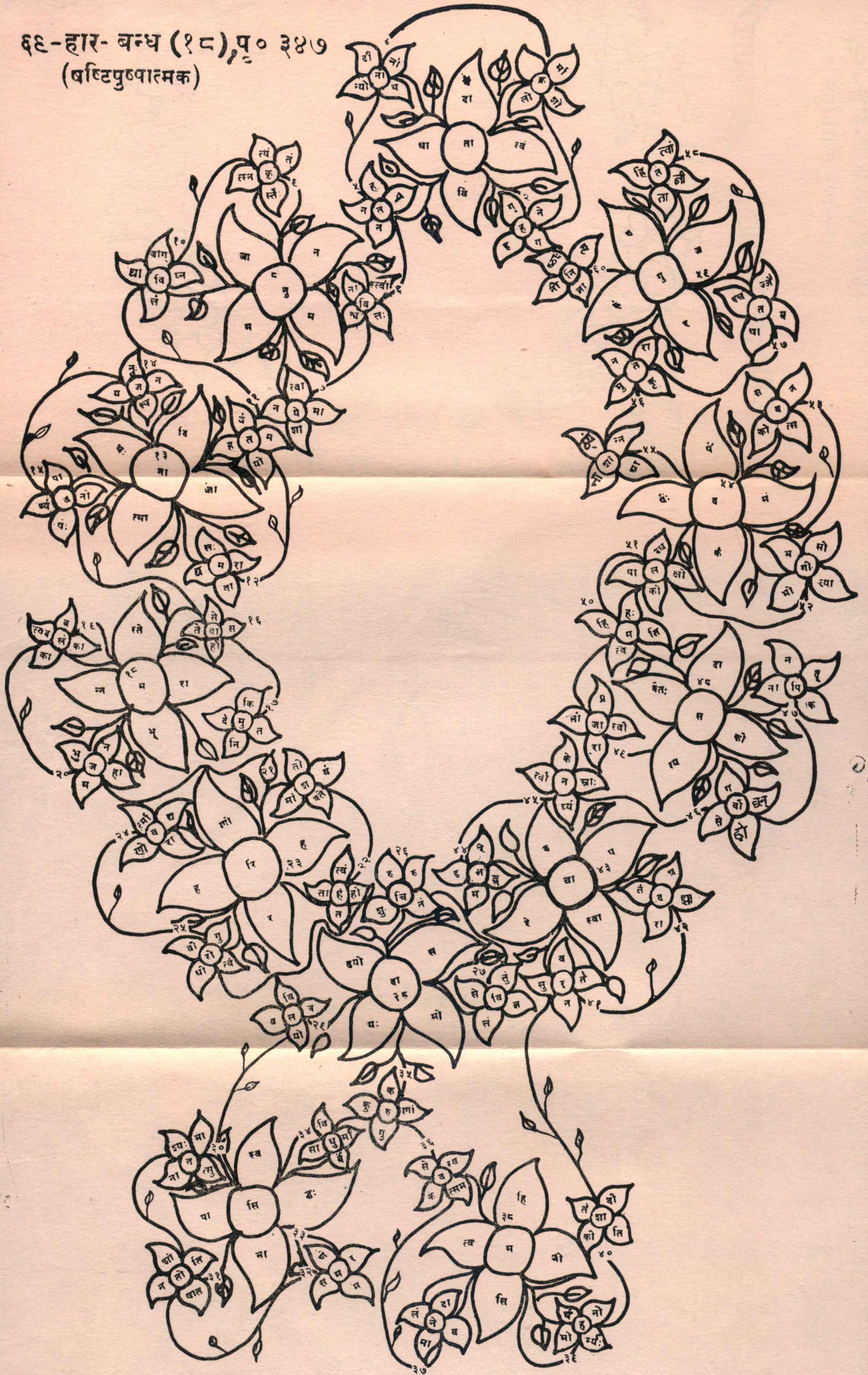


६८-हार-बन्ध(१७),पृ० ३४६
(ग्यारह पुष्प एवं ग्रन्थि युक्त)



७०-हार-बन्ध, पृ० ३४८
(षट्पत्रयुताष्टपुष्पात्मक)



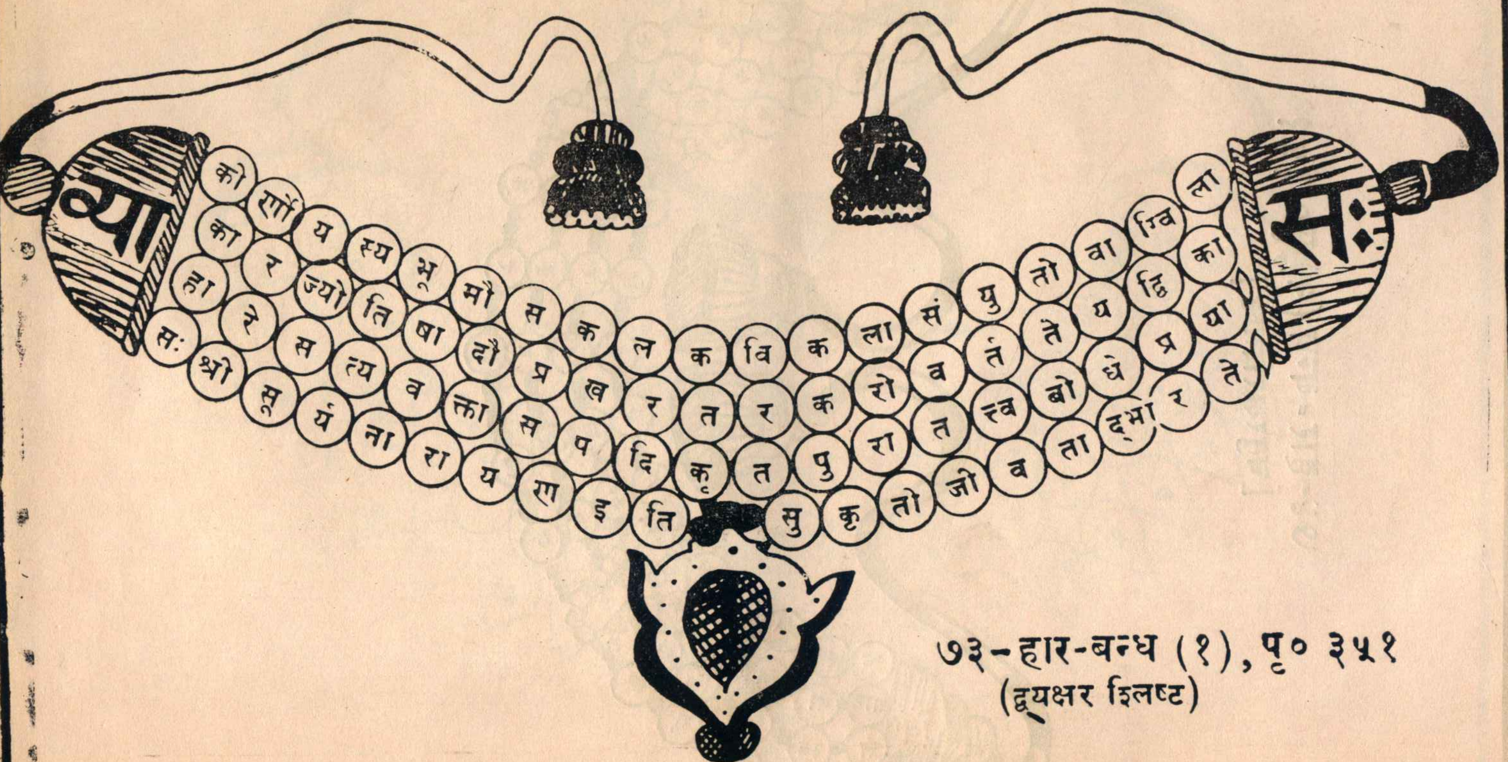


६९-हार-बन्ध (१८), पृ० ३४७
(षष्टिपुष्पात्मक)

७१-हार-बन्ध (२१), पृ० ३४६
(चतुर्विंशति पुष्पात्मक)

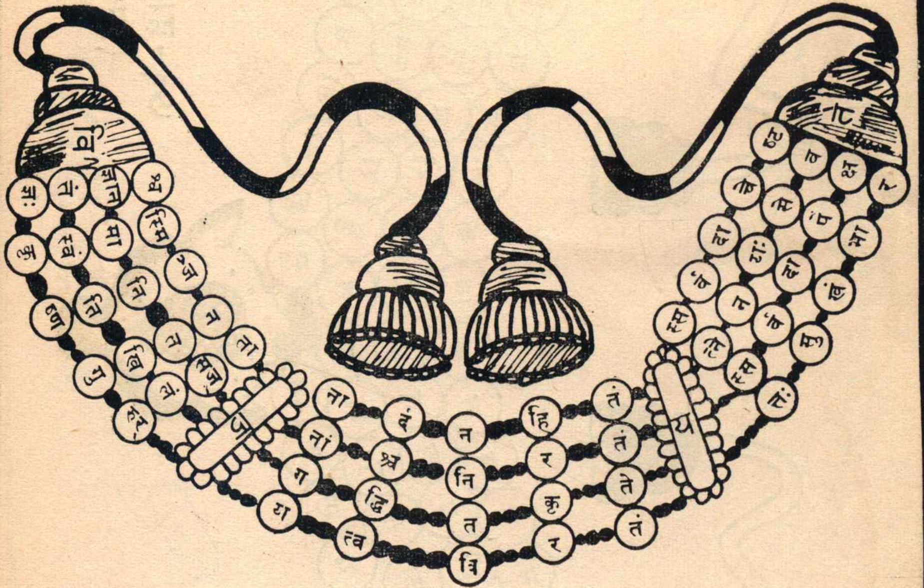
७२-हार-बन्ध (२२), पृ० ३५०

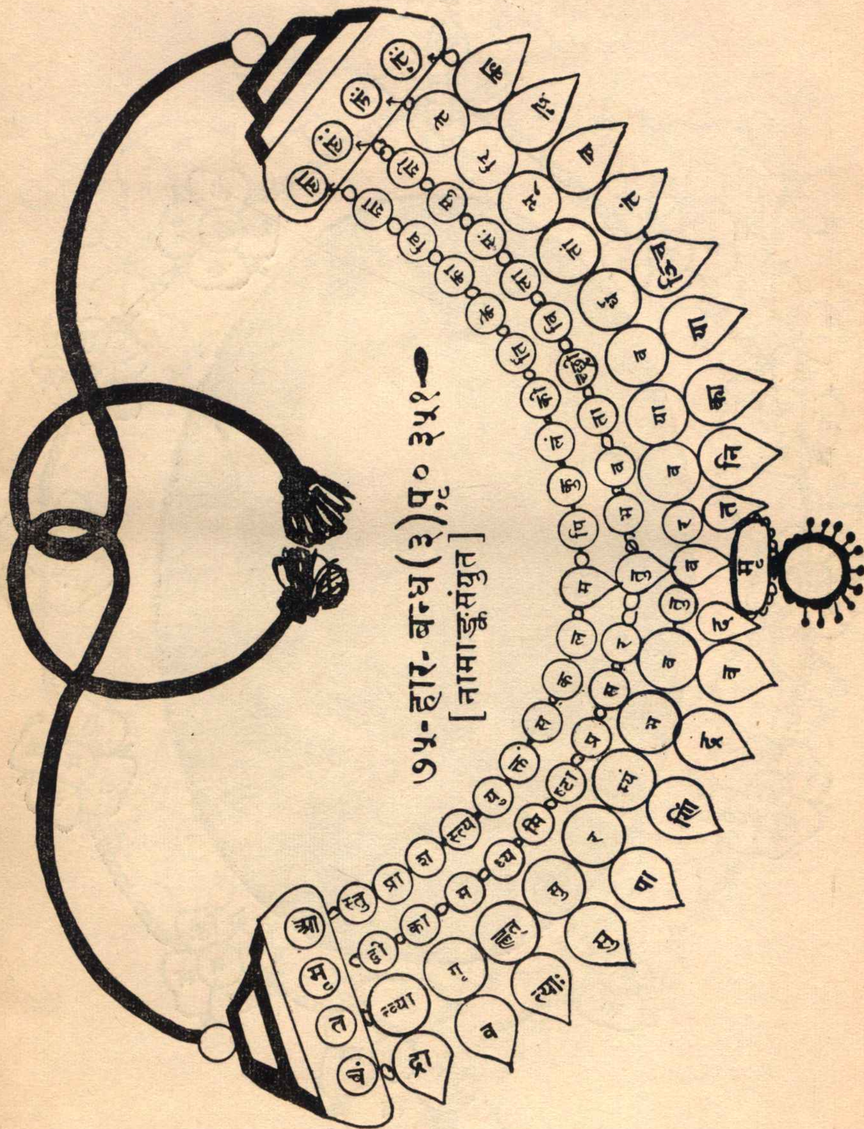
(शृङ्खलामय)



७३-हार-बन्ध (१), पृ० ३५१
(द्व्यक्षर श्लिष्ट)

७४-हार-बन्ध (२), पृ० ३५१
[चतुरक्षरश्लिष्ट]





७५-हार-बन्ध(३) पृ० ३५१
[नामाङ्कसंयुत]

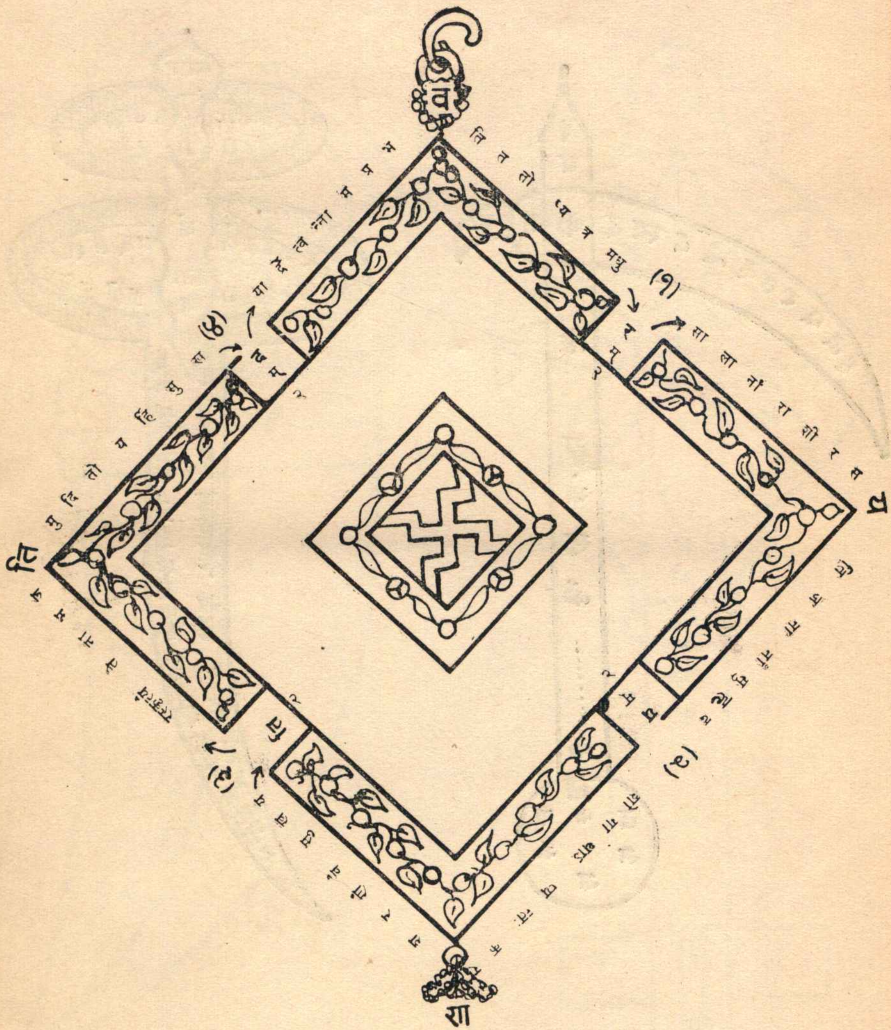
अनन्त श्रीविभूषित, पूज्यपाद
स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी तीर्थ, महाराज

७६-हार-बन्ध(४),पृ० ३५२
[द्वादशपुष्पात्मक सांक]

७७-हार-बन्ध (५), पृ० ३५२
(द्वादशपुष्पात्मक)

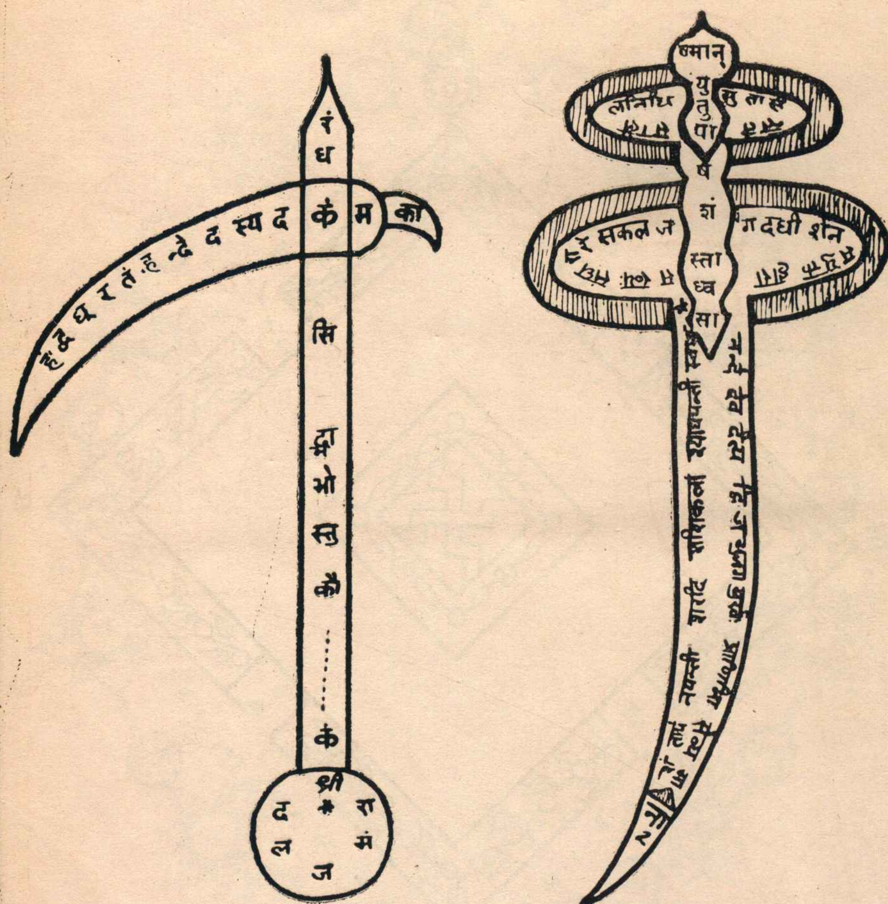
७८-हार-बन्ध (६) पृ० ३५३

७६- हार-मध्यफलक (लाकेट) बन्ध (७) पृ० ३५३



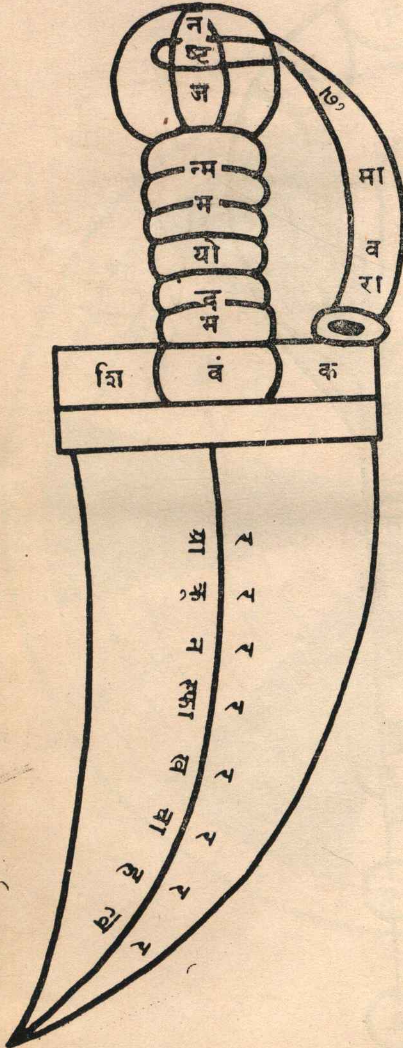
(५) शस्त्रास्त्र चित्र-बन्ध २७

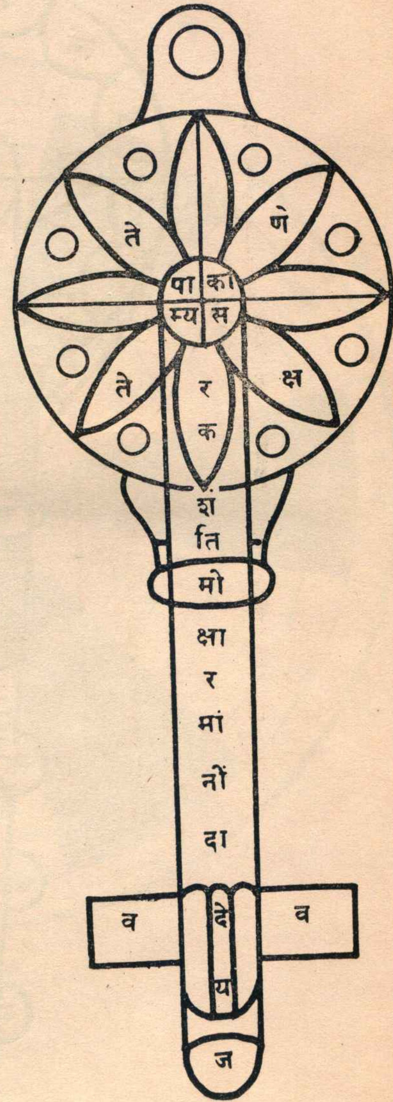
८०-अंकुश-बन्ध, पृ० ३५४



८१-खड्ग-बन्ध, पृ० ३५५

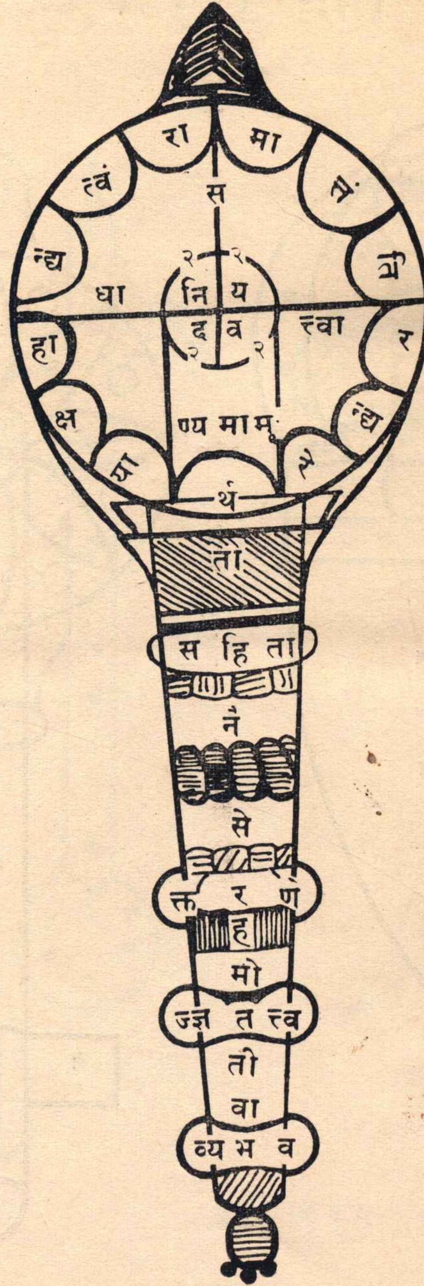
८२-छुरिका-बन्ध (१), पृ० ३५७



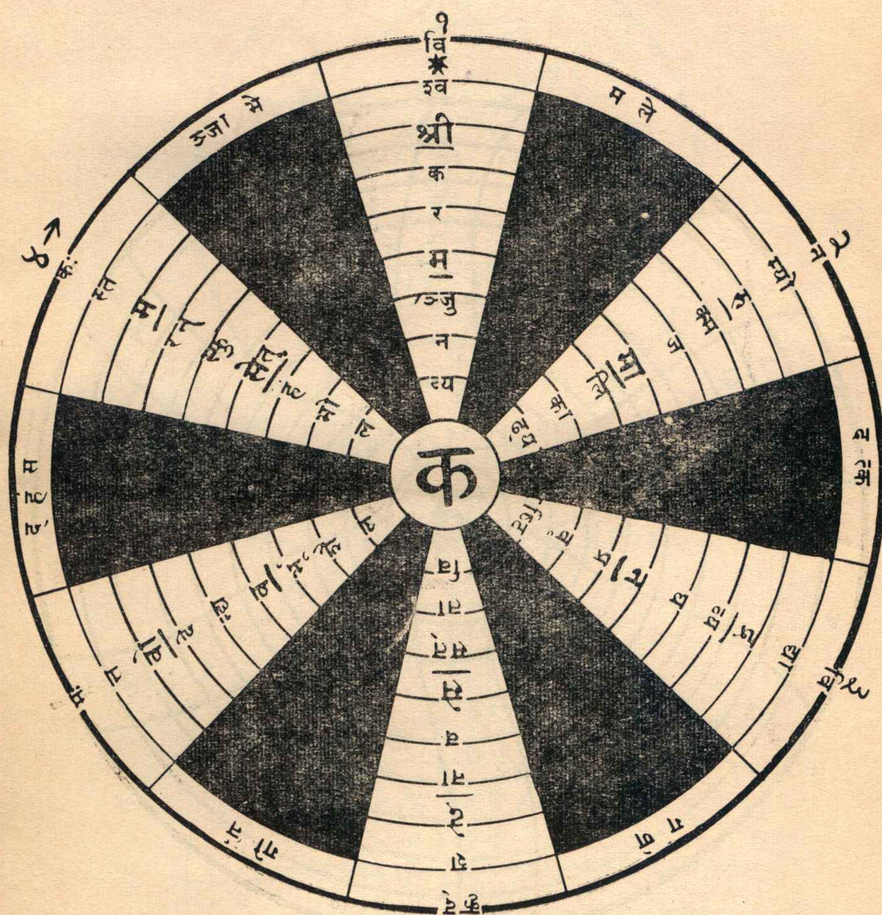


८३- गदा-बन्ध पृ० ३५८

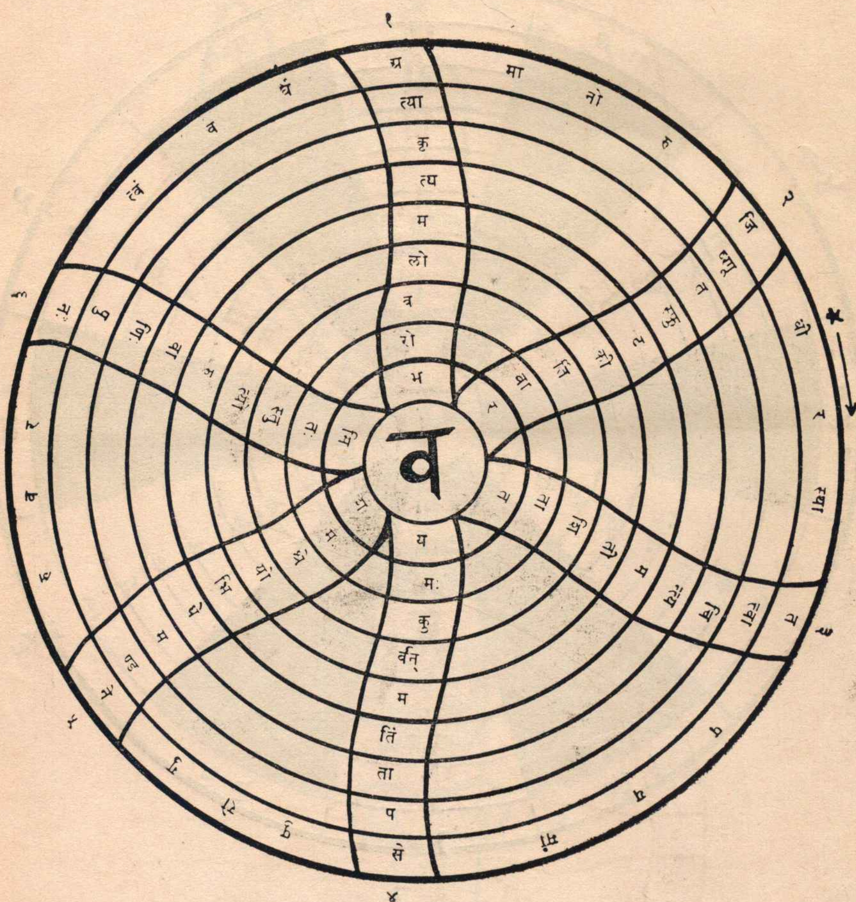
८४-गदा बन्ध (३) पृ० ३५६



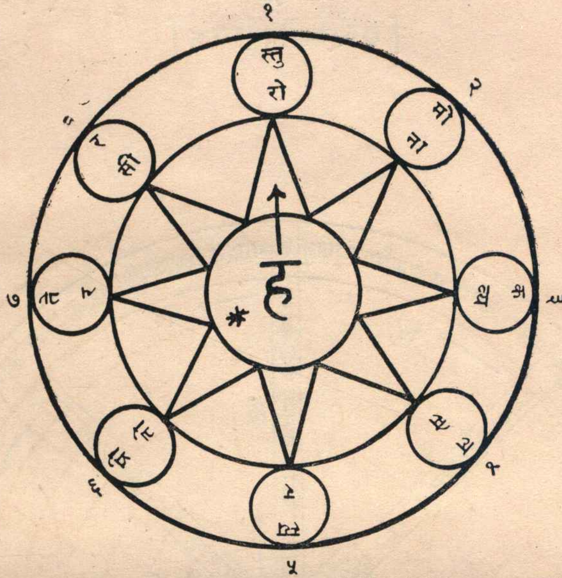
८५-षडरचक्र बन्ध (क) पृ० ३६२



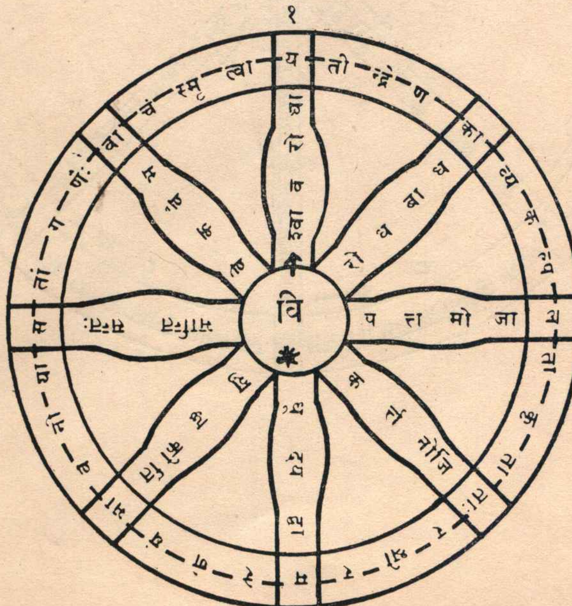
८६-षडरचक्र-बन्ध (त्र्यङ्क) पृ० ३६३



८७-अष्टारचक्र-बन्ध पृ० ३६४

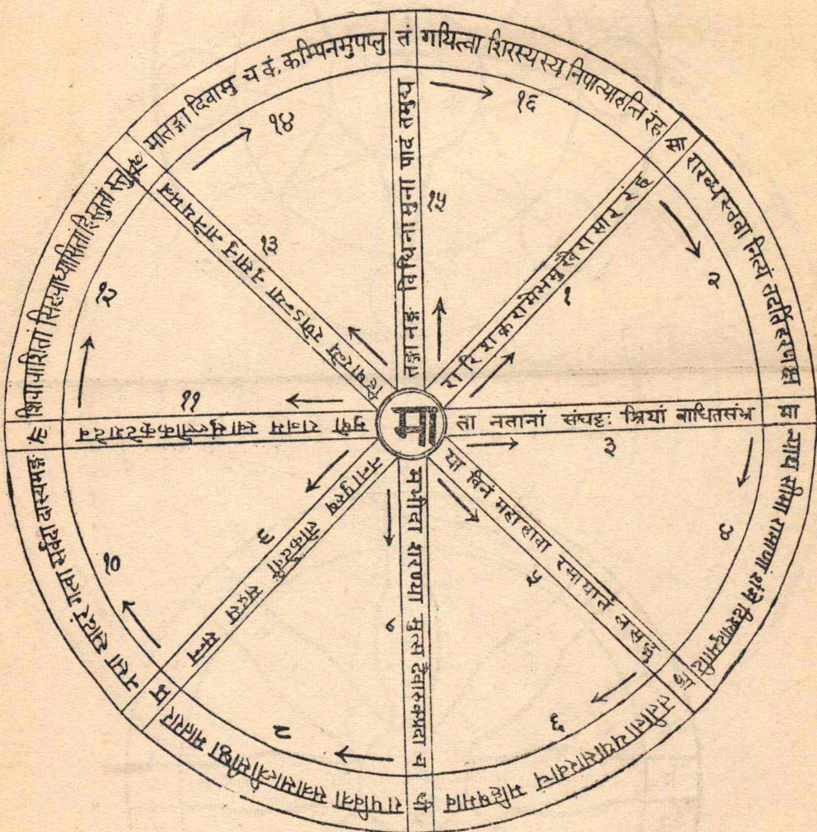


८८-अष्टारचक्र-बन्ध पृ० ३६५

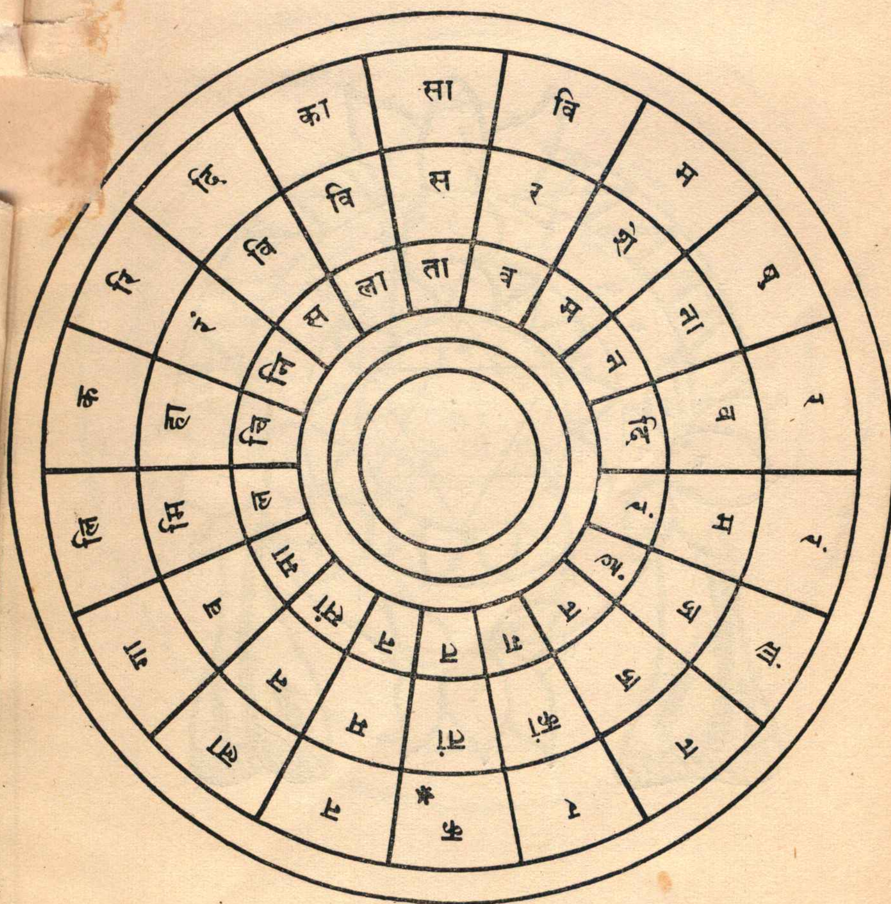


८६- अष्टारचक्र-बन्ध पृ० ३६५

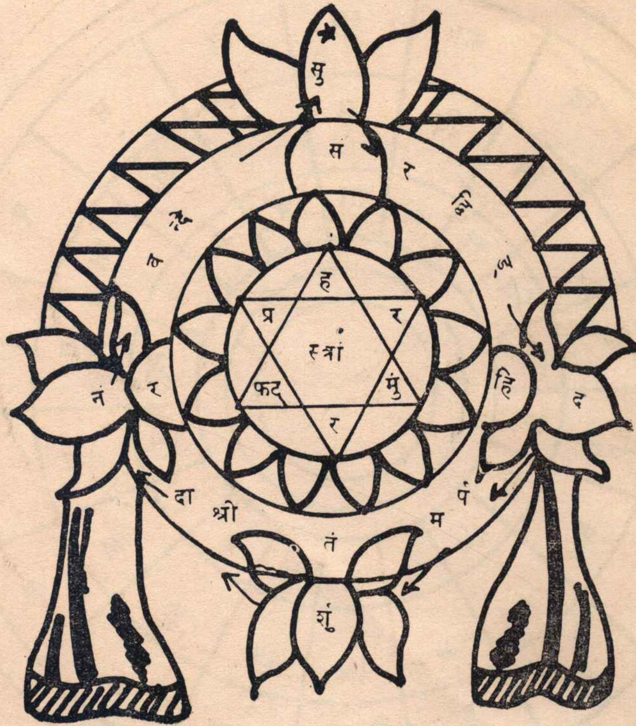
[अष्टश्लोकात्मक]



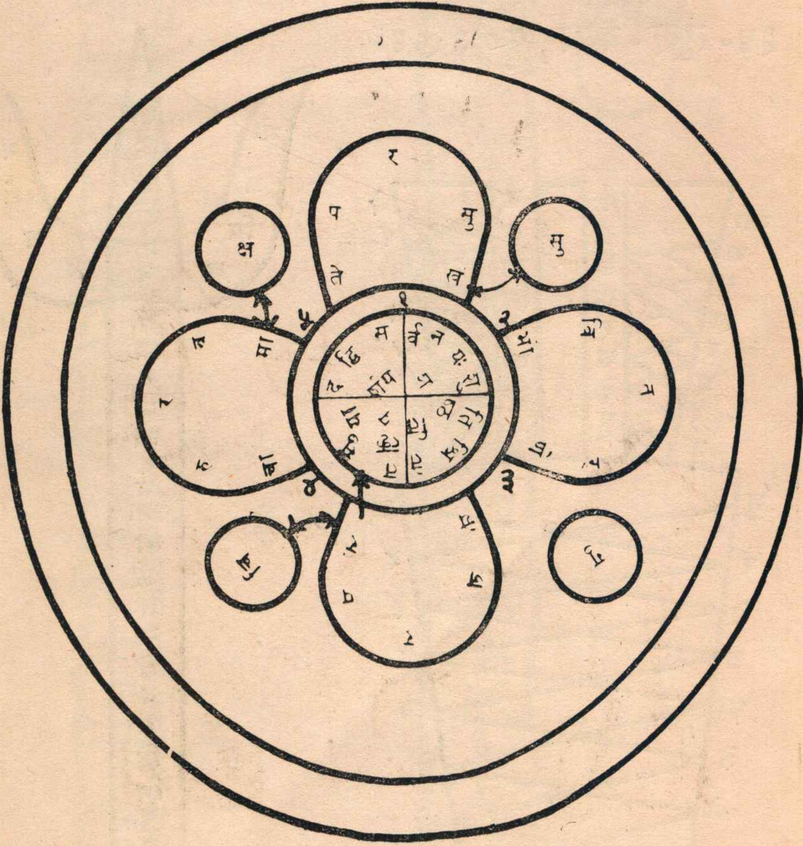
६२- व्योम-बन्ध (५), पृ० ३७३



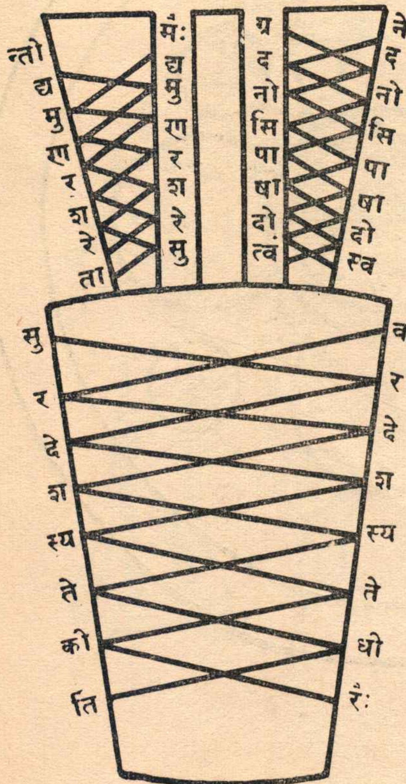
६३ सुदर्शन बन्ध (७) पृ० ३७४



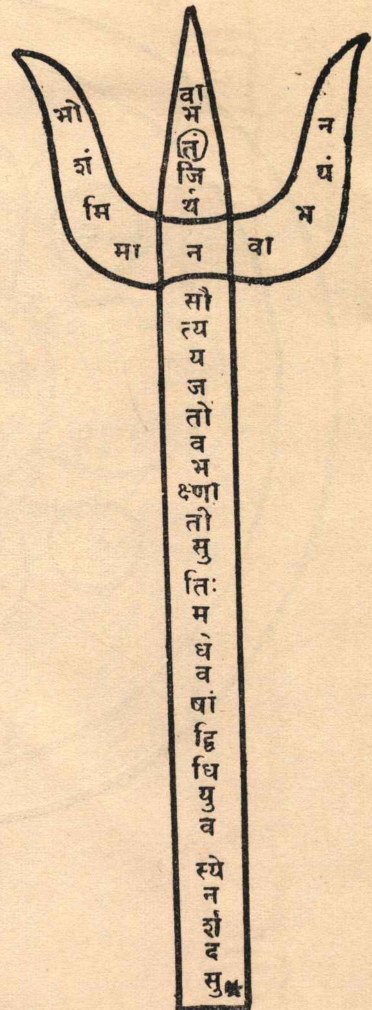
६४• स्फुर [ढाल] बन्ध (१) पृ० ३७५

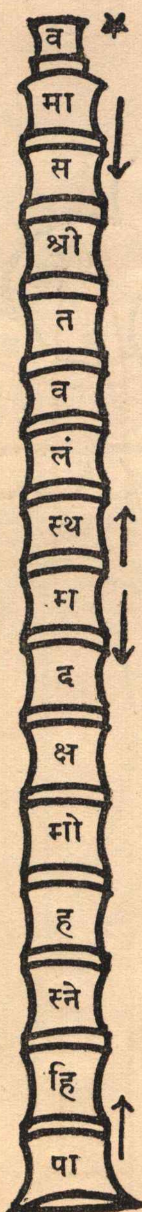


९५- तूण-बन्ध, पृ० ३७६

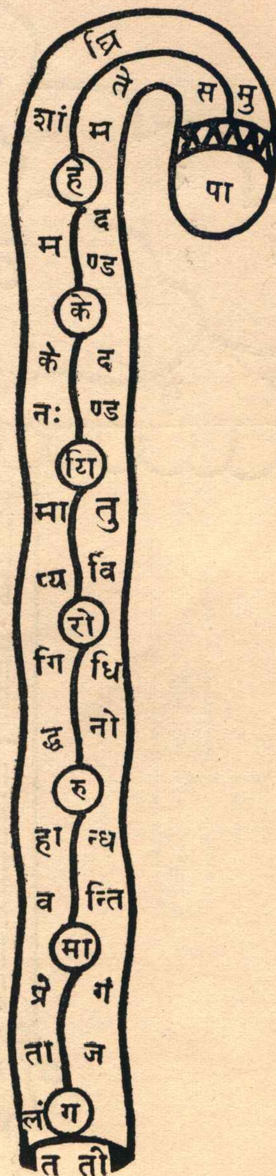


९६- त्रिशूल-बन्ध (४), पृ० ३७७



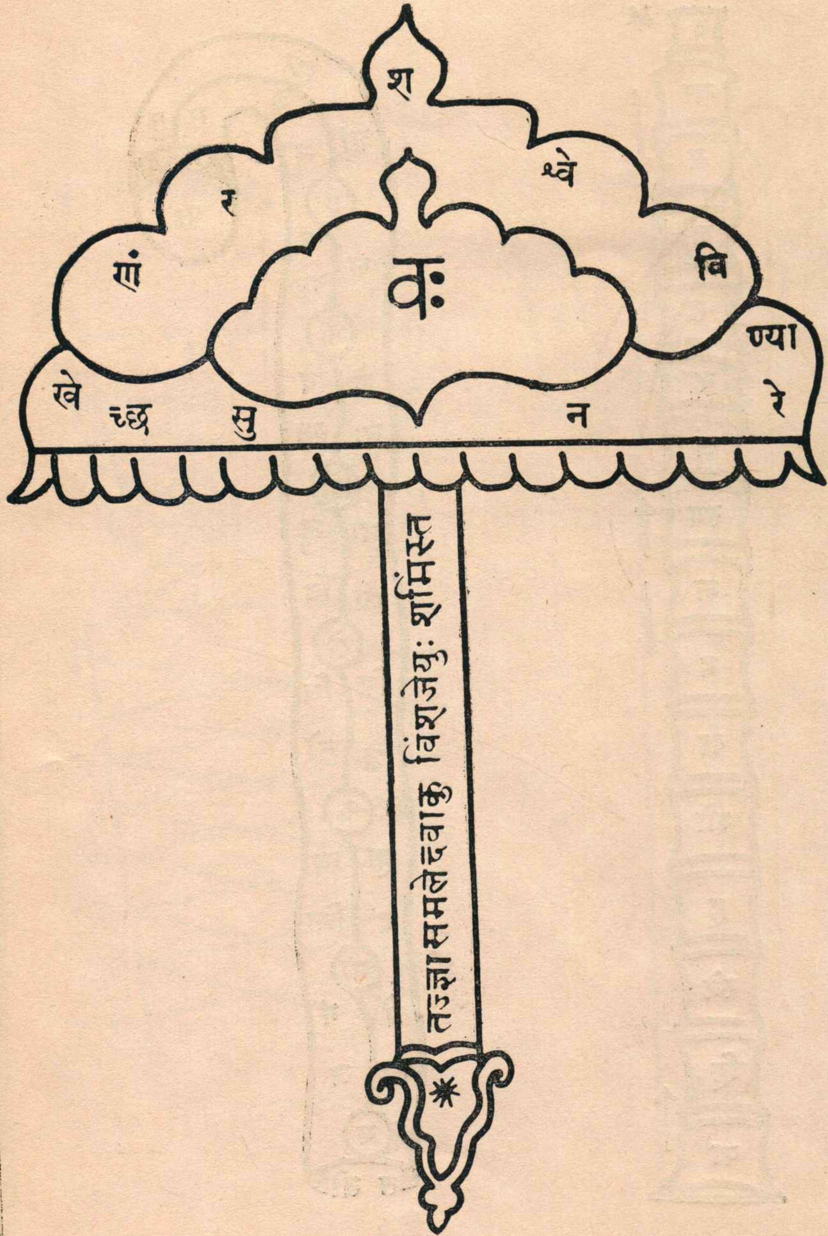


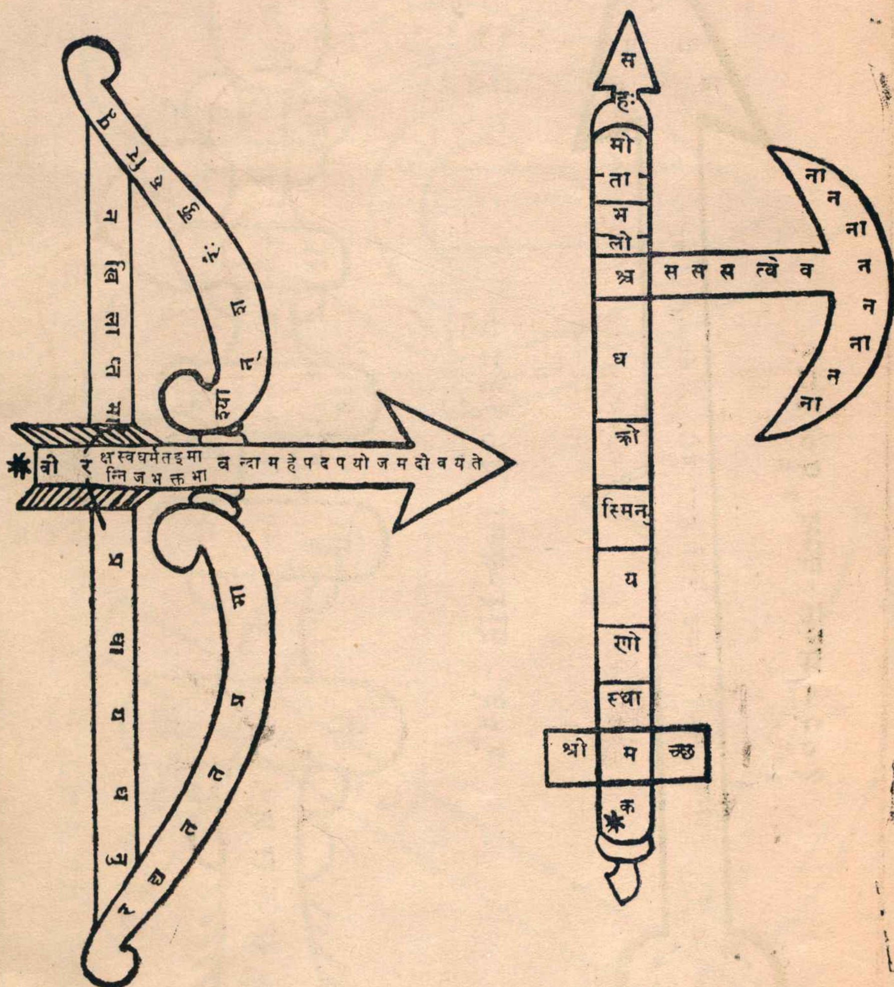
९७-दण्ड-बन्ध,
पृ० ३७८



"—यष्टि—बन्ध (१)
९८ पृष्ठ ३७९

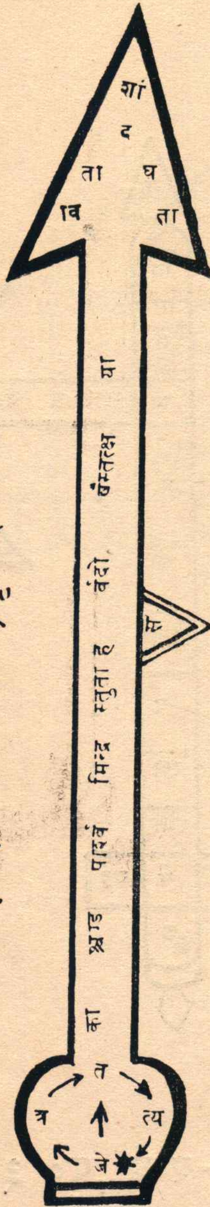
६६-राजदण्ड (श्रीकरी)-बन्ध, पृ० ३७८



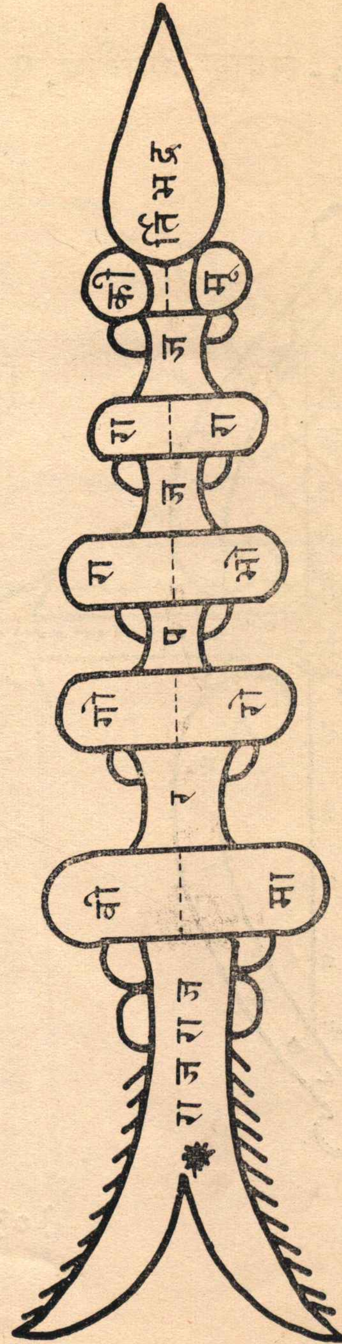


१००-सबाण-धनुर्बन्ध, पृ० ३८०

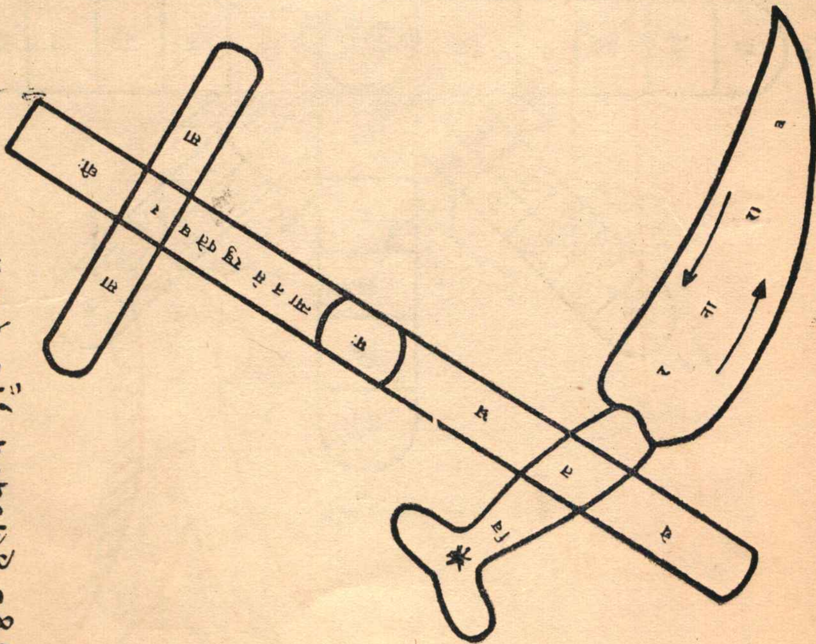
१०१-परशु-बन्ध, पृ० ३८१



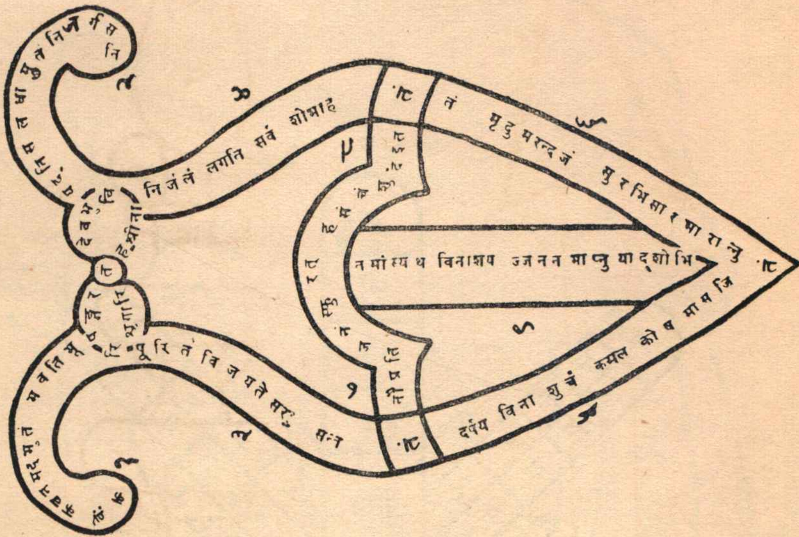
१०२ - भल्ल-बन्ध, पृ० ३८१



१०३ - शर-बन्ध पृ० ३८९

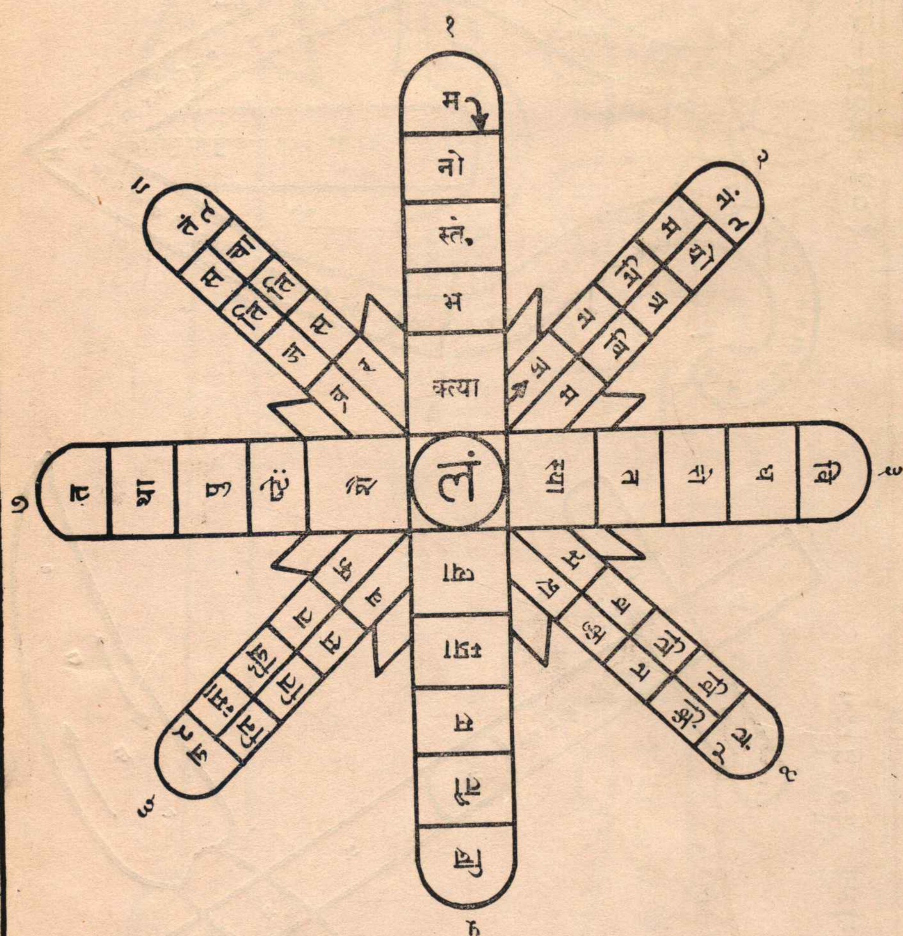


२०४-छुरा-बन्ध, पृ० ३८५



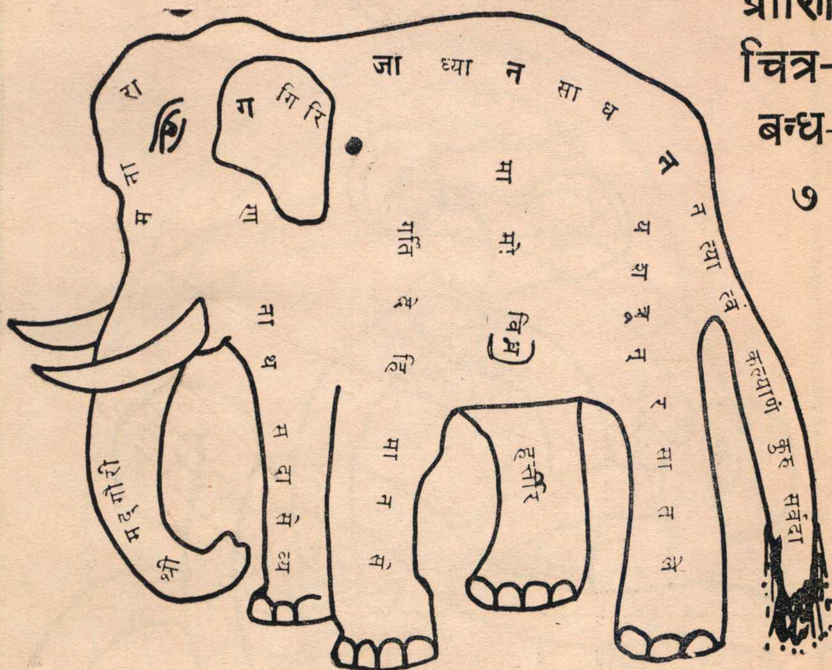
२०५-कटार-बन्ध, पृ० ३८५

१०६-पट्टिश-बन्ध, पृ० ३८६

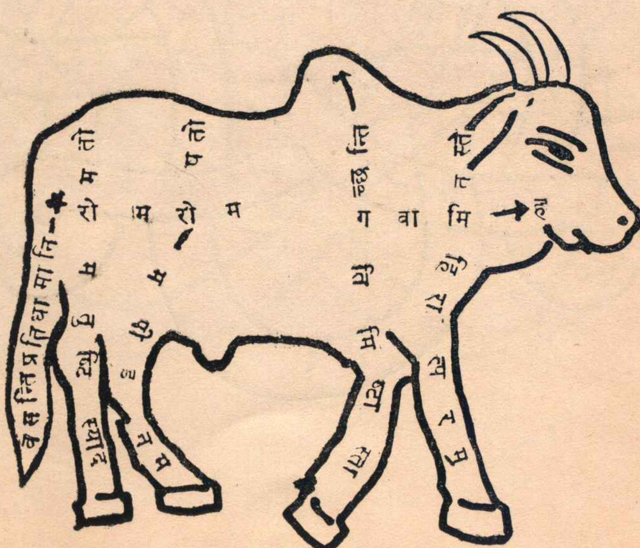


(६) प्राणि-चित्र-बन्ध—७

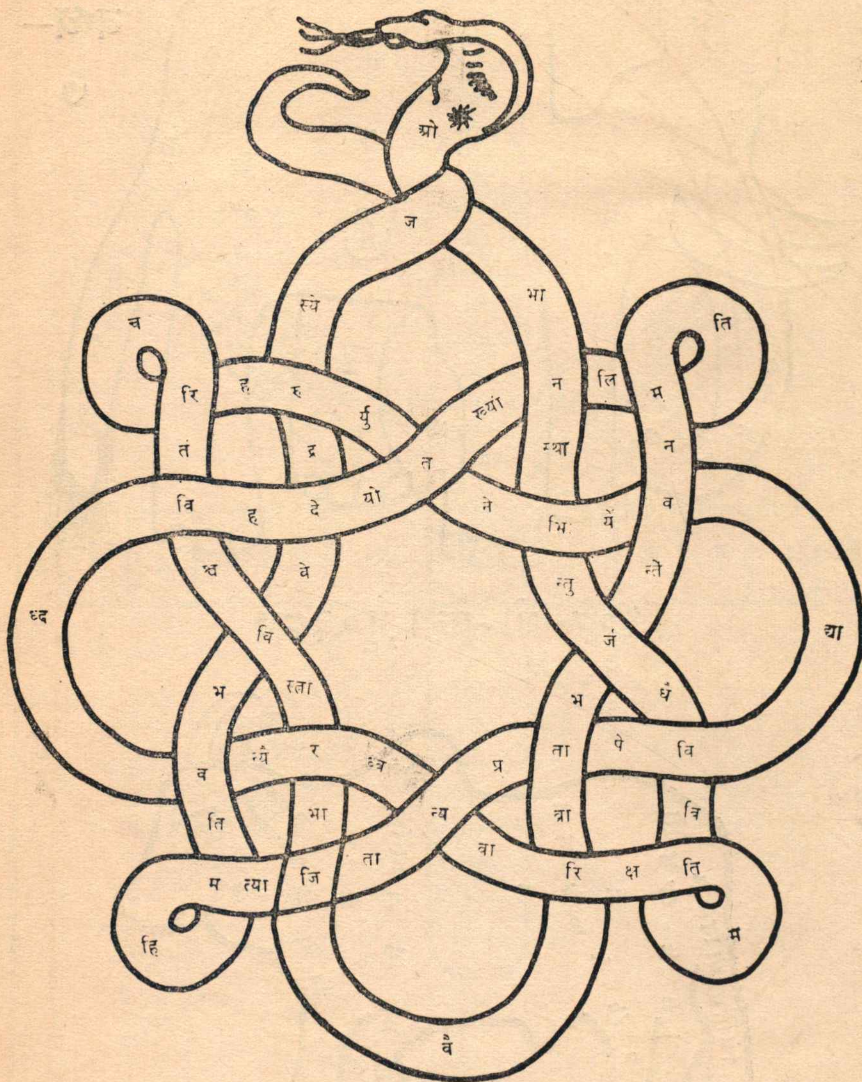
१०७- गज़-बन्ध (१), पृ० ३८७



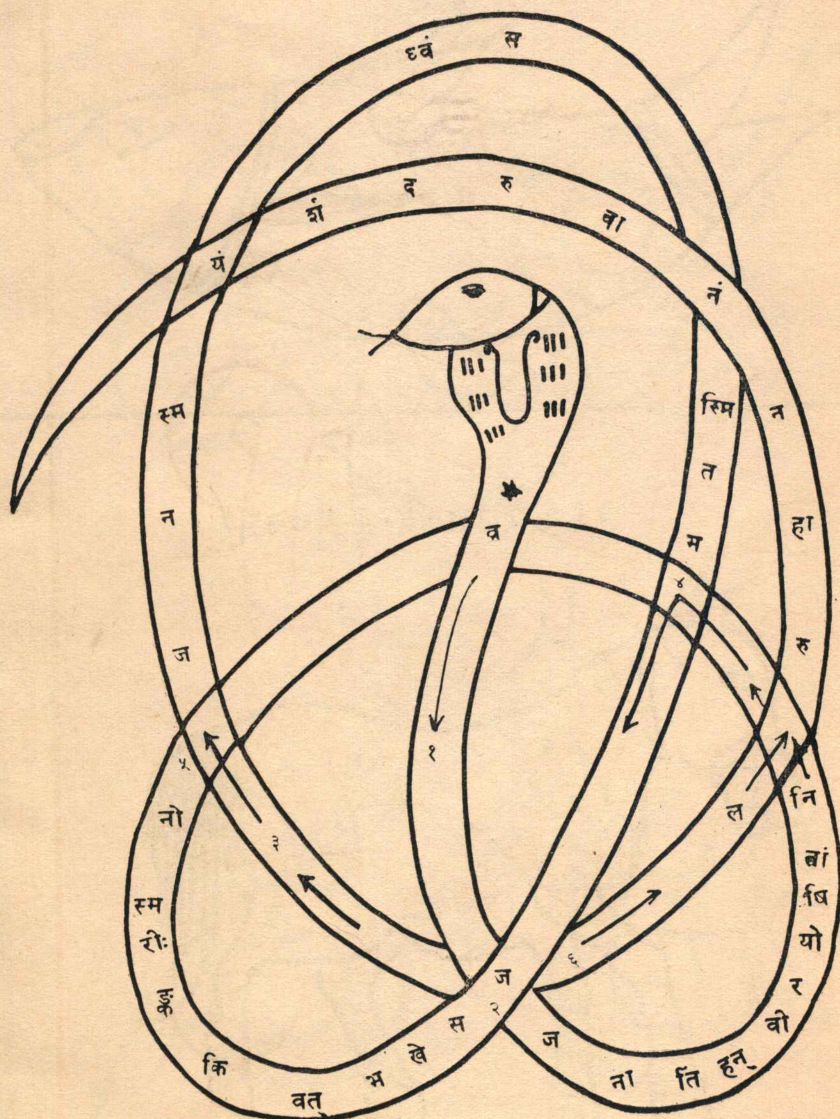
१०८- गो-बन्ध, पृ० ३८७



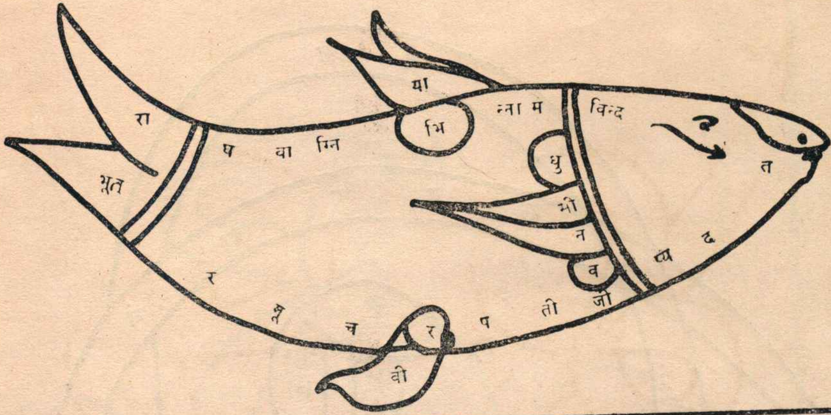
१०९-नाग-बन्ध, पृ० ३८८



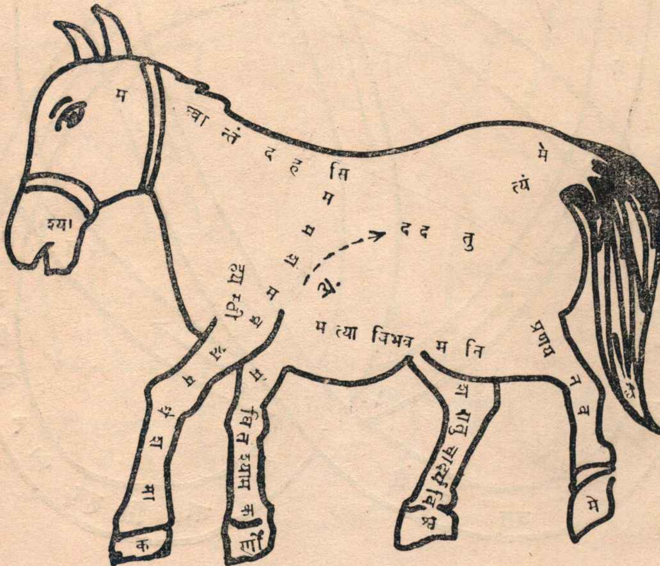
११०-नाग-बन्ध,(१) पृ० ३८६

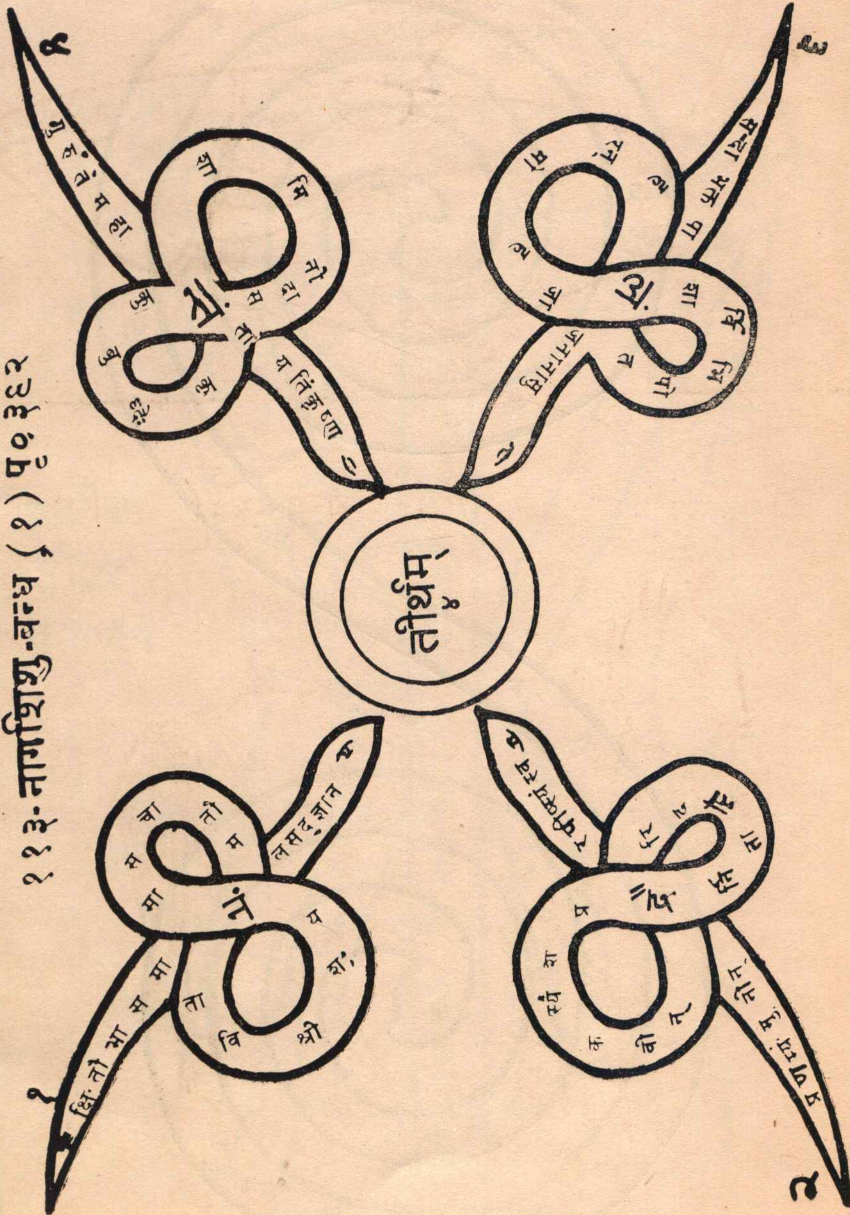


१११-मत्स्य-बन्ध पृ० ३६१



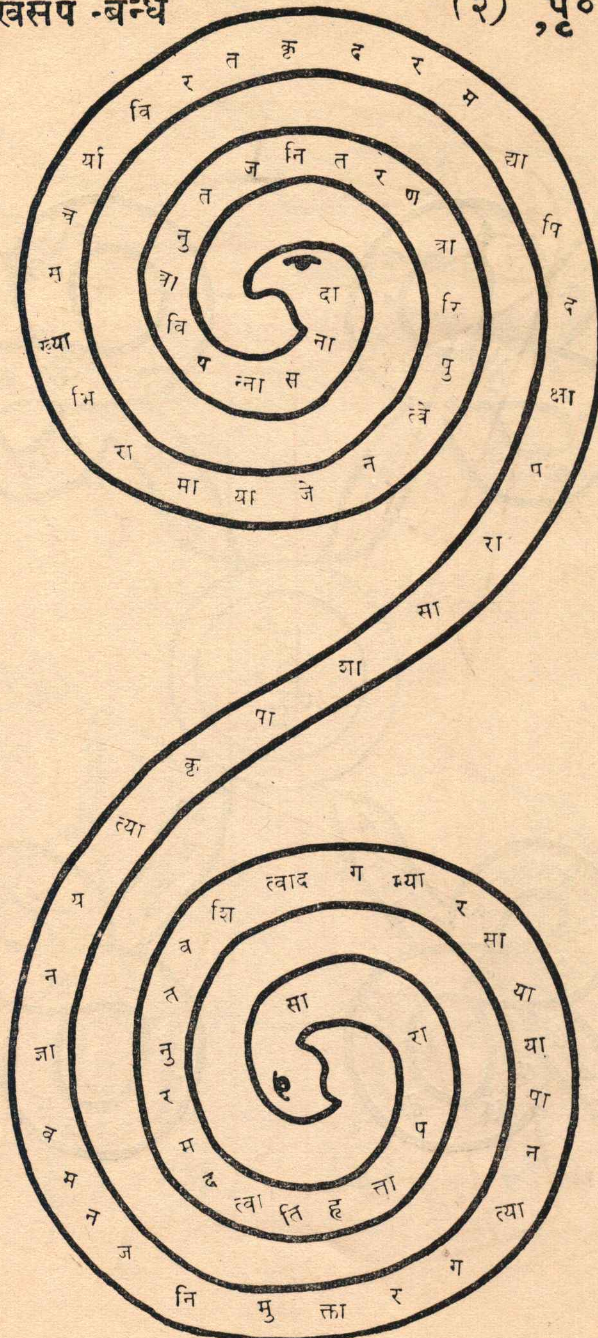
११२-वाजि-बन्ध पृ० ३६१





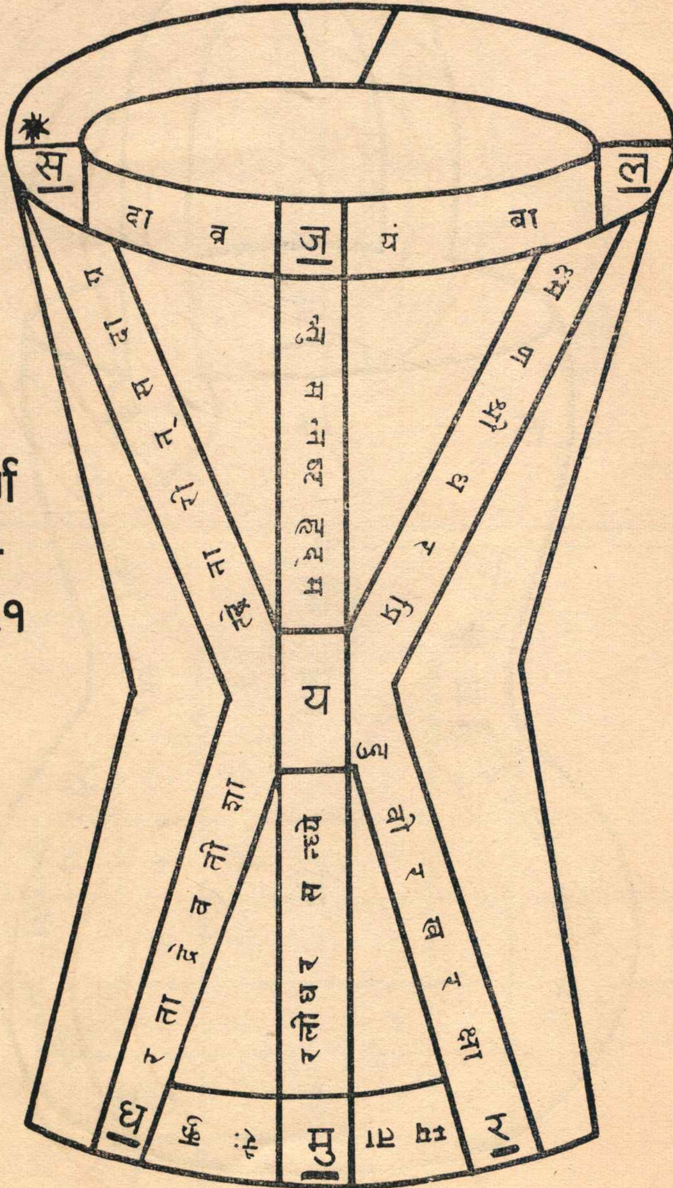
२२३-नागशिशु-बन्ध (१) पृ० ३६२

११४-द्विमुखसर्प-बन्ध (२) पृ० ३६३

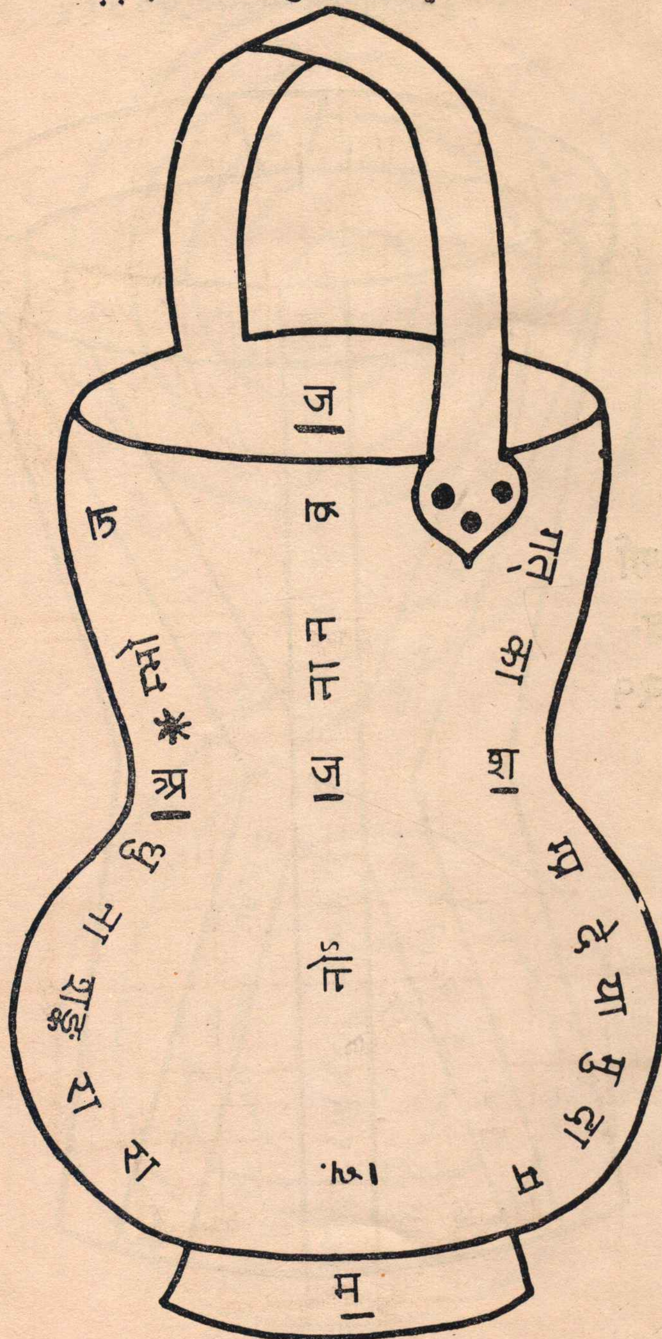


११५-उलूखल-बन्ध, पृ० ३९५

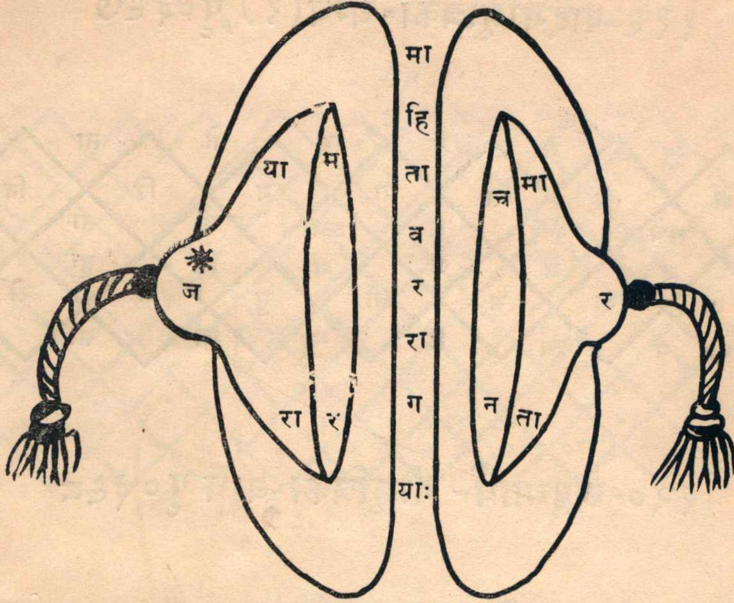
प्रकीर्ण चित्र-बन्ध २१



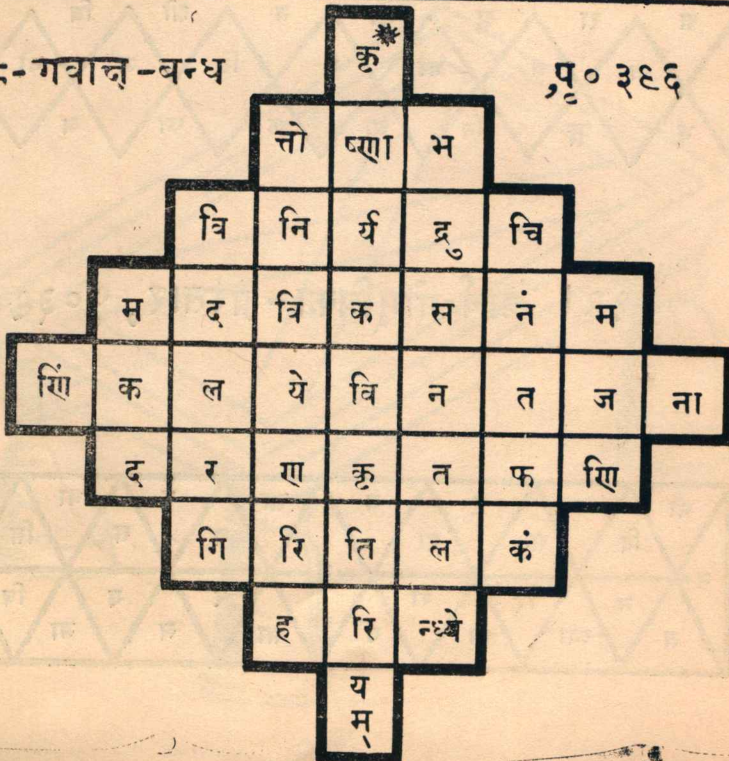
११६-कमण्डलु-बन्ध, पृ० ३९५



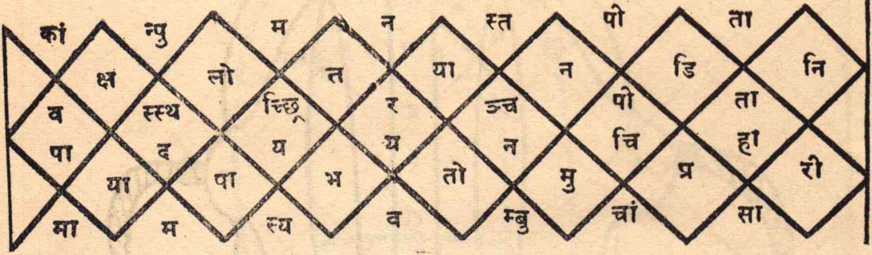
११७-कांस्यताल-बन्ध, पृ० ३६६



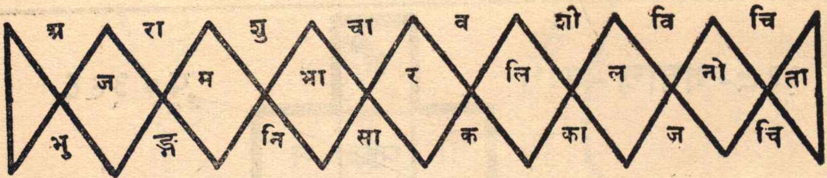
११८-गवाक्ष-बन्ध, पृ० ३६६



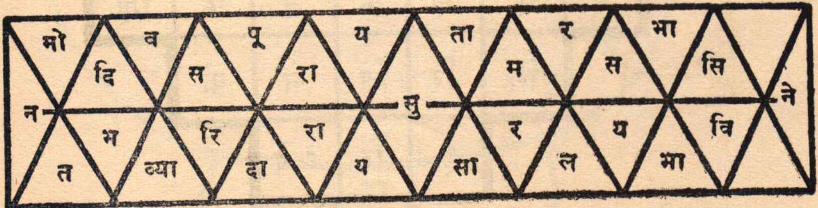
११९-पादगोमूत्रिका-बन्ध(१), पृ० ३९७



१२०-अयुग्मार्ध-गोमूत्रिका-बन्ध पृ० ३९८



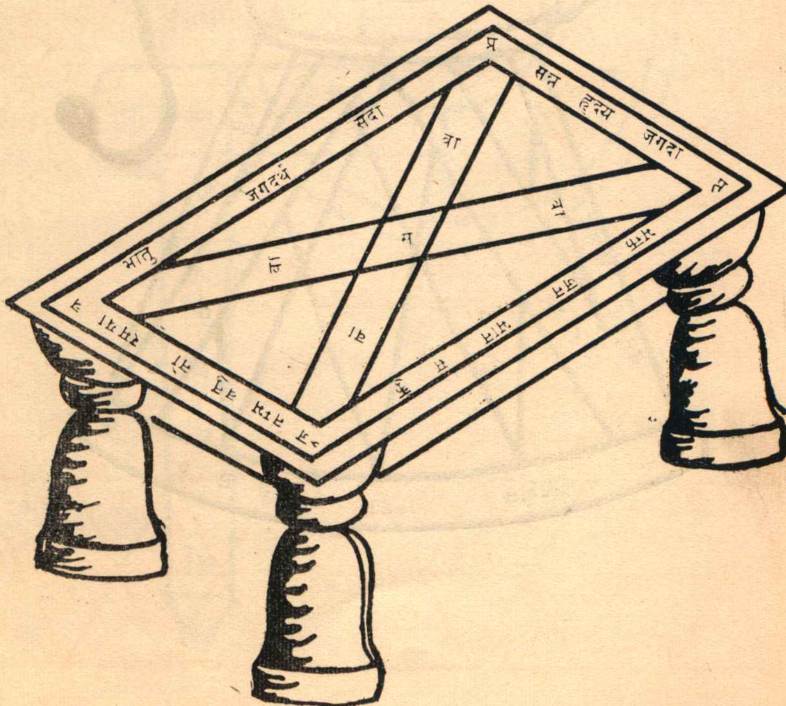
१२१-अर्ध-गोमूत्रिका-प्रस्तार, पृ० ३९८



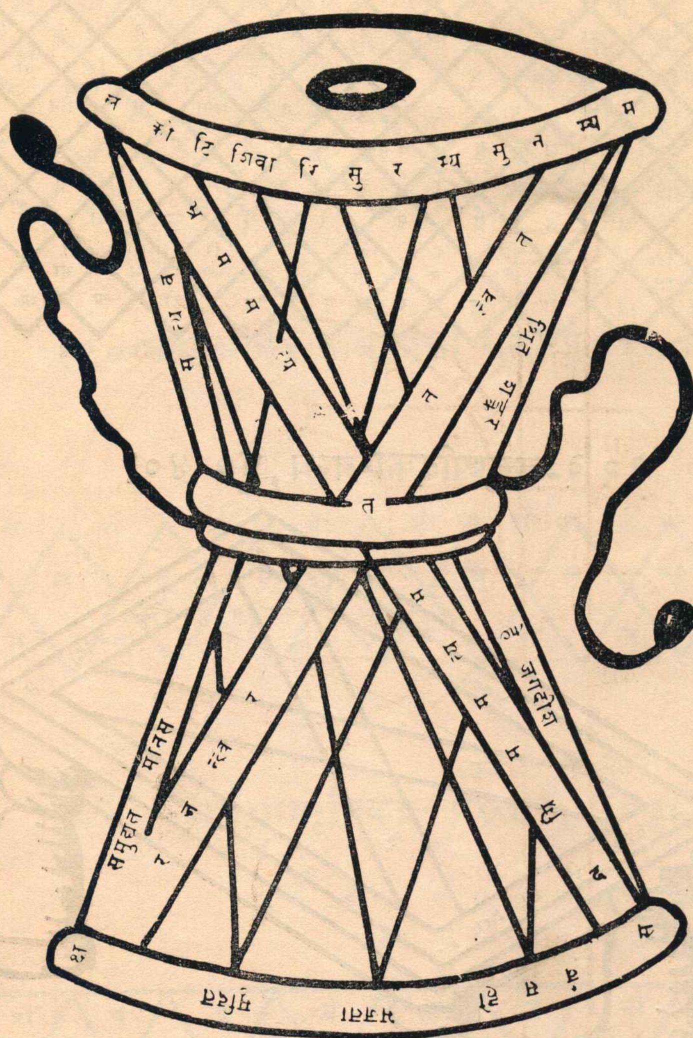
१२२ श्लोक गोमूत्रिका-बन्ध, पृ० ३९९

पा द्व न्द्र री क सु शि ली पा र न्दो
या न्च धा स ल र रो ढ दा वि
दे न्न ण्ड मा लि ह क ह्व कं र न्दो
दे व्या द्धा भा पु द ज व न वि धा
हे रु ङ्क ग: र तु द न्त्या स न्नि नम्
म्भ रा सु म ज मं ग प धा
कं पं द क्ष: र सु व म ली तं वीं
द क्षो द स म र धू ण्ड गी ग
मं दिक भ श्री द द व ख ना र म्यां
त्या शा के, न च ण ख: क भ भा
दै धी न्ध ना त र न श रो व्य व्य:
त्यै व हा व त स य: प दि से

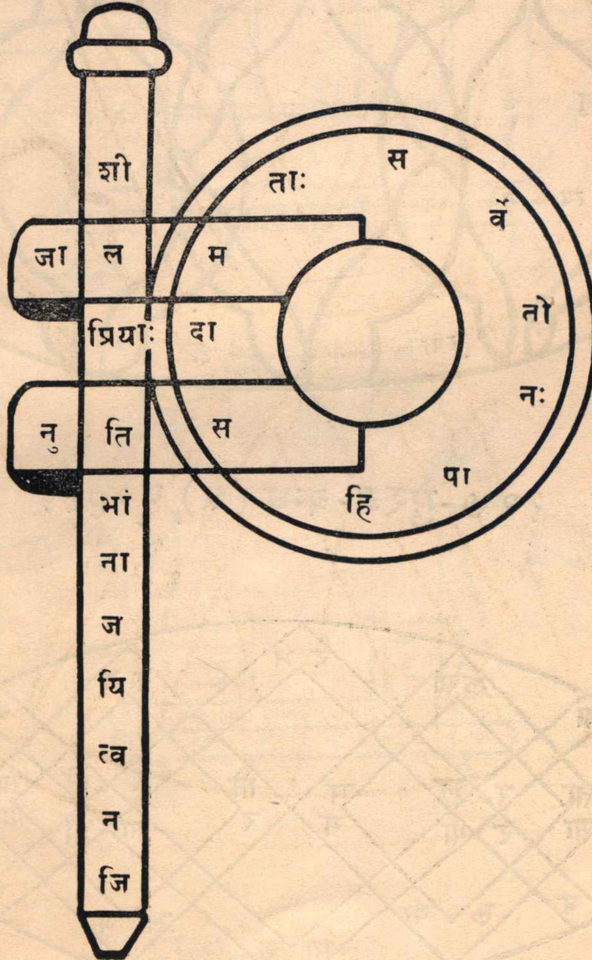
१२३-चतुष्पदिका-बन्ध, पृ० ४०१



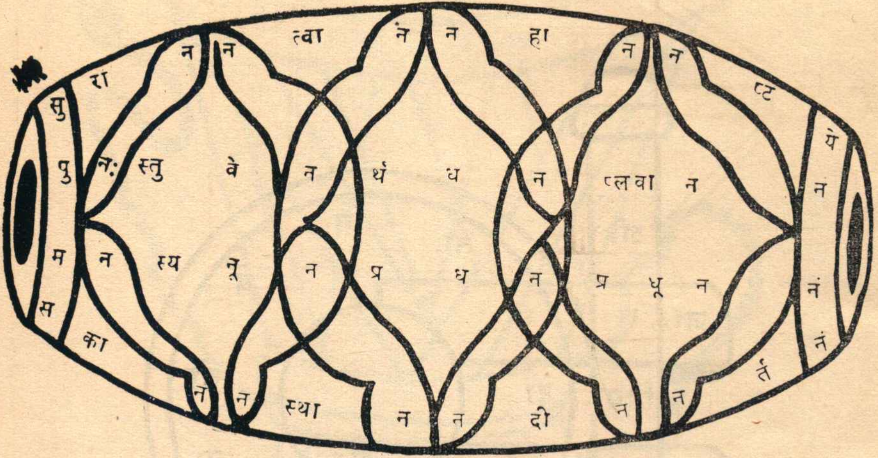
१२४-डमरू-बन्ध (१) पृ० ४०२



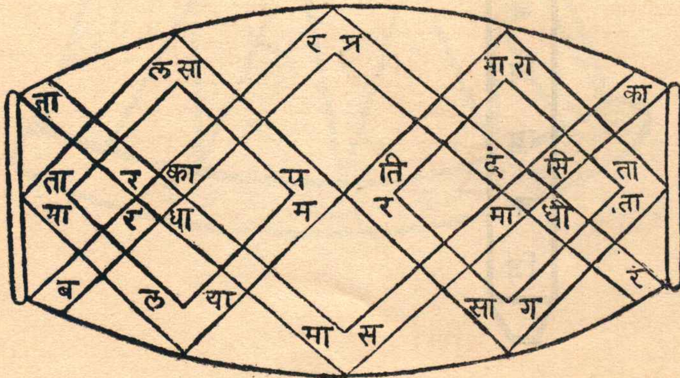
१२५- तालवृन्त-बन्ध, पृ० ४०२



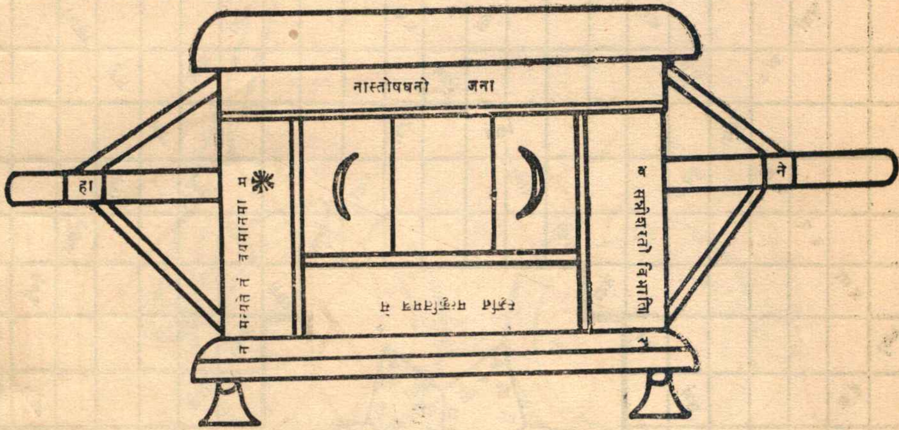
१२६-मुरज-बन्ध (४), पृ० ४०५

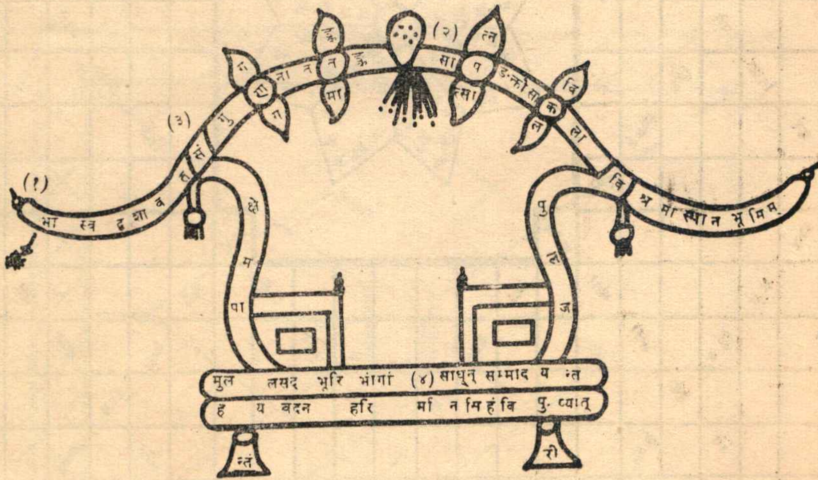


१२७-मुरज-बन्ध (५), पृ० ४०५



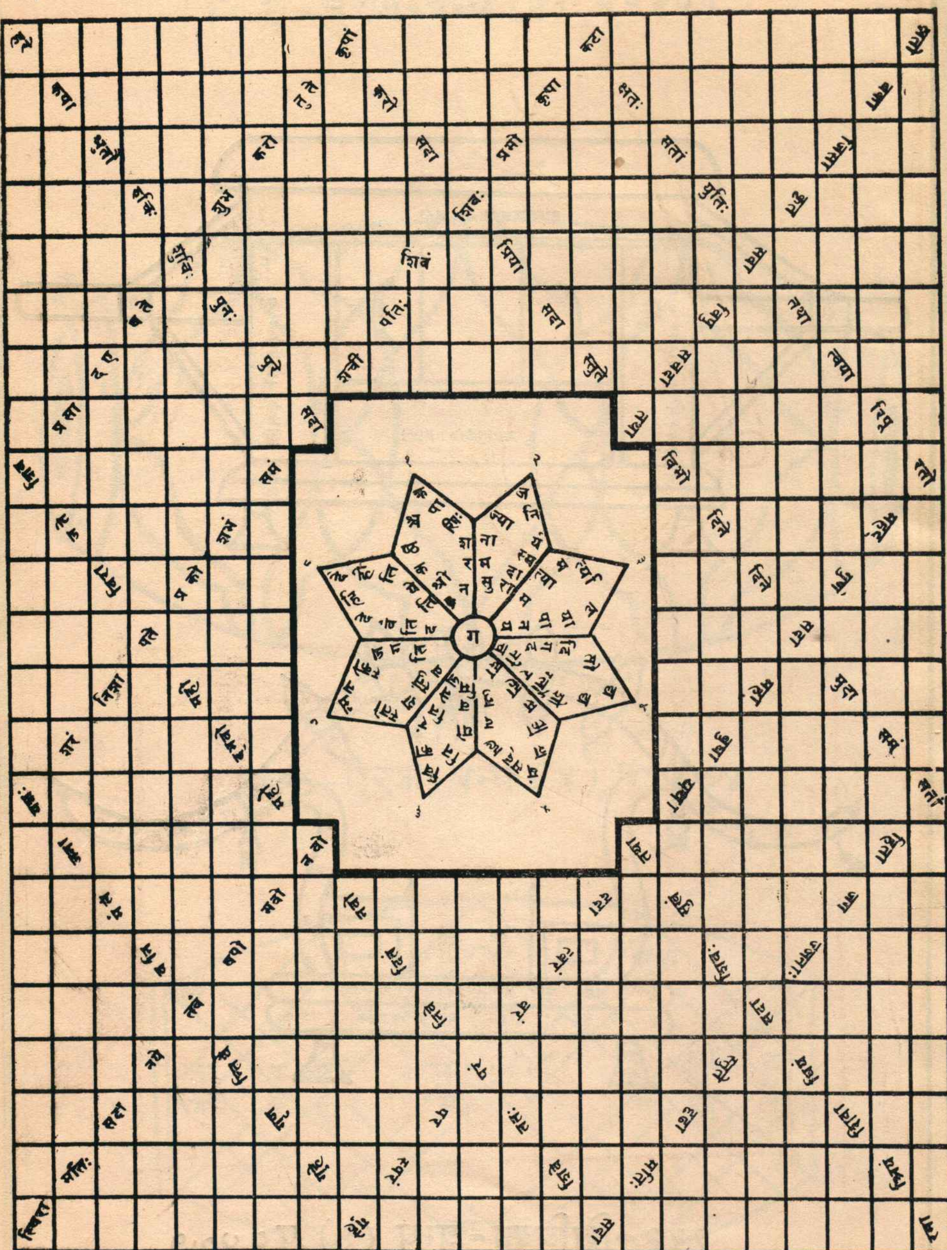
१२८-शिबिका-बन्ध, पृ० ४०७



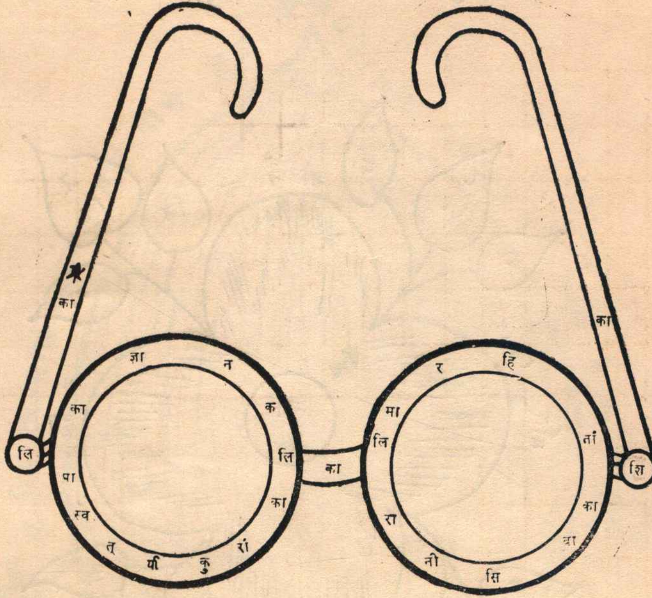


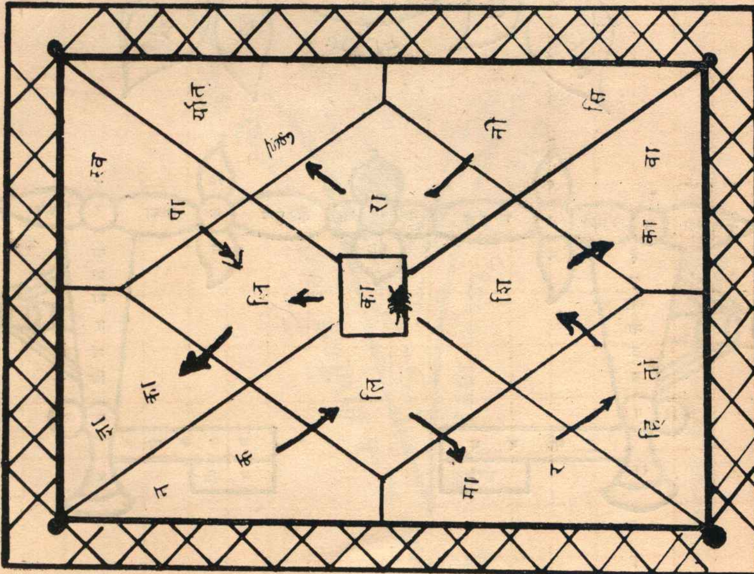
१२९-शिबिका-बन्ध (१), पृ० ४०७

१३०-सर्वतोभद्र-बन्ध, पृ० ४०६
(अष्टदलकमलबद्धगर्भ)



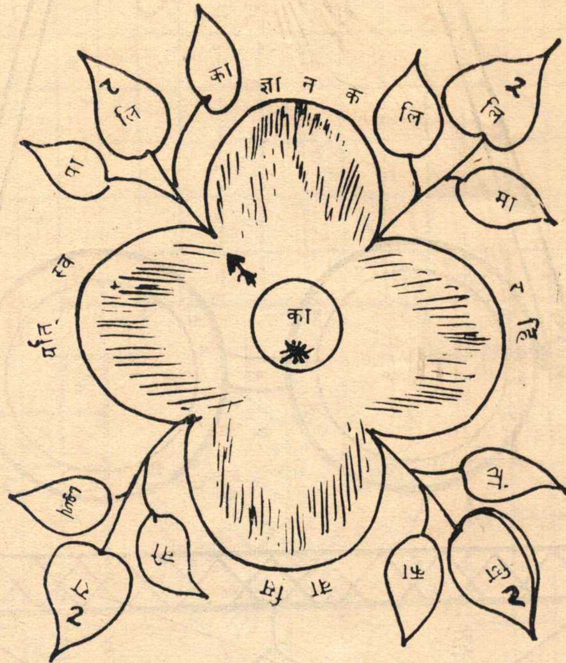
१३१- उपनेत्र-बन्ध (१), पृ० ४११

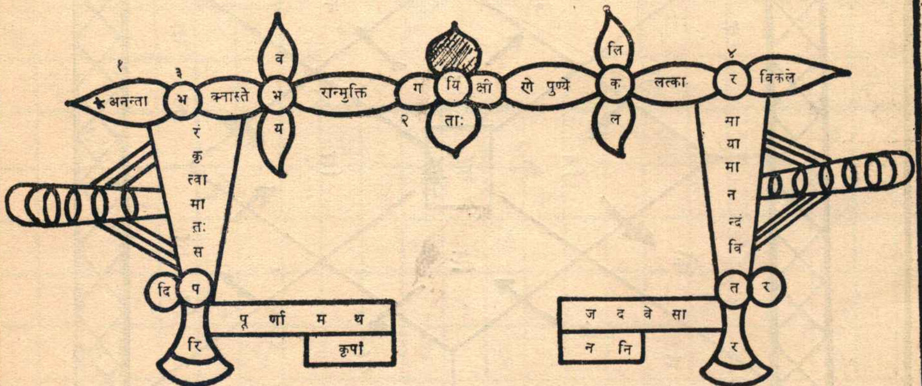




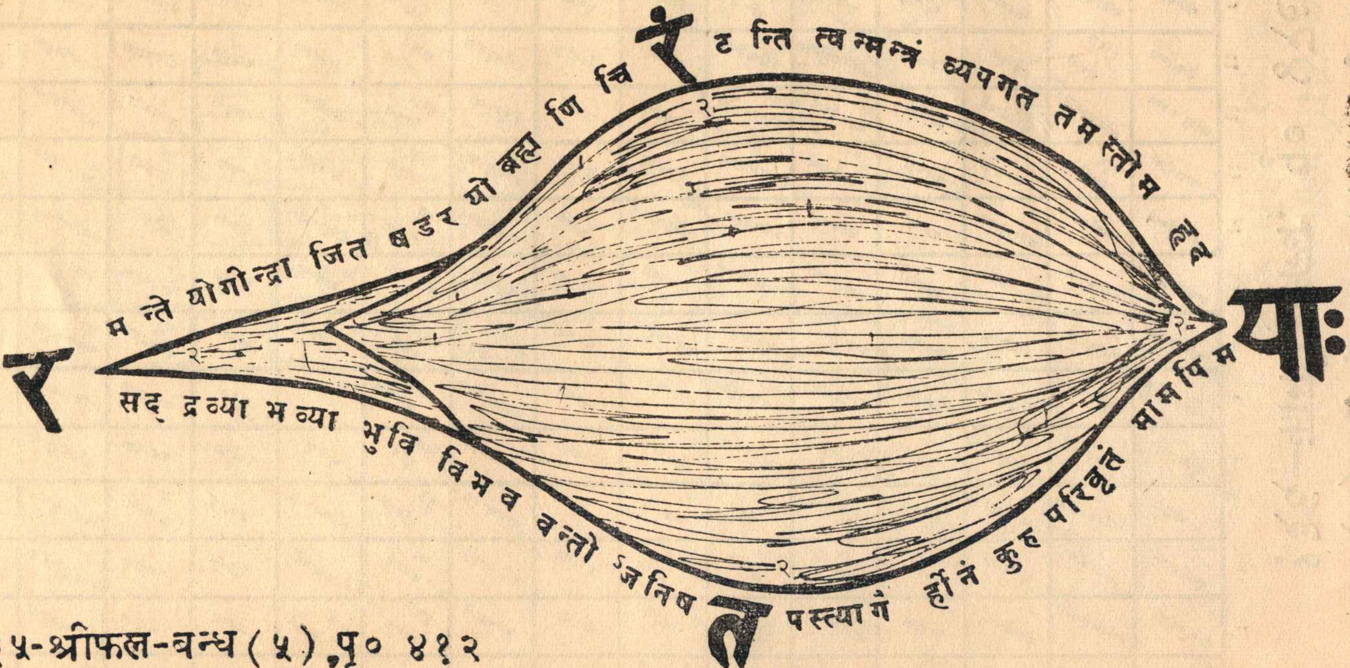
१३२-कुण्डली-बन्ध (२), पृ० ४११

१३३-पुष्प-बन्ध (३), पृ० ४११





१३४-शिबिका-बन्ध (४), पृ० ४११



१३५-श्रीफल-बन्ध (५), पृ० ४१२

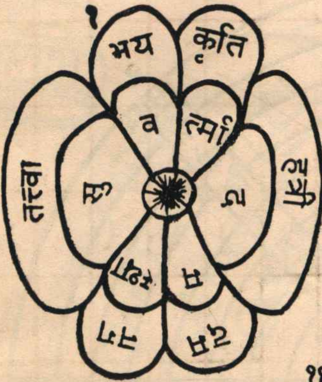
(८) छन्दोमय चित्र-बन्ध-४

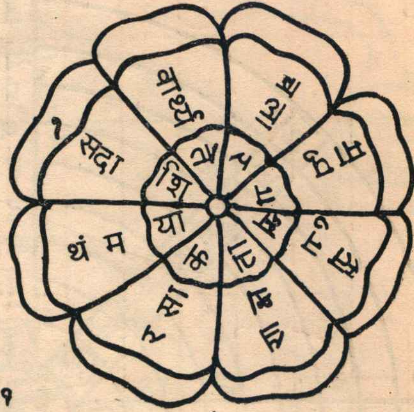
१३६—कामधेनु-बन्ध, पृ० ४२९

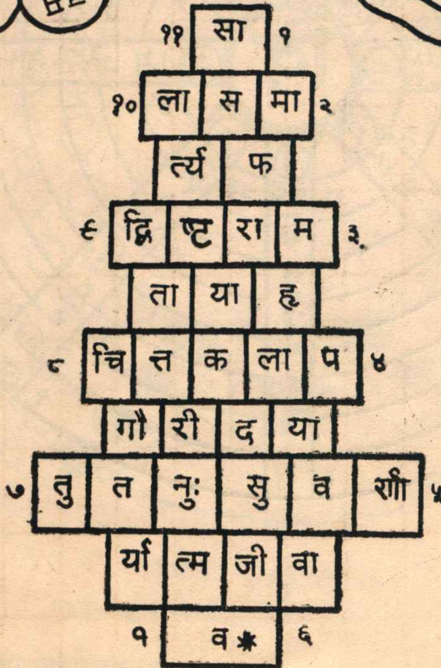
	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
१	उचर भासा	विद्रुमकान्तां	विद्रुमकीर्ति	हृद्याविरत्नां	[illegible]रां	कुम्भाग्रति	सौन्दर्यहिं	कामक्षान्तां	वामापाङ्गां	दैन्यानित्यं	वन्दपीठं	वांवां कल्मौ	दक्षाक्षगां	गीतैर्गम्यां	हत्यातनां	श्रे मै वाला
२	प्र हसितमुखी	विमल हविरां	गिरिशमुखदां	वनधरहवि	गिरिशरमणीं	शरणकरुणां	रुचिर वसनां	कृपणसुखदां	वनजमुखगां	प्रणतवनितां	चतुर चरणां	जनितमवहरां	दुरित शमनीं	गतिजितगजीं	हरिणनयनां	प्रजाति सुमुखी
३	बालचन्द्रं	पूरयन्तीं	सौम्यसिन्धुं	कुन्दहन्तां	मन्दहासां	सिद्धवाहां	चन्द्रकान्तिं	कीर्तिपुञ्जां	कल्पवल्लिं	प्राणिहृद्यां	बाहुकान्तां	जीवजीवां	लोलनीयां	गोपनीयां	मौनि नित्यं	शम्भु भक्तिं
४	छवाना	समस्तं	निवासां	प्रसन्नां	सुभासां	सुहासां	ललन्तीं	कलाकृत्यां	सुवाक्यां	प्रमात्रां	विचित्रां	जन स्थां	नमस्यां	गरिष्ठां	नवीनां	सुशान्तां
५	भक्तो धातां	पुष्पकल्प्यां	मायाः श्रमो	कामपूरां	पुण्यपूतां	दुर्गादेवीं	श्री विश्व श्रीं	कल्पदाख्यां	वामां गम्यां	प्रत्यक्षेशीं	वीर्यैः पूर्णां	जाते नित्यं	शीलतांचूर्ण्यां	ध्यानप्रीतां	नामापूर्णा	सर्वपूज्यां
६	प्र विततकरैं	मुकुलितरवि तें	भ्रूं कुटि लसिता	श्रुति परिगतं	ललित रचितं:	प्रकुलित रमणीं	शश धरमुखीं	कलुष शमनीं	विपुल जघनां	प्रणववशतः	श्रवणनयनां	जनितकरुणां	हिमकरकरैं	नमन हविरां	सुरवरनुतां	शमितदुरितं
७	हृद्यनीयां	मो धर्मसिद्धं	भक्तमृ[illegible]	नै न कोर्तां	सत्प्रसादैः	लोकरम्यां	शान्तिपूर्णा	कान्तिकान्तां	कामधामां	प्रस्फुरन्तीं	बिन्दवैदं	जीवयन्तीं	दीपयन्तीं	गीयमानां	नायिकानां	हास्य हरयां
८	सिद्धैः पूज्य	प्रसिद्धं	कपाला	प्रकाशम्	सुतुष्टां	सुशीला	सुरम्या	सुकान्ता	वदान्यां	प्रपद्ये	सुवाणां	जयन्तीं	द्विवर्द्धिः	पुनात्या	नगस्या	[illegible]
९	सि द्धं वं दें वां	प्रवर्तं प्रमता	सप्तकृश्रीं	रुद्रेन्द्राद्यैः	चामुण्डा ता	कामाराते	श्यामां वामां	कुसुर्यां	वैश्रीरातीं	प्राणितानते	कल्पवृक्षमां	जीमूताभ्या	लोभिमुं काल	गुर्वी गुण्यां	नारी मन्तीं	शृंगारता
१०	वि प्रतम निमि	विविध वर्णः	हृदय ललितां	पद कमलगं	सुर पतिनुतां	विमल हृदये	अमल शमनीं	कलव कमला	बलवदना	प्रणत मतिमिः	चतुर चरितां	जगति विनतां	ललित रुचिरां	त्रिगुण जननीं	नग पतिसुतां	कलि नतवल्ली
११	वीति गम्या	स वितानां	काव सिद्धैः	सेवकवर्गैः	मोक्षदात्री	वरदेहं	पूजयेह	कल्पवृक्षां	देवदेवं	प्रीतिचित्तां	बन्धुदेवां	ज्ञातजीवां	दीव्यलोचौं	गीर्वाणीर्वां	न प्रतुष्टां	शम्भुमानां
१२	प्र वा वीं	सुरेशी	जनानां	सुसेव्यां	प्र जेड़ङ्म	विदग्धा	पवित्रां	कलिघ्नीं	वरिष्ठां	प्रसन्नां	प्रचण्डां	जनित्रीं	दयाढ्यां	सुगर्वा	न दुष्टां	शरण्यां
१३	वन्दे नित्य	संसाराब्धौ	दैवीमन्त्रीं	हारप्रोद्यां	विश्वाधामा	विश्वपूज्या	मध्यधामां	कल्पवृद्ध्यां	विश्वबृहतीं	प्रत्यायामैं	वाक्त्रयैः	जातानन्दां	दीनत्राणां	गीर्वाणीनां	नाकं कान्ता	शान्ता दति
१४	सुरतरु तले	मु हविर मंडल	हरि कविमुखी	निज हृदि मैं	विदधि युवती	कविन हृदयां	शमित जनमुखां	कमल मृदुलां	बलव कलितां	प्रणमित नमनां	परम सुखदां	जनन विपुलां	गगन विशदां	गतनविमतां	नमन तुष्टितां	शम दमपरां
१५	विश्व पूज्यं	प्रकटकल्यां	भावयेहैं	मुकुल सिद्धैः	भावनास्यां	दुर्लभकल्यां	शान्तदोषां	कामधामः	विश्वकन्यां	पार्थवीयां	वासनेर्वां	जहतु जायां	दानगम्यां	गेयकीर्ति	नन्दयन्ती	शीलनीयां
१६	निषण्णा	प्रपद्ये	कृतार्थः	प्रयत्नात्	प्रवालीम्	प्रपन्नो	प्रसीदाम्	कलौ वित्त	प्रपन्नाम्	प्रपद्ये	सुभ्रू	जयन्तीम्	दयालु	गतोऽहं	नमस्यां	शिवाख्य

१३७–प्रमाणिका-छन्द,
षड्दल कमल-बन्ध पृ० ४२९

१३८–शशिवदना-छन्द,
अष्टदल कमल-बन्ध पृ० ४२८

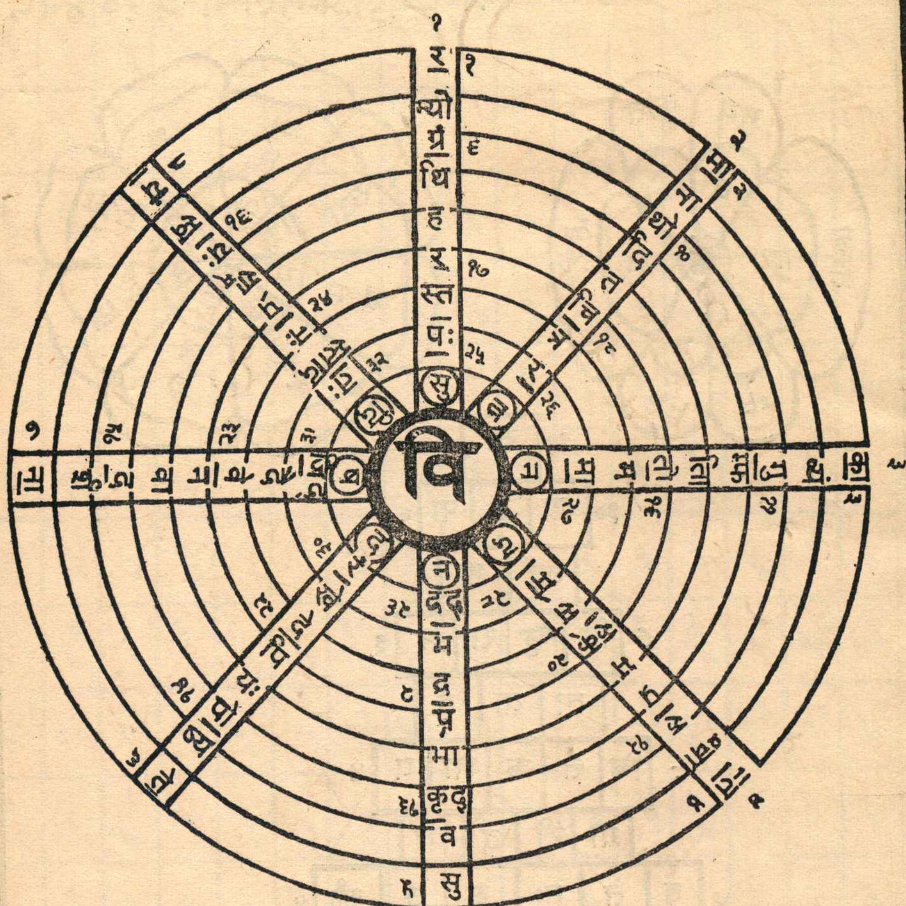


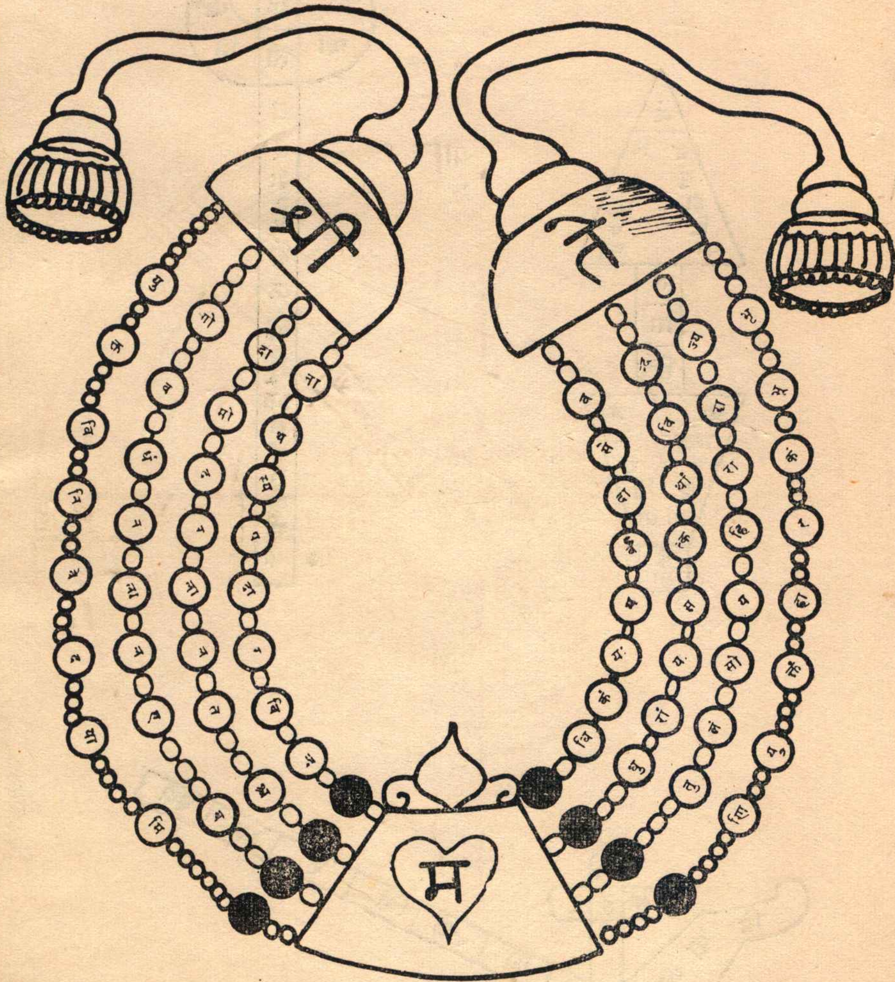




१३९–उपेन्द्रवज्रा-छन्द, वृत्त–बन्ध पृ० ४२९

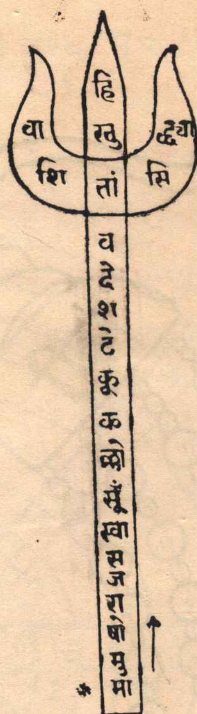
१४० पुष्पिकारूप अष्टारचक्र बन्ध पृ० ४४०

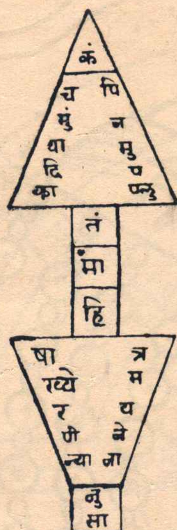


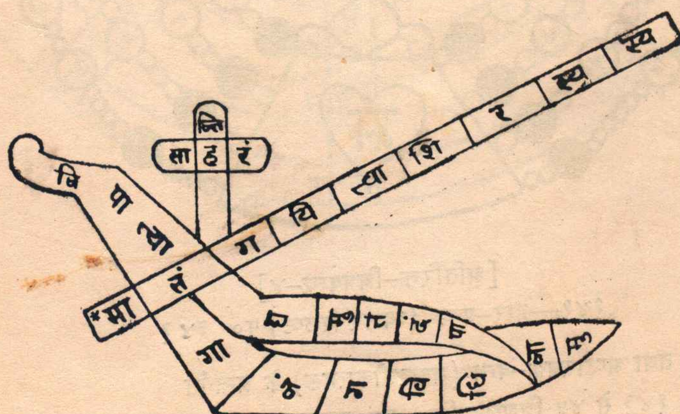


[अतिरिक्त–चित्रबन्ध–४]
१४१—हार–बन्ध (त्र्यक्षर श्लिष्ट) पृ० ३४१

तथा अष्टारचक्र–बन्ध (अष्टश्लोकात्मक) के अन्तर्गत
१४३ से ४५ त्रिशूल-शक्ति—एवं हल-बन्ध पृ० ३६५


हि
वा
खु
द्धया
शि
तां
सि
व
दे
श
ट
कू
क
क्षो
सूं
स्वा
स
ज
रा
षो
मु
मा


कं
च पि
मुं न
था मु
दि प
का प्लु
तं
मा
हि
षा त्र
रव्ये म
र य
णी ने
न्या जा
नु
सा


त्ति
सा हृ रं
वि
प
त्वो
*मा
तं
ग
यि
त्वा
शि
र
स्य
स्य
गा